ॐ

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र

का

इतिहास

(द्वितीय भाग)

युधिष्ठिर मीमांसक

॥ ओम् ॥

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र

का

इतिहास

[तीन भागों में पूर्ण]

द्वितीय भाग

[इस संस्करण में परिष्कार तथा परिवर्धन के कारण ३२ पृष्ठ बढ़े हैं]

—युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
युधिष्ठिर मीमांसक
बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)

संस्करण	प्रकाशन काल	पृष्ठ संख्या	परिवर्धन
प्रथम भाग—			
अधूरा मुद्रण	सं० २००४	३००	(लाहौर में नष्ट)
प्रथम संस्करण	सं० २००७	४५७	१५० पृष्ठ
द्वितीय संस्करण	सं० २०२०	५८२	१२५ पृष्ठ
तृतीय संस्करण	सं० २०३०	६४०	५८ पृष्ठ
प्रस्तुत संस्करण	सं० २०४१	७२४	८४ पृष्ठ
द्वितीय भाग—			
प्रथम संस्करण	सं० २०१९	४०६	
द्वितीय संस्करण	सं० २०३०	४५६	५० पृष्ठ
प्रस्तुत संस्करण	सं० २०४१	४८८	३२ पृष्ठ
तृतीय भाग—			
प्रथम संस्करण	सं० २०३०	१९८	

प्रस्तुत संस्करण में अनेक प्रकरण बढ़ाये हैं। यह अभी छप रहा है। सम्भवतः इस बार यह भाग २५० पृष्ठों से अधिक का होगा।

मूल्य—
तीनों भाग एक साथ— 150/-

मुद्रक—
शान्तिस्वरूप कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़, जिला सोनीपत, (हरयाणा)

चतुर्थ संस्करण १०००
सं० २०४१ वि०
सन् १९८४ ई०

अन्तिम रूप से

संशोधित परिष्कृत और परिवर्धित

प्रस्तुत संस्करण

'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के द्वितीय भाग का द्वितीय संस्करण भी कई वर्षों से अप्राप्य हो चुका था। परन्तु कई प्रकार की विघ्न-बाधाओं के कारण इस संस्करण के प्रकाशित होने में विलम्ब हुआ।

इस बार भी पूर्व संस्करण के समान तीनों भागों का प्रकाशन एक साथ कर रहा हूं। प्रथम और द्वितीय भाग का मुद्रण साथ-साथ होने से द्वितीय भाग के पिछले संस्करण में प्रथम भाग में लिखे गये विषय की सूचना के लिये प्रथम भाग की जो पृष्ठ संख्या दी गई थी, वह नहीं दी जा सकी। अतः ऐसे स्थानों में प्रथम भाग के **प्रकरण** का ही निर्देश किया गया है। शारीरिक स्थिति ठीक न होने के कारण मैं इस ग्रन्थ के प्रस्तुत अन्तिम रूप से परिशोधित एवं परिवर्धित संस्करण को शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित करना चाहता था, जिस से यह कार्य किन्हीं आकस्मिक कारणों से अधूरा न रह जाये।

विशेष—द्वितीय भाग प्रथम भाग छपने के लगभग ११ वर्ष पश्चात् प्रथम बार छपा था। इस दृष्टि से यह द्वितीय भाग का **तृतीय संस्करण** है, तथापि तीनों भागों की एक साथ विक्री होने तथा पृथक् पृथक् भागों की विक्री न करने के कारण इस बार इस भाग के मुख पृष्ठ पर 'तृतीय संस्करण न छापकर **चतुर्थ संस्करण** छाप रहा हूं, जिससे सब भागों के सह प्रकाशन में एकरूपता आ जाये। इस भाग में छपने के पश्चात् कुछ आवश्यक संशोधन और परिवर्धन हुए हैं, उन्हें तृतीय भाग के १०वें परिशिष्ट में दे रहा हूं। पाठक महानुभाव से प्रार्थना है कि उन-उन स्थानों को उस के अनुसार संशोधन करके तथा परिवर्धित अंशों को मिला कर पढ़ने की कृपा करें।

अपनी शारीरिक अस्वस्थता के कारण अगला संस्करण मेरे जीवन में सम्भवतः प्रकाशित नहीं होगा। इसलिये इसे ही मैं अन्तिम संस्करण समझता हूं। परमपिता परमात्मा की अनुपम कृपा से यह कार्य कथंचित् पूरा हो गया, इस का मुझे सन्तोष है।

श्रावण पूर्णिमा, सं० २०४१
११ अगस्त, सन् १९८४

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

विशेष भूल संशोधन—द्वितीय भाग में गणपाठ प्रकरण में पृष्ठ १४८, उणादि-सूत्र प्रकरण में पृष्ठ २०७, लिङ्गानुशासन प्रकरण में पृष्ठ २७४ में '**शन्तनु**' के स्थान में '**शान्तनव**' नाम होना चाहिये। यह बात आगे चलकर **फिट्-सूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता** नामक २७वें अध्याय में निश्चित हुई।

शेष संशोधन परिवर्तन परिवर्धन तृतीय भाग के १०वें परिशिष्ट में देखें।

भूमिका

[प्रथम संस्करण]

मेरे 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' का प्रथम भाग वि० सं० २००७ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। उसके लगभग साढ़े ग्यारह वर्ष पश्चात् उसका यह द्वितीय भाग प्रकाशित हो रहा है।

यद्यपि इस द्वितीय भाग की रूप-रेखा भी उसी समय बन गई थी, जबकि प्रथम भाग लिखा गया था, परन्तु इस भाग के प्रकाशन के लिए किसी प्रकाशक के न मिलने, स्वयं प्रकाशन में असमर्थ होने, तथा अन्य अस्वस्थता आदि बहुविध विघ्नों के कारण इसका प्रकाशन इतने सुदीर्घ काल में भी सम्पन्न न हो सका। सम्भव है, इस भाग का प्रकाशन कुछ वर्षों के लिए और भी रुका रहता, परन्तु इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए अनायास दैवी संयोग के उपस्थित हो जाने से इसका कथंचित् प्रकाशन इस समय हो सका।

दैवी संयोग—पूर्व प्रकाशित प्रथम भाग भी लगभग दो वर्ष से सर्वथा अप्राप्य हो चुका था। उसके पुनर्मुद्रण के लिए कथंचित् कुछ व्यवस्था करके कागज और प्रेसकापी प्रेस में भेज दी गई थी। इसी काल में मेरा देहली जाना हुआ, वहां डेराइस्माईल खां के भूतपूर्व निवासी **श्री पं० भीमसेन जी शास्त्री** से, जो सम्प्रति देहली में रहते हैं, मिलना हुआ। प्रथम भाग के पुनर्मुद्रण-सम्बन्धी बातचीत के प्रसङ्ग में श्री शास्त्री जी ने कहा कि यदि द्वितीय भाग, जो अभी तक नहीं छपा, पहले छपवाया जाये तो मैं ५०० रुपए की सहायता कर सकता हूं। मैंने श्री शास्त्री जी के सहयोग की भावना से प्रेरित होकर प्रथम-भाग के पुनर्मुद्रण का विचार स्थगित करके पहले द्वितीय भाग के प्रकाशन की व्यवस्था की।

दैवी विघ्न—मैं निरन्तर कई वर्षों से अस्वस्थ रहता आया हूं, पुनरपि अध्ययनरूपी व्यसन से बंधा हुआ कुछ न कुछ लिखना पढ़ना चलता रहता है। इसी के परिणाम-स्वरूप इस भाग में प्रायः सभी अध्याय शनैः शनैः लिखे जा चुके थे। पूर्व निर्दिष्ट दैवी संयोग से

गत अप्रैल में द्वितीय भाग के मुद्रण की काशी में व्यवस्था की। मुद्रण कार्य आरम्भ हुआ। इसी बीच अगस्त मास में रोग की भयङ्करता बढ़ गई। औषधोपचार से किसी प्रकार शान्ति न मिलने पर शल्य-चिकित्सा का आश्रय लेना अनिवार्य हो गया, और ५ अगस्त को वृक्क की शल्य-चिकित्सा करानी पड़ी, और कई मास इसी निमित्त लग गये। रोगवृद्धि से पूर्व प्रेस में पूरी कापी नहीं भेजी थी, अतः प्रेषित कापी के समाप्त होने पर मुद्रण कार्य रुक गया। कुछ स्वस्थ होने पर अगली कापी प्रेस में भेजी, परन्तु मध्य में रुके हुए कार्य के पुनः आरम्भ होने में भी समय लगता स्वाभाविक था। इस प्रकार जो कार्य गत अक्टूबर १९६१ तक समाप्त होने वाला था, वह अब अप्रैल १९६२ में जाकर समाप्त हो रहा है। पुनरपि यह परम सन्तोष का विषय है कि स्वस्थ हो जाने से ग्रन्थ पूरा तो हो गया, अन्यथा अधूरा ही रह जाता।

द्वितीय भाग का विषय—इस भाग में व्याकरण-शास्त्र के साथ साक्षात् अथवा परम्परा से कथमपि सम्बन्ध रखनेवाले **धातुपाठ, गणपाठ, उणादि-सूत्र, लिङ्गानुशासन, परिभाषापाठ, फिट्-सूत्र, प्रातिशाख्य, व्याकरण विषयक दार्शनिक ग्रन्थ, और लक्ष्य-प्रधान काव्य** आदि के प्रवक्ता, प्रणेता और व्याख्याता आचार्यों के इतिवृत्त पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

वैसे तो व्याकरण-शास्त्र के इतिहास पर मेरे से पूर्व किसी भी लेखक ने किसी भी भाषा में क्रमबद्ध और विस्तृत रूप से नहीं लिखा, पुनरपि द्वितीय भाग में वर्णित प्रकरण तो इतिहास-लेखकों से प्रायः सर्वथा अछूते ही हैं। इसलिए इस भाग में जो कुछ भी लिखा गया है, प्रायः उसे मैंने प्रथम बार ही लिखने का प्रयास किया है।[1] प्रत्येक प्रारम्भिक प्रयत्न में कुछ न कुछ त्रुटियों और न्यूनताओं का रहना

---

१. इस भाग में केवल 'गणपाठ' का प्रकरण ऐसा है, जिस पर मेरे मित्र प्रो० कपिलदेव जी साहित्याचार्य एम० ए०, पीएच डी० ने मुझसे पूर्व विस्तृत रूप से लिखा है और उसका प्रथम भाग 'गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' इसी प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ से 'गणपाठ' प्रकरण के लिखने में महती सहायता मिली है, परन्तु हम दोनों की दृष्टि में अन्तर होने से मेरे द्वारा लिखे गये इस प्रकरण में भी स्ववैशिष्ट्य विद्यमान है।

स्वाभाविक है और अस्वस्थता के काल में किए कार्य में तो उनकी सम्भावना और भी अधिक स्वाभाविक है। मैं अपनी त्रुटियों और न्यूनताओं से स्वयं परिरिचित हूं, परन्तु जिन परिस्थितियों में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, इससे अधिक मैं कुछ भी प्रयास करने में असमर्थ था। अतः अवशिष्ट रही त्रुटियों के लिए पाठक महानुभावों से क्षमा चाहता हूं। यदि इस भाग के पुनर्मुद्रण का संयोग उपस्थित हो सका, तो उस समय उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जायेगा।

प्रथम भाग के सम्बन्ध में—यतः मेरा 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' अपने विषय का प्रथम ग्रन्थ है। इसलिए ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर सभी प्रकार की विचारधाराओं के माननेवाले विद्वानों और लेखकों ने इस ग्रन्थ से बहुत लाभ उठाया। कतिपय संकुचित मनोवृत्ति तथा पाश्चात्त्य कल्पित ऐतिहासिक मतों को बिना परीक्षा किए स्वीकार करनेवाले 'परप्रत्ययनेयबुद्धि' रूढ़िवादी लेखकों के अतिरिक्त प्रायः सभी विद्वानों ने प्रथम भाग का स्वागत किया। आगरा पञ्जाब आदि विश्वविद्यालयों ने संस्कृत एम० ए० में इसे पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया। संस्कृत विश्वविद्यालय[१] (भूतपूर्व राजकीय संस्कृत महाविद्यालय) वाराणसी आदि की व्याकरणाचार्य परीक्षा के स्वशास्त्रीय इतिहासविषयक पत्र के लिए यह एकमात्र सहायक ग्रन्थ बना। उत्तरप्रदेश राज्य ने इस ग्रन्थ की उपयोगिता का मूल्यांकन करते हुए इस पर ६०० रु० पारितोषिक प्रदान किया।

गत ग्यारह वर्षों में इस ग्रन्थ से अनेक लेखकों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायता ली। अनेक महानुभावों ने इस ग्रन्थ के आश्रय से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बहुत से लेख लिखे। अधिकांश विद्वज्जनों ने हमारे ग्रन्थ का मूल्यांकन करते हुए और अस्तेय की भावना रखते हुए नाम-निर्देश-पूर्वक ग्रन्थ का उल्लेख किया। किन्तु ऐसे भी अनेक विद्वन्महानुभाव हैं, जिन्होंने हमारे ग्रन्थ से विशिष्ट सहायता ली, कुछ लेखकों ने पूरे-पूरे प्रकरणों को शब्दान्तर में ढालकर लेख लिखे, परन्तु कहीं पर भी ग्रन्थ का उल्लेख करना उचित न समझा। अस्तु! हम तो केवल इतने से ही अपने परिश्रम को सफल समझते हैं कि

---

१. अब इसका नाम 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय' है।

इस ग्रन्थ द्वारा उत्तरवर्ती लेखकों तथा विद्यार्थियों को कुछ न कुछ सहायता प्राप्त हुई।

भारतीय आर्ष वाङ्मय—भारतीय प्राचीन आर्ष वाङ्मय उन परम-सत्यवक्ता नीरजस्तम शिष्ट आप्त पुरुषों द्वारा प्रोक्त अथवा रचित है जिनके लिए आयुर्वेदीय चरक संहिता में लिखा है—

आप्तास्तावत्—

> **रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।**
> **येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥**
> **आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।**
> **सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्माद् असत्यं नीरजस्तमाः॥**
>
> सूत्रस्थान, अ० ११, श्लोक १८, १९।

अर्थात्—जो रजोगुण और तमोगुण से रहित हैं, जिनको तप और ज्ञान के बल से त्रैकालिक अव्याहत निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है, वे शिष्ट परम विद्वान् 'आप्त' कहाते हैं। उनका वाक्य असंशय सत्य ही होता है। ऐसे रजोगुण और तमोगुण से रहित आप्त [सब एषणाओं से मुक्त होने के कारण] किस हेतु से असत्य कहेंगे?

पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीय—गत डेढ़-दो शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों ने राजनीतिक परिस्थितियों और ईसाई यहूदी मत के पक्षपात से प्रेरित होकर पूर्वनिर्दिष्ट परम सत्यवादी नीरजस्तम महापुरुषों द्वारा प्रोक्त अथवा रचित भारतीय आर्ष वाङ्मय और सत्य ऐतिहासिक परम्परा को असत्य अश्रद्धेय और अनैतिहासिक सिद्ध करने के लिए अनेक कल्पित वादों को जन्म दिया। और उन्हें वैज्ञानिकता का चोला पहनाकर एकस्वर से भारतीय वाङ्मय, संस्कृति और इतिहास के प्रति अनर्गल प्रलाप किया। ब्रिटिश शासन ने राजनीतिक स्वार्थवश उन्हीं असत्य विचारों को सर्वत्र स्कूल कालेजों में प्रचलित किया। इसका फल यह हुआ कि स्कूल और कालेजों में पढ़नेवाले, तथा पाश्चात्य विद्वानों की छत्र-छाया में रहकर पीएच० डी० और डी० लिट् आदि उपाधियां प्राप्त करने वाले भारतीय भी पाश्चात्य रंग में पूर्णतया रंग गये। इससे भारतीय विद्वानों की स्वीय प्रतिभा प्रायः नष्ट ही गई, और

उन्होंने पाश्चात्य मतों का अन्ध-अनुकरण करने में ही अपना श्रेय समझा।

स्वतन्त्रता के पश्चात्—भारत की परतन्त्रता के काल में पूर्व-निर्दिष्ट व्यवसाय कथंचित् क्षम्य हो सकता था परन्तु भारत के स्वतन्त्र होने पर भी भारत की शिक्षा व्यवस्था ऐसे ही लोगों के हाथ में रही, और है, जो स्वयं भारतीय वाङ्मय, संस्कृति और इतिहास के परिज्ञान से न केवल रहित ही हैं अपितु पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली से नष्ट-प्रतिभ होकर पाश्चात्य लेखकों के वचनों को ब्रह्मवाक्य समझकर आंख मीचकर सत्य स्वीकार करते हैं। उसी का यह फल है कि अपनी संस्कृति वाङ्मय और इतिहास के प्रति अश्रद्ध होने के कारण हम में से भारतीयता बड़ी तीव्रता से नष्ट हो रही है। भारतीयता के नष्ट होने पर हम में स्वदेश और स्वजाति के प्रति प्रेम कैसे रहेगा? यह एक गम्भीर विचारणीय प्रश्न है। हमें तो इस परिस्थिति का अन्त पुनः पराधीनता के रूप में ही दिखाई देता है। वह पराधीनता चाहे किसी भी रूप की क्यों न हो, पराधीनता पराधीनता ही होती है।

रूढ़िवादी कौन—पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीय वाङ्मय संस्कृति और इतिहास से प्रेम रखने वाले भारतीयों को रूढ़िवादी, प्रतिगामी अथवा अप्रगतिशील कहकर उनका सदा उपहास करते रहे और करते हैं। **इसलिए हमें सखेद कटु सत्य कहने पर विवश होना पड़ता है कि पाश्चात्य मतों के अन्ध अनुयायी भारतीय ही न केवल रूढ़िवादी प्रतिगामी अथवा अप्रगतिशील हैं, अपितु भारतीय सत्य वाङ्मय संस्कृति और इतिहास को नष्ट करके भारत को पुनः दासता में आबद्ध करनेवाले हैं।** इसी पाश्चात्य दासता का फल है कि हम स्वतन्त्र होने के पश्चात् १५ वर्ष का दीर्घकाल बीत जाने पर भी अंग्रेजी भाषा की दासता से मुक्त न हो सके।[1]

---

१. यह अंग्रेजी की दासता अभी सं० २०३० = १९७३ ई०, तक बनी हुई है और अंग्रेजी भक्तों ने ऐसा माया जाल बिछाया है कि उससे भारत का छुटकारा निकट भविष्य में तो होता दीखता ही नहीं। [इसके अनन्तर अंग्रेजी भाषा की दासता बढ़ी है घटी नहीं। इसके विपरीत संस्कृत भाषा के

पाश्चात्यमतानुयायी विद्वानों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे पाश्चात्य विद्वानों के प्रसारित काल्पनिक मतों के विषय में अपनी अप्रतिहत बुद्धि से पुनः विचार करें। हमें निश्चय है कि **यदि भारतीय विद्वान् अपनी स्वतन्त्र मेधा से काम लें तो वे न केवल पाश्चात्य मतों के खोखलेपन से ही विज्ञ होंगे अपितु भारतीय वाङ्मय संस्कृति और इतिहास को पाश्चात्य विद्वानों के कुचक्रों से बचाकर भारत का गौरव बढ़ायेंगे।** भगवान् हमें सद्बुद्धि दे कि हम विदेशियों द्वारा चिर-काल से प्रसारित कुचक्रों के भेदन में समर्थ हो सकें।

कृतज्ञता-प्रकाशन

गत तीन वर्षों की रुग्णता का लम्बी अवधि और शल्य-चिकित्सा (आप्रेशन) के समय जिन महानुभावों ने मेरी अनेकविध सहायता की, उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन और धन्यवाद करना आवश्यक है। इन महानुभावों में—

१—सब से प्रथम उल्लेखनीय 'महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टङ्कारा' के मन्त्री श्री पं० आनन्दप्रियजी, और ट्रस्ट के सभी माननीय सदस्य महानुभाव हैं जिन्होंने रुग्णता के काल में टङ्कारा का, जहां मैं ट्रस्ट के अन्तर्गत अनुसन्धान कार्य कर रहा था, जलवायु अनुकूल न होने पर अजमेर (जहां का जलवायु मेरे लिए सबसे अधिक अनुकूल है) में रहकर ट्रस्ट का कार्य करने की अनुमति प्रदान की और अत्य-धिक रुग्णता के काल में ४-५ मासों की, जिनमें मैं अस्वस्थता तथा शल्यचिकित्सा के कारण कुछ भी कार्य न कर सका था, बराबर दक्षिणा देते रहे। यह महान् औदार्य कार्यकर्ता को क्रीतदास समझने वाले साम्प्रतिक वातावरण में अपने रूप में एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत करता है। विद्वानों के प्रति **अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने** (अथर्व १९।५५।६) की वैदिक आज्ञा को कार्यरूप में उपस्थित करता है। इस अप्रतिम सहायता के लिए म० द० स्मारक ट्रस्ट के माननीय मन्त्रीजी, समस्त अधिकारी और सदस्य महानुभावों

पठन-पाठन में उत्तरोत्तर न्यूनता आ रही है। स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि विद्या के प्रमुख क्षेत्र काशी में भी इस समय (सन् १९८४ में) सम्पूर्ण महा-भाष्य के पढ़ानेवाले नहीं हैं) यह अतिशयोक्ति नहीं है, वास्तविक तथ्य है।]

का जितना भी धन्यवाद करूं स्वल्प है। इन महानुभावों के इस विशिष्ट सहयोग से स्वास्थ्य-लाभ करने में जो महती सहायता प्राप्त हुई है, उसके ऋण से तो तभी कुछ सीमा तक उऋण हो सकता हूं, जब अपना शेष समय अधिक से अधिक वैदिक आर्ष वाङ्मय के अध्ययन-अध्यापन तथा अनुसन्धान कार्य में ही लगाऊं। प्रभु मुझे ऐसी आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक शक्ति प्रदान करें, जिससे मैं इस कार्य में सफल हो सकूं।

२—अप्रतिम शल्यचिकित्सक श्री डा० कर्नल मिराजकर महोदय के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूं, जिन्होंने गुर्दे का आप्रेशन करते हुए न केवल अत्यन्त कौशल से ही कार्य किया, अपितु सम्पूर्ण चिकित्साकाल में मुझ पर पितृवत् वात्सल्यभाव रखा। उनकी इस कृपा से ही जहां मैंने पुनर्जीवन प्राप्त किया वहां इतना बड़ा महान् व्ययसाध्य शल्यचिकित्सा कार्य अपेक्षाकृत स्वल्पव्यय में सम्पन्न हो सका। निःसन्देह आपने मुझे पुनर्जीवन देकर मेरे परिवार को तो अनुगृहीत किया ही है, परन्तु मैं समझता हूं कि उससे कहीं अधिक मुझे पूर्ववत् **सारस्वत सत्र में दीक्षित** रहने योग्य बनाकर देश जाति और समाज की सेवा कर सकने का जो सौभाग्य प्रदान किया है, उसके लिए आपके प्रति जितना भी कृतज्ञताज्ञापन करूं, स्वल्प है।

३—जिस श्री रामलाल कपूर अमृतसर के परिवार के समस्त सदस्यों के साथ मेरा बाल्यकाल से सम्बन्ध है, जिनके सहयोग से शिक्षा पाई, कुछ कार्य करने योग्य हो सका, और जो सदा ही विविध प्रकार से मेरी सहायता करते रहते हैं, उनसे इस काल में न केवल आर्थिक सहयोग ही प्राप्त हुआ, अपितु माननीय श्री बा० हंसराज जी और श्री बा० प्यारेलाल जी ने आतुरालय में आकर मेरी देखभाल की और देहली में रहनेवाले भाई शान्तिस्वरूपजी, श्री भीमसेनजी, और श्री ब्रह्मदेवजी बराबर चिकित्सालय में आकर सदा देखभाल करते रहे, तथा आप्रेशन के दिन आदि से अन्त तक ५-६ घण्टे बराबर अस्पताल में विद्यमान रहे। इसी प्रकार चिकित्सा से पूर्व श्री माननीय भ्राता देवेन्द्रकुमार जी ने बम्बई में अनेक योग्य चिकित्सकों से निदान आदि कराने की पूर्ण व्यवस्था की, और जिन्होंने श्री डा० कर्नल

मिराजकर को मेरे चिकित्साकार्य को उत्तम रूप में सम्पन्न करने के लिए विशिष्टरूप से प्रेरित किया। इन सभी महानुभावों का मैं और मेरा परिवार सदा ही ऋणी रहेगा।

४—आर्ष गुरुकुल एटा के संस्थापक श्री माननीय स्वामी ब्रह्मानन्द जी दण्डी, और आचार्य श्री पं० ज्योतिःस्वरूप जी का भी मैं अत्यन्त आभारी हूं, जिन्होंने स्वयं तथा अपने परिचित व्यक्तियों को प्रेरित करके चिकित्सार्थ लगभग ४०० रु० की विशिष्ट सहायता की।

५—गुरुतुल्य माननीय श्री पं० भगवद्दत्त जी और सम्मान्य वैद्य श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री का तो बाल्यकाल से ही मेरे प्रति अतुल वात्सल्य रहा है। आप दोनों महानुभाव समय-समय पर अस्पताल में आकर मेरी देखभाल करते रहे। इन महानुभावों के लिए मैं सदा ही नतमस्तक रहा हूं, और रहूंगा।

६—इनके अतिरिक्त श्री प्रो० देवप्रकाश जी पातञ्जल तथा देहली के अन्य सभी सम्मान्य आर्य बन्धुओं और मित्रों का भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने इस काल में किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से मुझे सहयोग दिया।

७—इसी प्रसंग में तीर्थराम अस्पताल, राजपुरा रोड, दिल्ली की सभी परिचारिका बहनों और भाइयों का धन्यवाद करना भी अपना कर्त्तव्य समझता हूं, जिन्होंने दो मास तक मेरी सब प्रकार से सेवा की।

श्री पूज्य श्रद्धास्पद गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु जिनकी मातृ-पितृतुल्य और गुरुरूप छत्र-छाया में बाल्यकाल से आज तक रहा हूं और रहूंगा, के प्रति न कृतज्ञताप्रकाशन ही कर सकता हूं, और न धन्यवाद ही दे सकता हूं, केवल मौनरूप से श्रद्धा के पत्र-पुष्प ही अर्पित कर सकता हूं।

भारतीय प्राचीन संस्कृति, साहित्य और इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री डा० बहादुरचन्द्र जी छाबड़ा एम. ए., एम. ओ. एल., पी. एच. डी., एफ. ए. एस., संयुक्त प्रधान निर्देशक भारतीय पुरातत्त्व विभाग, नई दिल्ली। गत चार वर्षों से निरन्तर २५ रु० मासिक की

सहायता दे रहे हैं।[1] आपके इस निष्काम सहयोग के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूं।

ग्रन्थ-प्रकाशन में विशिष्ट सहयोग

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में उन महानुभावों का सहयोग तो है ही, जिन्होंने स्थायी सदस्य बनकर सहायता की। उनके अतिरिक्त श्री रामलाल कपूर एण्ड सन्स, पेपर मर्चेण्ट प्रा० लि० अमृतसर ने इस पुस्तक के लिए विना अग्रिम-मूल्य लिए कागज देने की कृपा की, और श्री पं० भीमसेन जी शास्त्री देहली ने ५००) रु० की सहायता की। श्री ओम्प्रकाश जी तथा श्री विजयपाल जी आदि ने प्रूफ संशोधन का कार्य किया। श्री पं० बालकृष्ण जी शास्त्री, स्वामी ज्योतिषप्रकाश प्रेस, वाराणसी ने इस ग्रन्थ के मुद्रण में विशेष प्रयत्न किया। इन कार्यों के लिए उक्त सभी महानुभावों का मैं कृतज्ञ हूं।

भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान
२४।२१२ रामगंज, अजमेर

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

द्वितीय संस्करण

'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' का द्वितीय भाग लगभग ४ वर्ष पूर्व समाप्त हो चुका था। पूज्य गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के स्वर्गवास (२२ दिसम्बर १९६४) के पश्चात् ट्रस्ट का कार्यभार मुझे संभालना पड़ा। अनेकविध भयङ्कर रोगों से जर्जरित शरीर इस भारी कार्यभार को वहन करने में सर्वथा असमर्थ था फिर भी रामलाल कपूर परिवार के साथ बाल्यकाल से विशिष्ट सम्बन्ध होने के कारण मैं उनके आदेश को अस्वीकार नहीं कर सकता था, मुझे यह कार्यभार वहन करना ही पड़ा। इस समय रामलाल कपूर ट्रस्ट का कार्य भारत-विभाजन के पश्चात् काशी में चल रहा था,

---

१. श्रीमान् छोवड़ा जी लगभग ११-१२ वर्ष तक मुझे यह सहायता देते रहे।

परन्तु वहां का जलवायु मेरे लिए सर्वथा प्रतिकल था। अतः ट्रस्ट के अधिकारियों ने सं० २०२६ के अन्त में ट्रस्ट का कार्य सोनीपत (हरियाणा) में स्थानान्तरित किया। मैं उससे लगभग दो वर्ष पूर्व सोनीपत आ गया था। अतः पूर्णतया ट्रस्ट के कार्य में लग जाने पर मैंने स्वयं प्रकाशित समस्त ग्रन्थराशि लागत मूल्य पर ट्रस्ट को दे दी। तदनुसार संस्कृत व्याकरण-शास्त्र के इतिहास को छपवाने का उत्तरदायित्व ट्रस्ट पर ही था। ट्रस्ट लगभग ४ वर्ष से समाप्त हुए इस ग्रन्थ को आर्थिक कारणों से प्रकाशित करने में असमर्थ रहा। प्रथम भाग का प्रकाशन ट्रस्ट की ओर से कथंचित् हुआ, परन्तु दूसरे भाग का प्रकाशन सम्भव न देखकर इसे मैंने स्वयं छपवाने का प्रयत्न किया।

द्वितीय भाग का यह संस्करण पहले की अपेक्षा परिष्कृत एवं परिवर्धित है। इसी के साथ इस ग्रन्थ का **तृतीय भाग भी प्रकाशित हो रहा है**। इस प्रकार अब यह ग्रन्थ तीन भागों में परिपूर्ण हो गया है।

द्वितीय भाग की छपाई के व्यय का प्रबन्ध न होने से मैंने करनाल निवासी राय साहब श्री चौधरी प्रतापसिंह जी से ५०००) पांच सहस्र रुपया एक वर्ष के लिए ऋण रूप में देने की प्रार्थना की। आपने बड़ी उदारता से मुझे पांच सहस्र रुपया इस कार्य के लिए दे दिया। आपकी इस उदारता के लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस में यह ग्रन्थ छपा है। इसके लिए ट्रस्ट के अधिकारियों का भी मैं अनुगृहीत हूं। इन्हीं की उदारता से तृतीय भाग की छपाई का भी प्रबन्ध हुआ है।

रा० ला० क० ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत)

श्रावण पूर्णिमा, सं० २०३०, — **विदुषां वशंवदः—**

१७ अगस्त १९७३। — **युधिष्ठिर मीमांसक**

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

द्वितीय भाग

विषय-सूची

अध्याय विषय पृष्ठ

१८—शब्दानुशासन के खिल-पाठ १

पञ्चाङ्ग-व्याकरण पृष्ठ १। खिल शब्द का अर्थ २। जिनेन्द्रबुद्धि और हरदत्त की भूल ३। धातुपाठ आदि का शब्दानुशासन से पृथक्करण का कारण ४। पृथक्करण से हानि ४। सूत्रपाठ और खिलपाठ के समान प्रवक्ता ५। पाणिनि और खिलपाठ ५। पाणिनीय खिलपाठ और जिनेन्द्रबुद्धि ५। व्याकरणशास्त्र का एक अन्य अङ्ग ६। व्याकरणशास्त्र से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ ६।

१९—शब्दों के धातुजत्व और धातु के स्वरूप पर विचार ७

शब्दों का वर्गीकरण—चतुर्धा विभाग ७, त्रिधा विभाग ८, द्विधा विभाग ८, एकविधत्व ६, त्रिधा विभाग की युक्तता ६, नाम शब्दों का त्रिधा विभाग—यौगिक, योगरूढ, रूढ ६; अन्यथा विभाग—जाति शब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द, यदृच्छा शब्द ६। यदृच्छा शब्द संस्कृत भाषा के अङ्ग नहीं—६; यदृच्छा शब्दों का रूढत्व १०, यदृच्छा शब्दों का वैयर्थ्य १०। सम्पूर्ण शब्दों का यौगिकत्व—११। यौगिकत्व से रूढत्व की ओर गति ११, अव्ययों का रूढत्व १२, नाम शब्दों का योगरूढत्व और रूढत्व १२, रूढ माने गये शब्दों के विषय में विवाद १२। उणादिसूत्रों के पार्थक्य का कारण—१३, उणादिसूत्रों के सम्बन्ध में भ्रान्ति १३, औणादिक शब्दों के विषय में पाणिनीय मत १४। सम्पूर्ण नामशब्दों की रूढत्व में परिणति—१५।

तद्धितान्त भी रूढ शब्द १६। **धातुस्वरूप**—धातुलक्षण १६, शब्दों के धातुजत्व पर विचार १७, भारतीय मत का स्पष्टीकरण १७, प्राचीन वाङ्मय के साहाय्य से स्पष्टीकरण १७। **धातु का प्राचीन स्वरूप**—धातुलक्षण का स्पष्टीकरण १८, धातु=प्रातिपदिक १८, अति प्राचीन शब्दप्रवचन शैली १९, उत्तरकालीन स्थिति २१, अवरकालीन स्थिति २२। **वर्तमान धातुपाठों में मूलभूत शब्दों का निर्देश**—दस प्रकार से धातुपाठ में मूल शब्दों का उल्लेख २१-२५।

२०—धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता (१) २६

पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य—१. इन्द्र २७। २. वायु २७। ३. भागुरि २७। ४. काशकृत्स्न-धातुपाठ की उपलब्धि २८, धातुपाठ का नामान्तर २९, काशकृत्स्न धातुपाठ का वैशिष्ट्य ३०, व्याख्याकार चन्नवीर कवि ३६, व्याख्या का वैशिष्ट्य ३७। ५. शाकटायन ३९। ६. आपिशलि ४०।

२१—धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता (२)[पाणिनि]४४

६. **पाणिनि और उसका धातुपाठ**—धातुपाठ के पाणिनीयत्व पर आक्षेप ४४, पाणिनीयत्व में प्रमाण ४८, क्या धात्वर्थ-निर्देश अपाणिनीय है? ५२, धातुपाठ का द्विविध प्रवचन (लघु-वृद्ध) ६०, क्या अर्थ-निर्देश भीमसेन का है? ६३, वृद्धपाठ का त्रिविधत्व ६५, पाठ की अव्यवस्था ६७, साम्प्रतिक पाठ सायण-परिष्कृत है ७१, संहितापाठ का प्रामाण्य ७२, उभयथा सूत्रविच्छेद पाणिनीय है ७३, धातुपाठ सस्वर था ७४, पाणिनीय धातुपाठ का आश्रय—प्राचीन धातुपाठ ७५, श्लोकबद्ध धातुपाठ ७८, धातुपाठ से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ ७९।

धातुपाठ के व्याख्याता—१. पाणिनि ८३; २. सुनाग ८४; ३. भीमसेन ८५; ४. धातुपारायण ८९। ५. अज्ञातनामा ८९; ६. नन्दिस्वामी ९०; ७. राजश्री-धातुवृत्तिकार ९०; ८. नाथीय-धातुवृत्तिकार ९१; ९. कौशिक ९१; १०. क्षीरस्वामी—देशकाल ९२, क्षीरस्वामी स्वीकृत धातुपाठ ९७, क्षीरतरङ्गिणी का हमारा संस्करण ९७, क्षीरस्वामी के अन्य ग्रन्थ ९८; ११. मैत्रेयरक्षित—परिचय १०१, अन्य ग्रन्थ १०२, धातुप्रदीप टीका १०२; १२. हरियोगी १०३; १३. देव १०४; १४. कृष्ण लीलाशुक मुनि—पुरुषकारवार्तिक १०६;

अन्य ग्रन्थ १०६; १५. काश्यप १०७; १६. आत्रेय १०७; १७. हेलाराज १०६; १८. सायण—परिचय ११०, धातुवृत्ति का निर्माण काल ११०, धातुवृत्ति का निर्माता १११, धातुवृत्ति का वैशिष्टय १११; प्रक्रिया-ग्रन्थों के अन्तर्गत धातुव्याख्यान ११२।

२२—धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता (३) [पाणिनि से उत्तरवर्ती] ११५

७. **कातन्त्र-धातु-प्रवक्ता**—११६, कातन्त्र धातुपाठ ११६, काशकृत्स्न का संक्षेप ११६, हस्तलेख ११६, कातन्त्र धातुपाठ का शर्ववर्मा द्वारा पुनः संक्षेप ११७, दुर्गसिंह द्वारा पुनः परिष्कार ११७; वृत्तिकार—१. शर्ववर्मा ११८, २. दुर्गसिंह ११६, ३. त्रिलोचनदास १२०, ४. रमानाथ १२१, ८. **चन्द्रगोमी**—१२२, वृत्तिकार—१. चन्द्र १२४, २. पूर्णचन्द्र १२५, ३. कश्यपभिक्षु १२५। **६. क्षपणक** १२६। **१०. देवनन्दी** १२६, दो पाठ १२६, वृत्तिकार—१. देवनन्दी १२७, २. श्रुतपाल १२८, ३. आर्यश्रुतकीर्ति १२६, ४. वंशीधर १२६। **११. वामन** १२६। **१२. पाल्यकीर्ति** १३०, वृत्तिकार—१. पाल्यकीर्ति १३१, २. धनपाल १३२, प्रक्रियाग्रन्थकार १३२। **१३. शिवस्वामी** १३२। **१४. भोजदेव** १३३, वृत्तिकार—नाथीय वृत्तिकार १३३, प्रक्रियान्तर्गत धातुव्याख्यान १३३। **१५. बुद्धिसागर सूरि** १३३। **१६. भद्रेश्वर सूरि** १३४। **१७. हेमचन्द्रसूरि** १३५, वृत्तिकार—१. हेमचन्द्र १३५, २. गुणरत्न १३५, ३. जयवीर गणि १३६, ४. अज्ञातनामा—टिप्पणीकार १३७, ५. आख्यात वृत्तिकार १३७, ६. श्रीहर्षकुल गणि १३७। **१८. मलयगिरि** १३८। **१६. क्रमदीश्वर** १३८। २०. **सारस्वत-धातुपाठकार**[1] १३८। २१. **वोपदेव**[1] १३८। २२. **पद्मनाभदत्त** १३८। २३. **विनयसागर** १३८। सारस्वत धातुपाठ १३८। वोपदेवीय धातुपाठ कविकल्पद्रुम १४०, व्याख्या—कविकामधेनु—रामनाथीय, धातुदीपिका १४०। धातुपाठसम्बद्धकतिपय ग्रन्थ और ग्रन्थकार १४०, अज्ञात सम्बध हस्तलिखित ग्रन्थ १४३।

---

१. इसी प्रकरण में आगे देखें।

२३—गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता १४४

गणपाठ का स्थान १४४, गणशब्द का अर्थ १४४, गण और समूह में भेद १४४, गणपाठ शब्द का अर्थ १४४, गणपाठ का सूत्रपाठ से पार्थक्य १४५, गणशैली का उद्भव १४६।

पाणिनि से पूर्ववर्ती—१. भागुरि १४७, **२. शान्तनव**[1] १४८। **३. काशकृत्स्न** १४८। **४. आपिशलि** १४९, पाणिनि से पूर्ववर्ती अन्य गणकार १५०।

५. पाणिनि—गणपाठ का अपाणिनीयत्व १५२, पाणिनीयत्व और उसमें प्रमाण १५४, गणपाठ के दो पाठ १५८, गणों के दो भेद १६३। **गणपाठ के व्याख्याता**—१. पाणिनि १६४, २. नामपारायणकार १६५, ३. क्षीरस्वामी १६६, ४. गणपाठ-विवृत्तिकार १६९, ५. पुरुषोत्तमदेव १७०, ६. नारायणन्यायपञ्चानन १७१, ७. यज्ञेश्वरभट्ट १७०, **अन्य ग्रन्थ**--१. श्लोक गणकार १७२, २. गणपाठ कारिकाकार १७३, गणकारिका व्याख्याता—रासिकर १७३, ३. गणसंग्रहकार—गोवर्धन १७३, ४. गणपाठकार—रामकृष्ण १७३, ५. गणपाठ श्लोक १७४।

पाणिनि से उत्तरवर्ती—**६. कातन्त्र गणकार** १७४; **७. चन्द्रगोमी** १७६, गणपाठ की विशिष्टता १७६, स्वामी दयानन्द सरस्वती की चेतावनी १७९; **८. क्षपणक** १८१। **९. देवनन्दी** १८१; गुणनन्दी १८१। **१०. वामन** १८३। **११. पाल्यकीर्ति** १८३। **१२. भोजदेव** १८७। **१३. भद्रेश्वर सूरि** १८९. **१४. हेमचन्द्रसूरि** १९०, पाल्यकीर्ति का अनुकरण १९०, व्याख्या १९२; **१५. वर्धमान** १९२, गणरत्नमहोदधि--के व्याख्याकार—गङ्गाधर १९३, गोवर्धन १९४, बालकृष्ण शास्त्री १९४; **१६. क्रमदीश्वर** १९४, **१७. सारस्वतकार** १९४; **१८. वोपदेव** १९६; **१९. पद्मनाभदत्त** १९६; २०. **कुमारपाल** १९७; २१. **अरुणदत्त** १९८; २२. **द्रविण वैयाकरण** १९८; २३. **पारायणिक** १९८; २४. **रत्नमति** १९९; २५. **वसुक्र** १९९; २६. **वृद्धवैयाकरण** २००; २७. **सुधाकर** २००; [मुग्धबोधीयगणपाठ प्रथम भाग पृष्ठ ७१७ द्र०]।

१. 'शन्तनु' के स्थान में सर्वत्र 'शान्तनव' होना चाहिये।

२४—उणादि सूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता २०२

उणादि सूत्रों की निदर्शनार्थता २०३, उणादि-पाठ के नामान्तर २०३, उपलभ्यमान प्राचीन उणादि सूत्र २०५।

पाणिनि से पूर्ववर्ती—१. काशकृत्स्न २०५; २. शान्तनव[1] २०७; ३. आपिशलि २०७।

४. पाणिनि २०६; पञ्चपादी का प्रवक्ता २०६, शाकटायन प्रोक्त मानने में भ्रान्ति का कारण २११, दशपादी का प्रवक्ता २११, पञ्चपादी का मूल त्रिपादी २१५, पञ्चपादी के अवान्तर पाठ २१६।

पञ्चपादी के व्याख्याकार—१. भाष्यकार २१८, २ गोवर्धन २१८, परिचय २१८; ३. दामोदर २२०, ४. पुरुषोत्तमदेव २२१, ५. सूतीवृत्तिकार २२२, ६. उज्ज्वलदत्त २२२, देश काल २२३, ७. दिव्याशील २२६, ८. श्वेतवनवासी २२७, ६. भट्टोजि दीक्षित २३०, १०. नारायणभट्ट २३१, ११. महादेव वेदान्ती २३१, वाचस्पति गैरोला की भूल २३३, १२. रामभद्र दीक्षित २३४, १३. वेङ्कटेश्वर २३५, १४. पेरुसूरि २३६, १५. नारायण सुधी २३७, १६. शिवराम २३८, १७. रामशर्मा २३६, १८. स्वामी दयानन्द सरस्वती २४०, वृत्ति का वैशिष्ट्य २४०, वृत्तिकार का साहस २४१, अन्य वैशिष्ट्य २४२, पाठभ्रंश २४३। १६, २०, २१, २२. अज्ञातनाम २४४-२४५, **दशपादी उणादिपाठ** २४५, दशपादी का आधार पञ्चपादी २४५, दशपादी का वैशिष्ट्य २४७, **वृत्तिकार**—१. माणिक्यदेव २५०, २ अज्ञातनाम २५६, ३. विट्ठलार्य २५७।

पाणिनि से उत्तरवर्ती—५. कातन्त्र उणादिकार २५८, वृत्तिकार-दुर्गसिंह २५६; **६. चन्द्राचार्य २६०; ७. क्षपणक २६१; ८. देवनन्दी २६१; ६. वामन २६१; १०. पाल्यकीर्ति २६३; ११. भोजदेव २६३;** वृत्तिकार-भोजदेव, दण्डनाथ, रामसिंह, पदसिन्धु-सेतुकार २६४; **१२. बुद्धिसागर सूरि २६५; १३. हेमचन्द्रसूरि २६५; १४. मलयगिरि २६६; १५. क्रमदीश्वर २६५,** वृत्तिकार-क्रमदीश्वर, जुमरनन्दी, शिवदास २६६-२६७; **१६. मुग्धबोध सम्बद्ध**

---

१. ग्रन्थ में 'शन्तनु' पाठ छपा है, वहां सर्वत्र '**शान्तनव**' शोधें।

उणादिपाठ २६७; **१७. सारस्वत उणादिकार** २६८; **१८. रामाश्रम** २६८, **व्याख्याकार**—रामाश्रम, लोकेश्वर, सदानन्द, व्युत्पत्तिसारकार २६८,२६६; **१६. पद्मनाभदत्त** २६६।

अनिर्ज्ञातसम्बन्ध वृत्तिकार—१. उत्कलदत्त २७०, २. उणादि-विवरणकार २७०, ३. उणादिवृत्तिकार २७१, ४. हरदत्त २७१, ५. गङ्गाधर २७१, ६. व्रजराज २७१, ७. संक्षिप्तसारकार २७२।

२५—लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता और व्याख्याता २७३

पाणिनि से पूर्ववर्ती—१. शन्तनु[1] २७४; २. व्याडि २७४।

३. पाणिनि २७५, व्याख्याकार—१. भट्ट उत्पल २७६, २. रामचन्द्र २७७, ३. भट्टोजि दीक्षित २७७, ४. नारायण भट्ट २७७ ५. रामानन्द २७८, ६. अज्ञातनामा २७८, ७. ८. अज्ञातनामा, ६. नारायणसुधी २५७, १०. तारानाथ तर्क-वाचस्पति २७६।

पाणिनि से उत्तरवर्ती—४. चन्द्रगोमी २७६; **५. वररुचि** २८०; **६. अमरसिंह** २८२; **७. देवनन्दी** २८२, **८. शङ्कर** २८३; **६. हर्षवर्धन** २८४, टीकाकार-पृथ्वीश्वर अथवा शबर स्वामी २८५; **१०. दुर्गसिंह** २८७; **११. वामन** २८८; **१२. पाल्यकीर्ति** २६२; **वृत्तिकार**—पाल्यकीर्ति २६३, यक्षवर्मा २६३; **१३. भोजदेव** २६४; **१४. बुद्धिसागर सूरि** २६४; **१५. अरुणदेव** २६५; **१६. हेमचन्द्र सूरि** २६५; **व्याख्याकार**—हेमचन्द्र, कनकप्रभ, जयानन्द, केशरविजय २६५, २६६, विवरणव्याख्याकार—वल्लभ गणि २६६; **१७. मलयगिरि** २६७; **१८. मुग्धबोध संबद्धलिङ्गानुशासन** २६७; **१६. हेलाराज** २६७; **२०. रामसूरि** २६७; **२१. वेङ्कटरङ्ग** २६८; **२२-२३. अज्ञातनाम** २६७; **२४. नवलकिशोर शास्त्री** २६८; **२५. सरयूप्रसाद** २६६।

अनिर्णीतसम्बन्ध लिङ्गप्रवक्ता या लिङ्गानुशासन—१. जैमिनिकोश २६६, २. कात्यायन २६६, ३. व्यास २६६, ४. आनन्द कवि ३००, ५. दण्डी ३००, ६. वात्स्यायन ३००, ७. शाश्वत ३००, ८. रामनाथ विद्यावाचस्पति ३००, ६. लिङ्गकारिका ३००, १०. जयानन्द सूरि ३००, ११. नन्दी ३००, १२. लिङ्गप्रबोध ३००, १३. विद्यानिधि ३००, १४. जयसिंह ३०१, १५. पद्मनाभ ३०१।

---

१. यहां 'शान्तनव' शब्द होना चाहिये।

२६—परिभाषापाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता ३०२

परिभाषा का लक्षण ३०२, परिभाषाओं का द्वैविध्य ३०३, परिभाषाओं का प्रमाण्य ३०४, परिभाषाओं का चातुर्विध्य ३०४, परिभाषाओं का मूल ३०५।

परिभाषा-प्रवक्ता—१. काशकृत्स्न ३०७; २. व्याडि ३०७; परिभाषापाठ का नाम ३०९, अनेक प्रकार के पाठ ३१०, वैशिष्ट्य ३११, वृत्तिकार ३११; **३. पाणिनि ३१२।** परिभाषापाठ के व्याख्याता—१. हरदत्त ३१३, २. अज्ञातनाम ३१३; ३. पुरुषोत्तमदेव ३१३; ४. सीरदेव ३१५; व्याख्याकार—श्रीमान् शर्मा ३१६, रामभद्र दीक्षित ३१७, अज्ञातनामा ३१७; ५. शेषविष्णु ३१७; ६. परिभाषाविवरण कार ३१८; ७. परिभाषावृत्तिकार ३१८; ८. नीलकण्ठ वाजपेयी ३१९, ९. भीम ३२०; वैद्यनाथ ३२०; व्याख्याकार—स्वयंप्रकाशनन्द सरस्वती ३२२; अप्पा दीक्षित ३२२; ११. हरि भास्कर अग्निहोत्री ३२३; १२. हरि भास्कर अग्निहोत्री का शिष्य ३२५; १३. धर्मसूरि ३२५, १४. अप्पा सुधी ३२६; १५. उदयंकर भट्ट ३२६; १६, नागेश भट्ट ३२७, नौ टीकाकार ३२८; १७. शेषाद्रिनाथ सुधी ३२९; १८. रामप्रसाद द्विवेदी ३२९; १९. गोविन्दाचार्य ३३०; २० परिभाषाविवृत्तिकार ३३०; २१. परिभाषाविवृत्ति—व्याख्याकार ३३०, २२, २३ परिभाषा-वृत्तिकार ३३१।

पाणिनि से उत्तरवर्ती—४. कातन्त्र-परिभाषा-प्रवक्ता ३३१, वृत्तिकार—अज्ञातनाम ३३३, दुर्गसिंह ३३४, कवीन्दु जयदेव ३३४, भावमिश्र ३३४, माधवदास कविचन्द्रभिषक ३३५; **५. चन्द्रगोमी ३३५; ६. जैनेन्द्र सम्बद्ध परिभाषा ३३७; ७. शाकटायन तन्त्र-संबद्ध परिभाषा ३३७, ८. श्री भोजदेव ३३७; ९. हेमचन्द्राचार्य** ३३८; पूरक-हेमहंसगणि ३३९, व्याख्याकार—अज्ञातनाम ३४०, हेमहंसगणि ३४०, विजयलावण्यसूरि ३४१; **१०. मुग्धबोध संबद्ध परिभाषा ३४१,** वृत्तिकार—रामचन्द्र विद्याभूषण ३४२; **११. पद्नाभदत्त ३४२,** टीकाकार—३४३।

२७—फिट्सूत्र का प्रवक्ता और व्याख्याता ३४५

फिट्सूत्रों की आवश्यकता ३४५, नागेश का स्ववचो-विरोध ३४५, पाणिनीय मत ३४५, पाणिनीय व्याख्याकार ३४५, फिट्सूत्रों

का प्रवक्ता ३४६, फिट्सूत्रों का प्रवचनकाल ३५०, कीथ की भूल ३५३, नामकरण का कारण ३५३, फिट्सूत्र बृहत्तन्त्र के एकदेश ३५३, फिट्सूत्रों का पाठ ३५६ ।

वृत्तिकार—१, २, ३. अज्ञातनाम ३२७-३२८; ४. विट्ठल ३५८; ५. भट्टोजिदीक्षित ३५८, व्याख्याकार-भट्टोजि ३५८, जयकृष्ण ३५८, नागेश ३५६; ६. श्रीनिवासयज्वा ३५६ ।

२८—प्रातिशाख्य आदि के प्रवक्ता और व्याख्याता ३६०

उपलब्ध अथवा ज्ञात प्रातिशाख्य ३६१, प्रातिशाख्य के पर्याय ३६१, प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ ३६१, चरण और शाखाओं का भेद ३६३, प्रतिशाखा शब्द का मूल अर्थ ३६३, आधुनिक विद्वानों की भूल ३६५, पार्षद-पारिषद शब्द का अर्थ ३६५ ।

प्रातिशाख्यों का स्वरूप—३६७, डा० वर्मा का निराधार आक्षेप ३६६, प्रातिशाख्य और ऐन्द्र सम्प्रदाय ३६६ ।

ऋग्वेद के प्रातिशाख्य—३७१, **प्रवक्ता**—१. **शौनक** ३७१ काल ३७२, सामान्य परिचय ३७३, ऋक्प्रातिशाख्य का आरम्भ ३७३, डा० मङ्गलदेव की भूल ३७४, **व्याख्याकार**—भाष्यकार ३७७, आत्रेय ३७७, विष्णुमित्र ३७८, उव्वट ३७६, सत्ययशाः ३८०, अज्ञातनाम ३८१, पशुपतिनाथ ३८१ । २. **आश्वलायन** ३८१, काल ३८२, पाश्चात्य विद्वानों की भूल ३८२; ३. **बाष्कल-पार्षद-प्रवक्ता** ३८३; ४. **शाङ्खायन पार्षद-प्रवक्ता** ३८३ ।

शुक्लयजुःप्रातिशाख्य—५. **कात्यायन** ३८४, अन्य ग्रन्थ ३८ , प्रातिशाख्य परिशिष्ट ३८६; **व्याख्याकार**—उव्वट ३८६, अनन्त भट्ट ३८७, श्रीराम शर्मा ३८६, राम अग्निहोत्री ३६०, शिवराम ३६१, विवरणकार ३६२ । **प्रातिशाख्यानुसारिणी शिक्षा**—३६२, बालकृष्ण शर्मा ३६२, अमरेश ३६४ ।

कृष्णयजुःप्रातिशाख्य—६. **तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार**, ३६४, ह्विटनी के आक्षेप ३६५, समाधान ३६५, कस्तूरि रङ्गाचार्य का सत्साहस ३६५, **व्याख्याकार**—आत्रेय ३६६, वररुचि ३६७, माहिषेय ३६८, सोमयार्य ३६८, गार्ग्य गोपालयज्वा ३६६, वीरराघव कवि ४००, भैरवाचार्य ४०१, पद्मनाभ ४०१, अज्ञातनाम ४०१ । ७.

मैत्रायणीय प्रातिशाख्यकार ४०१; **८. चारायणीय प्रातिशाख्यकार** ४०३।

सामप्रातिशाख्य—३६७; **९. सामप्रातिशाख्य-प्रवक्ता**—वररुचि ४०४, आपिशलि ४०४; पुष्पसूत्र के दो पाठ ४०५, **व्याख्याकार-**भाष्यकार ४०६, अन्ये शब्दोदाहृत ४०७, उपाध्याय अजातशत्रु ४०७, रामकृष्ण दीक्षित सूरि ४०७।

अथर्वप्रातिशाख्य—**१०. अथर्वपार्षद-प्रवक्ता** ४०८, काल ४०८, दो पाठ ४१०, शाखासम्बन्ध ४१०; बृहत्पाठ का संस्करण ४१०, अन्यथा संशोधन ४११, पं० विश्वबन्धु की भूल ४१२; अथर्वप्रातिशाख्यभाष्य ४१४। **११. अथर्वचतुरध्यायीप्रवक्ता** ४१४, काल ४१५; **१२. प्रतिज्ञासूत्रकार** ४१५; **व्याख्याकार**—अनन्तदेव याज्ञिक ४१६; **१३. भाषिकसूत्रकार** ४१९, **व्याख्याकार**—महास्वामी ४१९, अनन्तदेव ४१९; **१४. ऋक्तन्त्रप्रवक्ता**—शाकटायन ४२०, औदव्रजि ४२०, प्रवक्तृत्व पर विचार ४२२: डा० सूर्यकान्त का विचार ४२२, हमारा विचार ४२२, औदव्रजि का देश ४२५, ऋक्तन्त्र का द्विविध पाठ ४२३; **व्याख्याकार**—अज्ञातनाम भाष्यकार ४२४. अज्ञातनाम वृत्तिकार ४२४, विवृत्तिकार ४२३, अज्ञातनाम व्याख्याता ४२६; **१५. लघुऋक्तन्त्रकार** ४२६; **१६. सामतन्त्रप्रवक्ता** ४२६, **भाष्यकार**—भट्ट उपाध्याय ४२७। **१७. अक्षरतन्त्रप्रवक्ता** ४२८, **वृत्तिकार** ४२८; **१८. छन्दोग व्याकरण** ४२९।

२९—**व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार** ४३०

१. स्फोटायन ४३५; **२. औदुम्बरायण** ४३२; **३ व्याडि** ४३३; **४. पतञ्जलि** ४३४; **५ भर्तृहरि** ४३६; वाक्यपदीय नाम पर विचार ४३६, ग्रन्थपात ४३८, वाक्यपदीय के संस्करण ४४०, भाषातत्त्व और वाक्यपदीय ४४१; **वाक्यपदीय के व्याख्याता**—भर्तृहरि ४४१, स्वोपज्ञ व्याख्या के नाम ४४२, दो पाठ ४४३, **वृति के व्याख्याकार**—वृषभदेव से प्राचीन टीकाएं ४४३, वृषभदेव ४४४, धर्मपाल ४४४, पुण्यराज ४४४, हेलाराज ४४५, फुल्लराज ४४७, गङ्गादास ४४७; **६. [1]मण्डनमिश्र** ४४८, काल ४४९; **टीकाकार**—

१. यहां (पृष्ठ ४४८) पर प्रधान संख्या निर्देश में १ संख्या की भूल से वृद्धि हो गई है। सूचीपत्र में ठीक संख्या दी है। कृपया पाठक ठीक कर लें।

परमेश्वर ४५०, काल ४५१, निरुक्त वार्तिक के उद्धरण में निरुक्त का शुद्ध अर्थ ४५१, स्वामी दयानन्द की सूझ ४५२; **७. भरत मिश्र ४५२; ८. स्फोटसिद्धिन्यायविचारकर्त्ता** ४५४, **६-१३. स्फोट-विषयक ग्रन्थकार ४५५; १४. वैयाकरणभूषण-रचयिता ४५५, भूषणसार के व्याख्याता**—हरिवल्लभ ४५६, हरिभट्ट ४५७, मन्नुदेव ४५७, भैरवमिश्र ४५७, रुद्रनाथ ४५८, कृष्णमिश्र ४५८। **१५. नागेशभट्ट ४५८,** मञ्जूषा के दो पाठ ४५८, **टीकाकार**—दुर्बलाचार्य ४५६, वैद्यनाथ ४५६; १६. **ब्रह्मदेव ४५६;** जगदीश तर्कालङ्कार ४५६, व्याख्याकार—कृष्णकान्त तथा रामभद्र ४६०।

३०—लक्ष्यप्रधान काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि ४६१

काव्यशास्त्र शब्द का अर्थ ४६१, लक्ष्य-प्रधान काव्यों की रचना का प्रयोजन ४६२; **१. पाणिनि ४६४;** काव्य का नाम ४६४, पाश्चात्य विद्वानों की कल्पना ४६४, उनकी कल्पना का मिथ्यात्व ४६४, पाणिनि के काल में लौकिक छन्दों का सद्भाव ४६६, चित्रकाव्यों की सत्ता ४६७, अष्टाध्यायी के प्रमाण चित्र-काव्यों में ४६७, भारतीय ग्रन्थकारों द्वारा पाणिनि काव्य के निर्देश ४६६, जाम्बवतीविजय का परिमाण ४७१, जाम्बवतीविजय को उद्धृत करनेवाले २६ ग्रन्थों के नाम ४७१; २. **व्याडि ४७३; ३. वररुचि कात्यायन ४७४;** वाररुच काव्य का नाम ४७४; **४. पतञ्जलि ४७५; ५. महाभाष्य में उद्धृत कतिपय वचन ४७६; ६. भट्ट भूम ४७७;** काल ४७८, ग्रन्थ नाम का कारण ४७६, काव्य परिचय ४७६, भट्टि और रावणार्जुनीय में अन्तर ४८०, टीकाकार वासुदेव ४८१; **७. भट्टिकाव्यकार ४८२,** भट्टिकोर का नाम ४८२, काल ४८५; भट्टि और भामह ४८५; **टीकाकार**—जटीश्वर-जयदेव-जयमङ्गल ४८७, मल्लिनाथ ४८७, जयमङ्गल ४८८, अज्ञातनाम ४८८, रामचन्द्र शर्मा ४८६, विद्याविनोद ४८६, कन्दर्प शर्मा ४८६, पुण्डरी-काक्ष-विद्यासागर ४६०, हरिहर ४६०, भरतसेन ४६०; **८. हलायुध ४६१; ६. हेमचन्द्राचार्य ४६१; १०. नारायण** ४६२; **११. वासुदेव कवि ४६३,** कीथ की भूल ४६३, **१२. नारेरी वासुदेव** ४६४; **१३. नारायण ४६४;** उपसंहार ४६५।

संशोधन परिवर्त्तन परिवर्धन तृतीय भाग में

—:ओम्:—

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

अठारहवां अध्याय

शब्दानुशासन के खिलपाठ

संस्कृत भाषा के जितने भी उपलब्ध अथवा परिज्ञात व्याकरण-शास्त्र हैं, उनमें प्रायः प्रत्येक पांच अङ्गों में विभक्त है। अत एव वैयाकरण-निकाय में व्याकरण की कृत्स्नता के द्योतन के लिए **पञ्चाङ्ग व्याकरण** आदि शब्दों का व्यवहार होता है।

पञ्चाङ्ग व्याकरण यथा—

हेमचन्द्राचार्यः श्रीसिद्धहेमाभिधानाभिधं पञ्चाङ्गमपि व्याकरणं सपादलक्षपरिमाणं संवत्सरेण रचयाञ्चक्रे।[1]

पञ्चग्रन्थी—बुद्धिसागर सूरि विरचित 'बुद्धिसागर' व्याकरण का दूसरा नाम 'पञ्चग्रन्थी' व्याकरण है। इसमें सूत्रपाठ के साथ साथ अन्य खिल पाठ के ग्रन्थों का भी प्रवचन होने से यह 'पञ्चग्रन्थी' नाम से प्रसिद्ध है।

व्याकरण-शास्त्र के ये पांच अङ्ग वा ग्रन्थ इस प्रकार माने जाते हैं—

शब्दानुशासन (सूत्रपाठ), **धातुपाठ**, **गणपाठ** (=**प्रातिपदिकपाठ**) **उणादिपाठ**, तथा **लिङ्गानुशासन**।

इन पांचों अङ्गों वा ग्रन्थों में शब्दानुशासन मुख्य हैं। शेष चार

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ४६०।

अङ्ग शब्दानुशासन के उपकारी होने से शब्दानुशासन की अपेक्षा गौण हैं। अत एव ये धातुपाठ आदि शब्दानुशासन के **खिल** माने जाते हैं।

खिल शब्द का अर्थ—खिल शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। शतपथ और शाङ्खायन ब्राह्मण में खिल शब्द ऊषर भूमि के लिए प्रयुक्त होता है।[1] गोपथ ब्राह्मण तथा मनुस्मृति आदि में खिल शब्द का प्रयोग ग्रन्थ के परिशिष्टरूप से संगृहीत अंश के लिए उपलब्ध होता है।[2] वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त खिल शब्द का प्रयोग '**स्व-शाखा-अनधीत स्वशाखीयकर्मोपयोगी परशाखीय मन्त्र-संग्रह**' अर्थ में मिलता है।[3] इनका **परिशिष्ट** शब्द से भी व्यवहार होता है।[4]

खिल का अवयव अर्थ—खिल शब्द का एक अर्थ अवयव भी है। कृत्स्न अर्थवाची नञ्समास घटित **अखिल** शब्द में खिल का अर्थ अवयव=भाग ही है।[5]

धातुपाठ आदि के लिए खिल शब्द का प्रयोग—धातुपाठ आदि अङ्गों के लिए खिल शब्द का प्रयोग काशिका में उपलब्ध होता है। अष्टाध्यायी १।३।२ की व्याख्या में काशिकाकार ने लिखा है—

उपदिश्यतेऽनेनेत्युपदेशः शास्त्रवाक्यानि सूत्रपाठः खिलपाठश्च।

सरस्वतीकण्ठाभरण १।१।७ की हृदयहारिणी व्याख्या में दण्डनाथ

---

१. यद्वा उर्वरयोरसंभिन्नं भवति खिल इति वै तदाचक्षते। शत० ८।३।४।१; शांखा० ३०।८॥ उर्वरयोः सर्वसस्याढ्ययोः क्षेत्रयोः असम्भिन्न-मसंस्पृष्टं भवति स्वयमसस्यं भवति, तत्क्षेत्रं खिल इत्युच्यते इति शतपथव्याख्याने सायणः।

२. सामवेदे खिलश्रुतिः। गोपथ १।१।२६॥ स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि। आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च॥ मनु० ३।२३२॥

३. परशाखीयं स्वशाखायामपेक्षावशात् पठ्यते तत् खिलमुच्यते। महाभारत नीलकण्ठ-टीका, शान्ति० ३२३।१०॥

४. द्र० पं० सातवलेकर मुद्रापित ऋग्वेद के अन्त में 'अथ परिशिष्टानि'।

५. कोशव्याख्याकार अखिल शब्द की व्युत्पत्ति 'नास्ति खिलं शून्यं यस्मिं-स्तत्' दर्शाते हैं।

ने भी काशिका के शब्दों का ही उल्लेखन किया है ।[1]

काशिका की व्याख्या में न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि लिखता है—

खिलपाठो धातुपाठः चकारात् प्रातिपदिकपाठश्च ।

काशिका १।३।२ की व्याख्या में हरदत्त ने वाक्यपाठ शब्द से वार्तिकपाठ का भी निर्देश किया है—

खिलपाठो धातुपाठः प्रातिपदिकपाठो वाक्यपाठश्च ।

हरदत्त ने वाक्यपाठ शब्द से वार्तिकपाठ का निर्देश किया है। वैयाकरणनिकाय में वार्तिककार के लिए 'वाक्यकार' पद सुविज्ञात है।[2] हमें वार्त्तिकों के लिए खिल शब्द का प्रयोग अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ। हमारे विचार में पदमञ्जरीकार का उक्त निर्देश चिन्त्य है।

जिनेन्द्रबुद्धि और हरदत्त की भूल—काशिका के 'खिलपाठ' शब्द की व्याख्या में जिनेन्द्रबुद्धि और हरदत्त दोनों ने भूल की है। जिनेन्द्रबुद्धि ने खिलपाठ शब्द से केवल धातुपाठ का निर्देश किया है, और गणपाठ का संग्रह चकार से किया है। जिस प्रकार धातुपाठ का शब्दानुशासन के **भूवादयो धातवः** (१।३।१) सूत्र के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, उसी प्रकार गणपाठ का भी शब्दानुशासन के तत्तत् सूत्रों के साथ सीधा सम्बन्ध है। उणादिपाठ भी **उणादयो बहुलम्** (३।३।१) सूत्र का ही प्रपञ्च है। अत एव भर्तृहरि ने उणादिपाठ के लिए भी खिलपाठ शब्द का प्रयोग किया है।[3] इसलिए खिलपाठ शब्द से **धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन इन चारों का संग्रह जानना चाहिए।** हरदत्त ने खिलपाठ के अन्तर्गत वाक्यपाठ का भी निर्देश किया है, यह भी चिन्त्य है, यह पूर्व लिख चुके हैं। वस्तुतः वाक्यपाठ=वार्तिकपाठ का संग्रह चकार से करना चाहिए।

---

१. तुलना करो—उपदेशो नाम सूत्रपाठः खिलपाठः । परिभाषासंग्रह (पूना संस्क०) पृष्ठ ५।

२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, 'अष्टाध्यायी के वार्तिककार' अध्याय में 'वार्त्तिककार=वाक्यकार' शीर्षक सन्दर्भ।

३. नहि उपदिशन्ति खिलपाठे । महाभाष्य दीपिका, हमारा हस्तलेख पृष्ठ १४६। पूना संस्क० पृष्ठ १३५ में 'द्विरप्युदिशन्ति' खिलपाठे' पाठ है। तदनुसार धातुपाठ का निर्देश है।

धातुपाठ आदि के पृथक् प्रवचन का कारण—अति पुरातन काल में धातुपाठ आदि समस्त खिलपाठ शब्दानुशासन के अन्तर्गत ही तत्तत् प्रकरणों में संगृहीत थे, परन्तु उत्तरकाल में मनुष्यों की धारणाशक्ति और आयु के ह्रास के कारण जब समस्त विद्याग्रन्थों का उत्तरोत्तर संक्षेप होने लगा[1] तब प्रधानभूत शब्दानुशासन के लाघव के लिए खिलपाठों को सूत्रपाठ से पृथक् किया गया।

पृथक्करण से हानि—यद्यपि खिलपाठों को सूत्रपाठ से पृथक् कर देने से शब्दानुशासन में निश्चय ही अतिलाघव होगया, तथापि इस पृथक्करण से एक महती हानि भी हुई। आजन्म व्याकरण शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में निरत रहने वाले **व्यक्ति भी खिलपाठों के अध्ययन-अध्यापन में उपेक्षा करने लगे**। धातुपाठ और उणादिपाठ का तो थोड़ा बहुत पठन-पाठन कथंचित् चलता रहा, परन्तु सूत्रपाठ के साथ साक्षात् संबद्ध अतिमहत्त्वपूर्ण गणपाठ तो अत्यन्त उपेक्षा का विषय बन गया। गणपठित शब्दों के अर्थज्ञान की कथा तो दूर रही, उसका मूल पाठ भी सुरक्षित नहीं रहा।[2] अन्य व्याकरण संबद्ध गणपाठों के विषय में तो कहना ही क्या, सबसे अधिक प्रचलित पाणिनीय तन्त्र के गणपाठ पर भी कोई प्राचीन व्याख्यान ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।[3] समस्त गणपाठों के वाङ्मय में वर्धमान सूरि विरचित (वि० सं० ११९७) गणरत्न-महोदधि ही एकमात्र व्याख्यान ग्रन्थ उपलब्ध होता है। वर्धमान का व्याख्यान ग्रन्थ किस व्याकरण के गणपाठ पर आश्रित है, यह यद्यपि पूर्णरूप से परिज्ञात नहीं, तथापि गणपाठ के परिज्ञान के लिए समस्त वैयाकरणों का यही एकमात्र आश्रय है।

---

१. 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २६—५७ (च० संस्करण)।

२. पाणिनीय गणपाठ का अनेक हस्तलेखों और अन्य व्याकरणीय गणपाठों के साहाय्य से एक आदर्श संस्करण हमारे मित्र प्राध्यापक कपिलदेव साहित्याचार्य एम० ए० पीएच० डी० ने तैयार किया है। यह कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

३. पाणिनीय गणपाठ की एक व्याख्या यज्ञेश्वर भट्ट ने लिखी है। इसका नाम गणरत्नावली है। यह शक सं० १७९६ (वि० सं० १९३१) में लिखी गई है। इसमें गणरत्नमहोदधि की अपेक्षा कुछ वैशिष्ट्य नहीं है।

यदि यह व्याख्यान भी न होता तो हम गणपाठ के विषय में सर्वथा अज्ञान में ही रहते।

गणपाठ का सूत्रपाठ में पुनः सन्निवेश—खिलपाठों के शब्दानुशासन से पृथक् करने से उनके अध्ययन-अध्यापन में जो उपेक्षा हुई, उसको यथार्थरूप में जानकर उक्त दोष के परिमार्जन के लिए महाराज भोज ने गणपाठ और उणादिपाठ को अतिप्रचीन परिपाटी के अनुसार अपने शब्दानुशासन में पुनः सन्निविष्ट किया। परन्तु भोजीय शब्दानुशासन (सरस्वती-कण्ठाभरण) के अधिक प्रचलित न हो सकने के कारण महराज भोज के उक्त प्रयत्न का कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

सूत्रपाठ और खिलपाठ के समान प्रवक्ता—सम्प्रति पाणिनि से उत्तरकालीन जितने भी व्याकरण शास्त्र उपलब्ध हैं, उनसे संबद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, और लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता भी प्रायः वे ही आचार्य हैं, जिन्होंने मूलभूत शब्दानुशासन का प्रवचन किया। हमारी दृष्टि में एकमात्र कातन्त्र व्याकरण ही ऐसा है, जिसके उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन मूलशास्त्र-प्रवक्ता के प्रवचन नहीं है। पाणिनीय व्याकरण से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न-तन्त्र का धातुपाठ प्रकाश में आ चुका है। उसके उणादिसूत्रों में से कतिपय सूत्र धातुपाठ की चन्नवीर कविकृत कन्नड टीका[1] में स्मृत है। आपिशलि आचार्य के धातुपाठ और गणपाठ के कई उद्धरण प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों में सुरक्षित हैं।[2]

पाणिनि और खिलपाठ—वैयाकरण सम्प्रदाय के अनुसार पाणिनि ने भी स्वीय शब्दानुशासन से संबद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया था। परम सौभाग्य का विषय सम्पूर्ण पञ्चाङ्ग पाणिनीय तन्त्र विविध व्याख्यान ग्रन्थों के सहित आज हमें उपलब्ध है।

पाणिनीय खिलपाठ और जिनेन्द्रबुद्धि—पाणिनीय सम्प्रदाय में

---

१. इस टीका का संस्कृतभाषा में अनुवाद करके 'काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्' के नाम से हम प्रकाशित कर चुके हैं। २. द्र० सं० व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १५६-१५७, च० सं०।

काशिका का व्याख्याकार जिनेन्द्रबुद्धि ही एक ऐसा व्यक्ति है जो पाणिनीय शास्त्र-संबद्ध धातुपाठ आदि परिशिष्टों को सूत्रकार पाणिनि का प्रवचन नहीं मानता। जिनेन्द्रबुद्धि ने धातुपाठ आदि के अपाणिनीय सिद्ध करने में जो हेतु दर्शाये हैं, उनकी मीमांसा हम तत्तत् प्रकरणों में आगे यथास्थान करेंगे।

व्याकरण-शास्त्र का एक अन्य अङ्ग—शब्दानुशासन के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाला एक अङ्ग और भी है, और वह है **परिभाषा-पाठ**। यद्यपि परिभाषा-पाठ भी अनेक व्याकरणों के पृथक्-पृथक् उपलब्ध होते हैं, तथापि वे प्रायः अन्य खिलपाठों के समान तत्तच्छास्त्र-प्रवक्ता आचार्यों द्वारा प्रोक्त नहीं हैं। इसका संग्रह तत्तत् शास्त्रों के उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने किया।

परिभाषा-पाठ के व्याख्याकारों के मतानुसार ये परिभाषाए भी किसी प्रचीन व्याकरण के सूत्रपाठ के अन्तर्गत थीं।[1] उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने इन्हें **'लोकसिद्ध' 'न्यायसिद्ध'** अथवा **'ज्ञापकसिद्ध'** मान कर अपने तन्त्र में सन्निविष्ट नहीं किया। यतः इन परिभाषाओं द्वारा निर्दशित विषयों की उपेक्षा करके किसी भी व्याकरणशास्त्र का कार्य निर्वाह अशक्य है, अतः प्रत्येक व्याकरण के उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने मूल परिभाषापाठ में स्वस्व-शास्त्र के अनुसार यथोचित परिवर्धन परिवर्धन करके इन्हें स्वस्व-शास्त्र के साथ संबद्ध कर लिया है।

व्याकरण-शास्त्र से संबद्ध अन्य ग्रन्थ—व्याकरणशास्त्र से साक्षात संबद्ध ग्रन्थों का निर्देश ऊपर कर दिया है। इनके अतिरिक्त और भी कतिपय ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका व्याकरणशास्त्र के साथ सम्बन्ध है। वे निम्न हैं—

फिट्-सूत्र, दार्शनिक ग्रन्थ, लक्ष्य-प्रधान काव्य ग्रन्थ,
वैदिक व्याकरण (प्रातिशाख्यादि)।

इन ग्रन्थों का संक्षिप्त इतिहास भी इस ग्रन्थ में आगे यथास्थान निबद्ध किया जायगा।

इस प्रकार इस अध्याय में शब्दानुशासन के खिलपाठों का निर्देश करके अगले अध्याय में धातुपाठ में संगृहीत धातुओं के मूल स्वरूप के विषय में विचार किया जाएगा।

---

१. देखिए 'परिभाषापाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' शीर्षक अध्याय २६।

उन्नीसवां अध्याय

शब्दों के धातुजत्व और धातु के स्वरूप पर विचार

शब्दों का वर्गीकरण—प्राचीन भारतीय भाषाविदों ने संस्कृत भाषा के पदों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया है। उनमें प्रधान वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

चतुर्धा विभाग=यास्क तथा कतिपय प्राचीन वैयाकरणों ने पदों को चार विभागों में बांटा हैं। वे विभाग हैं—**नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात**।[1]

कतिपय आचार्य **कर्मप्रवचनीयों** को पृथक् गिन कर **पांच** विभाग दर्शाते हैं। अन्य **गतिसंज्ञकों** को भी पृथक् मान कर छः विभाग मानते हैं।[2] वस्तुतः कर्मप्रवचनीयों और गतिसंज्ञकों का निपातों और उपसर्गों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः उनकी पृथक् गणना की आवश्यकता नहीं है।

स्वर् आदि अव्ययों का अन्तर्भाव—पाणिनीय तन्त्र के अनुसार स्वर् आदि अव्यय निपातों से बहिर्भूत माने गए हैं।[3] पाणिनि के मत में अद्रव्यवाची चादि शब्दों की निपात संज्ञा होती है।[4] स्वर् आदि अव्ययों में अनेक शब्द द्रव्यवाची हैं। अतः पाणिनि के मत में स्वर् आदि शब्दों का निपातों में समावेश नहीं हो सकता। पदों के चतुर्धा विभाग करनेवाले प्राचीन आचार्य स्वर् आदि अव्ययों का निपातों में किस प्रकार समावेश करते थे, यह सम्प्रति अज्ञात है।

---

१. चत्वारि पदजातानि—नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। निरुक्त १।१॥ नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। नि० १३।९॥ चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। महाभाष्य अ० १, पा० १ आ० १॥

२. द्र०—नापि पञ्च षड् वा गतिकर्मप्रवचनीयभेदेनेति। निरुक्त दुर्गवृत्ति १।१, पृष्ठ १०, आनन्दाश्रम, पूना।

३. स्वरादिनिपातमव्ययम्। अष्टा० १।१।३७॥

४. चादयोऽसत्त्वे। अष्टा० १।४।५७॥

ब्रह्मवाची ओम् का निपातों में अन्तर्भाव—गोपथब्राह्मण १।१।२६ में लिखा है कि वैयाकरण [ब्रह्मवाची] ओम् का निपातों में पाठ मानते हैं।[1] इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि संभवतः प्राचीन वैयाकरण निपातसंज्ञा में असत्त्व=अद्रव्यवाचकत्व का निर्देश नहीं करते थे। अन्यथा ब्रह्मवाची ओम शब्द का निपातों में परिगणन नहीं हो सकता।[2] निपात संज्ञा में असत्त्व का निर्देश न होने पर स्वर् आदि अव्ययों का निपातों में कथंचित् अन्तर्भाव हो सकता है।[3]

त्रिधा विभाग—पाणिनीय शब्दानुशासन के अनुसार शब्द तीन प्रकार के हैं—**नाम आख्यात और अव्यय**। उपसर्ग और कर्मप्रवचनीयों का निपातों में अन्तर्भाव होता है[4] और निपातों का अव्ययों में।[5] दूसरे शब्दों में इस विभाग को नाम और आख्यात की विभक्तियों से युक्त (=सविभक्तिक) तथा उभयविध विभक्ति रहित (=निर्विभक्तिक) कह सकते हैं।

द्विधा विभाग—पाणिनीय तथा कतिपय अन्य तन्त्रों की प्रक्रिया के अनुसार शब्दों के सुबन्त और तिङन्त दो ही विभाग हैं। पाणिनि आदि ने पद संज्ञा की सिद्धि के लिए अव्ययों से भी स्वादि की उत्पत्ति करके उनके लोप का विधान किया है।[6]

---

१. निपातेषु चैनं वैयाकरणाः पठन्ति।

२. उणादिवृत्तिकार उज्ज्वलदत्त ने उणादि १।१४१ की व्याख्या में ब्रह्मवाची 'ओम्' शब्द की चादिपाठ से अव्यय संज्ञा मानी है—'चादित्वाद् अव्ययत्वम्'। ऐसा ही स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी उणादिकोश १।१४२ की व्याख्या में लिखा है। भट्टोजि दीक्षित ने उज्ज्वलदत्त के मत की समालोचना की है—'चादिपाठादव्ययत्वमित्युज्ज्वलदत्तः, तन्न, तेषामसत्त्वार्थत्वात्।' सि० कौ० उणादिप्रकरण (सं० १३६)।

३. कथंचित् इसलिए कहा है कि स्वर् आदि अव्ययों की निपात संज्ञा मानने पर 'निपाता आद्युदात्ताः' से सर्वत्र आद्युदात्तत्व की प्राप्ति होगी, जो कि इष्ट नहीं है।

४. प्राग् रीश्वरान्निपाताः (अष्टा० १।४।५६) अधिकार के अन्तर्गत उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय संज्ञाओं का निर्देश है।

५. स्वरादिनिपातमव्ययम्। अष्टा १।१।३७॥

६. अव्ययादाप्सुपः। अष्टा० २।४।८२॥

एकविधत्व—ऐन्द्र आदि कतिपय प्राचीन व्याकरण-प्रवक्ताओं के मत में समस्त शब्द अर्थवत्त्व के कारण एकविध ही माने गये है ।[1]

त्रिधा विभाग की युक्तता—पदों के स्वरूप की दृष्टि से उन्हें नाम (सुबन्त) आख्यात (तिङन्त) और अव्यय (उभयविध विभक्ति से रहित) तीन विभागों में ही बांटा जा सकता है । इसलिए पदों का त्रिधा विभाग युक्ततम है ।

नाम शब्दों का त्रेधा विभाग—नाम शब्द यौगिक, योगरूढ और रूढ भेद से तीन प्रकार के माने जाते हैं ।

नाम शब्दों का अन्यथा विभाग—नाम शब्द का एक अन्य प्रकार से भी विभाग किया जाता है—**जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द**[2] ।

यदृच्छा शब्द संस्कृत भाषा के अङ्ग नहीं—यदृच्छा शब्द संस्कृत भाषा में उत्तरकाल में प्रविष्ट हुए हैं । ये संस्कृत भाषा के मूल शब्द नहीं हैं । अत एव कतिपय वैयाकरण प्राचीन परम्परा के अनुसार यदृच्छा शब्दों की गणना न करके तीन प्रकार के ही शब्द मानते हैं ।[3] आचार्य आपिशलि और पाणिनि भी यदृच्छा शब्दों को संस्कृत भाषा का अङ्ग नहीं मानते । अतएव वे कहते हैं—

यदृच्छाशक्तिजानुकरणा वा यदा दीर्घाः स्युः । आ० शिक्षा ६।६॥

यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युः...।

पा० शिक्षा ६।६॥

यहां 'यदा' पद यदृच्छा शब्दों का अनभिमतत्व व्यक्त करता है ।

ये यदृच्छा शब्द अर्थात् नितान्त रूढ शब्द संस्कृत भाषा का अङ्ग न होने से अनित्य माने जाते हैं ।[4] कृत्रिम टि घु आदि संज्ञाओं का

---

१. द्र०—'नैकं पदजातम् । यथा—अर्थः पदमैन्द्राणामिति ।' निरुक्त-दुर्गवृत्ति १।१। पृष्ठ १०, आनन्दाश्रम, पूना ।

२. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः । ऋलृक्, (प्रत्या० २) सूत्रभाष्य ।

३. त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दाः । ऋलृक्, (प्रत्या० २) सूत्रभाष्य ।

४. स्वामी दयानन्द सरस्वती शब्दों के नित्य अनित्य दो भेद मानते हैं । द्र०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका 'वेदनित्यत्व-प्रकरण' पृष्ठ ३१, रालाकट्र० सं० ।

समावेश भी यदृच्छा शब्दों के अन्तर्गत होता है। नागेश महाभाष्य-प्रदीपोद्योत १।३।१, पृष्ठ १११ (निर्णयसागर संस्क०) में टि घु आदि कृत्रिम संज्ञाओं को भी अनादि अर्थात् नित्य मानता है। हमारे विचार में यह मत शास्त्रसंमत नहीं है।

न्यास ३।३।१ में भी लिखा है—**तदेवं निरुक्तकारशाकटायनदर्शनेन त्रयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति।**

प्रक्रियाकौमुदि की टीका में विट्ठल लिखता है—

एवं जातिगुणक्रियावाचित्वाच्छब्दानां त्रय्येव प्रवृत्तिर्न चतुष्टयी, यादृच्छकानामभावात्। अथवा सर्वे क्रियाशब्दा एव स्युः, सर्वेषां धातुजत्वात्। तत एकैव प्रवृत्तिर्न त्रयी न चतुष्टयी। भाग २, पृष्ठ ६०

मीमांसकों ने भी लोकवेदाधिकरण (मी० १।३। अधि० १०) में जाति शब्द गुणशब्द क्रियाशब्दों के सम्बन्ध में ही विचार किया है।

यदृच्छाशब्दों का रूढत्व—भाषा में यदृच्छाशब्दों की प्रवृत्ति अहंभाव और मूर्खता के कारण होती है। जगत् में जैसे-जैसे इन कारणों की वृद्धि होती जाती है, उसी अनुपात से भाषा में यदृच्छा-शब्दों की वृद्धि होती जाती है। यतः यदृच्छाशब्द भाषा अथवा व्याकरण के नियमों के अनुसार सोच विचारकर अर्थ-विशेष में प्रयुक्त नहीं किये जाते,[1] अतः वे कृत्स्न वर्णसमुदाय से ही अर्थविशेष के संकेत मान लिए जाते हैं। इसलिए **यदृच्छाशब्द रूढ ही होते हैं।**

यदृच्छाशब्दों का वैयर्थ्य यदृच्छाशब्दों में स्वाभाविक वाचकत्व शक्ति के अभाव के कारण वे भाषा में भाररूप ही होते हैं। उनसे कोई भी विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। महाकवि माघ ने सत्य ही लिखा है—

यदृच्छाशब्दवत् पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम्। शिशु० २।४७॥

अत एव कात्यायन और पतञ्जलि जैसे प्रामाणिक आचार्यों ने यदृच्छाशब्दों की कल्पना का प्रत्याख्यान करके न्याय्य शास्त्रान्वित शब्दों के व्यवहार की ही आज्ञा दी है।[2]

---

१. द्र०—यदृच्छया कश्चिद् लृतको नाम। 'ऋलृक्' सूत्रभाष्य॥

२. न्याय्यभावात् कल्पनं संज्ञादिषु। न्याय्यस्य ऋतकशब्दस्य भावात्

इस प्रकार यदृच्छाशब्दों को संस्कृत भाषा का अङ्ग स्वीकार न करने पर नाम शब्दों में यौगिक और योगरूढ दो ही प्रकार अवशिष्ट रहते हैं। क्योंकि संस्कृत भाषा में यदृच्छाशब्दों के अतिरिक्त कोई भी शब्द मूलत: रूढ नहीं है (यह हम अनुपद ही दर्शायेंगे)।

सम्पूर्ण शब्दों का यौगिकत्व—अति प्राचीन काल में न केवल नाम शब्द, अपितु अव्यय (स्वरादि+निपात) भी यौगिक अर्थात् धातुज ही माने जाते थे। इस परम्परा के प्राय: उत्पन्न हो जाने पर भी निरुक्त और उणादिसूत्रों के प्रवक्ता आचार्यों तथा वेदभाष्यकारों ने अनेक अव्ययों की धातु से व्युत्पत्ति दर्शाई है। यथा—

अच्छ—अभेराप्तुमिति शाकपूणि:। निरुक्त ५।२८।

स्वाहा—इत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। निरुक्त ८।२०॥

पृथक्—प्रथे: कित् संप्रसारणं च। उणादि १।१३७॥

समया—निकषा—आ: समिण्निकषिभ्याम्। उणादि ४।१७५॥

वाट्=वहन्ति सुखानि यया क्रियया सा। वाट् निपातोऽयम्।
दयानन्दीय यजुर्वेदभाष्य २।१८।

काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड टीका में बहुत से अव्ययों का धातुजत्व दर्शाया है।

इस प्रकार इन आचार्यों ने उत्सन्न हुई प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करके उसे पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया है।

वैयाकरणों में हेमचन्द्राचार्य ने अपनी बृहद्वृत्ति के स्वोपज्ञ महान्यास में अनेक अव्ययों और निपातों का धातुजत्व दर्शाया है।

यौगिकत्व से रूढत्व की ओर गति—यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि जिन शब्दों में धात्वर्थ का अनुगमन प्रतीत होता है, **वे यौगिक** माने जाते हैं। जिनमें धात्वर्थ अनुगमन प्रतीत होने पर भी किसी अर्थ विशेष

कल्पनं संज्ञादिषु साधु मन्यन्ते।.........अपर आह—न्याय्य ऋतकशब्द: शास्त्रान्वितोऽस्ति। स एव कल्पयितव्य: साधु: संज्ञादिषु..........। ऋलृक् (प्रत्या० २) सूत्रभाष्य।

में नियत प्रतीत होते हैं, **वे योगरूढ** कहे जाते हैं और जिन शब्दों में धात्वर्थ का अनुगमन कथचित् भी प्रतीत नहीं होता, **वे रूढ** माने जाते हैं। संस्कृत भाषा के इतिहास से स्पष्ट है कि मनुष्यों के उत्तरोत्तर मतिमान्द्य के कारण यौगिकत्व=धात्वर्थ प्रतीति में भी उत्तरोत्तर ह्रास हुआ। इस कारण शब्दों में यौगिकत्व से योगरूढत्व और योग-रूढत्व से रूढत्व की ओर अधिकाधिक गति हुई है।[1]

अव्ययों का रूढत्व—उक्त प्रवृत्ति के अनुसार जब धात्वर्थ अनु-गमन का ह्रास हुआ, तब सबसे प्रथम अव्ययों पर इसका प्रभाव पड़ा। उनमें धात्वर्थ-अनुगमन की प्रतीति का नाश हो जाने पर उन्हें रूढ मान लिया, अर्थात् कृत्स्नवर्ण समुदाय के रूप में उन्हें अर्थ विशेष का वाचक अथवा द्योतक स्वीकार कर लिया।

नाम शब्दों का योगरूढत्व और रूढत्व—उक्त प्रवृत्ति के अनुसार जब नाम शब्दों में भी धात्वर्थ-अनुगमन और अर्थवैविध्य विस्मृत होने लगा, तब नाम शब्दों की भी शुद्ध यौगिकता से योगरूढत्व और योग-रूढत्व से रूढत्व की ओर गति होने लगी। जैसे-जैसे धात्वर्थ-अनुगमन विस्मृत होने लगा, वैसे-वैसे भाषा में रूढ शब्दों की संख्या वृद्धिगत होती गई।

रूढ माने गये शब्दों के विषय में विवाद—जब संस्कृत भाषा में शब्दों के रूढत्व की भावना दृढ़मूल हो गई, तब रूढत्वेन स्वीकृत शब्दों के विषय में शास्त्रकारों में एक अत्यन्त रोचक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवाद उत्पन्न हुआ। गार्ग्य के अतिरिक्त समस्त नैरुक्त आचार्य और वैयाकरण शाकटायन लोक में रूढ माने जाने वाले शब्दों के धातुजत्व का, और नैरुक्त गार्ग्य तथा शाकटायन व्यतिरिक्त वैयाकरण अधातु-जत्व का प्रतिपादन करने लगे। निरुक्त के प्रथमाध्याय के १२-१४ खण्डों में इस विवाद पर गम्भीर विवेचन किया है। यास्क ने रूढ शब्दों को अधातुज मानने वाले आचार्यों की युक्तियों का बड़ी उत्त-मता से निराकरण करके सम्पूर्ण नाम शब्दों के धातुजत्व सिद्धान्त का

---

१. इस विषय की विशद मीमांसा हम 'संस्कृत भाषा का इतिहास' ग्रन्थ में करेंगे।

भले प्रकार स्थापन किया है, अर्थात् **यास्क के मत में कोई भी शब्द रूढ=अधातुज** नहीं है। यही मत महावैयाकरण शाकटायन का है।

उणादि-सूत्रों के पार्थक्य का कारण—जब शब्दों के एक बड़े अंश के विषय में यौगिकत्व और रूढत्व सम्बन्धी मतभेद उत्पन्न हो गया, तब तात्कालिक वैयाकरणों ने उन विवादास्पद शब्दों के साधुत्व-ज्ञापन के लिये एक ऐसा मार्ग निकाला, जिससे दोनों मतों का समन्वय हो सके। इसके लिए उन्होंने उणादिपाठ का प्रवचन किया। अर्थात् उसे शब्दानुशासन के कृदन्त=धातुज शब्दों के प्रकरण का खिल बनाकर शब्दानुशासन से पृथक् कर दिया। रूढत्वेन अभिमत विवादास्पद शब्दों को धातुज माननेवालों की दृष्टि से शब्दानुशासनस्थ कृदन्त शब्दों के समान उनके प्रकृति प्रत्यय अंश का प्रवचन कर दिया और शब्दानुशासन के कृदन्त प्रकरण से बहिर्भूत करके उनका रूढत्व भी अभिव्यक्त कर दिया। यही कारण है कि साम्प्रतिक प्रायः सभी उणादि-व्याख्याकार औणादिक शब्दों को रूढ मानते हुए वर्णानुपूर्वी के परिज्ञानमात्र के लिये उनमें प्रकृति-प्रत्यय विभाग की कल्पना स्वीकार करते हैं।[1]

उणादि सूत्रों के सम्बन्ध में भ्रान्ति—आधुनिक वैयाकरण निकाय में यह धारणा दृढमूल हो गई कि वर्तमान पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायन प्रोक्त हैं।[2] वस्तुतः यह धारणा भ्रान्तिमूलक है। इस भ्रान्ति का कारण **उणादयो बहुलम्** (अष्टा० ३।३।१) सूत्र पर लिखे गये महाभाष्यकार के निम्न शब्द हैं—

नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे च तोकम्।.......... वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति।

वस्तुतः भाष्यकार को यहां इतना ही बताना अभिप्रेत है कि

---

१. उणादिप्रत्ययान्ताः संज्ञाशब्दाः। तेन तेषामत्र स्वरूपसंवेदनस्वरवर्णानुपूर्वीमात्रफलम् अन्वाख्यानम्। श्वेतवनवासी, उणादिवृत्ति १।१॥ इसी प्रकार अन्य वृत्तिकारों ने भी लिखा है।

२. येयं शाकटायनादिभिः पञ्चपादी विरचिता। श्वेतवनवासी उणादि-वृत्ति १।१॥ एवं च कृवापेति उणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्। नागेश प्रदीपोद्योत ३।३।१॥

नैरुक्त आचार्य और वैयाकरणों में शाकटायन सभी नाम शब्दों को धातुज मानते हैं। वर्तमान पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायन-प्रोक्त हैं, यह महाभाष्यकार के किसी भी पद से इङ्गित नहीं होता। पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणों ने उणादिसूत्रों का प्रवचन किया था।[1] पूर्व आचार्यों की परम्परा के अनुसार पाणिनि ने भी खिलपाठ के रूप में उणादिसूत्रों का प्रवचन किया।[2] पाणिनि से उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने भी उणादि-प्रवचन द्वारा प्राचीन परम्परा को अद्य-यावत् अक्षुण्ण बनाए रखा।

औणादिक शब्दों के विषय में पाणिनीय मत—यद्यपि भगवान् पाणिनि ने रूढ शब्दों के यौगिकत्व (=धातुजत्व) पक्ष को सुरक्षित रखने के लिये प्राचीन वैयाकरण-परम्परा के अनुसार उणादिसूत्रों का पृथक् प्रवचन किया, तथापि वे वृक्षादि शब्दों का रूढ मानते हुए भी उन्हें सर्वथा अव्युत्पन्न नहीं मानते थे। अतएव पाणिनि ने आचार्य शन्तनु के समान अव्युत्पन्न प्रातिपदिकों के स्वर-ज्ञान के लिये प्राति-पदिक स्वरबोधक लक्षणों का निर्देश नहीं किया। यदि वे उन्हें सर्वथा अव्युत्पन्न मानते, तो वे भी आचार्य शन्तनु के फिट्-सूत्रों के समान प्रातिपदिक-स्वर के बोधक लक्षणों की रचना करते।

कात्यायन और पतञ्जलि ने रूढ शब्दों को धातुज मानने पर जहां शास्त्रीय दोष उपस्थित होता था, वहां उसकी निवृत्ति के लिये **पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति** (ऋलृक्, सूत्र-भाष्य) न्यायानुसार लिखा है—

प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेः सिद्धम्। प्रातिपदिक-विज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। महा० ७।१।२॥

अर्थात्—[अखण्ड] प्रातिपदिक मानने से पाणिनि आचार्य के मत में सिद्ध है। उणादि [निष्पन्न] शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं।

औणादिक शब्दों के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत—समस्त वैयाकरण सम्प्रदाय में आचार्य शाकटायन के अनन्तर

---

१. इस विषय पर अधिक इसी ग्रन्थ में आगे उणादि प्रकरण में लिखेंगे।

२. प्रक्रियासर्वस्व, उणादि-प्रकरण १।४०, पृष्ठ १०, मद्रास संस्करण नारायण-वृत्ति।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ही ऐसे वैयाकरण व्यक्ति हैं, जो औणादिक शब्दों में किसी को भी रूढ नहीं मानते। वे प्रत्येक औणादिक शब्द को मूलतः शुद्ध यौगिक मानते हैं, और औत्तरकालिक प्रसिद्धि के अनुसार उन्हें योगरूढ स्वीकार करते हैं। इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रत्येक औणादिक शब्द के शुद्ध यौगिक और योगरूढ दो-दो प्रकार के अर्थ दर्शाए हैं। यथा—

पाति रक्षति स पायुः, रक्षकः गुदेन्द्रियं वा। उणादिकोश १।१॥

यहां 'पायु' को यौगिक मानकर प्रथम 'रक्षक' अर्थ दर्शाया है, और योगरूढ मानकर 'गुदेन्द्रिय'। इसी प्रकार सर्वत्र दो-दो प्रकार के अर्थ दर्शाए हैं।[1]

इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती की उणादिवृत्ति स्वल्पाक्षरा होते हुए भी औणादिक वाङ्मय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस पर अधिक विचार यथास्थान किया जायेगा।

सम्पूर्ण नाम शब्दों की रूढत्व में परिणति—पूर्वनिर्दिष्ट धात्वर्थ-अनुगमन के उत्तरोत्तर ह्रास के कारण संस्कृत भाषा के इतिहास में एक ऐसा भी समय उपस्थित हो गया, जब पूर्वाचार्यों द्वारा असन्दिग्धरूप से यौगिक माने गए पाचक पक्ता आदि शब्द भी वृक्ष आदि शब्दों के समान रूढ मान लिए गए। कोई भी शब्द यौगिक अथवा योगरूढ नहीं रहा। अत एव कातन्त्र व्याकरण के मूल प्रवक्ता ने सम्पूर्ण कृदन्त भाग के प्रवचन को अनावश्यक समझ कर उसे अपने तन्त्र में स्थान नहीं दिया। इस घोर अज्ञानावृत दुरवस्था का संकेत कातन्त्र के व्याख्याकार दुर्गसिंह के निम्न शब्दों से मिलता है—

वृक्षादिवदमी रूढा न कृतिना कृताः कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुधप्रतिपत्तये॥

अर्थात्—कृदन्त पाचक आदि शब्द भी वृक्ष आदि के समान रूढ हैं। अतः ग्रन्थकार (शर्ववर्मा) ने कृदन्त शब्द विषयक सूत्र नहीं रचे। विबुध लोगों के परिज्ञान के लिए कात्यायन ने इन्हें रचा है।

---

१. इस वृत्ति में जहां-कहीं साक्षात् यौगिक अर्थ का निर्देश नहीं किया है, वहां व्युत्पत्ति-निर्देश से उसे यथावत् जान लेना चाहिये।

इस प्रकार सम्पूर्ण कृदन्त शब्दों को रूढ स्वीकार कर लेने पर भी उत्तरवर्ती वैयाकरण अपने शब्दानुशासनों की परिपूर्णता के लिए प्राचीन परम्परानुसार कृदन्त शब्दों का अन्वाख्यान करते रहे। इतना ही नहीं, कातन्त्र के मूलप्रवक्ता द्वारा कृदन्त भाग की उपेक्षा होने पर भी, उत्तरवर्ती आचार्य कात्यायन को कातन्त्र की परिपूर्णता के लिए कृदन्त भाग का प्रवचन करना पड़ा।

तद्धितान्त भी रूढ शब्द

शब्दों की रूढता कृदन्तों तक ही सीमित नहीं रही। कातन्त्रकार ने यद्यपि ताद्धित शब्दों का उपदेश किया है, परन्तु कातन्त्र-परिभाषा के वृत्तिकार दुर्गासिंह[1] ने तद्धितान्तों को भी रूढ माना है। वह लिखता है—**संज्ञाशब्दत्वात् तद्धितान्तानाम्** ।[2]

धातुस्वरूप

वैयाकरणों के मतानुसार शब्द तीन प्रकार के हैं—धातुज, अधातुज और नामज। धातुज भी दो प्रकार के हैं—पचति, पठति आदि क्रिया शब्द और पाचक, पाठक आदि नाम शब्द। वृक्षादि नाम, उपसर्ग, निपात और अव्यय अधातुज अर्थात् रूढ माने जाते हैं। तद्धित प्रत्ययान्त शब्द नामज होते हैं। समस्त अर्थात् समासयुक्त पद उक्त त्रिविध शब्दों के समुदायमात्र होते हैं, अतः उनकी पृथक् गणना नहीं की जाती।

धातुलक्षण—वैयाकरण निकाय में धातु शब्द का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—

दधाति विविधं शब्दरूपं यः स धातुः ।

अर्थात्—जो शब्दों के विविधरूपों को धारण करनेवाला, निष्पादन करने वाला [शब्द के अन्तःप्रविष्ट रूप] है, वह 'धातु' कहाता है।

---

१. यह दुर्गसिंह कातन्त्रवृत्तिकार दुर्गसिंह से भिन्न है। सम्भव है कातन्त्र-वृत्ति का टीकाकार दुर्गसिंह होवे। दो दुर्गसिंहों के लिये प्रथम भाग में 'कातन्त्र के व्याख्याता' प्रकरण देखें।

२. कातन्त्र-परिभाषावृत्ति, पृष्ठ ५२। द्र० परिभाषा-संग्रह, पूना संस्करण।

शब्दों के धातुजत्व पर विचार—भाषा-वैज्ञानिकों ने इस प्रश्न पर गहरा विचार किया है कि मानव भाषा के प्रारम्भिक मूल शब्द कौन से रहे होंगे। कतिपय विद्वानों ने शब्दों के धातुजत्व सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर भाषा के प्रारम्भिक शब्द धातुमात्र स्वीकार किए, परन्तु यह पक्ष व्यावहारिक दृष्टि से अनुपपन्न है। आरम्भ में चाहे कोई भी भाषा रही हो, परन्तु केवल धातुमात्र शब्दों के साहाय्य से लोक-व्यवहार कथंचित् भी उपपन्न नहीं हो सकता। लोक-व्यवहार के यथोचित उपपन्न होने के लिए नाम आख्यात उपसर्ग और निपात आदि सभी प्रकार के शब्दों की आवश्यकता होती है। अतः भाषा के मूल शब्द धातुमात्र नहीं माने जा सकते। परन्तु शब्दों को धातुज मानने पर धातुओं की सत्ता उनसे पूर्व स्वीकार अवश्य करनी पड़ती है।

भारतीय मत का स्पष्टीकरण—भारतीय भाषाशास्त्रज्ञ भी सम्पूर्ण नाम-शब्दों को धातुज मानते है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। इसलिए भारतीय मत का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

अर्वाक्कालिक स्पष्टीकरण—अर्वाक्कालिक भारतीय भाषाविदों ने शब्दों के धातुजत्व पर गम्भीर विवेचन किया, और उन्होंने राद्धान्त स्थिर किया कि 'शब्द नित्य हैं,' अर्थात् पूर्वतः विद्यमान हैं। शास्त्रकारों ने पूर्वतः विद्यमान शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय अंश की कल्पना करके उनके उपदेश का एक मार्ग बनाया है। शास्त्रकारों का प्रकृति-प्रत्यय विभाग काल्पनिक है, पारमार्थिक नहीं। अत एव शब्द-निर्वचन के विषय में शास्त्रकारों में मतभेद भी देखा जाता है।[1] यदि प्रकृति-प्रत्यय-विभाग काल्पनिक न होता, तो शास्त्रकारों में मतभेद भी न होता। इस स्पष्टीकरण के अनुसार धातुजत्व सिद्धान्त का कोई मूल्य ही नहीं रहता। अतः हमारी दृष्टि में यह स्पष्टीकरण चिन्त्य है।

प्राचीन वाङ्मय के साहाय्य से स्पष्टीकरण—'न प्रसिद्धिर्निर्मूला' इस कहावत के अनुसार भारतीय प्राचीनतम राद्धान्त 'सब शब्द धातुज हैं' का कुछ मूल अवश्य होना चाहिए। कुछ मूल होने पर

---

१. अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु। वाक्य० २।१७१।। कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गर्जतेर्गमेः। गिरतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्।। वाक्य० २।१७५।।

उसके स्वरूप का परिवर्तन सम्भव है, और प्रयत्न करने पर उसके मूल स्वरूप का परिज्ञान भी हो सकता है। इसी धारणा को लेकर हमने भारतीय और पाश्चात्य भाषाशास्त्र के विविध ग्रन्थों के अनुशीलन के साथ साथ भारतीय प्राचीनतम वैदिक वाङ्मय और विविध व्याकरणों का विशेष अध्ययन किया। उससे हम इस परिणाम पर पहुंचे कि भारतीय प्राचीनतम राद्धान्त 'सब शब्द धातुमूलक हैं' सर्वथा सत्य है। इतना ही नहीं, उसको स्वीकार करने में भाषाशास्त्र की दृष्टि से अथवा व्यावहारिक दृष्टि से कोई दोष भी उपस्थापित नहीं किया जा सकता। परन्तु अति पुराकाल में धातु का वह स्वरूप नहीं था, जो सम्प्रति स्वीकार किया जाता है। अतः धातु के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है।

धातु का प्राचीन स्वरूप

धातु-लक्षण का स्पष्टीकरण—निस्सन्देह वैयाकरणों द्वारा प्रदर्शित धातु-लक्षण **'दधाति शब्दस्वरूपं यः स धातुः'** सर्वथा सत्य है, परन्तु इसका वास्तविक तात्पर्य है—'विभिन्न प्रकार के शब्दरूपों को धारण करनेवाला जो मूल शब्द है, वह धातु कहाता है' अर्थात् जो शब्द आवश्यकतानुसार नाम-विभक्तियों से युक्त होकर नाम बन जाए; आख्यात विभक्तियों से युक्त होकर क्रिया को द्योतन करने लगे, और उभयविध विभक्तियों से रहित रहकर स्वार्थमात्र का द्योतक होवे, वह (तीनों रूपों में परिणत होनेवाला) मूल शब्द ही 'धातु' पदवाच्य होता है। इस प्रकार के आवश्यकतानुसार विविध रूपों में परिणत होनेवाले शब्द ही आदि भाषा संस्कृत के मूल शब्द थे। यतः ये मूलभूत शब्द ही नाम आख्यात और अव्यय रूप विविध प्रकार के शब्दों में परिणत होते हैं, अतः 'सब धातुज हैं' यह भारतीय प्राचीन राद्धान्त सर्वथा सत्य है। अति प्राचीन काल के भारतीय भाषाविद् उक्त प्रकार के मूलभूत शब्दों को ही 'धातु' कहते थे।

धातु=प्रातिपदिक—अतिपुराकाल में पूर्व-निर्दिष्ट धातु शब्दों के लिए प्रातिपदिक शब्द का भी व्यवहार होता था, ऐसा हमारा विचार है। प्रातिपदिक शब्द का स्व-अर्थ है—

'पदं पदं प्रति—प्रतिपदम्। प्रतिपदेषु भवं प्रातिपदिकम्।'

अर्थात् जो नाम आख्यात और अव्यय (उपसर्ग-निपात) रूप सर्वविध पदों में मूलरूप से विद्यमान रहे, वह 'प्रातिपदिक' कहाता है।[1]

भगवान् पाणिनि ने 'प्रातिपदिक' संज्ञा का निर्देश धातु और प्रत्यय से भिन्न अर्थवान् शब्द के लिए किया है। परन्तु **'सर्वा महती संज्ञा अन्वर्था:'** इस न्याय के अनुसार प्रातिपदिक रूप महती संज्ञा भी अपनी अन्वर्थता का बोध कराती हुई अपने अन्दर निहित व्याकरण-शास्त्र की अथवा भाषा-विज्ञान की अतिपुराकाल की प्रक्रिया के स्वरूप को अभिव्यक्त कर रही है।

अतिप्राचीन शब्द-प्रवचन शैली—महाभाष्य में भगवान् पतञ्जलि ने प्रसङ्गात् एक अति प्राचीन आख्यान उद्धृत किया है।[2] उस आख्यान से विदित होता है कि जब तक व्याकरण-शास्त्र लक्षणरूप में निबद्ध नहीं हुआ था, तब तक शब्दों का प्रतिपद उपदेश होता था। उस प्रतिपद उपदेश का क्या स्वरूप था, यद्यपि यह सम्प्रति निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता, तथापि संभव है कि एक मूलभूत शब्द को लेकर उससे आख्यात-विभक्तियां जोड़कर आख्यात-रूपों के, तथा नाम-विभक्तियां जोड़कर नामरूपों के निदर्शन की प्रथा थी। उसी मूलभूत शब्द से कृत् और तद्धित प्रत्यय जोड़कर कृदन्त और तद्धितान्त शब्दों का प्रवचन भी किया जाता था। उभय-विध विभक्तियों के बिना स्वार्थमात्र में (अव्यय रूप में) प्रयोग होता था। यही बात निरुक्तकार यास्क ने प्रकारान्तर से लिखी है—

अनु......उपसर्गो लुप्तनामकरण:। निरुक्त ६।२२॥

इस अति प्राचीनकाल की शब्द-प्रवचन शैली को स्पष्ट करने के लिए हम एक अत्यन्त विस्पष्ट उदाहरण उपस्थित करते हैं—

उषस् शब्द कण्ड्वादिगण (३।१।२७) में पठित है। कण्ड्वादिगणस्थ शब्द आज भी वैयाकरणों द्वारा धातु और प्रातिपदिक रूप उभयविध माने जाते हैं।[3] इस दृष्टि से कण्ड्वादिगणस्थ शब्दों की आज भी

१. तुलना करो—प्रतिपद पाठ से।

२. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, न चान्तं जगाम। महा० १।१। आ० १।

३. धातु: प्रकरणाद् धातु: कस्य चासंजनादपि। आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषित:॥ महा० ३।१।२७॥

वही स्थिति है, जो अति पुराकाल में शब्दमात्र की थी ।[1] 'उषस्' का कण्ड्वादिगण में पाठ होने से उसे धातु मानकर **उषस्यति** आदि क्रिया-रूपों की, तथा **उषस्यकः उषसिता उषसितव्यम् उषसनीयम्** आदि कृदन्त शब्दों की सिद्धि दर्शाई जाती है और नाम मानकर **उषाः उषसौ** उषसः आदि नामरूपों की निष्पत्ति की जाती है। 'उषस्' शब्द का चादिगण (१।४।५७) में पाठ होने से उभयविध विभक्तियों से रहित यह निपातरूप अव्यय भी है। इसी अव्यय से **उषस्यम् उषस्तनम** आदि तद्धितरूप निष्पन्न होते हैं।

अति पुराकाल में उपसर्गों की भी पृथक् सत्ता नहीं थी। वे मूलभूत शब्द के ही अवयव माने जाते थे। अतः अट् आदि का आगम भी उपसर्गांश से पूर्व होता था। आज भी **सग्राम** (=सम्+ग्राम), **निवास** (=नि+वास), **वीर** (=वि+ईर), **व्यय** (वि+अय) आदि कतिपय धातुओं में यह स्थिति देखी जाती है।[2]

इस विवेचना से स्पष्ट है कि व्याकरणशास्त्र के लक्षणबद्ध होने से पूर्व प्रतिपद-प्रवचन द्वारा इसी प्रकार शब्दों का प्रवचन होता था। अत एव उस काल में उक्त प्रकार के मूलभूत शब्दों को क्रम-विशेष से जिस ग्रन्थ में संग्रह किया गया, वह 'शब्दपारायण' कहाता था।[3]

उत्तरकालीन स्थिति—उपरि निर्दिष्ट अति प्राचीन काल की स्थिति के पश्चात् उपसर्ग निपात और अव्ययों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गई, परन्तु नाम और आख्यात पदों के मूलभूत शब्द पूर्ववत् समान रहे, अर्थात् एक ही शब्द से उभयविध विभक्तियों से संबद्धपदों

---

१. साम्प्रतिक नामधातुप्रक्रिया भी इसी पुरातन स्थिति की ओर संकेत करती है। यथा अश्व इवाचरति अश्वति, गर्दभति।

१. 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन'; 'पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण' ये दोनों परिभाषाएं अति पुराकाल के सोपसर्ग और निरुपसर्ग द्विविध धातुओं की मूलस्थिति की ओर संकेत करती हैं। इस पर अगले १० वें सन्दर्भ में (पृष्ठ २४) विशेषरूप से लिखा है।

३. 'शब्दपारायणं रूढिशब्दोऽयं कस्यचिद् ग्रन्थस्य'। भर्तृहरिकृत महाभाष्यटीका, हस्तलेख पृष्ठ २१; पूना संस्क० पृष्ठ १७॥

की निष्पत्ति मानी जाती रही। इसी प्रक्रिया का स्वरूप कण्ड्वादिगण के रूप में आज भी विद्यमान है।

अवरकालीन स्थिति—उक्त काल से अवर काल में व्याकरण-शास्त्र का अतिसंक्षेप से प्रवचन करने के लिए तत्कालीन वैयाकरणों ने मूलतः अनेकविध नाम और क्रियापदों की सिद्धि के लिए एक सूक्ष्म धात्वंश की कल्पना की। उसी में विभिन्न प्रत्ययों के परे रहने पर गुण वृद्धि लोप इट् आगम आदि विविध विषयों की कल्पना करके मूलतः विभिन्न शब्दों की निष्पत्ति दर्शाने का प्रयत्न किया गया। इसी काल में मूल शब्दों के अवयवभूत उपसर्गांश भी पृथक् किए गए। यह प्रक्रिया उत्तर काल में अधिकाधिक विकसित होती गई। उसका फल यह हुआ कि मूलरूप से विभिन्न स्वतःसिद्ध शब्दों को आज हम एक कृत्रिम धातु से निष्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं, और उसी काल्पनिक धातु के अर्थ के अनुसार शब्दार्थ की कल्पना करते हैं।[1]

वर्तमान धातुपाठों में प्राचीन मूलभूत शब्दों का निर्देश

वैयाकरणों द्वारा सहस्रों वर्षों तक लघुभूत कृत्रिम धात्वंश-कल्पना के विकसित होने पर भी अति प्राचीन काल की नाम—आख्यात पदों के एकविध मूल शब्द की स्थिति को सर्वथा लुप्त नहीं किया जा सका। आज भी पाणिनीय तथा तदुत्तरवर्ती व्याकरण उस अति प्राचीनकाल

१. इसी कृत्रिम कल्पना के कारण शब्दार्थ पूर्णतः व्यवस्थित नहीं होता। नौ शब्द की व्युत्पत्ति सांप्रतिक वैयाकरण 'ग्लानुदिभ्यां डौः' (उणादि २।६५) सूत्रानुसार 'नुद' धातु से करते हैं। तदनुसार जो कोई पदार्थ प्रेरित किया जाए, वह 'नौ' कहा जाना चाहिए, परन्तु कहा नहीं जाता। प्राचीन काल की परिस्थिति के अनुसार प्लवनार्थक 'नावति' क्रिया का कर्ता ही 'नौ' पदवाच्य होगा। काशकृत्स्न धातुपाठ में 'णौ प्लवने' धातु आज भी पठित मिलती है। यही अवस्था 'गच्छतीति गौः' की है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय २।१७६ में कहा है—'गौरित्येव स्वरूपाद्वा गोशब्दो गोषु वर्तते।' इसके स्वोपज्ञ विवरण में लिखा है—'अपरे त्वाचार्या औपमन्यवादयो गौः कस्मात् गौरित्येव गौरिति निर्वचनमाहुः।' ये वचन भी पुराकाल की 'गौ' अथवा 'गो' रूप मूल शब्द की ओर संकेत करते हैं।

की स्थिति का अनेक प्रकार से बोध करा रहे हैं । हम यहां पाणिनीय व्याकरण के कतिपय निर्देश उपस्थित करते हैं—

१—पाणिनीय धातुपाठ में आज भी शतशः ऐसी धातुएं पठित हैं, जो उसी रूप में लोक में नाम रूप से भी व्यवहृत होती हैं । यथा—

पुष्प शम दम व्यय वृक्ष शूर वीर हल स्थल स्थूल कुल बल ऊह पण वास निवास कुमार गोमय संग्राम आदि-आदि ।

२—पाणिनि के द्वारा विशिष्ट कार्य के लिए लगाए विभिन्न अनुबन्धों को हटाकर यदि अ-वर्ण (जिसका क्रियारूप में लोप हो जाता है, यथा—पुष्यति) अन्त में जोड़ दें, तो शतशः धातुएं ऐसी बन जाएंगी, जो उसी रूप में नामरूप में प्रयुक्त होती हैं । यथा—

अक्षू=अक्ष, श्लोकृ=श्लोक, आङ् रेकृ=आरेक, क्रमु=क्रम आदि आदि ।

३—जिन धातुओं में नुम् (न्) का आगम करने के लिए इकार अनुबन्ध लगाया है, उसको हटाकर और यथास्थान मूलभूत अनुनासिक वर्ण को बैठाकर अन्त में अ आ जोड़ने से धातुएं मूल शब्दरूप में अनायास परिणत हो जाती हैं । ऐसी धातुएं पाणिनीय धातुपाठ में अत्यधिक हैं । यथा—

स्कभि=स्कम्भ; जृभि=जृम्भा, पडि=पण्डा, यत्रि=यन्त्र,
मुडि=मुण्ड, टकि=टङ्क, शुठि=शुण्ठ, मत्रि=मन्त्र,

४—इसी प्रकार मूलभूत अंश की उपसर्ग के रूप में पृथक् कल्पना करने पर भी पाणिनीय धातुपाठ में अनेक धातुएं ऐसी विद्यमान हैं, जिनमें वर्तमान दृष्टि से उपसर्गांश संयुक्त है । यथा—

संग्राम=सम्+ग्राम, व्यय=वि+अय, वीर=वि+ईर ।

इन धातुओं के लङ् लुङ् लृङ् के रूपों में अट् का आगम उपसर्गांश से पूर्व होता है ।[1] यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है ।

५—सहस्रों वर्षों से सूक्ष्मभूत धात्वंश की स्वतन्त्र कल्पना करने

---

१. महाभाष्यकार ने 'अवश्यं संग्रामयतेः सोपसर्गादुत्पत्तिर्वक्तव्या असंग्रामयत शूर इत्येवमर्थम्' (३।१।१२) में यद्यपि केवल संग्राम का ही निर्देश किया है, तथापि उसे इस प्रकार की धातुओं का उपलक्षक समझना चाहिये।

पर भी दैवगत्या अवशिष्ट कण्ड्वादिगण उस अति प्राचीन काल की स्थिति को व्यक्त कर रहा है, जब एक ही शब्द आख्यात और नाम की उभयविध विभक्तियों से युक्त होकर क्रियारूपों और नामरूपों को धारण करते थे। धातुपाठस्थ चुरादिगण की भी प्रायः यही स्थिति है। अत एव पाणिनि ने चुरादिगणस्थ धातुओं से णिच् करने के लिए उन्हें **सत्याप पाश रूप वीणा** आदि ऐसे शब्दों के साथ पढ़ा है[1] जिनका आख्यात और नाम विभक्तियों में प्रयोग होता है।

महाभाष्यकार ने भी ३।१।२१ सूत्र-पठित नाम-शब्दों को पक्षान्तर में धातु स्वीकार किया है—

अथवा धातव एव मुण्डादयः। न चैव ह्यर्था आदिश्यन्ते क्रिया-वचनता च गम्यते। महा० ३।१।८॥

इसी प्रकार **अवगल्भ** आदि शब्दों को और **क्यजन्त** शब्दों को भी महाभाष्यकार ने धातुएं ही माना है। द्रष्टव्य क्रमशः महा० ३।१।११ तथा १९।

६—समस्त वैयाकरण आज भी सभी नाम (प्रातिपदिक) शब्दों से आचार आदि अर्थों में क्विप् क्यच् क्यङ्[2] आदि प्रत्यय करके उनसे आख्यात रूप बनाते हैं—

अश्व—अश्वति, अश्वीयति (छन्द में—अश्वायति), अश्वायते।

यह प्रक्रिया मूलभूत प्राचीन सरलतम (एक शब्द से उभयविध

---

१. सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्। अष्टा० ३।१।२५॥ गोल्डस्टुकर ने पाणिनि के इस सूत्र पर आक्षेप करते हुए लिखा है कि पाणिनि ने अपने व्याकरण में वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्था नहीं बांधी। उसने चुरादि धातुओं को नामशब्दों से णिच्विधायक सूत्र में पढ़ दिया। वस्तुतः गोल्डस्टुकर का लेख चिन्त्य है। आचार्य ने इस व्यवहार से चुरादि धातुओं की उस विशिष्ट स्थिति की ओर संकेत किया है, जो कि कण्ड्वादिगणस्थ शब्दों की है।

२ 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब्वक्तव्य' (वा० ३।१।११) अश्व इव आचरति—अश्वति, गर्दभति। 'सुप आत्मनः क्यच् (अष्टा० ३।१।८), उप-मानादाचारे, कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (अष्टा० ३।१।१०, ११)।

विभक्तियों का जोड़ना रूप) प्रक्रिया का द्रविड़ प्राणायामवत् क्लिष्ट प्रकारमात्र है।

७—साम्प्रतिक वैयाकरणों द्वारा व्यवहृत **नामधातु** रूप महती संज्ञा भी प्राचीन काल की उसी प्रक्रिया को व्यक्त करती है, जिसके अनुसार एक ही शब्द **नाम** और **धातु** उभयरूप माना जाता था।

८—वर्तमान वैयाकरणों द्वारा किन्हीं शब्दविशेषों के लिये स्वीकृत **'क्विन्तो धातुत्वं न जहाति'** परिभाषा भी **वाच् स्रुच्** आदि शब्दों के उभयविध (नाम धातु) स्वरूप को प्रकट कर रहो है।

९—शिशुपालवध १।६८ की वल्लभदेव की व्याख्या में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत है। जो इस प्रकार है—

शत्रदन्त-क्विबन्तानां क्वसन्तानां तथैव च।
तृजन्तानां तु लिङ्गानां धातुत्वं नोपहन्यते॥

अर्थात्—शतृ, अद् (पाणिनीय-अच्), क्विप्, क्वसु और तृच्-प्रत्ययान्त लिङ्गों[1] (=प्रातिपदिकों) में धातुत्व का नाश नहीं होता, अर्थात् उनमें धातुविहित कार्य हो जाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि वर्तमान धातुओं से शतृ आदि प्रत्ययों के करने पर जो रूप बनता है, वह आख्यात और नाम को उभयविध वि-भक्तियों से सम्बद्ध हो जाता है। अन्यथा **'धातुत्वं नोपहन्यते'** विधान का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता।

१०—पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा शब्दविशेषों की निष्पत्ति के लिए स्वीकार की गई परस्पर-विरुद्ध—**'पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन'; 'पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण।'** परिभाषायें प्राचीन काल की भाषाशास्त्र की उस महत्त्वपूर्ण स्थिति की ओर संकेत करती हैं, जब सम्प्रति उपसर्ग संज्ञा से अभिहित अंश अनेक मूल शब्दों (धातुओं) का अवयव था, और कई एक शब्दों में पीछे से संयुक्त किया जाता था। जिनमें उपसर्गांश धातु का अवयव था, उसी का संकेत प्रथम परिभाषा में किया है—'धातु से पहले उपसर्ग जुड़ता है, पीछे प्रत्यय आते हैं।' इस व्याख्या के अनुसार

१. काशकृत्स्न और कातन्त्र व्याकरण में लिङ्ग शब्द प्रातिपदिकों की संज्ञा है।

संग्राम व्यय आदि में अडागम उपसर्गांश से पूर्व होता है—**असंग्रामयत, अव्ययत्** । और **आनन्द प्रार्थ** आदि शब्दों में समासाभाव के कारण ल्यप् नहीं होता—**आनन्दयित्वा, प्रार्थयित्वा** । 'जिसमें उपसर्गांश मूल धातु का अवयव नहीं था, उनमें धातु पहले प्रत्यय से युक्त होती थीं, पीछे उपसर्ग से।' यथा सम् भू—समभवत्, वि भू—व्यभवत् । इस प्रकार उपसर्गयुक्त सम्भू विभू आदि शब्दों के रूपों में अडागम सम् आदि से पूर्व होकर **असंभवत् अविभवत्** आदि प्रयोग निष्पन्न होते थे, और उपसर्गांश को पृथक् से जोड़ने पर **समभवत् व्यभवत** आदि प्रयोग बनते थे ।

पदवाक्यप्रमाणज्ञ भर्तृहरि ने भी उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार किया है। वह लिखता है—

अडादीनां व्यवस्थापनार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम् ।
धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव तु तादृशः ॥
तथा हि संग्रामयतेः सोपसर्गाद् विधिः स्मृतः ।
क्रियाविशेषाः संघातैः प्रक्रम्यन्ते तथाविधाः ॥[1]

उपसंहार—इस सारी विवेचना से यह स्पष्ट है कि अतिपुराकाल में मूलभूत एक ही प्रकार के शब्द थे। उन्हीं से आख्यात-विभक्तियां जुड़कर 'आख्यात'=क्रिया के रूप बन जाते थे, और नाम विभक्तियां जुड़ कर 'नामिक' रूप । दोनों प्रकार की विभक्तियों का योग न होने पर वे ही अव्यय नाम से व्यवहृत होते थे । भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषा-शास्त्र की इस अति प्राचीन काल की स्थिति का अत्यधिक महत्त्व है । इस स्थिति को जान लेने से वर्तमान भाषामतानुसार संस्कृतभाषा पर किये जानेवाले अनेकविध प्रहारों का समुचित उत्तर दिया जा सकता है ।

इस प्रकार इस अध्याय में 'शब्दों के धातुजत्व और धातु के स्वरूप पर विचार' करने के पश्चात् अगले अध्याय में पाणिनि से पूर्ववर्ती '**धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता**' के विषय में लिखा जाएगा । यह प्रकरण दो अध्यायों में विभक्त किया गया है ।

---

१. वाक्यपदीय, काण्ड २, कारिका १८१, १८२।

बीसवां अध्याय

धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता (१)

पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य

पूर्व अध्याय में हम विस्तार से लिख चुके हैं कि पुरा काल में संपूर्ण शब्द धातुज माने जाते थे। जिस काल में शब्दों का एक बड़ा भाग रूढ मान लिया गया, उस समय भी नैरुक्त और वैयाकरणों में शाकटायन संपूर्ण नाम शब्दों को आख्यातज ही मानते थे।[1] इसलिए तात्कालिक वैयाकरणों ने रूढ माने जानेवाले वृक्ष आदि शब्दों के यौगिक-पक्ष को दर्शाने के लिए उणादि-पाठ का खिलरूप से प्रवचन किया। अतः नाम चाहे यौगिक हों, योगरूढ हों अथवा रूढ, उनके प्रकृति अंश की कल्पना के लिए किन्हीं वर्ण-समूहों को प्रकृतिरूप से पृथक् संगृहीत करना ही पड़ेगा। बिना उनके संग्रह के अथवा स्वरूप-निर्देश के प्रत्ययांश का निर्देश अथवा विभाजन सर्वथा असम्भव है। अत एव वैयाकरणों ने अपने-अपने शब्दानुशासनों से संबद्ध धातुओं का खिलपाठ में संग्रह किया। यही संग्रह वैयाकरण-निकाय में 'धातुपाठ' के नाम से व्यवहृत होता है।

धातुपाठ के प्रवक्ता

जिस-जिस आचार्य ने शब्दानुशासन का प्रवचन किया, उस-उसने स्व-स्वशास्त्र-संबद्ध प्रकृति-प्रत्यय-अंश के विभाग को दर्शाने के लिए 'धातुपाठ' का भी प्रवचन किया, यह निस्सन्दिग्ध है। क्योंकि बिना धातुनिर्देश के प्रकृति-प्रत्यय-कल्पना का सम्भव ही नहीं।

हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग (अ० ३,४) में पाणिनि से पूर्ववर्ती २६ शब्दानुशासनप्रवक्ताओं का निर्देश किया है। उनमें से किस-किस ने धातुपाठ का प्रवचन किया था, यह सम्प्रति अज्ञात है। तैत्तिरीय सं० ६।४।७ के प्रमाण से पूर्व[2] लिख चुके हैं कि शब्दों में प्रकृति-

१. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरु० १।१२॥

२. प्रथम भाग, पृष्ठ ६६।

प्रत्यय-रूप विभाग-कल्पना सर्वप्रथम इन्द्र ने की थी। अतः इन्द्र और उससे उत्तरवर्ती सभी वैयाकरणों ने धातुपाठ का भी प्रवचन किया था, यह सामान्यरूप से कहा जा सकता है। हम यहां उन धातुपाठ-प्रवक्ताओं का वर्णन करेंगे, जिनका धातुपाठ-प्रवक्तृत्व सर्वथा स्पष्टतया ज्ञात है।

१. इन्द्र (९५०० वि० पूर्व)

शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय अंश के प्रथम प्रकल्पक इन्द्र ने प्रकृतिभूत धात्वंश की कल्पना की थी। पाणिनीय प्रत्याहारसूत्रों[1] पर नन्दिकेश्वर विरचित काशिका (श्लोक २) की उपमन्युकृत तत्त्वविमर्शिनी टीका में लिखा है—

तथा चोक्तमिन्द्रेण—

अन्त्यवर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः।

इस श्लोक में इन्द्र-प्रकल्पित धातुओं का स्पष्ट निर्देश होने से इन्द्र को धातुपाठ का प्रथम प्रवक्ता कह सकते हैं। इन्द्र-प्रकल्पित धातुओं का क्या स्वरूप था, यह इस समय अज्ञात है।

इन्द्र के काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं। अतः उसका यहां पुनः निर्देश करना पिष्टपेषण होगा।

२. वायु (९५०० वि० पूर्व)

तैत्तिरीय सं० ६।४।७ में लिखा है कि वाणी को व्याकृत करने में इन्द्र का शब्दशास्त्र-विशारद 'वायु' सहायक था। 'इन्द्र' का धातुप्रवक्तृत्व पूर्व दर्शा चुके हैं, अतः उसके सहयोगी वायु का धातु-प्रवक्तृत्व भी सुतरां सिद्ध है।

वायु के काल आदि के विषय में भी पूर्व तृतीय अध्याय में लिख चुके हैं।

३. भागुरि (४००० वि० पूर्व)

भागुरि आचार्य के श्लोक-बद्ध व्याकरण के छः श्लोक पूर्व पृष्ठ

१. प्रत्याहार सूत्र पाणिनि-प्रोक्त हैं, इसकी मीमांसा के लिये इसी ग्रन्थ का प्रथम भाग पृष्ठ २२६–२३२ (च० सं०) देखें।

१०६-१०७ प्रथम भाग (च० सं०) पर उद्धृत कर चुके हैं। उनमें संख्या ५ चतुर्थ और ६ के श्लोक इस प्रकार हैं—

गुपूधूपविच्छिपणिपनेराय: कमेस्तु णिङ् ।
ऋतेरियङ् चतुर्लेषु नित्यं स्वार्थे, परत्र वा ॥
इति भागुरिस्मृतेः ।[1]

गुपो वधेश्च निन्दायां क्षमायां तथा तिजः ।
प्रतीकारद्यर्थकाच्च कितः स्वार्थे सनो विधिः ॥
इति भागुरिस्मृतेः ।[2]

इन सूत्रों में अनेक धातुओं का उल्लेख मिलता है। **गुपू** में दीर्घ ऊकार अनुबन्ध का निर्देश भी स्पष्ट है। अतः भागुरि आचार्य ने स्वीय धातुपाठ का प्रवचन किया था, इसमें सन्देह का कोई अवसर ही नहीं है।

भागुरि के काल के विषय में हम पूर्व प्रथम भाग के तृतीय अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं।

४. काशकृत्स्न (३१०० वि० पूर्व)

आचार्य काशकृत्स्न-द्वारा प्रोक्त शब्दानुशासन के चार सूत्र, और व्याकरणशास्त्र-सम्बन्धी एक मत हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के प्रथम संस्करण में पृष्ठ ८४ उद्धृत किये थे। उनमें **प्रथम सूत्र** था—

धातुः साधने दिशि पुरुषे चिति तदाख्यातम् ।[3]

इस सूत्र से काशकृत्स्न-प्रोक्त धातुपाठ की सम्भावना है, ऐसा हमारा पूर्व विचार था।

धातुपाठ की उपलब्धि

बड़े सौभाग्य की बात है कि पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य काशकृत्स्न का सम्पूर्ण धातुपाठ उपलब्ध हो गया है।[4] दक्खन कालेज पूना के

---

१. जगदीश तर्कालंकारकृत 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' पृ० ४४७ (चौखम्बा संस्करण) पर उद्धृत। २. पूर्ववत् 'शब्दशक्तिप्रकाशिका,' पृ० ४४७।

३. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड स्वोपज्ञ व्याख्या, पृष्ठ ४० लाहौर सं०।

४. 'काशकृत्स्न धातुपाठ' के विषय में हमने 'संस्कृत-रत्नाकर' वर्ष १७ अंक १२ में सर्वप्रथम लिखा था।

सत्प्रयास से यह दुर्लभ ग्रन्थ चन्नवीर कृत कन्नड टीका सहित कन्नड-लिपि में कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो गया।[1] इस धातुपाठ की कन्नड-टीका में लगभग १३७ काशकृत्स्न सूत्रों के उपलब्ध हो जाने से व्याकरण-शास्त्र के पूर्वपाणिनीय इतिहास पर बहुतसा नया प्रकाश पड़ा है।

काशकृत्स्न के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ११५–१३३ (च० सं०) पर लिख चुके हैं। परन्तु धातुपाठ और उसकी टीका के उपलब्ध हो जाने, तथा काशकृत्स्न व्याकरण के १३७ सूत्र प्राप्त होने से 'काशकृत्स्न व्याकरण' के विषय में जो कुछ नया प्रकाश पड़ा है[2], उसके लिए हमारा **'काशकृत्स्न-व्याकरणम्'** पुस्तिका तथा 'काशकृत्स्न धातुव्याख्यानम्' को देखनी चाहिए।

धातुपाठ का नामान्तर

'काशकृत्स्न धातुपाठ' के मुख पृष्ठ पर **'काशकृत्स्न शब्दकलाप धातुपाठ'** नाम निर्दिष्ट है। इससे प्रतीत होता है कि 'शब्दकलाप' काशकृत्स्न धातुपाठ का नामान्तर है।

शब्दकलाप नाम का कारण—इस ग्रन्थ के शब्दकलाप नाम में क्या कारण है, इसका स्पष्टीकरण न टीकाकार ने किया है और नाही सम्पादक ने। हमारा अनुमान है—**शब्दानां कलां धात्वंशं पाति रक्षति** (शब्दों की धातुरूप कला=अंश की रक्षा करता है) व्युत्पत्ति से धातु-पाठ का 'शब्दकलाप' नाम उपपन्न हो सकता है। अथवा **बृहत्तन्त्रात् कलाः पिबतीति कलापः,[3] शब्दानां कलापः शब्दकलापः** (जो बड़े तन्त्र =शास्त्र से कलाओं=अंशों को पीता है[3]=ग्रहण करता है, वह

---

१. इसका एक संस्करण रोमन अक्षरों में भी अभी अभी प्रकाशित हुआ है।

२. सब से पूर्व हमने 'काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र' शीर्षक निबन्ध में इस विषय पर प्रकाश डाला था। इस निबन्ध का पूर्वार्ध 'साहित्य' (पटना) के वर्ष ९ अंक १, तथा उत्तरार्ध वर्ष १० अंक २ में प्रकाशित हुआ है।

३. तुलना करो—बृहत्तन्त्रात् कलाः पिबतीति कलापकः शास्त्रम्। द० उ० वृत्ति ३।५॥ हैम धातुपारायण (पृष्ठ ६), उणादि-विवरण (पृष्ठ १०)॥

कलाप, शब्दों का कलाप 'शब्दकलाप') इस व्युत्पत्ति से शब्दकलाप 'काशकृत्स्न व्याकरण' का भी नामान्तर हो सकता है। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'काशकृत्स्न व्याकरण' किसी प्राचीन महाव्याकरण का संक्षेप प्रतीत होता है।[1] 'काशकृत्स्न' का सक्षेप 'कातन्त्र' व्याकरण है। अतः कलाप शब्द से ह्रस्व अर्थ में 'क' प्रत्यय होकर 'कातन्त्र' वाचक कलापक शब्द प्रसिद्ध होता है। हमारे विचार में दूसरी कल्पना अधिक युक्त है।

काशकृत्स्न धातुपाठ का वैशिष्ट्य

उपलब्ध 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में पाणिनीय धातुपाठ की अपेक्षा बहुत सी विशिष्टताएं उपलब्ध होती हैं। उनमें कतिपय इस प्रकार है—

१—इस धातुपाठ में ९ नव ही गुण हैं। जुहोत्यादि अदादि के अन्तर्गत है। वैयाकरण-निकाय में प्रसिद्ध **नवगणी धातुपाठः** अनुश्रुति सम्भवतः एतन्मूलक है।

२—इस धातुपाठ के प्रत्येक गण में पहले सभी परस्मैपदी धातुएं पढ़ी है, उसके पश्चात् आत्मनेपदी, और अन्त में उभयपदी। पाणिनीय धातुपाठ में तीनों प्रकार की धातुओं का प्रतिवर्ग सांकर्य है।

३—इस धातुपाठ के भ्वादिगण में पाणिनीय धातुपाठ से ४५० धातुएं संख्या में अधिक हैं (उत्तर गणों में प्रायः समानता है)। जो धातुएं इसी धातुपाठ में उपलब्ध होती हैं, पाणिनीय में पठित नहीं हैं, ऐसी धातुओं की संख्या लगभग ८०० है। पाणिनीय धातुपाठ की भी बहुत सी धातुएं 'काशकृत्स्न धातुपाठ में नहीं हैं। अतः संख्या की दृष्टि से साकल्येन ४५० धातुएं पाणिनीय धातुपाठ की अपेक्षा अधिक हैं।

४—पाणिनीय धातुपाठ में एकविध पढ़ी गई बहुत सी धातुएं 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में दो रूप से पठित हैं। यथा—

क—पाणिनीय धातुपाठ में पठित **ईड स्तुतौ** धातु काशकृत्स्न

---

१. तुलना करो—'काशकृत्स्नं गुरुलाघवम्' ४।३।११५; सरस्वतीकण्ठाभरण ४।३।२४५ में निर्दिष्ट उदाहरण।

धातुपाठ' में **ईड ईल स्तुतौ** (२।४१)[1] इस प्रकार डान्त लान्त भेद से दो प्रकार की पढ़ी है। मूलतः द्विविध धातुओं से निष्पन्न होने वाले इडा इला आदि शब्दों की सिद्धि के लिए डान्त लान्त पृथक्-पृथक् धातु पठित होने पर **डलयोरेकत्वम्** आदि नियम-कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रहती।

ख—**बृहि वृद्धौ** इस धातु की सम नार्थक **ब्रह** धातु भी 'काशकृत्स्न धातुपाठ' (१।३२०) में पठित है[2]। इसलिए ब्रह्मन् शब्द की सिद्धि के लिए **बृंहेर्नोऽच्च** (पं० उ० ४।१५६; द० उ० ६।७४) सूत्र द्वारा नकार को अकारादेश और ऋ को रेफादेश करने की आवश्यकता नहीं रहती। ब्रह धातु से सामान्य सूत्र बिहित मनिन् प्रत्यय से ही 'ब्रह्मन्' शब्द निष्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार **पृथु, व्याप्तौ** स्वतन्त्र धातु का पाठ (१।५८३, ६६८) होने से **पृथु, पृथिवी** आदि शब्दों के लिए प्रथ को सम्प्रसारण आदेश[3] करने की आवश्यकता नहीं होती।

ग—सिह सिंहिका आदि शब्दों की मूल प्रकृति **षिहि हिंसायाम्** धातु 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में पठित है[4] (१।३१६)। इसलिए हिंसि =हिंस में वर्णव्यत्यय (=वर्णविपर्यय) मानकर निर्वचन दिखाने[5] की आवश्यकता नहीं रहती।

---

१. यह कोष्ठान्तर्गत संख्या हमारे द्वारा संस्कृत भाषा में अनूदित कन्नड टीका के 'काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्' की है। प्रथम संख्या गण की है, दूसरी धातुसूत्र की। आगे भी इसी प्रकार सर्वत्र समझें।

२. कन्नड टीका में 'दृहि वृहि बृह ब्रह वृद्धौ' इस धातुसूत्र में 'ब्रह' का पाठ करके भी व्याख्या में इसके रूप नहीं बताए। ब्रह्मन् शब्द की सिद्धि 'बृहेरु रो मनि' (?) सूत्र द्वारा 'ऋ' को 'र' आदेश करके दर्शाई है। कन्नड टीका का पाठ बहुत्र भ्रष्ट है।

३. प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च। द० उ० १।११३; पं० उ० १।२९॥ प्रथेः षिवन् सम्प्रसारणं च। द० उ० ८।१२४; पं० उ० १।१३६॥

'काशकृत्स्न धातुपाठ' की कन्नडटीका में पृथू-पृथवी-पृथ्वी शब्द भी 'पृथ' धातु से निष्पन्न किए हैं।

४. हमारी नागराक्षर प्रति में यहां 'षिह' अपपाठ है।

५. हिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य। निरु० ३।१८॥ हिंसेः सिंहः। महाभाष्य 'पृषोदरादीनि' सूत्र तथा ३।१।१२३॥

५—पाणिनि द्वारा अपठित, परन्तु लोक वेद में उपलभ्यमान बहुत सी धातुएं 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में उपलब्ध होती हैं। यथा—

क—अथर्व की प्रकृति 'थर्व' धातु[1] हिंसार्थ में पठित है (१।२०४)।

ख—हिन्दी में प्रयुक्त 'ढूंढना' क्रिया की मूल प्रकृति 'ढुढि' (=ढुण्ढ) धातु का पाठ काशकृत्स्न धातुपाठ में उपलब्ध होता है (१।१९४)। इस धातु का निर्देश स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में भी मिलता है—

अन्वेषणे ढुण्ढिरयं प्रथितोऽस्ति धातुः
सर्वार्थढुण्ढिततया तव ढुण्ढिनाम ।[2]

ग—वेद में **मरति** आदि भौवादिक प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं। हिन्दी में प्रयुज्यमान **मरता है** भी **मरति** का अपभ्रंश है, **म्रियते** का नहीं। 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में मृ धातु भ्वादिगण में भी पठित है[3] (१।२२४)।

६—पाणिनि ने जिन धातुओं को परस्मैपदी अथवा आत्मनेपदी पढ़ा है, उनमें से बहुतसी धातुओं को काशकृत्स्न ने उभयपदी माना है। यथा—

क—पाणिनि ने **वद** धातु का परस्मैपदियों में पाठ करके 'भासन' आदि अर्थ-विशेषों में आत्मनेपद का विधान किया है।[4] काशकृत्स्न ने इसे उभयपदियों में पढ़ा है। (१।७०६)। तदनुसार **वदति वदते** दोनों प्रयोग भासनादि अर्थों से अतिरिक्त भी सामान्यरूप से उपपन्न हो जाते हैं। महाभारत में वद के आत्मनेपद प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं। उन्हें **आर्षत्वात् साधु** मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

---

१. तुलना करो—थर्वतिश्चरतिकर्मा। निरु० ११।१८॥ यहां अथर्वेद धातुओं के अवेकार्थक होने से उपपन्न होता है।

२. स्कन्द, काशीखण्ड अ० ५७, श्लो० ३३, मोर संस्क०, पृष्ठ ३९३।

३. पाणिनीय धातुपाठ में 'मिमृ गतौ' धातु पढ़ी है (क्षीर० १।३१३)। पाणिनीय व्याख्याकार इसे एक धातु मानते हैं। काशकृत्स्न 'मी' 'मृ' दो धातु स्वीकार करते हैं (१।२२४)।

४. अष्टा० १।३।४७–५०॥

ख—पाणिनि द्वारा परस्मैपदियों में पठित **वस निवासे टुओश्वि गतिवृद्ध्योः** धातुएं भी 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में उभयपदी मानी गई हैं (१।७०५,७०७)।

७—काशकृत्स्न धातुपाठ में कई ऐसी मूलभूत प्रकृतियां पढ़ी हैं, जिनसे निष्पन्न शब्दों में पाणिनीय प्रक्रियावत् लोप आगम वर्णविकार आदि नहीं करने पड़ते। यथा—

क—**'नौ'** शब्द की सिद्धि पाणिनीय वैयाकरण **ग्लानुदिभ्यां डौः** (द० उ० २।१२; पं० उ० २।६४) सूत्र से दर्शाते हैं। प्रत्यय के डित् होने से नुद् के उद् भाग का लोप होता है। परन्तु 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में **'णौ प्लवने'** स्वतन्त्र धातु पठित है (१।४२७)। इससे 'क्विप्' प्रत्यय होकर बिना किसी झंझट के 'नौ' शब्द निष्पन्न हो जाता है।

ख—**'क्षमा'** पद की सिद्धि के लिए **'क्षमूष् सहने'** धातु के उपधा का लोप करना पड़ता है। परन्तु 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में **'क्षमै धारणे'** स्वतन्त्र धातु पढ़ी है (१।४८३)। उससे एजन्तों को सामान्यविहित आत्व होकर क्विप् प्रत्यय में 'क्षमा' पद अनायास उपपन्न हो जाता है।

इस प्रकार 'काशकृत्स्न धातुपाठ' में अनेक वैशिष्ट्य उपलब्ध होते हैं। यहां हमने दिङ्मात्र निर्दशित किए हैं।

काशकृत्स्न धातुपाठ का उत्तरकालीन तन्त्रों पर प्रभाव—काशकृत्स्न धातुपाठ का उत्तरकालीन तन्त्रों के धातुपाठों पर प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कातन्त्रीय धातुपाठ तो काशकृत्स्न धातुपाठ का ही संक्षिप्त संस्करण है, यह हम आगे लिखेंगे। हैम और चान्द्र धातुपाठ पर भी काशकृत्स्न धातुपाठ का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यथा—

१—जैसे काशकृत्स्न धातुपाठ में ६ गण हैं, और जुहोत्यादि का अदाद्यन्तर्गत पढ़ा है- ऐसा ही 'हैम धातुपाठ' में भी मिलता है।

२—जैसे काशकृत्स्न धातुपाठ के प्रत्येक गण में पहले समस्त परस्मैपदी धातुएं पढ़ी हैं, तत्पश्चात् आत्मनेपदी और उभयपदी, यही क्रम 'चान्द्र धातुपाठ' एवं 'हैम धातुपाठ' में भी अपनाया गया है।

धातुपाठ का प्रामाणिकत्व

पाश्चात्य विद्वानों का प्रायः यह स्वभाव है कि वे किसी ऐसे

प्राचीन ग्रन्थ के, जिससे उनके द्वारा प्रचलित की गई भ्रान्त धारणाओं का खण्डन होता हो, अचानक उपलब्ध हो जाने पर उसे बिना किसी प्रमाण के कूट ग्रन्थ कहने का दुस्साहस करते हैं। कौटलीय अर्थशास्त्र और भास के नाटकों के अचानक उपलब्ध हो जाने पर पाश्चात्य विद्वानों ने इन ग्रन्थों को कूट ग्रन्थ सिद्ध करने के लिए एड़ी से चोटी पर्यन्त बल लगाया। क्योंकि इन ग्रन्थों के द्वारा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रसारित कई मान्यताओं का निराकरण होता था।

'काशकृत्स्न धातुपाठ' भी ऐसा ही विशिष्ट ग्रन्थ है। इसकी उपलब्धि से जहां व्याकरणशास्त्र के इतिहास के विषय में नया प्रकाश पड़ता है, वहां इससे पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्मित अनेक भ्रान्त मतों का भी निराकरण होता है और पाश्चात्य तथाकथित भाषाविज्ञान के अनेक कल्पित मतों का खण्डन होता है। अतः इस ग्रन्थ पर भी उनकी क्रूर दृष्टि अवश्य पड़ेगी, और वे इसे कूट ग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे। इसलिए हम इसकी प्रामाणिकता के साधक कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—बौद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमी का 'शब्दानुशासन' प्रसिद्ध है। चन्द्रगोमी सूत्रपाठ में प्रायः पाणिनीय सूत्रपाठ तथा वार्तिकपाठ का अनुसरण करता है। परन्तु धातुपाठ में वह पाणिनीय धातुपाठ का अनुसरण नहीं करता। चन्द्राचार्य ने धातुपाठ में प्रतिगण प्रथम परस्मैपदी धातुएं पढ़ी हैं, तत्पश्चात् आत्मनेपदी, और अन्त में उभयपदी। 'काशकृत्स्न धातुपाठ' की उपलब्धि से पूर्व हमारे मन में यह संशय रहता था कि चन्द्राचार्य ने धातुपाठ में अपना स्वतन्त्र नया क्रम रखा, अथवा इसमें भी सूत्रपाठ के समान किसी प्राचीन धातुपाठ का अनुसरण किया है? 'काशकृत्स्न धातुपाठ' के उपलब्ध हो जाने पर यह निश्चय हो गया कि चन्द्रगोमी ने धातुपाठ में 'काशकृत्स्न धातुपाठ' का प्राधान्य से अनुसरण किया है। इस समानता से स्पष्ट है कि 'काशकृत्स्न धातुपाठ' चन्द्रगोमी से पूर्व निश्चित रूप से विद्यमान था।

२—काशकृत्स्न और कातन्त्र[1] के धातुपाठों की तुलना करने

---

१. 'कातन्त्र धातुपाठ' के उपलब्ध न होने से लिबिश द्वारा क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में प्रकाशित शर्ववर्मा कृत धातुपाठ के तिब्बती अनुवाद को देखकर हमने उसके मूल संस्कृत पाठ को ही कातन्त्र का धातुपाठ मान लिया था। परन्तु

से स्पष्ट है कि कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का ही संक्षेप है।[1] जहां चन्द्रगोमी काशकृत्स्न-क्रम को छोड़कर पाणिनीय क्रम का अनुसरण करता है, वहां 'कातन्त्र धातुपाठ' काशकृत्स्न क्रम का ही अनुगमन करता है। यथा—

	काशकृत्स्न	कातन्त्र	पाणिनीय	चान्द्र
क—	दैङ् त्रैङ् पालने	दैङ् त्रैङ् पालने	देङ् रक्षणे	देङ् रक्षणे
	प्यैङ् वृद्धौ	प्यैङ् वृद्धौ	श्यैङ् गतौ	श्यैङ् गतौ
	पुङ् (?) पवने[2]	पूङ् पवने[3]	प्यैङ् वृद्धौ	प्यैङ् वृद्धौ
			त्रैङ् पालने	त्रैङ् पालने
			पूङ् पवने[4]	पूङ् पवने[5]
ख—	ग्लास्नावनुवमश्वनकम्यमिचमः।[6]	ग्लास्नावनुवमश्वनकम्यमिचमः।[7]	ग्लास्नावनुवमां च। न कम्यमिचमाम्।[8]	ग्लास्नावनुवमां च। न कम्यमिचमाम्।[9]

विशेष—यह भी ध्यान रहे काशकृत्स्न के धातुसूत्र के अनुसार **श्वन कम श्रम चम** धातुओं की णिच् प्रत्यय के परे रहने पर विकल्प से मित् संज्ञा होती है। तदनुसार **श्वनयति श्वानयति; कमयति कामयति; श्रमयति श्रामयति; चमयति चामयति** दो-दो प्रकार के प्रयोग निष्पन्न होते हैं। पाणिनीय धातुसूत्रानुसार कम श्रम चम की मित्संज्ञा का प्रतिषेध होने से **कामयति श्रामयति चामयति** रूप ही सिद्ध होते हैं। **श्वन** धातु का तो पाणिनीय में पाठ ही नहीं है। अतः पाणिनीय वैयाकरण श्वन् प्रातिपदिक से '**तत् करोति तदाचष्टे**' नियम से णिच्

'कातन्त्र धातुपाठ' के एक हस्तलेख के अचानक उपलब्ध हो जाने से हमारी पूर्व मान्यता नष्ट हो गई। अब हमें इसके कई हस्तलेखों का परिज्ञान हो गया है। दो कोशों की प्रतिलिपियां हमारे पास भी हैं।

१. काशकृत्स्न के उपलब्ध सूत्रों की कातन्त्र सूत्रों से तुलना करने से भी यही मत पुष्ट होता है कि कातन्त्र काशकृत्स्न का संक्षेप है।

२. धातुसूत्र १।५५५॥ ३. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ ८।

४. क्षीरतरङ्गिणी १।६८६-६९१॥ ५. धातुसूत्र १।४८१-४८५॥

६. धातुसूत्र १।६२४॥ ७. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १०।

८. क्षीरतरङ्गिणी १।५५६,५५७॥ ९. धातुसूत्र १।५५१, ५५२॥

करके **प्रकृत्यैकाच्** (अष्टा० ६।४।१६३) द्वारा प्रकृतिभाव करके **श्वानयति** रूप दर्शाते हैं। इतना ही नहीं, **श्वन्** धातु से अनायास सिद्ध होने वाले **श्वन्** प्रातिपदिक की निष्पत्ति पाणिनीय वैयाकरण **श्वन्नुक्षन्**[1] आदि सूत्र में निपातन द्वारा **श्वि** धातु के इकार का लोप करके दर्शाते हैं।[2]

३—पाणिनि ने जिन-जिन धातुओं को **छान्दस** माना है,[3] उन्हें काशकृत्स्न धातुपाठ में अन्य सामान्य धातुओं के समान पढ़ा है। इससे विदित होता है कि काशकृत्स्न-प्रोक्त धातुपाठ का वह काल है, जब उक्त धातुएं लोक में व्यवहृत थीं। यतः पाणिनि ने इन्हें छान्दस कहा है, अतः 'काशकृत्स्न धातुपाठ' पाणिनि से पूर्ववर्ती है।

४—काशकृत्स्न के जो सूत्र उपलब्ध हुए हैं, उनमें जिस प्रकार उदात्त आदि स्वर की निष्पत्ति के लिए अनुबन्धों का पूर्ण ध्यान रखा गया है, उसी प्रकार तत्तद्गणों के विकरणों के अन् आदि अनुबन्धों में भी स्वर का ध्यान रखा गया है।

प्रत्ययों के अनुबन्ध-निर्देश में स्वर का ध्यान रखना, इस बात का प्रमाण है कि काशकृत्स्न शब्दानुशासन और धातुपाठ के प्रवचन का काल वह है, जब लोकभाषा में स्वर-निर्देश का प्रचलन था।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि काशकृत्स्न धातुपाठ आचार्य पाणिनि, चन्द्रगोमी और कातन्त्र-प्रवक्ता से प्राचीन हैं। अतः इसके प्रामाण्य पर उंगली उठाना दुःसाहसमात्र होगा।

व्याख्याकार चन्नवीर कवि

इस धातुपाठ पर जो टीका उपलब्ध हुई है, वह **चन्नवीर कवि** कृत है। यह टीका **कन्नड** भाषा में है। चन्नवीर कवि कृत यह व्याख्या अत्यन्त संक्षिप्त है।

परिचय—इस ग्रन्थ के प्रत्येक गण के अन्त में टीकाकार ने अपना परिचय दिया है। यथा—

---

१. द० उ० ६।५५; पं० उ० १।१४६॥

२. द्र०—द० उ० वृत्ति, पृष्ठ २४२।

३. यथा—जुहोत्यादि में 'छन्दसि' सूत्र से 'घृ' आदि का छान्दसत्व, स्वादिगण में 'छन्दसि' सूत्र द्वारा 'ग्रह' आदि का छान्दसत्व।

इति श्री यागाण्टिशरभलिङ्गप्रसादिनस्तित्तिरयजुःशाखाध्ययनस्य वामदेवमुखोद्भूतस्य गजकर्णपुत्रस्य अत्रिगोत्रस्य वीरमाहेश्वरतन्त्रसूत्रस्य शिवलंकमंचनपण्डिताराध्यप्रवरस्य कोकिलाकुण्डस्य संगनगुरुलिंगलंग्यम्बाकुमारस्य पितृव्यनम्बयणगुरुकरजातस्य सह्याद्रीकटकषड्देशस्य कुण्टिकापुरस्य काशीकाण्डचन्नवीरकविकृतौ काशकृत्स्नधातुकर्नाटटीकायाम् आत्मनेपदिनः लेखकपाठकश्रोतृणां संस्कृतार्थप्रकाशिका भूयात् ।

हमारी नागराक्षर प्रति में अनुलिखित उक्त पाठ कई स्थानों पर अशुद्ध है। पुनरपि इससे इतना व्यक्त हो जाता है कि चन्नवीर कवि का पूरा नाम काशीकाण्ड चन्नवीर कवि था। यह अत्रिगोत्रोत्पन्न तैत्तिरीय शाखा का अध्येता, और सह्याद्री मण्डलवर्ती कुण्टिकापुर का निवासी था।

काल—ग्रन्थ के सम्पादक ने श्री आर. नरसिंहाचार्य के मतानुसार चन्नवीर कवि का काल १५०० लिखा है।

अन्य ग्रन्थ - चन्नवीर कवि ने सारस्वत व्याकरण, पुरुषसूक्त, और नमक-चमक (=यजुर्वेद के 'नमः' 'च मे' पदवाले अध्याय) की कन्नडटीकाएं लिखी हैं, ऐसा सम्पादक ने उपोद्घात में लिखा है।

व्याख्या का वैशिष्ट्य

यद्यपि यह व्याख्या अत्यन्त स्वल्पाक्षरा है, तथापि किसी प्राचीन व्याख्या पर आधृत होने से इसमें अनेक विशेषताएं उपलब्ध होती हैं। यथा—

१—इस टीका में काशकृत्स्न व्याकरण के १३७ सूत्र उद्धृत हैं।

२—इस व्याख्या में अनेक ऐसे कृदन्त शब्दों का निर्देश किया है, जिन्हें पाणिनीय वैयाकरण तद्धितान्त मानते हैं। यथा—**चौर्यम्** (१।१)।

हमने उन्नीसवें अध्याय में विस्तार से लिखा है कि अति पुराकाल में सम्पूर्ण नाम-शब्द धातुज ही माने जाते थे। उत्तरोत्तर मतिमान्द्य से धात्वर्थ-अनुगमन न होने पर उन शब्दों में सम्बन्धान्तर की कल्पना करके उन्हें तद्धितान्त बना दिया गया। यथा **होमी** शब्द होमिन् औणादिक है। इसमें हु धातु से विहित 'क' प्रत्यय को 'मिन्' आदेश

का निपातन किया है (द्र०—द० उ० १०।७; पं० उ० ३।८०)। यास्क ने भी निरुक्त १।१४ में इसे कृदन्त लिखा है। परन्तु पाणिनीय वैयाकरण **होमोऽस्यास्तीति होमी** मत्वर्थक इनिप्रत्ययान्त मानते हैं। पतञ्जलि ने भी कृदन्त **वध्य** शब्द के लिए **हनो वा वध च, तद्धितो वा** (३।१।९७) लिखकर **वधमर्हति वध्यः** व्युत्पत्ति दर्शाई है। **द्राघिमा नेदिष्ठ** आदि सम्प्रति तद्धितान्त समझे जाने वाले प्रयोग भी पुराकाल में कृदन्त माने जाते थे। क्षीरस्वामी लिखता है—

द्राघिमादयः कस्मिंश्चिद् व्याकरणे धातोरेव साधिताः, एवं नेदिष्ठादयो नेदत्यादेः।' क्षीरतरङ्गिणी १।८०, पृष्ठ ३१।'

३—पाणिनीय मतानुसार **यत् क्यप् ण्यत्** प्रत्यय विशिष्ट धातुओं से व्यवस्थितरूप में होते हैं। यथा—अजन्तों से यत्, इण् आदि परिगणित धातुओं से क्यप्, ऋवर्णान्त और हलन्तों से ण्यत्।

चन्नवीर कवि ने अपनी व्याख्या में अनेक स्थानों पर कृदन्त शब्दों का जिस प्रकार निर्देश किया है, उससे प्रतीत होता है कि **यत् क्यप् ण्यत्** प्रत्यय **तव्यत्** आदि के समान सामान्य हैं, अर्थात् सब धातुओं से होते हैं। यथा

रभ—रभ्यम्, राभ्यम्। का० धा० १।५६३, पृष्ठ ९४।
लभ—लभ्यम्, लाभ्यम्। का० धा० १।५६४, पृष्ठ ९४।
रुच—रुच्यम्, रौच्यम्। का० धा० १।६६५, पृष्ठ ९४।
मिद—मेद्यम्, मैद्यम्। का० धा० १।५६७, पृष्ठ ९५।
घुट—घुट्यम्, घोट्यम्, घौट्यम्। का० धा० १।५६९, पृष्ठ ९५।

इनमें प्रथम दो धातुओं के **यत्** और **ण्यत्** प्रत्यय के रूप दर्शाए हैं। पाणिनीय मतानुसार **पोरदुपधात्** (अष्टा० ३।१।९८) नियम से **यत्** ही होगा, **ण्यत्** नहीं। तृतीय धातु के **क्यप्** और **ण्यत्** के रूप लिखे हैं। पाणिनीय मतानुसार (अष्टा० ३।१।११४) रुच्य में कर्ता में क्यप् निपातित है। भावकर्म में **यत्** ही होता है, **ण्यत्** की प्राप्ति तो कथंचित् भी सम्भव नहीं। मिद धातु के **यत्** और **ण्यत्** के रूप उद्धृत किए हैं। पाणिनीय मत में मिद से **यत्** नहीं होता। घुट धातु के क्रमशः **क्यप्, यत्, ण्यत्** तीनों प्रत्ययों के रूप दर्शाए हैं। पाणिनीय मतानुसार केवल **ण्यत्** ही होना चाहिए।

४—इस टीका में अनेक धातुओं के अर्थों की ऐसी व्याख्या की है, जो अन्य धातुवृत्तियों में उपलब्ध नहीं होती।

'काशकृत्स्न धातुपाठ' और उसकी कन्नड टीका का संस्कृत रूपान्तर '**काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्**' के नाम से हम प्रकाशित कर चुके हैं।

हमने इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में पाणिनीय तन्त्र में अनुल्लिखित पाणिनि से पूर्ववर्ती जिन तेईस वैयाकरणों का वर्णन किया है, उनमें से उपरिनिर्दिष्ट केवल चार आचार्यों का ही धातुपाठ-प्रवक्तृत्व सुज्ञात है।

५. शाकटायन (३००० वि पूर्व)

वैदिक वाङ्मय तथा वैयाकरण निकाय में प्रसिद्ध है कि आचार्य शाकटायन सम्पूर्ण नामशब्दों को धातुज मानता था। यास्क निरुक्त १।१२ में लिखता हैं—

'तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च'।

अर्थात्—सब नाम आख्यातज (=धातु से उत्पन्न) हैं, ऐसा शाकटायन मानता है। और यही नैरुक्त आचार्यों का सिद्धान्त है।

महाभाष्य ३।३।१ में भी लिखा है—

'व्याकरणे शकटस्य च तोकम्—वैयाकरणानां च शाकटायन आह—धातुजं नामेति।'

अर्थात्—वैयाकरण में शकट-पुत्र शाकटायन कहता है कि 'नाम धातु से निष्पन्न हैं'।

इतना ही नहीं, यास्क शाकटायन के शब्द-निर्वचन-प्रकार पर किये गये आक्षेप का भी उत्तर देते हुए लिखता है—

सैषा पुरुषगर्हा, न शास्त्रगर्हा। १।१४।

अर्थात्—यह पुरुष की निन्दा है [जो शाकटायन के निर्वचन-प्रकार को नहीं समझता। शाकटायन-प्रोक्त] शास्त्र की गर्हा नहीं हैं, अर्थात् शाकटायन का शास्त्र अथवा निर्वचन-प्रकार युक्त है।

इसी के उपोद्बलक काशिका १।४।८६,८७ में दो उदाहरण हैं—

अनुशाकटायनं वैयाकरणाः। उपशाकटायनं वैयाकरणाः।

अर्थात्—सब वैयाकरण शाकटायन के नीचे हैं।

यदि यास्क के उक्त वाक्य में शाकटायन की निन्दा अभिप्रेत होती, जैसा कि स्कन्दस्वामी ने पक्षान्तर में लिखा है, तो वैयाकरणनिकाय और नैरुक्तसम्प्रदाय में शाकटायन की इतनी प्रशंसा न होती।

यद्यपि शाकटायन-प्रोक्त धातुपाठ के साक्षात् उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में हमें नहीं मिले, तथापि यास्क और पतञ्जलि के उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण नामशब्दों को आख्यातज=धातुज माननेवाले वैयाकरणमूर्धन्य शाकटायन ने धातुपाठ का प्रवचन भी अवश्य किया था। अन्यथा सम्पूर्ण नामशब्दों के धातुजत्व का प्रतिपादन करने में वह कभी समर्थ न होता। इस से यह भी सुव्यक्त है कि शाकटायन ने जिस धातुपाठ का प्रवचन किया था, वह पाणिनीय धातुपाठ की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत रहा होगा।

आचार्य शाकटायन के काल आदि के विषय में हम पूर्व प्रथम भाग के चतुर्थ अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं। अतः उसके यहां पुनः पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है।

६. आपिशलि (३००० वि० पूर्व)

यद्यपि आचार्य आपिशलि का धातुपाठ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, तथापि उसके धातुपाठ के उद्धरण अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यथा

१—महाभाष्य १।३।२२ में निम्न उदाहरण हैं—

'अस्ति सकारमातिष्ठते। आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते।'

ये उदाहरण काशिका १।३।२२ में भी उपलब्ध होते हैं। इनके विषय में न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि लिखता है—

'सकारमात्रमस्तिधातुमापिशलिराचार्यः प्रतिजानीते। तथाहि—न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गणपाठः। किं तर्हि? 'स भुवि' इति स पठति। आगमौ गुणवृद्धी आतिष्ठत इति। स त्वागमौ गुणवृद्धी आतिष्ठते। एवं हि स प्रतिजानीते इत्यर्थः।

अर्थात् आपिशलि आचार्य 'अस' धातु को 'स' मात्र स्वीकार करता है। उसका पाणिनि के समान **'असि भुवि'** पाठ नहीं है, अपितु **'स भुवि'** ऐसा वह पढ़ता है। [**अस्ति** आदि में गुण (=अट्) और [**आसीत्** आदि में] वृद्धि (=आट्) का आगम मानना है। इस प्रकार वह [रूपसिद्धि] स्वीकार करता है।

काशिका के उक्त पाठ पर हरदत्त भी लिखता है—

'**स्तः सन्तीत्यादौ सकारमात्रस्य दर्शनात् 'स भुवि' इत्येव धातुः पाठ्यः। अस्तीत्यादौ पिति सार्वधातुके अडागमो विधेयः। आस्तामासन्नित्यादौ आडागमः स्याद् इत्यापिशला मन्यन्ते।**'

अर्थात्—'**स्तः सन्ति**' आदि में सकारमात्र दिखाई पड़ने से '**स भुवि**' ऐसा ही धातु पढ़ना चाहिए। **अस्ति** आदि में **अट्** और **आस्ताम्, आसन्** आदि में आट् आगम का विधान करना चाहिए, ऐसा आपिशलिप्रोक्त शास्त्र के अध्येता मानते हैं।

२—स्कन्दस्वामी निरुक्त-व्याख्या २।२ में लिखता है—

'**उषिजिघर्तो छान्दसौ धातू व्याकरणस्य शाखान्तर आपिशलादौ स्मरणात्**'।

अर्थात्—'**उष**' और '**घृ**' ये छान्दस धातुएं हैं, ऐसा व्याकरण-शास्त्र के शाखान्तर **आपिशल** आदि में स्मृत है।

३=वामन काशिका ७।१।१० में अनिट् कारिका की व्याख्या में लिखता है—

क—'**इतरौ (रिहिलिही) तु धातुषु न पठ्येते, कैश्चिदभ्युपगम्येते**'।

इस पर न्यासकार लिखता है—

'**कैश्चिदिति—आपिशलिप्रभृतिभिरिति।**' भाग २, पृष्ठ ६६८।

ख—'**तन्त्रान्तरे चत्वारोऽपरे पठ्यन्ते-सहिमुहिरिहिलिहयः।**'

इस पर न्यासकार ने लिखा है—

'**तन्त्रान्तर इति—आपिशलेर्व्याकरणे**'। भाग २, पृष्ठ ६६८।

ग—'**तथा च तन्त्रान्तरे निजिविजिष्वञ्जिवर्जम् इत्युक्तम्।**'

इस पर भी न्यासकार ने लिखा है—

'**तन्त्रान्तर इति—आपिशलिव्याकरणे।**' भाग २, पृष्ठ ७०१।

इन तीन पाठों में से प्रथम दो पाठ साक्षात् धातुपाठ-विषयक हैं। अन्तिम पाठ सम्भवतः अनुदात्त-धातु-निर्देशक पाठ का अवयव है।

४—पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता 'मैत्रेयरक्षित' 'तु' धातु के विषय में लिखता है—

'छान्दसोऽयमित्यापिशलिः।' धातुप्रदीप, पृष्ठ ८०।

उपर्युक्त उद्धरणों से आपिशल धातुपाठ के विषय में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—

१—आपिशलि आचार्य ने किसी धातुपाठ का प्रवचन अवश्य किया था।

२—आपिशलि के धातुपाठ में कई धातुओं का स्वरूप पाणिनीय पाठ से भिन्न था।

३—धातु के स्वरूप में भिन्नता होने से आपिशलि के व्याकरण की प्रक्रिया में भी कुछ भेद था।

४—आपिशल धातुपाठ में पाणिनीय धातुपाठ के समान छान्दस धातुओं का भी पाठ था।

५—आपिशल धातुपाठ में बहुत-सी धातुएं पाणिनीय धातुपाठ से अधिक थीं।

आपिशलि आचार्य के काल आदि के विषय में हम पूर्व प्रथम भाग के चतुर्थ अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं

पाणिनि ने अपने तन्त्र में जिन दस प्राचीन आचार्यों के मतों का निर्देश किया है, उनमें से केवल आपिशलि आचार्य ही ऐसा है, जिसका धातुपाठ-प्रवक्तृत्व प्राचीन ग्रन्थों में साक्षात् निर्दिष्ट है।

इस प्रकार पाणिनि से पूर्ववर्ती विज्ञात २६ वैयाकरणों में से केवल ६ आचार्य ही ऐसे हैं, जिनका धातुपाठ-प्रवक्तृत्व सुविदित है। यद्यपि इन्द्र और वायु के धातुपाठ के उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलते, पुनरपि इनके शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय अंश के प्रथम प्रकल्पक होने से इनका धातपाठ का प्रवक्तृत्व स्वतःसिद्ध है। क्योंकि बिना धातुसंग्रह के प्रकृति-प्रत्यय अंश की कल्पना हो ही नहीं सकती। आचार्य भागुरि के उपलब्ध सूत्रों में कतिपय धातुओं और गुपू में विशिष्ट अनुबन्ध का निर्देश होने से भागुरि ने धातुपाठ का प्रवचन किया था, ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है। सम्पूर्ण नामशब्दों को धातुज माननेवाले शाकटायन के धातपाठ-प्रवक्तृत्व में भी सन्देह को कोई स्थान नहीं है। आपिशल धातुपाठ के उद्धरण कई ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। अतः उसका धातपाठ किसी समय लोक में प्रचलित था, यह स्पष्ट है।

काशकृत्स्न का धातुपाठ तो कन्नड-टीका-सहित प्रकाश में आ ही चुका है। इस प्रकार पाणिनि से पूर्ववर्त्ती धातुपाठों में केवल काशकृत्स्न का धातुपाठ ही इस समय हमें पूर्ण रूप में उपलब्ध है।

इस अध्याय में पाणिनि से पूर्ववर्त्ती परिज्ञात धातुपाठ-प्रवक्ता आचार्यों का निर्देश करके अगले अध्याय में पाणिनीय धातुपाठ और उसके वृत्तिकारो का वर्णन करेंगे।

इक्कीसवां अध्याय

धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता (२)

(पाणिनि तथा तत्प्रोक्त धातुपाठ के वृत्तिकार)

६. पाणिनि (२९०० वि० पूर्व)

सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में आचार्य पाणिनि का शब्दानुशासन ही एकमात्र ऐसा आर्ष-तन्त्र है, जो अपने पांचों अवयवों सहित उपलब्ध है। इसलिए पाणिनीय तन्त्र का महत्त्व अत्यधिक है। इतना ही नहीं, उत्तरवर्त्ती प्रायः सभी वैयाकरण इस शास्त्र के सम्मुख नतमस्तक हैं। उनका प्रधान उपजीव्य एकमात्र यही तन्त्र है।

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन की कृत्स्नता के लिए सूत्रपाठ के साथ जिन अङ्गों का प्रवचन किया था, उन में धातुपाठ प्रधान है। पाणिनि ने स्वप्रोक्त धातुपाठ के अनुकूल ही सूत्रपाठ का प्रवचन किया, यह दोनों की तुलना से स्पष्ट है। पाणिनीय वैयाकरणों में जिस धातुपाठ का पठन-पाठन प्रचलित है वह पाणिनिप्रोक्त है, ऐसा प्रायः सभी वैयाकरणों का मत है।

धातुपाठ के पाणिनीयत्व पर आक्षेप

न्यासकार का आक्षेप—पाणिनीय वैयाकरणों में काशिका का व्याख्याता जिनेन्द्रबुद्धि ही ऐसा व्यक्ति है, जो धातुपाठ को पाणिनि-प्रोक्त नहीं मानता। वह लिखता है—

१—**'प्रतिपादितं हि पूर्वं गणकारः पाणिनिर्न भवतीति। तथा चान्यो गणकारोऽन्यश्च सूत्रकारः।'** ७।४।३, भाग २, पृष्ठ ८४०।

अर्थात्—पहले प्रतिपादन कर चुके हैं कि गणकार (=धातुगण-कार) पाणिनि नहीं है। अन्य गणकार (=धातपाठ-प्रवक्ता) है, और अन्य सूत्रकार।

२—**'यद्यत्र त्रिग्रहणं क्रियते निजादीनामन्ते वृत्करणं किमर्थम्?**

एतत् गणकारः प्रष्टव्यः, न सूत्रकारः । अन्यो हि गणकारोऽन्यश्च सूत्रकार इत्युक्तं प्राक् । ७।४।७५: भाग २, पृष्ठ ८७३ ।

अर्थात्—यदि यहां (निजां त्रयाणां गुणः श्लौ ७।४।७५ सूत्र में) 'त्रि' ग्रहण किया है, तो [धातुपाठ में] निजादियों के अन्त में [समाप्त्यर्थद्योतक] वृत्करण का क्या प्रयोजन है ? [उत्तर—] यह गणकार (=धातुपाठ-प्रवक्ता) से पूछना चाहिए, सूत्रकार से नहीं। अन्य ही गणकार है, अन्य सूत्रकार, यह पहले कह चुके हैं।

यहां न्यासकार ने स्पष्ट ही धातुपाठ के पाणिनीय-प्रवचन का प्रत्याख्यान किया है।

विशेष—इन दोनों उद्धरणों में न्यासकार ने 'धातुपाठ-प्रवक्ता सूत्रकार पाणिनि नहीं हो सकता, यह पूर्व कह चुके' लिखा है। परन्तु हमें सम्पूर्ण न्यास में इन दोनों उद्धरणों से पूर्व कहीं पर भी पाणिनि के धातुपाठ-प्रवक्तृत्व का प्रतिषेधक वचन नहीं मिला। हां, प्रातिपदिक गण (=गणपाठ) के अपाणिनीयत्व-प्रतिपादक-वचन तो पूर्वत्र उपलब्ध होता है। हो सकता है, न्यासकार ने 'गण' शब्द से सामान्यतया धातुगण और प्रातिपदिकगण दोनों का निर्देश किया हो।

न्यासकार का स्ववचन-विरोध—हमने न्यासकार के दो वचन ऊपर उद्धृत किये हैं, जिनसे स्पष्ट है कि वह धातुपाठ को पाणिनि-प्रोक्त नहीं मानता। अब हम उसका एक ऐसा वचन उद्धृत करते हैं, जिसमें उसने धातुपाठ को पाणिनि का प्रवचन स्वीकार किया है। यथा—

'न तस्य पाणिनेरिव 'अस भुवि' इति गणपाठः' । १।३।२२, भाग १, पृष्ठ २२६ ।

अर्थात्—उस (=आपिशलि) का पाणिनि के समान **'अस भुवि'** ऐसा गण (=धातुपाठ=धातुगण) का पाठ नहीं है।

इस उद्धरण में जिनेन्द्रबुद्धि ने स्पष्ट ही आपिशलि के समान पाणिनि को भी गणकार (=धातुपाठ-प्रवक्ता) स्वीकार किया है। न्यायशास्त्रानुसार इस स्ववचन-विरोध के कारण न्यासकार के निग्रह-स्थान में आ जाने से उसका वचन किसी तत्त्व के निर्णय में प्रमाण नहीं हो सकता।

न्यासकार की भ्रान्ति—न्यासकार ने धातुपाठ के अपाणिनीयत्व-

प्रतिपादन में जो दो हेतु दिए हैं, वे वस्तुतः हेत्वाभास हैं। अपि च, न्यासकार के उपर्युक्त वचनों से प्रतीत होता है कि कृत और प्रोक्त ग्रन्थों में जो मौलिक भेद है, उसे वह भली प्रकार नहीं जानता था। उसने अष्टाध्यायी और धातुपाठ को पाणिनि के कृत-ग्रन्थ मानकर आलोचना की है। यदि कृत-ग्रन्थ मानकर केवल अष्टाध्यायी की भी आलोचना की जाए, तो अष्टाध्यायी में भी अनेक स्थानों में विरोध दिखाई पड़ता है। यथा—

१—**औङ आपः** (७।१।१८) सूत्र में '**औङ्**' पद से **औ-औट्** प्रत्ययों का ग्रहण अभिप्रेत है। परन्तु पाणिनि ने सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में कहीं पर भी 'औ–औट्' की औङ् संज्ञा नहीं कही।

२—**आङि चापः; आङो नाऽस्त्रियाम्** (७।३।१०५, १२०) सूत्रों में आङ् पद से तृतीय के एकवचन '**टा**' का निर्देश अभिप्रेत है। पाणिनि ने कहीं पर भी 'टा' का 'आङ्' संकेत नहीं किया।

इसी प्रकार अनेक स्थानों में अष्टाध्यायी में पारस्परिक विरोध उपस्थित किये जा सकते हैं। यदि अष्टाध्यायी के इन विरोधों का परिहार '**पूर्वसूत्रनिर्देश**'[1] हेतु द्वारा किया जा सकता है, तो इसी हेतु से अष्टाध्यायी और धातुपाठ के पारस्परिक विरोधों का परिहार क्यों न किया जाए? वस्तुतः पूर्वसूत्र-निर्देश हेतु ही 'अष्टाध्यायी पाणिनि का कृत ग्रन्थ नहीं है, अपि तु प्रोक्त ग्रन्थ है' सिद्धान्त का प्रतिपादक है।

कृत और प्रोक्त में भेद—वैयाकरणों ने सम्पूर्ण वाङ्मय को **दृष्ट-प्रोक्त-उपज्ञात-कृत-व्याख्यान** इन पांच विभागों में बांटा है[2]। इसलिए पाणिनि ने **तेन प्रोक्तम्** (४।३।१०१); **कृते ग्रन्थे** (४।३।११६) सूत्रों में कृत और प्रोक्त ग्रन्थों का भेद से निर्देश किया है।

कृत ग्रन्थों में ग्रन्थ की सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी उस ग्रन्थ के रचयिता द्वारा ही ग्रथित होती है, परन्तु प्रोक्त ग्रन्थों की सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी

---

१. निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात्। महा० ७।१।१८। इसी प्रकार अन्यत्र १।२।६८॥ ५।१।१४॥॥ ६।१।१६३॥ ८।४।७ आदि में भी पूर्वसूत्रनिर्देश दर्शाया है।

२. यथाक्रम—४।२।७॥ ४।३।१०१॥ ४।३।११५॥ ४।३ ७७,११६॥ ४।३।६६॥

उस ग्रन्थ के प्रवक्ता द्वारा ग्रथित नहीं होती। प्रवक्ता लोग पूर्वतः विद्यमान शास्त्र के परिष्कारकमात्र होते हैं, सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी के रचयिता नहीं होते। प्रोक्त ग्रन्थों में प्रवक्ता का स्वोपज्ञ अंश और स्वीय वर्णानुपूर्वी स्वल्पमात्र में होती है। इस प्रकार के प्रोक्तविभाग को ही आयुर्वेदीय चरक संहिता में 'संस्कृत' पद से कहा गया है। चरक में संस्कृत का स्वरूप इस प्रकार दर्शाया है—

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्॥
अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना।
संस्कृतं तत्.................. ॥ सिद्धि० १२।६६,६७॥

वस्तुतः संस्कृत वाङ्मय की स्थिति यह है कि उसके जितने भी मूलभूत शास्त्रपद अलङ्कृत ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध होते हैं, वे सब प्रोक्त ग्रन्थ हैं, कृत नहीं। अष्टाध्यायी और धातुपाठ भी पाणिनि के प्रोक्त ग्रन्थ हैं। सभी वैयाकरण **पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं शब्दानुशासनम्'** प्रयोग करते है, न कि **पाणिनिना कृतम्**। यतः प्रोक्त ग्रन्थों में बहुत-सी वर्णानुपूर्वी अथवा बहुत-सा अंश पूर्व ग्रन्थ अथवा ग्रन्थों का होता है, और कुछ अंश प्रवक्ता का अपना भी होता है। इसलिए प्रायः सभी प्रोक्त ग्रन्थों में कहीं-कहीं पर परस्पर विरोध और आनर्थक्य दिखाई पड़ता है। प्रोक्त ग्रन्थों के इस विरोध और आनर्थक्य का समाधान पूर्वाचार्य **पूर्वसूत्रनिर्देश** हेतु द्वारा करते हैं। यही समाधान का राजमार्ग अष्टाध्यायी और धातुपाठ के विरोधपरिहार के लिए युक्त है। प्रोक्त ग्रन्थों में विरोध-दर्शन मात्र से भिन्न कर्तृकत्व (=**प्रवक्तृत्व**) की कल्पना करना अन्याय्य है।

भ्रान्ति का अन्य कारण—पाणिनीय धातुपाठ का जो पाठ सम्प्रति उपलब्ध होता है, वह आज उसी रूप में नहीं मिलता, जैसा उसका पाणिनि ने प्रवचन किया था। उसके पाठ का बहुत बार परिष्कार हो चुका है। (इस विषय में हम आगे विस्तार से लिखेंगे)। अतः उत्तरवर्ती परिष्कृत पाठ के आधार पर मूल ग्रन्थ के विषय में जो भी आलोचना की जाएगी, वह युक्त न होगी। इस दृष्टि से भी यह चिन्तनीय है कि धातुपाठ के जिन अंशों के कारण न्यासकार ने अष्टाध्यायी के साथ विरोध दर्शाया है, वे अंश मूल ग्रन्थ के ही हैं, अथवा उत्तरवर्ती परिष्कार के कारण सन्निविष्ट हुए हैं।

अब हम धातुपाठ के पाणिनीयत्व में कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

धातुपाठ के पाणिनीयत्व में प्रमाण

भगवान् पाणिनि ने शब्दानुशासन का प्रवचन करते हुए 'भूवादयो धातवः' (१।३।१) सूत्र से विज्ञापित खिलरूप धातुपाठ का भी प्रवचन किया था, इसमें अनेक प्रमाण हैं। यथा—

१—पाणिनि ने **पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु** (३।१।५५); **किरश्च पञ्चभ्यः** (७।२।७५); **शमामष्टानां दीर्घः श्यनि** (७।३।७४) इत्यादि अनेक सूत्रों में धातुपाठ के अन्तर्गत पठित धात्वनुपूर्वी को ध्यान में रखकर तत्तत् कार्यों का विधान किया है। इसी प्रकार धातुपाठस्थ धात्वनुबन्धों के द्वारा अपने शब्दानुशासन में अनेक कार्य दर्शाए हैं। यथा—

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२); **स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** (१।३।७२); **ड्वितः क्त्रिः** (३।३।८८); **ट्वितोऽथुच्** (३।३।८९)।

सूत्रपाठ में स्मृत धात्वनुपूर्वी और धातुपाठस्थ अनुबन्धों के द्वारा तत्तत् कार्यविधान से स्पष्ट है कि जैसे पाणिनि ने सूत्रपाठ से पूर्व सर्वादि प्रातिपदिकगण का प्रवचन किया, उसी प्रकार धातुपाठ का भी सूत्रपाठ से पूर्व प्रवचन अथवा संग्रथन किया। क्योंकि विना धातुपाठ और धातुसंबद्ध अनुबन्धों के पूर्व-प्रवचन के सूत्रपाठ का प्रवचन कथंचित् भी नहीं हो सकता।

२—महाभाष्यकार पतञ्जलि धातुपाठ को पाणिनि का ही प्रवचन मानते हैं, यह महाभाष्यकार के अनेक पाठों से अभिव्यक्त होता है। यथा—

'एवं तर्हि सिद्धे सति यदादिग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः अस्ति च पाठो बाह्यश्च सूत्रात्। महा० १।३।१॥

अर्थात्—इस प्रकार सिद्ध होने पर सूत्रकार ने जो आदि-ग्रहण किया है, उससे आचार्य बताते हैं कि धातुओं का पाठ है, और वह सूत्रपाठ से बाहर (पृथक्) है।

इस वचन से स्पष्ट है कि भगवान् पतञ्जलि सूत्रपाठ के समान धातुपाठ को भी पाणिनीय मानते हैं।

३—'**इदं तर्हि प्रयोजनम् - ओलस्जी लग्नः। निष्ठादेशः सिद्धो वक्तव्यः। नेड्वशिकृतीट्प्रतिषेधो यथा स्यात्। ईदित्करणं च न वक्तव्यं भवति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। क्रियते न्यास एव।**' महा० ८।२।६।

यहां महाभाष्यकार ने धातुपाठस्थ 'ओलस्जी' के ईदित्करण को प्रमाण मान कर '**निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययेड्विधिषु**' वार्तिकस्थ इट्-विधि-प्रयोजन का खण्डन किया है।[1]

४—'**अथवा आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नैवंजातीयकानामिद्विधि-र्भवतीति, यदयमिरितः कांश्चिन्नुमनुषक्तान् पठति—उबुन्दिर् निशा-मने, स्कन्दिर् गतिशोषणयोः।**' महा० १।३।७।।

अर्थात्—आचार्य की प्रवृत्ति (=व्यवहार) बताता है कि इस प्रकार की धातुओं में [इकार की] इत्संज्ञा [मानकर नुमागम] की विधि नहीं होती, जो वह किन्हीं 'इरित्' धातुओं को नुम् से युक्त पढ़ता है। यथा—उबुन्दिर्, स्कन्दिर्।

महाभाष्यकार आचार्य शब्द का व्यवहार पाणिनि तथा कात्यायन के लिए ही करते हैं। इस वाक्य में आचार्य पद से कात्यायन का निर्देश किसी प्रकार नहीं हो सकता। अतः यहां आचार्य पद पाणिनि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, यह स्पष्ट है।

उक्त वाक्य में जो आचार्य '**ज्ञापयति**' क्रिया का कर्त्ता है, वही '**पठति**' (धातुपाठ को पढ़ता है) क्रिया का भी कर्त्ता है। इस वाक्य-रचना से स्पष्ट है कि पाणिनि ही ज्ञापन करता है, और वही नुम्युक्त उबुन्दिर् आदि धातुओं को पढ़ता है। यह पाठ निश्चय ही धातु-पाठान्तर्गत है।

५—'**तथाजातीयकाः खल्वाचार्येण स्वरितञितः पठिता य उभ-यवन्तः, येषां कर्त्रभिप्रायं चाकर्त्रभिप्रायं च क्रियाफलमस्ति।** महा० १।३।७२।।

---

१. भाष्य के उक्त वचन की व्याख्या करते हुए नागेश ने 'ईदित्करणं न वक्तव्यम्' का तात्पर्य 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (अ० ७।२।१४) सूत्रस्थ ईदित्-करण दर्शाया है। वह चिन्त्य है। यहां 'क्रियते न्यास एव' का तात्पर्य भी धातुपाठस्थ ईदित्करण से है, न कि सूत्रपाठस्थ ईदित्ग्रहण से।

अर्थात् उसी प्रकार की धातुओं को आचार्य ने स्वरित और ञित् पढ़ा है जो उभयरूप हैं अर्थात् जिनका क्रियाफल कर्तृगामी और अकर्तृगामी उभयथा है।

यहां पर भी आचार्य पाणिनि को ही स्वरित और ञित् धातुओं का पाठकर्त्ता कहा है, यह व्यक्त है। यह पाठ धातुपाठ में ही है।

६—'**कृतमनयोः साधुत्वम्। कथम्? वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे। तस्मात् क्तिन्** ......।' महा० १।१।१॥

अर्थात्—वृद्धि और आदैच् के साधुत्व का प्रतिपादन कर दिया [पाणिनि ने]। कैसे? 'वृध' धातु सामान्यरूप से उपदिष्ट की गई प्रकृतिपाठ (=धातुपाठ) में, उससे 'क्तिन्' प्रत्यय......।

यहां पर भाष्यकार ने साक्षात् प्रकृतिपाठ अर्थात् धातुपाठ में पाणिनि द्वारा 'वृधि' धातु का उपदेश स्वीकार किया है।

७—'**मृजिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः**।' महा० १।१।१॥

अर्थात्—मृज धातु का सामान्यरूप से उपदेश किया है।

इसकी व्याख्या में शिवरामेन्द्र सरस्वती लिखता है—

८—**मृजिरस्मा इति—अस्मै साधु शब्दबुभुत्सवे पाणिनिना धातुपाठे मृजूष् शुद्धौ इत्युपदिष्ट इति।**'[1]

अर्थात्—इस साधुशब्द को जानने की इच्छावाले [शिष्य] के लिये पाणिनि ने धातुपाठ में 'मृजूष् शुद्धौ' धातु का उपदेश किया है।

इसी पर छाया-व्याख्याकार वैद्यनाथ पायगुण्ड ने भी लिखा है—

९—"**पाणिनिना प्रत्ययविशेषानाश्रयेण 'मृजूष् शुद्धौ' इति धातुपाठ उपदिष्ट इत्यर्थः।**"[2]

अर्थात् पाणिनि ने किसी प्रत्ययविशेष का आश्रयण न करके 'मृजूष् शुद्धौ' धातु का धातुपाठ में उपदेश किया है।

१०—पदमञ्जरीकार हरदत्त लिखता है—

---

१. महाभाष्यसिद्धान्तरत्नप्रकाश नाम्नी व्याख्या, हमारा हस्तलेख, पृष्ठ २११। 'महाभाष्यप्रदीप-व्याख्यानानि' के अन्तर्गत, भाग १, पृष्ठ २३७।

२. नवाह्निक निर्णयसागर सं०, पृष्ठ १४६, कालम २, टि० ११।

'यत्राचार्याः स्मरन्ति तत्रैव सूत्रकारेण तावद्विवक्षिताः सर्वेऽनुनासिकाः पठिताः 'डुलभँष् प्राप्तौ' इतिवत्। लेखकैस्तु संकीर्णा लिखिताः।'[1]

अर्थात्—जहां व्याख्याता लोग अनुनासिक मानते हैं, वहीं सूत्रकार ने विवक्षित सारे अनुनासिक 'डुलभँष् प्राप्तौ'[2] के समान पढ़े थे। लेखकों ने संकोर्णरूप से पढ़ दिया, अर्थात् निरनुनासिकों के साथ सानुनासिकों को भी निरनुनासिक रूप से पढ़ दिया।

११—पाणिनीय वैयाकरण सूत्रपाठ के समान धातुपाठ को भी पाणिनीय मानकर धातुपाठस्थ प्रयोगों के आधार पर अनेक प्रयोगों के साधुत्व का प्रतिपादन करते हैं। यथा—

क—'कथमुद्यमोपरमौ? अड उद्यमने (क्षीरत० १।२४९), यम उपरमे (क्षीरत० १।७११) इति निपातनादनुगन्तव्यौ।' काशिका ७।३।३४॥

अर्थात्—उद्यम उपरम प्रयोग कैसे बनेंगे? 'अड उद्यमने' और 'यम उपरमे' पाठ में निपातन से वृद्धि का अभाव जानना चाहिए।

ख—'धू विधूनने (क्षीरत० ६।९८), तृप प्रीणने (क्षीरत० पृ० ३०७, टि०३) इति निपातनादनयोर्नुग्भविष्यति।' न्यास भाग २, पृष्ठ ७९२।

अर्थात्—धातुपाठ में 'धू विधूनने' और 'तृप प्रीणने' में विधूनन तथा प्रीणन पदों के पाठसामर्थ्य से 'नुक्' का आगम हो जाएगा।

ग—'व्याजीकरणे लिङ्गाद् घञि कुत्वाभावः—व्याजः।' क्षीरत० ६।१६॥

अर्थात्—'व्याज' शब्द में 'घञ्' प्रत्यय में कुत्व होना चाहिए, वह 'व्यज व्याजीकरणे' (क्षीरत० ६।१६) पाठ में 'व्याज' पदनिर्देश से नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए।

---

१. पदमञ्जरी १।३।२; भाग १, पृष्ठ २१४।

२. क्षीरस्वामी क्षीरत० १।७२४ पर लिखता है—डुपचँष् पाके सानुनासिकौकारः *सर्वेषामुपलक्षणार्थः।*

घ—'शुभ शुम्भ शोभार्थे (क्षीरत० ६।३३) **अत एव निपातनात् शोभा साधुः ।'** क्षीरत० ६।३३॥

अर्थात्—'शुभ शुम्भ शोभार्थे' पाठसामर्थ्य से शोभा' पद का साधुत्व जानना चाहिए ।

ऐसा ही क्षीरस्वामी ने क्षीरत० १।४६८ में भी लिखा है—**'ज्ञापकात् शोभा ।'**

अर्थात् शोभा पद ज्ञापक से साधु है ।

ङ—वामन भी 'शोभा' पद के साधुत्व-प्रतिपादन के लिए काव्यालङ्कारसूत्र में लिखता है—

'शोभेति निपातनात् ।' का० सूत्र ५।२।४१॥

अर्थात्—शोभा पद धातुपाठ में 'शुभ शुम्भ शोभार्थे' इस निपातन से साधु है, ऐसा समझना चाहिए ।

इन उपर्युक्त प्रमाणभूत आचार्यों के वचनों से सुस्पष्ट है कि सूत्रपाठ के समान धातुपाठ भी पाणिनि-प्रोक्त है ।

क्या धात्वर्थ-निर्देश अपाणिनीय है ?

जो वैयाकरण धातुपाठ को पाणिनीय मानते हैं, वे भी धात्वर्थ-निर्देश के विषय में विरुद्ध मत रखते हैं । कई वैयाकरण धात्वर्थनिर्देश को अपाणिनीय कहते हैं, कतिपय उन्हें पाणिनीय मानते हैं । इसलिए हम धात्वर्थ-निर्देश के पाणिनीयत्व और अपाणिनीयत्व के प्रतिपादक समस्त प्रमाणों को नीचे उद्धृत करते हैं—

अपाणिनीयत्व–प्रतिपादक प्रमाण—पहले हम धात्वर्थनिर्देश के अपाणिनीयत्व प्रतिपादक प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—**'परिमाणग्रहणं च कर्त्तव्यम् । इयानवधिर्धातुसंज्ञो भवति इति वक्तव्यम् । कुतो ह्येतद् भूशब्दो धातुसंज्ञो भवति, न पुनर्भ्वेध-शब्दः ?'** महा० १।३।१॥

अर्थात् [धातुसंज्ञा-विधायक प्रकरण में] परिमाण का ग्रहण भी करना चाहिए । इतनी अवधिवाला शब्द धातुसंज्ञक होता है, ऐसा कहना चाहिए । किस हेतु से यह 'भू' शब्द धातुसंज्ञक होता है, **'भ्वेध'** शब्द धातुसंज्ञक क्यों नहीं होता ?

इस उद्धरण में महाभाष्यकार ने परिमाण-ग्रहण के अभाव में 'भ्वेध' शब्द की धातुसंज्ञा की प्रसक्ति दर्शाई है। यदि धातुपाठ में **भू सत्तायाम्, एध वृद्धौ** ऐसा धात्वर्थ-निर्देश सहित धातुओं का पाठ होता, तो 'भ्वेध' में धातुसंज्ञा की प्रसक्ति का निर्देश उपपन्न ही न होता। क्योंकि दोनों के मध्य में '**सत्तायाम्**' पद पढ़ा है। यह प्रसक्ति तभी उपपन्न होती है, जब धातुपाठ में धात्वर्थ-निर्देश न हो, केवल धातुएं '**भ्वेधस्पर्ध**' इस प्रकार संहितापाठ में पठित हों। इसीलिए महाभाष्य के उपर्युक्त पाठ की व्याख्या में कैयट लिखता है—

'न चार्थपाठः परिच्छेदकः, तस्यापाणिनीयत्वात्, अभियुक्तै[1]रुपलक्षणतयोक्तत्वात् इति।'

अर्थात्—['सत्तायाम्' आदि] अर्थ का पाठ धातुसंज्ञा का परिच्छेदक नहीं होगा, उसके अपाणिनीय होने से। प्रामाणिक पुरुषों ने अर्थ-निर्देश उपलक्षण रूप से पढ़े हैं।

इसकी व्याख्या करते हुए नागेश लिखता है—

'भीमसेनेनेत्यैतिह्यम्।'[1]

अर्थात्—धात्वर्थ-निर्देश भीमसेन ने किया है, यह इतिहास से विदित होता है।

---

१. पाश्चात्य भाषामत के मतानुयायी अनेक भारतीय विद्वान् 'अभियुक्त' शब्द के विषय में लिखते हैं कि यह शब्द पहले 'प्रामाणिक' अर्थ में प्रयुक्त होता था। उत्तरकाल में इसके अर्थ का अपकर्ष अथवा अवनति होकर यह 'दोषी', 'अपराधी' अर्थ का वाचक बन गया है। वस्तुतः यह अज्ञानमूलक है। अभियुक्त पद की मूल प्रकृति 'अभियुज्' और क्विबन्त रूप वैदिक ग्रन्थों में दोषी-अपराधी-शत्रु अर्थ में बहुधा प्रयुक्त है। यथा—'विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य' (ऋ० ५।४।५)। महाभारत शल्यपर्व ३१।६२ में 'अभियुक्तस्तु यो राजा दातुमिच्छेद्धि मेदिनीम्' में अभियुक्त शब्द अपकृष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त है। इसी प्रकार 'देवानां प्रियः' पद में भी जो अर्थापकर्ष की आधुनिक भाषाविज्ञ कल्पना करते हैं, वह भी अयुक्त है। वस्तुतः इन प्रयोगों में अर्थसंकोच हुआ है, अर्थात् दो अर्थों में से एक अर्थ लोकव्यवहार में शेष रहा है। अर्थापकर्ष नहीं हुआ।

१. नागेश का शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड धात्वर्थनिर्देश को पाणिनीय मानता है। द्र० पूर्व पृष्ठ ५०, उद्धरण ६।

२—'पाठेन धातुसंज्ञायां समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः । 'या' इति धातुः, 'या' इत्याबन्तः । 'वा' इति धातुः, 'वा' इति निपातः । 'नु' इति धातुः, 'नु' इति प्रत्ययः । 'दिव' इति धातुः, 'दिव' इति प्रातिपदिकम् ।' महा० १।३।१॥

अर्थात्—पाठ से धातुसंज्ञा मानने पर भी उसके तुल्य शब्दों की धातु-संज्ञा का प्रतिषेध कहना चाहिए। 'या' यह धातु है, 'या' ऐसा आबन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द भी है। 'वा' यह धातु है, 'वा' ऐसा निपात भी है। 'नु' यह धातु है, 'नु' ऐसा प्रत्यय भी है। 'दिव' यह धातु है, 'दिव' ऐसा प्रातिपदिक भी है।

यदि धातुपाठ में **या प्रमाणे, वा गतिगन्धनयोः** ऐसा सार्थपाठ पाणिनीय होता, तो समान शब्दों को धातुसंज्ञा को प्रसक्तिरूप दोष ही उपस्थित नहीं होता। क्योंकि आबन्त 'या' शब्द प्रापण अर्थ का वाचक ही नहीं, निपात 'वा' गतिगन्धन अर्थों को कहता ही नहीं (इसी प्रकार 'नु' तथा 'दिव' के विषय में समझें)। जब इनकी धातुसंज्ञा प्राप्त ही नहीं होगी, फिर प्रतिषेध कहने की क्या आवश्यकता? अतः इस भाष्यपाठ से भी यही प्रतीत होता है कि पाणिनि ने धात्वर्थ-निर्देश नहीं किया था।

३— (क) **नह्यर्था आदिश्यन्ते क्रियावचनता च गम्यते ।**

महा० ३।१।८,११,१९॥

(ख) **कः खल्वपि पचादीनां क्रियावचनत्वे यत्नं करोति ।**

महा० ३।१।१९॥

(ग) **को हि नाम समर्थो धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामर्थानादेष्टुम्** । महा० २।१।१॥

इन वचनों से भी यही ध्वनित होता है कि पाणिनि ने धातुओं के अर्थों का निर्देश नहीं किया था। द्वितीय वाक्य की व्याख्या करता हुआ नागेश लिखता है—

'पचादीनामर्थरहितानामेव पाठात् ।'

अर्थात् पच आदि धातुओं का अर्थरहित ही पाठ होने से।

४—भट्टोजिदीक्षित ने भी शब्दकौस्तुभ १।३।१ में धात्वर्थ-निर्देश को अपाणिनीय ही कहा है। वह लिखता है—

"न च 'या प्रापणे' इत्याद्यर्थनिर्देशो नियामकः, तस्यापाणिनीतत्वात्। भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिक्षुरिति स्मर्यते। पाणिनिस्तु 'भ्वेध' इत्याद्यपाठीत् इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम्।"

अर्थात्—'या प्रापणे' इत्यादि अर्थ-निर्देश भी धातुसंज्ञा का नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपाणिनीय है। भीमसेन आदि ने धातुओं के अर्थों का निर्देश किया था, यह परम्परा से स्मरण किया जाता है। पाणिनि ने तो **भ्वेध** इसी प्रकार (अर्थरहित संहिता-पाठ) पढ़ा था, यह भाष्य और कैयट में स्पष्ट है।

४—भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ १।२।२० में पुनः लिखा है—

'तितिक्षाग्रहणं ज्ञापकं भीमसेनादिकृतोऽर्थनिर्देश उदाहरणमात्रम्।'

अर्थात्—सूत्र में 'तितिक्षा' ग्रहण ज्ञापक है कि भीमसेन आदि कृत धात्वर्थ-निर्देश उदाहरणमात्र है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनीय धातुपाठ में जो अर्थ-निर्देश उपलब्ध होता है, वह अपाणिनीय है। पाणिनि ने तो **भ्वेध-स्पर्ध** इस प्रकार अर्थनिर्देशरहित संहितापाठ का ही प्रवचन किया था।

पाणिनीयत्व-प्रतिपादक प्रमाण—अब हम धातुपाठस्थ अर्थ-निर्देश पाणिनीय है, इस मत के प्रतिपादक प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—महाभाष्य में अनेक धातुएं अर्थनिर्देशपूर्वक उद्धृत हैं। उनसे विदित होता है कि महाभाष्य से पूर्व ही पाणिनीय धातुपाठ में अर्थ-निर्देश विद्यमान था।

२—महाभाष्यकार का निम्न वचन हम पूर्व उद्धृत कर चुके हैं—

'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नैवजातीयकानामिद्विधिर्भवतीति यदयमिरितः कांश्चिन्नुमनुषक्तान् पठति—उबुन्दिर् निशामने, स्कन्दिर् गतिशोषणयोरिति। १।३।७॥

इस वचन से धातुपाठ के पाणिनीयत्व का ज्ञापन हम पूर्व कर चुके हैं। इसलिए जिस पाणिनि आचार्य ने **उबुन्दिर्** और **स्कन्दिर्** को नुम् से युक्त पढ़ा, उसी ने इनके 'निशामन' तथा 'गतिशोषण' अर्थों का भी निर्देश किया, यह इस वचन से स्पष्ट है।

३—महाभाष्यकार ने भूवादि (१।३।१) सूत्र के भाष्य में लिखा है—

'वपि: प्रकिरणे दृष्टः, छेदने चापि वर्तते—केशश्मश्रु वपतीति। ईडि: स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्टः, प्रेरणे चापि वर्तते—अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे, मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति इति। करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्तते—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते।'

इस वचन में महाभाष्यकार ने **वप-ईड-कृ** धातुओं के कतिपय अर्थों को **दृष्ट** कहा है, और कतिपय अर्थों में इनका **वर्तन** (=व्यवहार) बताया है। दोनों **दृष्ट** और **वर्तते** पद एकार्थक नहीं हैं, यह तो वाक्य-विन्यास से ही स्पष्ट है। अतः यहां जिन धात्वर्थों को **दृष्ट** कहा है, वे धातुपाठ में पठित हैं, अथवा धातुपाठ में देखे गए हैं। और जिनके लिए **वर्तते** का प्रयोग किया है, वे लोक में व्यवहृत हैं, यही अभिप्राय इस वचन का है।

उक्त वाक्य में महाभाष्यकार ने **'बीजसन्तान'** अर्थ का निर्देश **प्रकिरण** शब्द से किया है, और **'करणे'** का **अभूतप्रादुर्भाव** शब्द से। ईड धातु के **स्तुति, चोदना** और **याच्ञा** अर्थों को दृष्ट कहा है, परन्तु वर्तमान धातुपाठ में **चोदना याच्ञा** अर्थ उपलब्ध नहीं होते। इसका कारण पाणिनीय धातुपाठ का उत्तर काल में बहुधा परिष्कार होना है। पाणिनीय धातुपाठ के उत्तरकालीन परिष्कारों के विषय में आगे लिखेंगे।

४ महाभाष्य के व्याख्याता शिवरामेन्द्र सरस्वती ने अपनी 'सिद्धान्तरत्नप्रकाश' व्याख्या में अनेक स्थानों पर धातुओं के अर्थ को पाणिनीय माना है। यथा—

क—अस्मै साधुशब्दबुभुत्सवे पाणिनिना धातुपाठे 'मृजूष्' 'शुद्धौ' इत्युपदृष्टिः।[1]

ख—'मेङ् प्रणिदाने' इति व्यतिहारापरपर्यायप्रणिदानार्थकत्वेन मेङ एव धातुपाठे पाणिनिना पठितत्वात् ………।[2]

---

१. 'महाभाष्यप्रदीप-व्याख्यानानि' के अन्तर्गत, भाग १, पृष्ठ २३७।

२. वही, भाग २, पृष्ठ ८२।

इन दोनों स्थानों में **मृजूष् शुद्धौ** और **मेङ् प्रणिदाने** सार्थ पाठ को पाणिनीय माना है।

ग—अर्थपाठस्य पाणिनीयतायाः प्रागेवास्माभिः प्रपञ्चितत्वात्।[1]

घ—पाणिनेर्धातुपाठः स्याद् अर्थनिर्देशमिश्रितः।[2]

इतना ही नहीं, शिवरामेन्द्र सरस्वती ने महाभाष्य १।३।१ के **कुतो ह्येतद् भूशब्दो धातुसंज्ञो न पुनर्भ्वेधशब्दः'** उद्धरण से जिन वैयाकरणों ने धात्वर्थ-निर्देश को अपाणिनीय माना है उनके मत का बड़ी प्रबलता से खण्डन किया है। इसके लिये 'महाभाष्य-प्रदीपव्याख्यानानि' के अन्तर्गत भाग २, पृष्ठ ८१ तथा भाग ४, पृष्ठ ८१-८२ देखने चाहिये।

५—नागेश ने धातुओं के अर्थ-निर्देश को भीमसेन द्वारा प्रदर्शित माना है[3], परन्तु उस का शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड उद्योत की छाया टीका में **मृजूष शुद्धौ** सार्थ पाठ को पाणिनीय लिखता है।[4]

हमने काशिका, न्यास, क्षीरतरङ्गिणी, और वामनीय काव्यालङ्कार के पांच वचन पूर्व (पृष्ठ ५१-५२) उद्धृत किए हैं। उनसे यह प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के रचयिता धात्वर्थनिर्देश को भी पाणिनि के सूत्रपाठ के समान ही प्रामाणिक मानते हैं। यदि धात्वर्थ-निर्देश पाणिनीय न हो, तो न तो उनमें सूत्रवत् प्रामाण्य-बुद्धि उत्पन्न हो सकती है, और नाही उनके आधार पर पाणिनीय सूत्रनियमों का विरोध होने पर भी उन शब्दों का साधुत्व हो स्वीकार किया जा सकता है। इसलिए उक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि काशिका आदि के रचयिता धात्वर्थ-निर्देश को भी पाणिनीय ही मानते हैं।

७—पदमञ्जरीकार हरदत्त धात्वर्थ-निर्देश को पाणिनीय मानता है। वह लिखता है—**'येषां त्वपाणिनीयोऽर्थनिर्देश इति पक्षः।'** ७।३।३४; भाग २, पृष्ठ ८१३।

यहां **'येषां पक्षः'** पदों से स्पष्ट है कि वह स्वयं इस पक्ष को नहीं मानता था।

---

१. महाभाष्यप्रदीप-व्याख्यानानि भाग ४, पृष्ठ १३७।

२. वही, भाग ४, पृष्ठ १३८। ३. पूर्वत्र, भाग २, पृष्ठ ५३।

४. पूर्वत्र, भाग २, पृष्ठ ५० सन्दर्भ ६।

८=धातुवृत्तिकार अनेक स्थानों में धातुसूत्रों[1] के संहितापाठ को प्रामाणिक मानकर उनके विच्छेद में विमत दिखाई पड़ते हैं। यथा—

(क) **तपऐश्वर्येवावृतुवरणे**[2] (क्षीरत० ४।४८,४६) इस पाठ के मध्य में पठ्यमान **वा** पद पूर्वसूत्र का अवयव है अथवा उत्तरसूत्र का, इस में व्याख्याकारों में मतभेद है। यदि **वा** शब्द पूर्वसूत्र का अवयव है, तब भूवादि गण में पठित **तप सन्तापे** (क्षीरत० १।७१२) इस धातु का ही ऐश्वर्य अर्थ में विकल्प से दैवादिकत्व होगा, अर्थात् ऐश्वर्य अर्थ में 'श्यन्' विकल्प से होगा। यदि **वा** उत्तरसूत्र का अवयव है, तब भी दो व्याख्यायें होती हैं। **वा** पृथक् स्वतन्त्र पद मानने पर भ्वादि में पठित 'वृतु' धातु (क्षीरत० १।५०४) वरण अर्थ में विकल्प से दैवादिक होगा। अर्थात् वरण अर्थ में वृतु से श्यन् विकल्प से होगा। **वा** को पृथक् स्वतन्त्र पद न मानने पर **'वावृतु'** धातु होगी।[3]

(ख) **पतगतौवापशअनुपसर्गात्**[3] (क्षीरतरङ्गिणी १।२४६,२५०) इस सूत्र में भी **वा** पद पूर्वसूत्र का अवयव है अथवा उत्तरसूत्र का, इसमें व्याख्याकारों का मतभेद है। कुछ व्याख्याकार **वा** को पूर्वसूत्र का अवयव मानते हुए 'पत धातु से विकल्प से णिच् होता है' ऐसी व्याख्या करते हैं। अन्य वृत्तिकार उत्तरसूत्र का अवयव मानते हुए **वा** को स्वतन्त्र पद मानकर 'पश धातु अनुपसर्ग से णिच्परे विकल्प से अदन्त है' ऐसी व्याख्या करते हैं। इसी पक्ष में जो **वा** को **स्वतन्त्र पद** नहीं मानते, वे **वापश** धातु स्वीकार करते हैं।[4]

उपरिनिर्दिष्ट प्रकार की समस्त व्याख्याएं धात्वर्थ-निर्देशों को पाणिनीय मानकर ही उपपन्न हो सकती हैं। यदि उपर्युक्त स्थलों में भी **भ्वेघस्पर्धे** के समान **तपवावृतु, पतवापश** ऐसा अर्थ-निर्देश विर-

---

१. प्राचीन धातुवृत्तिकार 'भू सत्तायाम्। उदात्तः। परस्मैभाषः। एध वृद्धौ।' इत्यादि को धातुसूत्र मानते हैं।

२. यह संहितापाठ का स्वरूप है।

३. इन व्याख्याओं के लिए देखिए—क्षीरतरङ्गिणी (४।४८,४६), धातु॰ प्रदीप पृष्ठ ६३), पुरुषकार (पृष्ठ ८५), माधवीया धातुवृत्ति (पृष्ठ २६३)। भट्टिकार 'ततो वावृत्यमाना सा रामशालामविक्षत' (४।२८) में 'वावृतु' धातु स्वीकार करता है।

४. क्षीरत० १०।२४६, २५० द्रष्टव्य।

चित संहिता पाठ होता, तो **वावृतु** तथा **वापश** धातुओं के स्वरूप में सन्देह ही उत्पन्न न होता। यदि अर्थ-निर्देश-सहचरित **वा** पद (अर्थ-विशेष में दैवादिकत्वबोधक) का भी निर्देश न होता, तब तो सन्देह की कोई स्थिति ही नहीं थी। यदि सन्देह होता, तब भी **तप वावृतु, तपवा वृतु; पत वापश, पतवा पश** ऐसा सन्देह होता। वृत्तिकारो द्वारा निर्दिष्ट व्याख्या-भेद तो बिना धात्वर्थ-निर्देश के सम्भव ही नहीं।

सायणाचार्य धात्वर्थ-निर्देश को पाणिनीय मानकर लिखता है—

'अस्माकं तूभयमपि प्रमाणमाचार्येणोभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात्।'[1]

अर्थात्—हमें तो 'तप ऐश्वर्ये वा, वृतु वरणे' तथा 'तप ऐश्वर्ये, वावृतु वरणे' दोनों प्रकार का सूत्र-विच्छेद प्रमाण है। क्य क आचार्य ने शिष्यों को दोनों प्रकार का सूत्रपाठ बताया था।

९—यदि पाणिनीय धातुपाठ में अर्थ-निर्देश अपाणिनीय हो तो कई प्रघट्टकों अथवा दण्डकों में एक ही धातु का दो बार पाठ नहीं होना चाहिए। धातु के स्वरूपनिर्देश के लिए एक धातु का एक स्थान पर ही पाठ पर्याप्त है। परन्तु धातुपाठ में समान प्रघट्टक में भी एक ही धातु का दो-दो बार पाठ बहुत्र उपलब्ध होता है। यथा—

(क) अट्टादि में हुडि का—**हुडि संघाते, हुडि वरणे** (क्षीरत० १।१७२:१८०)।

(ख) शौट्टादि में **किट** का—**किट खिट त्रासे, इट किट कटी गतौ** (धातुवृत्ति पृष्ठ ७७,७९,)।

(ग) भव्यादि में खेलृ का—**केलृ खेलृ क्ष्वेलृ वेल्ल चलने, खेलृ षेलृ सेलृ गतौ** (धातुवृत्ति पृष्ठ १०५, १०६)।[2]

यह द्विः पाठ धातुपाठ के धात्वर्थनिर्देशपूर्वक प्रवचन में ही सम्भव हो सकता है, अन्यथा नहीं।

---

१. धातु० पृष्ठ० २९३। तुलना करो—उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। महाभाष्य १।४।१॥ द्वयमपि चैतत् प्रमाणम्, उभयथा सूत्रप्रणयनात्। काशिका ४।१।११७॥

२. द्र०—धातुवृत्ति में पाठान्तर।

(१०) इसी प्रकार धात्वर्थ-निर्देश को अपाणिनीय मानने पर समानार्थक धातु में पठित धातु का अन्यार्थ-निर्देश के लिए पुनः स्वतन्त्र पाठ नहीं हो सकता। यथा—

(क) **रघि लघि गत्यर्थाः, लघि भोजननिवृत्तावपि** (क्षीरत० १।७६,७७)।

(ख) **गज गजि········शब्दार्थाः, गज मदने च** (क्षीरत० १।१५६,१५७)।

(ग) **तय नय गतौ, तय रक्षणे च** (क्षीरत० १।१३८, १३९)।

इस प्रकार का धात्वर्थ-निर्देश-समुच्चायक पुनः पाठ भी धात्वर्थ-निर्देश के पाणिनीयत्व का ही ज्ञापन करता है।

व्याख्याकारों ने उक्त दोनों प्रकार के धातु के पुनः पाठ में **अर्थ-भेद से पुनः पाठ** है, यही हेतु दिया है। अर्थ-निर्देश के अभाव में न तो यह हेतु बन सकता है, और न उसके अभाव में धातु का द्विः पाठ कथंचित् सम्भव हो सकता है।

यदि किसी अर्वाक्कालिक व्यक्ति ने धातुओं के साथ अर्थ जोड़े होते, तो एक स्थान में पठित धातु के एक साथ ही दोनों (अथवा जितने अभिप्रेत हों) अर्थ पढ़ देता। अर्थ-भेद से धातु का पुनः पाठ न करता। अङ्गप्राधान्य न्याय से अङ्गरूप (बाद में जोड़े गए) अर्थ के कारण प्रधानरूप धातु का पुनः पाठ कदापि युक्त नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि जैसे सूत्रपाठ में पाणिनि ने समान आनुपूर्वी वाला **बहुलं छन्दसि** सूत्र प्रकरणभेद से १४ स्थानों में पढ़ा, वैसे ही उसने एक धातु का ही अर्थभेद से २–३ बार पाठ किया।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है धात्वर्थ-निर्देश भी पाणिनीय है।

धातुपाठ का द्विविध प्रवचन

दोनों वादों का निर्णय—धातुपाठ में पठित अर्थनिर्देश पाणिनीय है अथवा अपाणिनीय, इन दोनों विषयों में दोनों प्रकार के प्रमाण ऊपर दर्शा चुके। इस विवाद का वास्तविक निर्णय यह है कि आचार्य पाणिनि ने धातुपाठ का अर्थनिर्देश-युक्त और अर्थनिर्देश-रहित दोनों प्रकार का प्रवचन किया था। किन्हीं शिष्यों के लिए अर्थनिर्देश के

विना भ्वेधस्पर्ध इस प्रकार संहितापाठ से प्रवचन किया, और किन्हीं के लिए 'भू सत्तायाम् उदात्तः परस्मैभाषः, एध वृद्धौ' इस प्रकार। इसी कारण महाभाष्य में दोनों प्रकार के निर्देश उपलब्ध होते हैं।

लघु पाठ और वृद्ध पाठ—अर्थ-निर्देश के विना धातुओं का जो पाठ है वह लघु पाठ है, और अर्थनिर्देश-युक्त वृद्ध पाठ है।

अष्टाध्यायी के लघु और वृद्ध पाठ—भगवान् पाणिनि ने केवल धातुपाठ का ही लघु और वृद्धरूप विविध प्रवचन नहीं किया, अपितु अष्टाध्यायी का भी द्विविध प्रवचन किया था। वार्तिककार ने अष्टाध्यायी के जिस पाठ पर वार्तिक लिखे हैं, वह लघु पाठ है, और काशिका वृत्ति वृद्ध पाठ पर लिखी गई है। अष्टाध्यायी ने इन दोनों प्रकार के पाठों के विषय में इसी ग्रन्थ के पांचवें अध्याय (भाग १ पृष्ठ २३८, च० सं०) में लिख चुके हैं। संस्कृत वाङ्मय में पचासों ऐसे प्राचीन ग्रन्थ हैं, जिनके ग्रन्थप्रवक्ता ने ही लघु और वृद्ध दो-दो प्रकार का प्रवचन किया था। किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों का तो लघु, मध्यम और वृद्ध तीन प्रकार का पाठ था ऐसा ज्ञात होता है।[1] प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का दो-दो प्रकार से प्रवचन क्यों किया, इसका उत्तर भारत और महाभारत के द्विविध प्रवचन-प्रकरण में सौति ने इस प्रकार दिया है—

विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत्।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्॥

आदिपर्व १।५१।

अर्थात् ऋषि ने विस्तार से महाभारत का उपदेश करके संक्षेप से (उपाख्यानों से रहित) भारत का उपदेश किया। क्योंकि लोक में समास=संक्षेप और व्यास=विस्तार दोनों प्रकार से ग्रन्थ का धारण करना विद्वानों को इष्ट है।

---

१. सुश्रुत के त्रिविध पाठ थे—लघुसुश्रुत मध्यमसुश्रुत और वृद्धसुश्रुत। देखिए पं० सूरमचन्द्र कृत 'आयुर्वेद का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २५५। सम्भवतः भरत नाट्य शास्त्र के भी लघु (षट् साहस्र), मध्यम (द्वादश साहस्र) तथा वृद्ध (अष्टादश साहस्र) त्रिविध पाठ थे। द्र० कृष्णमाचारियर एम० ए० कृत हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८१० पर टिप्पण।

वार्तिकपाठ का आश्रयभूत लघुपाठ—जिस प्रकार वार्तिककार कात्यायान ने अष्टाध्यायी के लघुपाठ पर अपने वार्तिक रचे, इसी प्रकार उसने धातुपाठ के अर्थरहित लघुपाठ को स्वीकार करके **'परिमाणग्रहणं च'** (महा० १।३।१) वार्तिक की रचना की।

सूत्रपाठ का आश्रय वृद्ध पाठ—पाणिनि के सूत्रपाठ के अवगाहन से प्रतीत होता है कि पाणिनि ने सूत्रपाठ का प्रवचन करते हुए धातुपाठ के वृद्धपाठ को अपने ध्यान में रखा था। पाणिनि के अनेक नियम धातुपाठ के लघुपाठ के आधार पर उपपन्न ही नहीं होते। यथा

पाणिनि ने इट्-**आगम** के प्रतिषेध के लिए नियम बताया है—

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । अ० ७।२।१०॥

अर्थात्—उपदेश में अनुदात्त एक अच् वाली धातु को इट् का आगम नहीं होता।

धातुपाठ के वृद्धपाठ में प्रत्येक प्रघट्टक के अन्त में **उदात्तः, उदात्ताः, अनुदात्ताः, परस्मैभाषाः, आत्मनेभाषाः** इत्यादि सूत्र उपलब्ध होते हैं। इनसे कौन-सी धातु उदात्त है, कौन-सी अनुदात्त, तथा कौन-सी परस्मैपद है कौन-सी आत्मनेपद आदि परिलक्षित होता है। धातुवृत्तिकार **'भू सत्तायाम्'** आदि अन्य धातुसूत्रों के समान इन सूत्रों की भी व्याख्या करते हैं। इससे स्पष्ट है कि ये सूत्र भी पाणिनीय हैं। अर्थ निर्देश-विरहित लघुपाठ में ये सूत्र नहीं थे। यह **'परिमाणग्रहणं च'** (महा० १।३।१) वार्तिक के भाष्य तथा टीका-ग्रन्थों से स्पष्ट है। वहां **भ्वेधस्पर्ध** इस प्रकार केवल धातुओं का पाठ मान कर ही वार्तिककार ने वार्तिक पढ़ा है। लघु पाठ में भी यदि इस प्रकार के सूत्र होते, तो **भ्वेधस्पर्ध** के स्थान पर **भूदात्त एधस्पर्ध** ऐसा व्यवहित पाठ होता। इससे व्यक्त है कि पाणिनि ने सूत्रपाठ में धातु के अनुदात्त आदि स्वरूपों का उल्लेख करते हुए धातुपाठ के वृद्ध पाठ को ही ध्यान में रखा है।

नागेश भट्ट की भ्रान्ति—नागेश ने महाभाष्य में अर्थनिर्देशयुक्त धातुसूत्रों के उद्धरण देखकर लिखा है—

नुमेति—एतत्प्रामाण्यात् केषांचिद् धातूनामर्थनिर्देश-सहितोऽपि पाठ इति विज्ञायते । उद्योत १।३।१॥

नागेश की यह वस्तुतः भूल है। उसे सम्भवतः न तो संस्कृत वाङ्मय के द्विविध-पाठ-प्रवचनशैली का परिज्ञान था, और न अष्टाध्यायी तथा धातुपाठ के द्विविध-पाठ का ही। अतः जब वह भाष्य के उभयविध पाठों की संगति न लगा सका, तब उसने अर्धजरतीय[1] न्याय से एक ही ग्रन्थ में कहीं अर्थनिर्देश-विरहित पाठ स्वीकार किया, और कहीं अर्थनिर्देशसहित।

क्या अर्थ-निर्देश भीमसेन का है ?

औत्तरकालिक अनेक पाणिनीय विद्वानों का कथन हैं कि पाणिनीय धातुपाठ में निर्दिष्ट अर्थ भीमसेन नामक किसी वैयाकरण ने पाणिनि के पश्चात् पढ़े हैं। यथा—

१—नागेशभट्ट कैयट के '**न चार्थपाठः परिच्छेदकः, तस्यापाणिनीयत्वात्**' वचन की व्याख्या करता हुआ लिखता है—**भीमसेनेनेत्यैतिह्यम्**। प्रदीपोद्योत १।३।१॥

अर्थात् अर्थनिर्देश भीमसेन ने पढ़े हैं, यह ऐतिह्य में प्रसिद्ध हैं।

२—भट्टोजिदीक्षित ने भी लिखा है—

क—'**तितिक्षाग्रहणं ज्ञापकं भीमसेनादिकृतोऽर्थनिर्देश उदाहरणमात्रम्।**' शब्दकौस्तुभ १।२।२०॥

ख—'**न च या प्रापणे इत्याद्यर्थनिर्देशो नियामकः, तस्यापाणिनीयत्वात्। भीमसेनादयो ह्यर्थं निर्दिदिक्षुरिति स्मर्यते।**' श० कौ० १।३।१॥

अर्थात् भीमसेन आदि ने अर्थ-निर्देश किया है, ऐसा परम्परा से स्मरण किया जाता है।

३—धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित भी लिखता है—

'**बहुनोऽमून् यथा भीमः प्रोक्तवांस्तद्वदागमात्।**'

धातुप्रदीप, पृष्ठ १॥

अर्थात्—जैसे भीमसेन ने इनका प्रवचन किया है, उसी प्रकार आगम से।

---

१. अर्धं जरत्याः कामयन्ते अर्धं न। महाभाष्य ४।१।७८॥ इस पर कैयट लिखता है—मुखं न कामयन्ते, अङ्गान्तरं तु जरत्याः कामयन्ते।

४—'उमास्वाति' भाष्य का व्याख्याता सिद्धसेन गणी (सं० ७००) लिखता है—

'भीमसेनात् परतोऽन्यैर्वैयाकरणैरर्थद्वयेऽपठितोऽपि [चिति] धातुः संज्ञाने विशुद्धौ च वर्तते।' पृष्ठ २६४।

अर्थात्—भीमसेन से परवर्ती अन्य वैयाकरणों द्वारा **चिति** धातु दो अर्थों में पठित न होने पर भी संज्ञान और विशुद्धि अर्थ में वर्तमान है।

यद्यपि इन प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि धात्वर्थ-निर्देश भीमसेनप्रोक्त है, तथापि पूर्वनिर्दिष्ट प्राचीन सुदृढ़ प्रमाणों द्वारा 'धात्वर्थ-निर्देश पाणिनीय है' ऐसा सिद्ध होने पर नागेश भट्ट आदि के वचन भ्रममूलक ही हैं। तृतीय और चतुर्थ उद्धरणों में धात्वर्थ-निर्देश भीमसेनकृत है, इसका कोई निर्देश नहीं है। हां, इनसे इतना अवश्य विदित होता है कि किसी भीमसेन का पाणिनीय धातुपाठ के साथ कुछ विशिष्ट सम्बन्ध है।

नागेश आदि की भ्रान्ति का कारण—भीमसेन नामक कोई वैयाकरण पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता था, यह हम आगे वृत्तिकार-प्रकरण में कहेंगे। सम्भव है, इसी सम्बन्ध के कारण धात्वर्थ-निर्देश-विषयक पूर्वनिर्दिष्ट भ्रान्ति हुई है।

दूसरी भ्रान्ति—इतिहास से अनभिज्ञ कई वैयाकरण नामसादृश्य के कारण धातुवृत्तिकार भीमसेन को पाण्डुपुत्र समझते हैं। यह सर्वथा चिन्त्य है। भगवान् पाणिनि भारत युद्ध से लगभग दो सौ वर्ष पीछे हुए, यह हम इस ग्रन्थ के पांचवें अध्याय (भाग १, पृष्ठ २०५–२२१ च० सं०) में सविस्तार लिख चुके हैं। इसलिए यह भीमसेन पाण्डुपुत्र नहीं हो सकता।

धातुपाठ में अर्थनिर्देश पाणिनीय है यह हम पूर्व पृष्ठ ५५–६० तक सप्रमाण विस्तार से लिख चुके हैं। किन्ही आचार्यों का मत है कि **भ्वेधस्पर्श** रूप लघुपाठ का अर्थनिर्देश ही धातुपाठ पर पाणिनि की वृत्ति है।

लघुपाठ का उच्छेद

धातुपाठ का अर्थनिर्देश-विरहित जो लघु पाठ था, वह इस समय

उपलब्ध नहीं होता। प्रतीत होता है कि सार्थ वृद्ध धातुपाठ के पठन-पाठन में व्यवहृत होने से लघुपाठ उत्सन्न (=नष्ट) हो गया।

वृद्ध पाठ का त्रिविधत्व

भारतीय वाङ्मय में बहुत से ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनके देशभेद से विविध पाठ उपलब्ध होते हैं। पाणिनीय व्याकरण के कतिपय ग्रन्थों की भी यही दशा देखी जाती है। यथा—

अष्टाध्यायी—पाणिनीय अष्टाध्यायी के **प्राच्य**, **उदीच्य** (पश्चिमोत्तर), और **दाक्षिणात्य** तीन प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। काशी में लिखी गई काशिका वृत्ति अष्टाध्यायी के जिस पाठ का आश्रयण करती है, वह प्राच्य पाठ है। क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिणी में अष्टाध्यायी के जिस सूत्रपाठ को उद्धृत करता है, वह उसका उदीच्य पाठ है। दाक्षिणात्य कात्यायन[1] ने जिस सूत्रपाठ पर वार्तिक लिखे हैं, वह दाक्षिणात्य पाठ है। इन तीनों पाठों में प्राच्य पाठ वृद्ध पाठ है, उदीच्य तथा दाक्षिणात्य लघु पाठ हैं। इन दोनों में स्वल्प ही भेद है।

पञ्चपादी उणादि—पाणिनीय संप्रदाय से संबद्ध पञ्चपादी उणादिसूत्रों के भी तीन प्रकार के पाठ हैं।[2] उज्ज्वलदत्त आदि की वृत्ति जिस पाठ पर है, वह प्राच्य पाठ है। क्षीरस्वामी द्वारा क्षीरतरङ्गिणी में उद्धृत पाठ उदीच्य पाठ है।[3] नारायण तथा श्वेतवनवासी

---

१. द्रष्टव्य—प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। महाभाष्य १।१, आ० १। तथा इसी ग्रन्थ का आठवां अध्याय पृष्ठ ३३१ (च० सं०)।

२. पञ्चपादी के त्रिविध पाठों का प्रथम परिज्ञान हमें कुछ समय पूर्व ही हुआ है। इस विषय में 'भारतीय ज्ञानपीठ काशी' से प्रकाशित 'जैनेन्द्र महावृत्ति' में 'जैनेन्द्र व्याकरण और उसके खिलपाठ' शीर्षक हमारा लेख देखें। पञ्चपादी पाठ का भी मूल कोई त्रिपादी पाठ था। इस विषय का विस्तार आगे 'उणादि सूत्र के प्रवक्ता और व्याख्याता' नामक २४ वें अध्याय में देखें।

३. क्षीरतरङ्गिणी का जब सम्पादन किया था, तब हमें यह रहस्य ज्ञात नहीं था। इसलिए उणादिसूत्रों में प्राच्यपाठ से जहां पाठभेद उपलब्ध हुआ, वहां हमने दशपादी उणादि के पते दे दिए। दशपादी के भी दो पाठ हैं। हमारे

की वृत्तियां दाक्षिणात्य पाठ पर हैं। इनमें भी प्राच्य पाठ वृद्ध पाठ है, अन्य दोनों लघु पाठ हैं।

धातुपाठ के त्रिविध पाठ—इसी प्रकार सार्थ धातुपाठ के भी देश-भेद से तीन प्रकार के पाठ हैं। यथा—

प्राच्य पाठ—धातुपाठ के प्राग्देशीय मैत्रेय प्रभृति व्याख्याता जिस पाठ की व्याख्या करते हैं, वह प्राच्य पाठ है। न्यासकार भी प्राच्य पाठ को ही उद्धृत करता है।

उदीच्य पाठ—उदीच्य क्षीरस्वामी प्रभृति ने जिस पाठ पर अपनी वृत्ति लिखी है, वह उदीच्य पाठ है।[1]

दाक्षिणात्य पाठ—धातुपाठ का दाक्षिणात्य पाठ हमें साक्षात् उपलब्ध नहीं हुआ है, परन्तु दाक्षिणात्य पाल्यकीर्ति आचार्य (जैन शाकटायन-प्रवक्ता) ने पाणिनि के जिस धातुपाठ का आश्रयण करके अपने धातुपाठ का प्रवचन किया, वह संभवतः दाक्षिणात्य पाठ था। पाल्यकीर्ति का धातुपाठ प्राच्य पाठ के साथ उतना नहीं मिलता, जितना उदीच्य पाठ के साथ। इससे अनुमान होता है, कि जैसे अष्टाध्यायी और पञ्चपादी उणादि के सूत्रों के उदीच्य और दाक्षिणात्य पाठ समान होने पर भी क्वचित् विषमता रखते हैं। उसी प्रकार धातुपाठ के उदीच्य और दाक्षिणात्य पाठ में प्रायिक समानता होने पर भी कुछ भेद रहा होगा।

धातुपाठ के पाठों का परिचायक चित्र

धातुपाठ के जिन विविध पाठों का हमने ऊपर निर्देश किया है, उनका परिज्ञान निम्नाङ्कित चित्र से सुगमता से हो जाएगा—

द्वारा संपादित दशपादी के आधारभूत हस्तलेखों में 'क' संज्ञक हस्तलेख का पाठ क्षीरस्वामी के पाठ के साथ प्रायः मिलता है। अन्य हस्तलेखों के पाठ पञ्चपादी के दाक्षिणात्य पाठ के साथ समानता रखते हैं।

१. तुलना करो—'यष्टीकपारश्वधिकौ, यष्टिपरशुहेतिकौ' (अमरकोष २।८।७१) पर क्षीरस्वामी लिखता है—'पश्वधः परशौ न दृष्टः। अतो 'यष्टि-स्वधितिहेतिकौ' इति काश्मीराः पठन्ति'।

- पाणिनीय धातुपाठ
  - धात्वर्थरहित (लघुपाठ)
  - धात्वर्थसहित (वृद्धपाठ)
    - प्राच्य
    - उदीच्य
    - दाक्षिणात्य

धातुपाठ का साम्प्रतिक पाठ—सम्प्रति पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा धातुपाठ का जो पाठ पठन-पाठन में व्यवहृत हो रहा है, वह पूर्व-निर्दिष्ट तीनों पाठों से विलक्षण है। यह पाठ आचार्य सायण द्वारा परिष्कृत है, यह हद आगे लिखेंगे।

पाठ की अव्यवस्था

जो अर्थनिर्देशयुक्त धातुपाठ सम्प्रति उपलब्ध है, उसमें पाठों की महती अव्यवस्था दिखाई देती है। उसमें किन्हीं धातुओं का क्रमविपर्यास, किन्हीं का अर्थविपर्यास, किन्हीं धातुओं का अभाव और किन्हीं का आधिक्य देखा जाता है। धातुपाठ के किन्हीं भी दो वृत्तिग्रन्थों का पाठ समान उपलब्ध नहीं होता। धातुपाठ की अव्यवस्था चिरकाल हो रही है, और उत्तरोत्तर इसमें वृद्धि होती गई है। यथा—

१—महाभाष्य ६।१।६ में लिखा है—

'जक्षित्यादयः षट्……न वार्थः परिगणनेन आगणान्तमभ्यस्त-संज्ञा। इहापि तर्हि प्राप्नोति आङः शासु……।'

अर्थात्—'जक्षित्यादयः' षट् (६।१।६) में [षट्] परिगणन की आवश्यकता नहीं है। [अदादि] गण के अन्त तक अभ्यस्त संज्ञा हो जाए। ऐसा होने पर यहां भी अभ्यस्त संज्ञा प्राप्त होगी—**आङः शासु इच्छायाम्**।

इस भाष्यवचन से स्पष्ट है कि भगवान् पतञ्जलि के काल में **आङः शासु इच्छायाम्** धातु का पाठ **वेवीङ् वेतिना तुल्ये** (क्षीरत० २।७८) के अनन्तर कहीं पर था।[1] महाभाष्य के व्याख्याता कैयट के

१ इस प्रकरण की स्पष्टता के लिए भाष्य-प्रदीप ६।१।६ देखें।

काल में **आङः शासु** का पाठ **वेवीङ्** के आगे नहीं था, यह उसके व्याख्यान से स्पष्ट है। नागेश भट्ट ने भी प्रदीप के व्याख्यान में लिखा है—

'ननु जक्षित्यादिभ्यः पूर्वमेव आस उपवेशने इत्यनन्तरमाङः शासु इति पठ्यते। तत्कथं तस्याभ्यस्तसंज्ञा स्यात्। अत आह—वेवीङोऽनन्तर [कश्चित् पठ्यत] इति।'

अर्थात्—जक्ष धातु से पूर्व **आस उपवेशने** के अनन्तर ही **आङः शासु** का पाठ है। उस अवस्था में उसकी अभ्यस्त संज्ञा कैसे होगी? इसलिए [कैयट ने] कहा है—**वेवीङ्** के अनन्तर कई लोग **आङः शासु** को पढ़ते हैं।

इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि **आङः शासु** का पाठ महाभाष्यकार पतञ्जलि के काल में **वेवीङ्** धातु के अनन्तर था, परन्तु कैयट के काल में उसका पाठ जक्ष धातु से पूर्व परिवर्तित हो गया था।[1]

२—**जक्षित्यादयः षट्** (६।१।६) में षट् पद न रखने पर अदादि गण के अन्त तक अभ्यस्त संज्ञा की जो प्राप्ति होती है, तन्निमित्तक दोषों का परिहार करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं—

'षसिवशी छान्दसौ।'

इस पर कैयट लिखता है—

'षस शस्ति स्वप्ने इति ये न पठन्ति, केवलं षस स्वप्ने, वश कान्तौ इति तन्मतेनेदुक्तम्।

अर्थात्—जो लोग 'षस शस्ति स्वप्ने' ऐसा पाठ नहीं पढ़ते, केवल षस स्वप्ने, वश कान्तौ ऐसा पढ़ते हैं, उनके मत से भाष्यकार ने उक्त वचन कहा है।

इस व्याख्या से प्रतीत होता है कि कैयट के काल में इस प्रकरण का दो प्रकार का पाठ था। क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में **षस स्वप्ने, वश कान्तौ** (२।८१,८२) पाठ माना है, और मैत्रेयरक्षित ने धातुप्रदीप में **षस सस्ति स्वप्ने, वश कान्तौ** पाठ का व्याख्यान किया है। यदि

---

१. भाष्यकार ने अन्य सम्प्रदाय के धातुपाठ को दृष्टि में रखकर अभ्यस्त-संज्ञाविषयक दोष तथा उसका परिहार लिखा हो, ऐसा भी सम्भव हो सकता है। हमने तो कैयट की व्याख्यानुसार यहां पाठभ्रंशदोष दर्शाया है।

३—क्षीरस्वामी धातुपाठ के पाठभ्रंश से खिन्नमना होकर लिखता है।—

'पाठेऽर्थे चागमभ्रंशान्महतामपि मोहतः ।
न विद्मः किन्नु जहीमः किं वात्रादध्महे वयम् ॥'

क्षीरतरङ्गिणी, चुरादिगण के अन्त में।

अर्थात्—पाठ और अर्थ-निर्देश में परम्परा के भ्रष्ट हो जाने से बहुज्ञों के भी मोहित होने से हम नहीं जानते कि किस पाठ को छोड़ें, अथवा किसको ग्रहण करें।

४—धातुवृत्तिकार सायण अनेक स्थानों पर लिखता है—

क—इह केचिद् धृञ् धारणे इति पठन्ति, सोऽनार्षः…… ……। अस्माभिस्तु मैत्रेयाद्यनुरोधेन हरतेरनन्तरं पठित्वाऽयमुदाहृतः।'[1] धातुवृत्ति पृष्ठ १८४

अर्थात्—यहां पर कई व्याख्याता धृञ् धारणे धातु पढ़ते है, वह पाठ अनार्ष है। ………हमने मैत्रेय आदि के अनुरोध से ञित् प्रकरण में हृञ् हरणे के अनन्तर पढ़ कर उदाहरण दिए हैं।

ख—गाङ् गतौ गापोष्टक् इत्यत्र न्यासपदमञ्जर्योरयं धातुरादादिक इति स्थितम् । शपि पाठे प्रयोजनं नास्ति। अस्माभिस्तु क्वाप्ययं पठितव्य इति मैत्रेयाद्यनुसारेणेह पठितः । धातुवृत्ति पृष्ठ १८५।

अर्थात्—गाङ् गतौ…… 'गापोष्टक्' (अष्टा० ३।२।८) सूत्र पर न्यास और पदमञ्जरी में यह धातु अदादिगण की मानी है। शप्-विकरण (भ्वादि) में पाठ का कोई प्रयोजन नहीं है। हमने इसे कहीं भी पढ़ना चाहिए, यह मानकर मैत्रेय आदि के अनुसार यहां (भ्वादि में) पढ़ा है ।

ग- षच सम…वायेएवं च न्यासकारादीनां बहूनामभिमतत्वादयं धातुरस्माभिः पठितः। धातुवृत्ति पृष्ठ २०२।

अर्थात्—षच समवाये……इस प्रकार न्यासकार आदि बहुत से व्याख्याकारों से स्वीकृत होने से इस धातु को हमने पढ़ा है।

---

१. काशी संस्करण में यहां पाठ अशुद्ध है।

घ—यथा तु भाष्यवृत्तिन्यासपदमञ्जर्यादिषु तथायं धातुर्नेति प्रतीयत इति जीर्यतावुपपादितम्। आत्रेयमैत्रेयपुरुषकारादिषु दर्शना-दिहास्माभिर्लिखितम्। धातुवृत्ति पृष्ठ ३६६॥

अर्थात्—जैसा भाष्य, वृत्ति (काशिका), न्यास, पदमञ्जरी आदि में उल्लेख है, तदनुसार यह धातु नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है, यह हमने **जीर्यति** (जृष् वयोहानौ दिवादि) धातु पर लिखा है। आत्रेय, मैत्रेय, पुरुषकार आदि के ग्रन्थों में दिखाई पड़ने से हमने इसे यहां (क्र्यादि गण में) लिखा है ।

ङ—एते पञ्चदश स्वामिकाश्यपानुसारेण लिख्यन्ते। धातुवृत्ति पृष्ठ २९३।

अर्थात्—ये पन्द्रह धातुएं हमने [क्षीर]स्वामी काश्यप आदि के अनुसार लिखी हैं।

च—तत्राद्यौ बृहिश्च मैत्रेयानुरोधेनास्माभिर्दण्डके पठितः । धातुवृत्ति पृष्ठ २९३।

अर्थात्—प्रारम्भिक (दो=पट, पुट) तथा बृहि ये तीन धातुएं मैत्रेय आदि के अनुरोध से हमने इस दण्डक (=पट पुट लुट आदि) में पढ़ी हैं।

छ—यद्यपि मैत्रेयेणादितस्त्रय इदित उखिवखिमखयः मूर्धन्यादि-र्नखिरनिदित इखिश्च न पठ्यते, तथापि इतरानेकव्याख्यातृणां प्रामाण्यादस्माभिः पठितः। धातुवृत्ति पृष्ठ ४५९।

अर्थात्—यद्यपि मैत्रेय ने आरम्भ की तीन इदित् उखि वखि मखि, मूर्धन्यादि नखि, अनिदित इख नहीं पढ़ी, पुनरपि अन्य अनेक व्याख्याताओं के अनुरोध से इन्हें हमने पढ़ा है।

ज—डुकृञ् करणे इति भूवादौ पठ्यते।......अनेन प्रकारे-णास्माभिर्धातुवृत्तावयं धातुर्निराकृतः[1]। ऋग्भाष्य १।८२।१॥

अर्थात्—डुकृञ् करणे इसे भूवादि में पढ़ते हैं।......इस प्रकार हमने धातुवृत्ति में इस धातु का पाठ हटा दिया है।[1]

---

१. धातुवृत्ति में 'धृञ् धारणे' धातु के व्याख्यान के अनन्तर 'अत्र केचित् कृञ् करणे धातुं पठन्ति तदनार्षम्............... आदि लिखा है (द्र० पृष्ठ

५—महाभाष्य १।३।१ में लिखा है—

'ईडिः स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्टः।'

अर्थात्—ईड धातु स्तुति चोदना और याच्ञा अर्थों में देखी (पढ़ी) गई है।

सम्प्रति धातुपाठ में ईड धातु का स्तुति अर्थ ही उपलब्ध होता है, चोदना और याच्ञा अर्थ उपलब्ध नहीं होते।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनीय धातुपाठ में चिरकाल से पाठ की अव्यवस्था अथवा विपर्यास आरम्भ हो गया था। सायण ने तो धातुपाठ में बड़ी स्वच्छन्दता से पाठ परिवर्तन-परिवर्धन तथा निष्कासन कार्य किया है, यह सायण के पूर्व उद्धरणों से व्यक्त है।

साम्प्रतिक पाठ सायण-परिष्कृत है

पाणिनीय वैयाकरणों में धातुपाठ का जो पाठ पठनपाठन में व्यवहृत हो रहा है, वह प्राचीन आर्षपाठ नहीं है। अपितु विविध ग्रन्थों के साहाय्य से सायण द्वारा परिष्कृत पाठ है। सायण ने इस परिष्कार में अति स्वच्छन्दता से कार्य किया है, यह पूर्व उद्धरणों से सर्वथा विस्पष्ट है।

सायण के पश्चात् भट्टोजि दीक्षित ने भी धातुपाठ में कुछ परिष्कार किया है। दीक्षितविरचित 'वेदसार'[1] ग्रन्थ के सम्पादक ने भूमिका में दीक्षितविरचित ३४ ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उनमें 'धातुपाठनिर्णय' का नाम भी मिलता है। यह ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं हुआ।

सायण और दीक्षित द्वारा परिष्कृत धातुपाठ ही सम्प्रति पाणिनि-प्रोक्त समझा जाता है। परन्तु सायण द्वारा तन्त्रान्तरप्रसिद्ध पचासों धातुओं के प्रक्षेप और स्वशास्त्रपठित बहुत सी धातुओं के परित्याग के कारण यह 'पाणिनीय' पद से व्यवहर्त्तव्य नहीं है। भूयसा व्यपदेशः न्याय से इसे सायणीय पाठ कहना ही युक्त है।

---

१६३) उसकी ओर यह संकेत है। सायणाचार्य ने ऋग्भाष्य में अनेक स्थानों पर धातुवृत्ति का निर्देश किया है। यथा—१।४२।७; १।५१।८॥ आदि आदि।

१. उस्मानिया वि० वि० हैदराबाद से प्रकाशित।

भोटलिङ्गीय पाठ—सम्प्रति पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अनुयायियों द्वारा धातुपाठ का जो पाठ प्रामाणिक माना जाता है, वह जर्मनदेशीय भोटलिङ्ग द्वारा संगृहीत अथवा परिष्कृत है। उसे भी पाणिनीय कहना अनुचित है। इस पाठ में भोटलिङ्ग ने विना विशेष विचार के तन्त्रान्तरप्रसिद्ध प्रायः सभी धातुओं का संग्रह कर दिया है। अतः भोटलिङ्क का पाठ तो सायण के पाठ से भी अधिक भ्रष्ट और प्रमाणरहित है।

संहिता पाठ का प्रामाण्य

प्रायः सभी प्राचीन आर्ष ग्रन्थों का मन्त्रसंहिता के समान संहितापाठ ही प्रामाणिक माना जाता है। भगवान् पतञ्जलि आदि आचार्यों ने अष्टाध्यायी के संहितापाठ को ही प्रामाणिक माना है। यथा—

क—**कुतः पुनरियं विचारणा ? उभयथा हि तुल्या संहिता-'स्थानेन्तरतम उरण् रपरः' इति**। महा० १।१।५०॥

अर्थात्—उक्त विचार कैसे उत्पन्न हुआ ? [उत्तर] दोनों प्रकार से संहिता तुल्य है—स्थानेन्तरतम उरण् रपर। अर्थात् इस संहितापाठ का **स्थानेन्तरतमः** तथा **स्थानेन्तरतमे** दोनों प्रकार से विच्छेद हो सकता है।

ख—**नैवं विज्ञायते-कञ्क्वरपो यञश्चेति। कथं तर्हि? कञ्क्वरपोऽयञश्चेति**। महा ४।१।१।१६॥

अर्थात्—इस प्रकार का सूत्रच्छेद नहीं है—**कञ्क्वरपः-यञश्च**, अपि तु **कञ्क्वरपः-अयञश्च**। क्योंकि संहिता उभयथा तुल्य ही है—**कञ्क्वरपोयञश्च**।

इसी प्रकार धातुपाठ में भी धातुसूत्रों का संहितापाठ ही प्रामाणिक माना जाता है। इसीलिए धातसूत्रों के विच्छेद में वृत्तिकारों का बहुत मतभेद उपलब्ध होता है। यथा—

क—तपऐश्वर्येवावृतुवरणे।[1]

---

१. इसके विषय में क्षीरतरङ्गिणी ४। ४८, ४९; धातुप्रदीप (पृष्ठ ९३), पुरुषकार (पृष्ठ ८५) माधवीया धातुवृत्ति (पृष्ठ २९३) द्रष्टव्य हैं।

ख—पतगतौवापशानुपसर्गात् ।[1]

इन सूत्रों के विच्छेद के विषय में जो मतभेद है, उसका निर्देश हम पूर्व 'अर्थ-निर्देश पाणिनीय है' प्रकरण में पृष्ठ ५८ पर चुके हैं। ख पाठ के विषय में सायण लिखता है—

'अत्र स्वामी संहितायां धातुपाठाद् वाशब्दमुत्तरधातुशेषं वष्टि ।' धातुवृत्ति पृष्ठ ३६० ।

अर्थात्—यहाँ क्षीरस्वामी धातुपाठ के संहिता में होने से **वा** शब्द को उत्तर धातु का शेष मानता हैं।

ग—पाणिनीय तथा तत्पूर्ववर्त्ती धातुपाठों में एक सूत्र है—

रादाने । क्षीरत० २।५०॥

यास्क ने **अप्सरा** पद के निर्वचन में इस सूत्र के **रा दाने, रा आदाने** उभयथा विच्छेद को मानकर दान और आदान अर्थों का निर्देश किया है। यथा—

'अप्सरा ··· अप्स इति रूपनाम ·········तदनयाऽऽत्तमिति वा, तदस्यै दत्तमिति वा । निरुक्त ५।१३॥

अर्थात्—अप्सरा **अप्स** नाम रूप का है······उस रूप को इसने आत्त (=ग्रहण) किया है, अथवा उसे इसके लिए दिया है।

यहां स्पष्ट ही यास्क ने संहिता पाठ को प्रामाणिक मानकर **रा दाने, रा आदाने** उभयथा विच्छेद स्वीकार किया है।

उभयथा सूत्र-विच्छेद पाणिनीय है

धातुपाठ के संहितापाठ को प्रामाणिक मानकर वृत्तिकारों ने जो विविध प्रकार का सूत्र-विच्छेद दर्शाया है वह पाणिनीय है, ऐसा वैयाकरणों का मत है। इसीलिए **तपऐश्वर्येवावृतुवरणे** सूत्र पर सायण लिखता है—

अस्माकं तूभयमपि प्रमाणम्, आचार्येणोभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात् । धातुवृत्ति पृष्ठ २६३ ।

---

१. इसके विषय में क्षीरतरङ्गिणी १० । २४६,२५०; माधवीया धातुवृत्ति (पृष्ठ ३६७) द्रष्टव्य हैं।

अर्थात्—हमें तो दोनों प्रकार का सूत्र-विच्छेद प्रमाण है। क्योंकि आचार्य (पाणिनि) ने दोनों प्रकार से शिष्यों को पढ़ाया था।

इसका भाव यह है कि पाणिनि ने धातुपाठ का प्रवचन करते समय किन्हीं शिष्यों को **तप ऐश्वर्ये वा, वृतु वरणे** इस प्रकार विच्छेद करके पढ़ाया था, और किन्हीं को **तप ऐश्वर्ये, वावृतु वरणे** इस प्रकार।

धातुपाठ विशिष्ट स्वर-युक्त

जिस प्रकार धातुपाठ से अनुनासिक चिह्न नष्ट हो गए, उसी प्रकार धातुओं के उदात्त, अनुदात्त निर्देशक चिह्न भी समाप्त हो गए। पूर्वकाल में इड्विधान के लिए जिन धातुओं का उदात्तत्व इष्ट था वे उदात्त पढ़ी गई थीं और जिनसे इडागम इष्ट नहीं था उन्हें अनुदात्त पढ़ा था। तथा उसी का निर्देश पाणिनि ने **एकाच उपदेशे अनुदात्तात्** (७।२।१०) आदि सूत्रों में किया था। इसी प्रकार इत्संज्ञा-विशिष्ट अच् भी कोई उदात्त पढ़े गए थे, तो कोई अनुदात्त और कोई स्वरित। इन्हीं का निर्देश पाणिनि ने—

अनुदात्तङित आत्मनेपदम्। १।३।१२।।
स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले। १।३।७२।।

आदि सूत्रों में किया है। इसी लिए धातुपाठ के व्याख्याकारों ने भी लिखा है—

'अत एव चुरादिभूतान् स्वरान्वितान् नाकरोत्।' (क्षीरत० १०।१३१)

अर्थात्—इसीलिए चरादि धातुओं को स्वरयुक्त नहीं पढ़ा है।

यही बात क्षीरस्वामी से पूर्ववर्त्ती काश्यप ने लिखी है—

कार्याभावादेकश्रुत्या पठ्यन्ते इति।' द्र०—धातुवृत्ति पृष्ठ ३७०।

अर्थात्—स्वरनिर्देश का कार्य न होने से चुरादियों को एकश्रुति से पढ़ा है।

इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि शेष ९ गणस्थ धातुएं किसी समय विशिष्ट स्वरों से युक्त पढ़ी गई थीं।

पाणिनीय धातुपाठ का आश्रय प्राचीन धातुपाठ

धातुपाठ पाणिनि का प्रोक्त ग्रन्थ है, कृत नहीं। प्रोक्त ग्रन्थों में प्रवक्ता पूर्व ग्रन्थों से उपयोगी अंशों को शब्दतः और अर्थतः संग्रह किया करता है। ग्रन्थ की सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी प्रवक्ता की अपनी नहीं होती, यह हम पूर्व कह चुके हैं। इसलिए जिस प्रकार पाणिनि ने प्रायः प्राचीन आचार्यों के सूत्रों को ही ग्रहण करके अपने शब्दानुशासन का प्रवचन किया, उसी प्रकार धातुपाठ में भी प्रायः प्राचीन आचार्यों के धातुसूत्रों का ही आश्रयण किया, इसमें लेशमात्र भी सन्देह का अवसर नहीं है। यथा—

१—जिस प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्र पाणिनि से पूर्ववर्ती आपिशलि, काशकृत्स्न, भागुरि आदि के सूत्रों से मिलते हैं, और जिस प्रकार पाणिनीय शिक्षा आपिशल शिक्षा से मिलती है, उसी प्रकार पाणिनि के धातुसूत्र भी क्रमवैपरीत्य होने पर भी काशकृत्स्नीय धातुसूत्रों से प्रायः अक्षरशः मिलते हैं।

२—जिस प्रकार अष्टाध्यायी में यत्र तत्र प्राचीन श्लोकबद्ध सूत्रों का सद्भाव उपलब्ध होता है,[1] उसी प्रकार पाणिनीय धातुओं में भी किन्हीं प्राचीन छन्दोबद्ध धातुसूत्रों का सद्भाव मिलता है। यथा—

क—भ्वादि में एक धातुसूत्र है—

चते चदे च याचने। क्षीरत० १।६०८॥

लाज लाजि च भर्त्सने। धातुप्रदीप, पृष्ठ २५।

इन सूत्रों में चकार अस्थान में पठित है। प्रथमसूत्र में पठित चकार परिभाषण अर्थ के समुच्चय के लिए है। अतः सूत्रपाठ होना

१. यथा—'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति, परिपन्थं च तिष्ठति' (४।४।३५, ३६) अनुष्टुप् के दो चरण। 'वृद्धिरादैजदेङ्गुणः' (१।१।१, २) अनुष्टुप् का एक चरण। विशेष इसी ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में पृष्ठ २५०, २५१।

२. धातुप्रदीप में मुद्रित पाठ 'लाज लाजि भर्त्सने च' छपा है, वह अशुद्ध है। क्योंकि इस पाठ में चकार भिन्नक्रम नहीं है यथास्थान ही है। मैत्रेय रक्षित व्याख्या करता हुआ लिखता है—'चकारो भिन्नक्रमः'। यह निर्देश ऊपरि निर्दिष्ट पाठ की ओर ही संकेत करता है।

चाहिए था **चते चदे याचने च**। दूसरे सूत्र में चकार भर्जन के समुच्चय के लिए है। अतः यहां भी '**लाज लाजि भर्त्सने च**' सूत्रपाठ होना चाहिए था। अतएव इस पर मैत्रेयरक्षित लिखता है—**चकारो भिन्नक्रमः**। यहां दोनों धातुसूत्रों में अस्थान में चकार का पाठ छन्दोऽनुरोध से है।

अष्टाध्यायी ४।४।३६ के **परिपन्थं च तिष्ठति** सूत्र में भी चकार का अस्थान में पाठ छन्दोऽनुरोध से ही है। इस तुलना से स्पष्ट है कि जिस प्रकार अष्टाध्यायी का **परिपन्थं च तिष्ठति** सूत्र तथा तत्पूर्ववर्ती सूत्र प्राचीन श्लोकबद्ध शब्दानुशासन से संगृहीत हैं, उसी प्रकार **चते चदे च याचने** और **लाज लाजि च भर्त्सने** धातुसूत्र भी किसी प्राचीन श्लोकबद्ध धातुपाठ से संगृहीत है।

क्षीरस्वामी का भ्रम—क्षीरस्वामी ने इस तथ्य को न जानकर इस सूत्र पर लिखा है कि चकार पूर्वपठित रेट्ट धातु के समुच्चय के लिए है अर्थात् रेट्ट के परिभाषण और याचन दोनों अर्थ हैं। क्षीरस्वामी का यह व्याख्यान अयुक्त है। क्योंकि सम्पूर्ण धातुपाठ में अन्यत्र कहीं पर भी पूर्व धातु के समुच्चय के लिए चकार का निर्देश उपलब्ध नहीं होता।

हेमचन्द्र द्वारा क्षीरस्वामी का अनुसरण—आचार्य हेमचन्द्र ने अपने धातुपारायण में क्षीरस्वामी का अनुसरण करके **रेट्टग् परिभाषणयाचनयोः** (१८६७) में रेट्ट के परिभाषण और याचन दोनों अर्थों का निर्देश किया है।

यह भी ध्यान रहे कि **चते चदे च याचने** यह क्षीरस्वामी का पाठ है। मैत्रेय चकार नहीं पढ़ता। सायण ने **याचने च** ऐसा पाठविपर्यास किया है। उससे विदित होता है कि वह पूर्व पाठ में चकार को परिभाषण अर्थ के समुच्चय के लिए ही मानता है। अध्येताओं को भ्रम न हो; इसलिए उसने चकार को यथास्थान रख दिया।

ख—स्वादिगण में पाठ है—

ष्टिघ आस्कन्दने, उदात्तावनुदात्तेत्तौ, तिक तिग च, षघ हिंसायाम्। क्षीरत० ५।२२-२५॥

यहां क्षीरस्वामी और मैत्रेय ने चकार को पूर्वपठित **आस्कन्दन**

अर्थ का समुच्चायक माना है। परन्तु **उदात्तावनुदात्तेत्तौ** सूत्र का व्यवधान होने पर चकार पूर्वपठित आस्कन्दन अर्थ का समुच्चय कैसे करेगा, यह वृत्तिकारों ने स्पष्ट नहीं किया। काशकृत्स्न, कातन्त्र, हैम, शाकटायन के धातुपाठों में तिक तिग धातुओं का केवल हिंसा अर्थ ही लिखा है, आस्कन्दन नहीं। इतना ही नहीं, **षघ हिंसायाम्** (५।२५) सूत्र पर क्षीरस्वामी ने लिखा है—

तिक तिग चषघ हिंसायाम् इत्येके—चषघ्नोति।

इससे स्पष्ट होता है कि छन्दःपूर्त्यर्थ पढ़े गए चकार का वास्तविक प्रयोजन न जानकर किसी वृत्तिकार ने उसे आस्कन्दन अर्थ का समुच्चायक मान लिया, तो अन्य ने उसे घत्ववयव बनाकर **चषघ** धातु की कल्पना कर ली। वस्तुतः यहां—

ष्टिघ आस्कन्दने तिक, तिग च षघ हिंसायाम्

इस प्रकार अनुष्टुप् के दो चरण किसी प्राचीन श्लोकबद्ध धातुपाठ में थे। पाणिनि ने उन्हें यथावत् ग्रहण करके मध्य में **उदात्तावनुदात्तेतौ** सूत्र और जोड़ दिया। इस अवस्था में चकार अनर्थक हो गया।

ग—चुरादिगण में एक सूत्र है—

उपसर्गाच्च दैर्घ्ये। क्षीरत० १०।२२६॥

यहां क्षीरस्वामी ने **चकारं भिन्नक्रममाहुः** लिखकर ज्ञापित किया है कि वास्तविक सूत्रपाठ **उपसर्गाद् दैर्घ्ये च** होना चाहिए। हमारा विचार तो यही है कि यहां पर भी चकार का अस्थान में पाठ छन्दोऽनुरोध से ही है।

घ—चुरादिगण के कुछ सूत्र हैं—

रच प्रतियत्ने, कल गतौ संख्याने च, चह कल्कने, मह पूजायाम्, शार कृप श्रथ दौर्बल्ये। क्षीरत० १०।२५२–२५६॥

इन्हें आप इस रूप में पढ़िए—

रच प्रतियत्ने कल, गतौ संख्याने च चह।
कल्कने मह पूजायाम्, शार कृप श्रथ दौर्बल्ये॥

यह पूरा यथाश्रुत भुरिक् (एकाक्षर अधिक) अनुष्टुप् श्लोक है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व कोई छन्दोबद्ध धातुपाठ भी विद्यमान था। उसके ही कतिपय अंश पाणिनि के धातुपाठ में सुरक्षित दिखाई देते हैं।

३—पाणिनीय धातुपाठ में बहुत्र प्रकरणविरोध उपलब्ध होता है। यथा—

क—उदात्त चवर्गान्त धातुओं में अनुदात्त इकारान्त **क्षि** धातु का पाठ उपलब्ध होता है। द्र०—क्षीरत० १।१४६॥

ख—उदात्त अन्तस्थान्त धातुओं में अनुदात्त इकारान्त **जि** धातु का पाठ मिलता है। द्र०—क्षीरत० १।१७४॥

ग—उष्मान्त धातुओं में वान्त (अन्तस्थान्त) **कव** धातु का पाठ देखा जाता है। द्र०—क्षीरत० १।४७६॥

यह प्रकरणविरोध पूर्वाचार्यों के अनुरोध के कारण है, ऐसा प्राचीन वृत्तिकार कहते हैं। इसी कारण **क्षि क्षये** (क्षीरत० १।१४६) धातु के व्याख्यान में क्षीरस्वामी **वक्ष्यति च** लिखकर किसी प्राचीन व्याख्याकार का श्लोक उद्धृत करता है—

पाठमध्येऽनुदात्तानामुदात्तः कथितः क्वचित्॥
अनुदात्तोऽप्युदात्तानां पूर्वेषामनुरोधतः॥

अर्थात्—पाणिनीय धातुपाठ में कहीं-कहीं अनुदात्तों के मध्य उदात्त और उदात्तों के मध्य अनुदात्त धातुओं का जो पाठ उपलब्ध होता है, वह पूर्वाचार्यों के अनुरोध से है।

यह भी ध्यान रहे कि काशकृत्स्न धातुपाठ में भी चवर्गान्त उदात्त धातुओं के मध्य इकारान्त अनुदात्त **क्षि** धातु का पाठ उपलब्ध होता है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपने धातुपाठ के प्रवचन में पूर्वाचार्यों के धातुपाठ का पर्याप्त आश्रय लिया है। पाणिनीय धातु-पाठ **दण्डकपाठ** कहाता है।[1]

श्लोकबद्ध धातुपाठ

पाणिनि ने पूर्व किसी आचार्य का श्लोकबद्ध धातुपाठ भी विद्य-

१. द्र० 'वृतु वृधु भाषार्था इत्यन्ते दण्डकधातुपाठे ·····'। पुरुषकार, पृष्ठ ४०। 'कविकामधेनुकारश्च दण्डकधातुपाठमेव······।' पुरुषकार, पृष्ठ ४१।

मान था, यह हम ऊपर दर्शा चुके हैं। अर्वाचीन ग्रन्थों में भी श्लोकबद्ध धातुपाठ के कुछ वचन उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—तथा च 'पूरी आप्यायने ष्वदास्वाद' इति श्लोकधातुपाठः। पुरुषकार पृष्ठ ४०।[1]

२—यत्तु श्लोकधातुपाठे 'फक्क नीचैर्गतौ तक्क मर्षणे बुक्क भषणे' इति द्विककारस्तकिः। पुरुषकार पृष्ठ ४२।

३—तथा च श्लोकधातुपाठः—'जुड प्रेरणवाची शुठालस्ये गज मार्जे च। शब्दार्थे पचि विस्तारे' इति। पुरुषकार पृष्ठ ४५।

४—तथा च 'गुध रुषि मृद संक्षोदे मृड सुखार्थे च कुन्थ संश्लेषे' इति श्लोकधातुपाठे। पुरुषकार पृष्ठ ६६।

५—श्लोकधातुपाठः—यत उपसंस्कारनिराकार्थः स निरश्च धान्यधनवाची इति। पुरुषकार पृष्ठ ७०।

६—'विश मृश णुद प्रवेशामर्शक्षेपेषु षद्लृ विशरणार्थः' इति च श्लोकधातुकारः। पुरुषकार पृष्ठ ७६।

७—तथा च 'तव[2] पत ऐश्वर्ये वावृतु वर्तने कासृ दीप्त्यर्थे इति श्लोकधातुकारः।[3] देवराजयज्वा, निघण्टुव्याख्या २।११।२॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पुरुषकार के रचयिता कृष्ण लीलाशुक मुनि और देवराज यज्वा के काल में भी कोई श्लोकबद्ध धातुपाठ विद्यमान था।

धातुपाठ से संबद्ध अन्य ग्रन्थ

धातुपाठ से संम्बद्ध कतिपय अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होते है। उनमें अधिकतर ग्रन्थों का सम्बन्ध पाणिनीय धातुपाठ से प्रतीत होता है। अतः हम उनका निर्देश पाणिनीय धातुपाठ के प्रसङ्ग में ही करते हैं—

---

१. यह तथा आगे की पृष्ठ संख्या पुरुषकार के हमारे संस्करण की है।

२. यहां 'तप' पाठ होना चाहिए।

३. यह पाठ सत्यव्रत सामश्रमी के संस्करण में त्रुटित है। हमने यह पाठ अपने मित्र पं० शुचिव्रत जी शास्त्री द्वारा सम्पादित निघण्टुव्याख्या से लिया है। शास्त्री जी ने अनेक हस्तलेखों के आधार पर इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का महान् परिश्रम से सम्पादन किया है। अभी यह प्रकाशित नहीं हुआ।

१—**आख्यात-निघण्टु**—इस ग्रन्थ के तीन उद्धरण कृष्ण लीलाशुक मुनि ने अपने दैव-व्याख्यान पुरुषकार में दिये हैं—

'स्नाति स्नायत्याप्लवते' इति चाख्यातनिघण्टुः । पृष्ठ २० ।

तथा चाख्यातनिघण्टुः—'यत्ने प्रैषे निराकारे यातयेदप्युपस्कृतौ इति । पृष्ठ ७० ।

'कृन्तत्यचोटयदचुण्ठयदच्छुरच्च' इत्याख्यातनिघण्टुश्च । पृष्ठ ६४ ।

कृष्ण लीलाशुक मुनि का काल विक्रम की तेरहवीं शती का उत्तरार्ध है । यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में भोजीय सरस्वतीकण्ठाभरण व्याकरण के प्रसंग में सप्रमाण लिख चुके हैं । अतः 'क्रिया-निघण्टु' १३ शती से प्राचीन है, यह सुव्यक्त है ।

इसके ग्रन्थकर्ता का नाम आदि कुछ ज्ञात नहीं है ।

२—**आख्यातचन्द्रिका**—इस ग्रन्थ का कर्ता भट्टमल्ल है । भट्टमल्ल को मल्लिनाथ ने अपनी नैषधव्याख्या (४।८४) में उद्धृत किया है । अतः भट्टमल्ल मल्लिनाथ से प्राचीन है, इतना ही कहा जा सकता है । मल्लिनाथ ने नैषध १।११ की व्याख्या में साहित्यदर्पण १०।४६ को उद्धृत किया है । साहित्यदर्पण का काल वि० सं० १३६३ के आसपास है ।[1]

'आख्यातचन्द्रिका' के सम्पादक वेङ्कट रङ्गनाथ स्वामी ने लिखा है कि अमरकोष की सर्वानन्द विरचित टीकासर्वस्व व्याख्या में आख्यातचन्द्रिका उद्धृत है । यदि सम्पादक का यह लेख युक्त हो (हमें उक्तवचन उपलब्ध नहीं हुआ) तो निश्चय ही भट्टमल्ल वि० सं० १२२५ से प्राचीन होगा ।

क्षीरस्वामी ने **विट आक्रोशे** (क्षीरत० १।३१६) धातुसूत्र के व्याख्यान में एक मल्ल नामक विद्वान् को उद्धृत किया है—

'अत एव विट शब्दे पिट आक्रोशे इति मल्लः पर्यट्टकान्तरे विभज्याह ।'

यह मल्ल आख्यातचन्द्रिका के रचयिता भट्टमल्ल से भिन्न व्यक्ति है अथवा अभिन्न, इनमें से कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हुआ ।

१. द्र०—कन्हैयालाल पोद्दार लिखित 'संस्कृत साहित्य का इतिहास भाग १, पृष्ठ २७३ ।

वेङ्कट रङ्गनाथ स्वामी ने आख्यातचन्द्रिका की भूमिका में आख्यातों के अर्थबोधक निम्न (३-९) ग्रन्थों का निर्देश किया है—

३—**कविरहस्य**—यह हलायुध की कृति है। हलायुध का काल वि० सं० १२३०-१२६० तक माना जाता है।

४—**क्रियाकलाप**—इसका रचयिता विजयानन्द है। कहीं कहीं विद्यानन्द नाम भी मिलता है। इसका काल आदि अज्ञात है।

५—**क्रियापर्यायदीपिका**—इसका रचयिता वीर पाण्ड्य है। इसका काल आदि भी अज्ञात है।

६—**क्रियाकोश**—इसका रचयिता विश्वनाथ-सूनु रामचन्द्र है।[1] विशिष्ट प्रमाण के अभाव में इसका कालनिर्णय भी अभी नहीं हो सकता। यह ग्रन्थ जैन प्रभाकर यन्त्रालय (काशी) में छपा था। यह भट्टमल्लकृत आख्यातचन्द्रिका का संक्षेप है।

७—**प्रयुक्ताख्यातमञ्जरी**—इसका रचयिता कवि सारङ्ग है।

८—**क्रियारत्नसमुच्चय**—इस ग्रन्थ का रचयिता गुणरत्न सूरि है। यह ग्रन्थ हैम धातुपाठ का व्याख्यारूप है। अतः इसका वर्णन हम हैम धातुपाठ के प्रकरण में करेंगे।

९—**धातुरूपभेद**—यह कृति दशबल अथवा वरदराज की है।

१०—**धातुसंग्रह**—इस ग्रन्थ का निर्देश जगद्धर ने मालतीमाधव १।१७ की टीका में किया है—

अभिसन्धिर्वञ्चनार्थ इति धातुसंग्रहः।

जगद्धर का काल वि० सं० १३५० है। अतः धातुसंग्रह उससे पूर्ववर्ती है, इतना ही निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

११—**धातुकोश**—घनश्यामकृत। इसका एक हस्तलेख सरस्वती महल तञ्जौर के पुस्तकालय में है। द्र० जनरल आफ दी तञ्जौर VOL. XXVI. No. 1, सन् १९७३।

---

१. इति विश्वनाथसूनुरामचन्द्रविरचिते क्रियाकोशे द्वितीयं काण्डं समाप्तम्।

२. क्रियाकोशं भट्टमल्लो यद्यपीमं व्यदधात् पुरा।
तथापि तेषु संचित्य क्रिया भूरिप्रयोगिणीः।
कोशोऽयमतिसंक्षिप्तो व्यदधाद् बालबुद्धये।

१२—ओष्ठ्यकारिका—इसमें केवल ६ कारिकाएं हैं। इनमें पवर्गीय 'ब' वर्णवाली धातुओं का संग्रह है। वस्तुतः इन कारिकाओं में समस्त 'ब' वर्णवाली धातुओं का संग्रह नहीं है, क्योंकि धातुपाठ में इन से भिन्न भी बहुत-सी वकार वाली धातुएं देखी जाती हैं।[1] अतः सम्भव है कि इन कारिकाओं का सम्बन्ध किसी अज्ञात संक्षिप्त धातु पाठ के साथ हो। अमरटीका-सर्वस्वकार ने अपने व्याख्यान में (भाग १ पृष्ठ ७) इसे उद्धृत किया है। अतः यह वि० सं० १२२५ से प्राचीन अवश्य है।

इन कारिकाओं के रचयिता का नाम आदि अज्ञात है।

१३—अनिट्-कारिका—यह ग्रन्थ आचार्य व्याघ्रभूति का माना जाता है।[2] आचार्य व्याघ्रभूति अति प्राचीन व्यक्ति है। वह निश्चय ही २८०० विक्रमपूर्व से पूर्ववर्ती है। पं० गुरुपद हालदार ने इसे पाणिनि का साक्षात् शिष्य लिखा है।[3] इसमें प्रमाण अन्वेषणीय है।

इन कारिकाओं में कौन सी धातु अनिट् अथवा सेट् है, का परिगणन किया है। वामन ने काशिकावृत्ति ७।२।१० में इन कारिकाओं की व्याख्या की है।

धातुपाठ के व्याख्याता

भगवान् पाणिनि के धातुप्रवचनकाल से लेकर अद्य यावत् अनेक आचार्यों ने पाणिनीय धातुपाठ के व्याख्यान लिखे, इस में कोई सन्देह नहीं। किन्तु उनमें से कतिपय व्याख्याग्रन्थ ही सम्प्रति ज्ञात अथवा उपलब्ध हैं। बहुतों के तो नाम भी करालकाल के गह्वर में विलीन हो गए। हम यहां उन धातुवृत्तिकारों का वर्णन करेंगे, जिनके नाम अथवा ग्रन्थ परिज्ञात हैं।

---

१. द्र० अमरटीकासर्वस्य भाग १, पृष्ठ ८—अर्ब पर्ब बर्ब कर्ब खर्ब गर्ब मर्ब सर्ब चर्ब गतौ इत्ययमपि भीमसेनेन पवर्गान्तप्रकरणे पठितः। मुद्रित ग्रन्थ में अर्व पर्व आदि अन्तस्थ वकारवान् पाठ छपा है, यह चिन्त्य है।

२. यमिर्नमन्तेष्वनिडेक इष्यते इति व्याघ्रभूतिना व्याहृतस्य। शब्दकौस्तुभ १।१। आ० २, पृष्ठ २२। तर्पि तिपिमिति व्याघ्रभूतिवचनविरोधाच्च। धातुवृत्ति पृष्ठ ८२॥

३. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृष्ठ ४४४।

१—पाणिनि

भगवान् पाणिनि ने शब्दानुशासन का प्रवचन करते हुए अष्टाध्यायी के सूत्रों की कोई वृत्ति भी अवश्य बताई, यह हम अनेक सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में अष्टाध्यायी के वृत्तिकार प्रकरण में लिख चुके। इसी प्रकार पाणिनि ने अपने धातुपाठ का प्रवचन करते हुए उसकी भी कोई वृत्ति शिष्यों को अवश्य पढ़ाई होगी, यह अनुमान स्वतः ही उत्पन्न होता है। विना वृत्ति बताए सूत्रग्रन्थ का प्रवचन सर्वथा अशक्य है। इतना ही नहीं, हमारे अनुमान के उपोद्बलक अनेक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—जिस प्रकार पाणिनि ने अष्टाध्यायी का प्रवचन करते समय किन्हीं शिष्यों को किसी प्रकार सूत्रपाठ बताया और दूसरे समय अन्य शिष्यों को दूसरी प्रकार का सूत्रपाठ बताया।[1] तथा किन्हीं शिष्यों को किसी सूत्र की कोई वृत्ति बताई, अन्यों को उसी सूत्र की दूसरी प्रकार से वृत्ति समझाई।[2] इसी प्रकार धातुपाठ के प्रवचनकाल में भी किन्हीं शिष्यों को **तप ऐश्वर्ये वा, वृतु वरणे** इस प्रकार सूत्रविच्छेद बताया, अन्यों को दूसरे समय **तप ऐश्वर्ये, वावृतु वरणे** इस प्रकार पढ़ाया। इसी परम्परा को ध्यान में रखकर आचार्य सायण ने लिखा है।

अस्माकं तूभयमपि प्रमाणम् उभयथा शिष्याणां प्रतिपादनात्।
धातुवृत्ति पृष्ठ २९३।

२—उदात्त चान्त धातुओं के प्रकरण में अनुदात्त इकारान्त **क्षि** धातु के पाठ के कारण का निर्देश करते हुए क्षीरस्वामी ने लिखा है—

---

१. उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। केचिदाकडारादेका संज्ञा, केचित् प्राक्कडारात् परं कार्यम्। महाभाष्य १।४।१॥ शुङ्गाशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति, ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौङ्गेय इति। द्वयमपि चैतत् प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्। काशिका ४।१।११८॥

२. उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, केचिद् वाक्यस्य [संप्रसारसंज्ञा] केचिद् वर्णस्य। भर्तृहरिकृत महाभाष्य दीपिका, पृष्ठ ३७२, हमारा हस्तलेख; पूना संस्क० पृष्ठ २७०॥ सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः, तदुभयमपि ग्राह्यम्। काशिका ५।१।५०॥

वक्ष्यति च—

पाठमध्येऽनुदात्तानामुदात्तः कथितः क्वचित् ।
अनुदात्तोऽप्युदात्तानां पूर्वेषामनुरोधतः ॥ क्षीरत० १। १४६ ॥

यहां **वक्ष्यति** क्रिया का कर्त्ता कौन है, यह क्षीरस्वामी ने व्यक्त नहीं किया। क्षीरस्वामी के वाक्यविन्यास प्रकार से हमारा अनुमान है कि **वक्ष्यति** क्रिया का कर्ता भगवान् पाणिनि ही है। उसने धातुपाठ का प्रवचन करके उसकी व्याख्या समझाने के लिए जो वृत्ति लिखी होगी, अथवा पढ़ाई होगी, उसी में उक्त श्लोक रहा होगा।

किन्हीं आचार्यों का मत है कि धातुपाठ का अर्थ-निर्देश पाणिनि ने स्ववृत्ति में किया था।

२—सुनाग

महाभाष्य में सौनाग वार्तिक बहुत्र पठितहैं।[1] हरदत्त के वचनानुसार इन वार्तिकों का प्रवक्ता सुनाग नाम का आचार्य है।[2] यह भगवान् कात्यायन से अर्वाचीन है, ऐसा कैयट के लेख से व्यक्त होता है।[3] आचार्य सुनाग के काल आदि के सम्बन्ध में हम इस ग्रन्थ के आठवें अध्याय में लिख चुके हैं। (द्र० अष्टाध्यायी के वार्तिककार प्रकरण)

वार्तिकों के प्रवचनकर्त्ता सुनाग ने पाणिनीय धातुपाठ पर भी कोई व्याख्यान लिखा था, यह कतिपय प्रमाणों से जाना जाता है। यथा—

१—काशिका में **विभाषा भावादिकर्मणोः** (७।२।१७) सूत्र की व्याख्या में वामन लिखता है—

सौनागाः कर्मणि निष्ठायां शकेरिटमिच्छन्ति विकल्पेन अस्यतेर्भावे ।

---

१. महाभाष्य २। २। १८; ३। २। ५६; ४। १। ७४, ८७; ४। ३। १५६; ६। १। ९५॥ २. सुनागस्याचार्यस्य शिष्याः सौनागाः। पदमञ्जरी ७।२।१६; भाग २, पृष्ठ ७६१॥

३. कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितु सौनागैर्विस्तरेण पठितमित्यर्थः। भाष्यप्रदीप २। २। ३८॥

अर्थात्—सुनाग के शिष्य कर्म में प्रयुक्त निष्ठा में शक धातु से विकल्प से इट् चाहते हैं और असु क्षेपे से भाव में।

२—इसी सौनाग मत का निर्देश सायण ने अनेक स्थानों पर किया है।[1]

३—क्षीरतरङ्गिणी के आदि और अन्त में धात्वर्थसंबन्धी सौनाग मत इस प्रकार उद्धृत है—

धातूनामर्थनिर्देशोऽयं निदर्शनार्थ इति सौनागाः। यदाहुः—
क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकोऽत्रार्थः प्रदर्शितः।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥[2]

अर्थात्—धातुओं का अर्थ-निर्देश निदर्शनार्थ है, ऐसा सौनागों का मत है। जैसा कि कहा है—यहां धातुओं का क्रियावाचित्व दर्शाने के लिए एक अर्थ लिखा है। धातुएं अनेकार्थ हैं, उनके अर्थ प्रयोग से जानने चाहिएं।

वामन और क्षीरस्वामी द्वारा उद्धृत मत धातुपाठविषयक ही हैं, यह स्पष्ट है। इन मतों का प्रतिपादन भगवान् सुनाग ने कहां किया था, यह उद्धर्ता लोगों ने नहीं बताया। इनमें प्रथम मत उसके वार्तिक पाठ में भी निर्दिष्ट हो सकता है, परन्तु क्षीरस्वामी द्वारा उद्धृत मत का निर्देश उसके धातुव्याख्यान में ही संभव है, अन्यत्र नहीं। इससे अनुमान होता है कि आचार्य सुनाग ने भी पाणिनीय धातुपाठ पर किसी व्याख्यान का प्रवचन किया था।

३—भीमसेन

किसी भीमसेननामा वैयाकरण का पाणिनीय धातुपाठ के साथ कोई महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध था, यह अनेक ग्रन्थकारों के वचनों से स्पष्ट विदित होता है। यथा—

---

१. शक धातु, पृष्ठ ३०१; असु धातु, पृष्ठ ३०७; शक्लृ धातु, पृष्ठ ३२१। २. क्षीरत० पृष्ठ ३, ३२३ हमारा संस्क०। चुरादि (पृष्ठ ३२३) में द्वितीय चरण 'एकैकोऽर्थो निदर्शितः' है और तृतीय चरण 'प्रयोगतोऽनुमातव्याः' है। यह श्लोक चान्द्र धातुपाठ के अन्त में भी उपलब्ध होता है। वहां तृतीय चरण का पाठ 'प्रयोगतोऽनुगन्तव्याः' है।

१—क्रियारत्नसमुच्चय का लेखक गणरत्न सूरि (संवत् १४६६) लिखता है—

अर्चि-अर्दि-तर्पि-वर्दि-मृषयः परस्मैपदिन इति भीमसेनीयाः । क्रियारत्नसमुच्य पृष्ठ २८४ ।

अर्थात्—अर्चि अर्दि तर्पि वर्दि मृषि ये परस्मैपदी हैं, ऐसा भीमसेनप्रोक्त ग्रन्थ के अध्येता मानते हैं ।

२—सर्वानन्द (सं० १२१५) अपने अमरटीका-सर्वस्व नामक व्याख्यान में लिखता है—

अर्ब पर्ब बर्ब कर्ब खर्ब गर्ब मर्ब सर्ब चर्ब गतौ इत्ययमपि भ्वादौ भीमसेनेन पवर्गान्तप्रकरणे पठितः ।[1] अमरटीका सर्वस्व १।१।७, भाग १, पृष्ठ ८ ।

अर्थात्—भीमसेन ने अर्ब आदि धातुओं को भ्वादि गण में पवर्गान्त प्रकरण में पढ़ा है ।

३—सर्वानन्द से प्राचीन मैत्रेयरक्षित (सं० ११६५) धातुप्रदीप के आदि में भीमसेन को स्मरण करता है—

बहुशोऽमून् यथा भीमः प्रोक्तवांस्तद्वदागमात् ।[2]

४—मैत्रेय से भी बहुत प्राचीन उमास्वाति-भाष्य का व्याख्याता सिद्धसेन गणी लिखता है—

भीमसेनात् परतोऽन्यैर्वैयाकरणैरर्थद्वयेऽपठितोऽपि ………।[3] पृष्ठ २९४ ।

५—भट्टोजिदीक्षित, नागेश भट्ट आदि का मत है वि पाणिनीय धातुपाठ के अर्थों का निर्देश भीमसेन ने किया है (प्रमाण पूर्व पृष्ठ ६३ पर उद्धृत कर चुके) ।

६—भीमसेन धातुपाठ के हस्तलेख अनेक हस्तलेख-संग्रहों में विद्यमान हैं । एक हस्तलेख लाहौर के दयानन्द महाविद्यालय के अन्तर्गत लालचन्द पुस्तकालय में था (लालचन्द पुस्तकालय के हस्तलेख सम्प्रति

१.—टीकासर्वस्व में ये धातुएं बकारान्त (अन्तस्थान्त) छपी हैं । वह मुद्रणदोष है । २.—इसकी व्याख्या पूर्व (पृष्ठ ६३) कर चुके हैं ।
३.—इस उद्धरण का निर्देश भी पहले (पृष्ठ ६४) कर चुके हैं ।

साधु आश्रम, होशियारपुर में सुरक्षित हैं)। इसकी एक प्रतिलिपि हमारे संग्रह में भी है।

भीमसेन का काल—इस वैयाकरण भीमसेन ने अपने जन्म से किस देश और काल को अलंकृत किया, यह अज्ञात है। भीमसेनसंबन्धी जितने निर्देश विविध ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उनमें सिद्धसेन गणी का निर्देश सब से प्राचीन है। सिद्धसेन गणी का काल विक्रम की ७वीं शती है, ऐसा ऐतिहासिकों का मत है। भीमसेन इससे भी बहुत प्राचीन है, यह उसकी अवरसीमा है। कई लोग इसको पाण्डुत्र धर्मराज का अनुज मानते हैं, यह नामसादृश्यमूलक भ्रान्ति है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ६४) लिख चुके हैं।

धातुपाठ के साथ भीमसेन का सम्बन्ध—भीमसेनसम्बन्धी जो निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उनसे इतना स्पष्ट है कि भीमसेन का पाणिनीय धातुपाठ के साथ कोई विशिष्ट सम्बन्ध है। 'भीमसेनीय धातुपाठ' नाम से अनेक हस्तलिखित पुस्तक-संग्रहालयों में विद्यमान धातुपाठ के कोश भी इस विशिष्ट सम्बन्ध के प्रज्ञापक हैं। परन्तु यह विशिष्ट सम्बन्ध किस प्रकार का है, इस विषय में वैयाकरणों में मतभेद है। कई ग्रन्थकार कहते हैं कि भीमसेन ने पाणिनीय धातुओं का प्रथमतः अर्थनिर्देश किया, अन्य लेखकों का मत है कि भीमसेन ने पाणिनीय धातुपाठ पर कोई व्याख्या लिखी थी। इन में से प्रथम मत प्रमाणशून्य है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ५२-६०) प्रतिपादन कर चुके हैं। अब द्वितीय मत के सम्बन्ध में विचार करते हैं—

धातुवृत्तिकार—हमारा अपना मत है कि भीमसेन ने पाणिनीय धातुपाठ पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था। इसके उपोद्बलक निम्न प्रमाण हैं—

१—आचार्य हेमचन्द्र हैमशब्दानुशासन २।१।८८ की बृहद् वृत्ति में लिखता है—**अन्ये त्वदिं पठन्ति।**

इसकी स्वोपज्ञ बृहन्न्यास नाम्नी व्याख्या में हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है—

अन्ये त्विति-भीमसेनादयः।

२—कविकल्पद्रुम की टीका में दुर्गादास लिखता है—

स्तम्भ इह क्रियानिरोध इति भीमसेनः । पृष्ठ १७१ ।

स्तुन्भु स्तम्भे सौत्र धातु है । इसका धातुपाठ में उपदेश नहीं है। धातुवृत्तिकार प्रसंगवश सौत्र धातुओं का व्याख्यान भी अपनी वृत्तियों में करते हैं । दुर्गादास का कथन है कि **स्तन्भ स्तम्भे** धातु का जो **स्तम्भ** अर्थ है, उसका अभिप्राय यहां **क्रियानिरोध** है, ऐसा भीमसेन का कथन है । भीमसेन स्तम्भ का क्रियानिरोध अर्थ धातुवृत्ति में ही लिख सकता है, धात्वर्थनिर्देश में इसका कोई प्रसंग ही नहीं, क्योंकि धात्वर्थनिर्देश तो 'स्तम्भ' ही है । इससे स्पष्ट है कि भीमसेन ने कोई धातुवृत्ति ग्रन्थ लिखा था, उसी में स्तम्भ का क्रियानिरोध अर्थ दर्शाया होगा ।

३—'दैव' ग्रन्थ का व्याख्याता कृष्ण लीलाशुकमुनि लिखता है—

क्षप प्रेरणे भीमसेनेन कथादिष्वपठितोऽप्ययं 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' इत्युदाहरणत्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते । पृष्ठ ८८ ।

अर्थात्—कथादि में अपठित '**क्षप प्रेरणे**' धातु को भीमसेन ने 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' के उदाहरण रूप से धातुवृत्ति में पढ़ा है ।

४—यही पाठ स्वल्पभेद से देवराज यज्वा के निघण्टु-व्याख्यान (पृष्ठ ४३, १०९) में दो बार उपलब्ध होता है ।

उपर्युक्त पाठ में 'धातुवृत्तौ पठ्यते' का कर्ता भीमसेन के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे कर्ता का निर्देश वाक्य में नहीं है । इससे स्पष्ट है कि भीमसेन ने कोई धातुवृत्ति नामक धातु-व्याख्यान ग्रन्थ लिखा था, उसी में उसने **बहुलमेतन्निदर्शनम्** धातुसूत्र की व्याख्या में अपठित **क्षप प्रेरणे** धातु का निर्देश किया था और उसी में **स्तम्भु स्तम्भे** धातु के **स्तम्भ** का अर्थ **क्रियानिरोध** लिखा था ।

भीमसेनीय धातुपाठ का भोट भाषा में अनुवाद पञ्चमभोट गुरु सुमतिसागर के आदेश से रत्नधर्मकीर्ति ने किया था । इस भोट-भाषानुवाद से भीमसेनीय धातुपाठ के उद्धार का गुरुतरकार्य शान्तिनिकेतन के प्राध्यापक डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य कर रहे हैं । ऐसा उन्होंने २१-९-१९७९ के पत्र द्वारा मुझे सूचित किया था ।

४—धातु-पारायणकार

धातुपाठ पर 'पारायण' नाम का कोई प्राचीन ग्रन्थ कई ग्रन्थों में उद्धृत है। पाणिनीय व्याकरण से सम्बद्ध ग्रन्थों में इस का निर्देश होने से यह पाणिनीय धातुपाठ पर था, ऐसी सम्भावना है। यथा—

१—**नामधातुपारायणादिषु**। काशिका के आरम्भ में।

२—**ततः अभ्र बभ्रेति ······बाबभ्र्यते भवतीति पारायणिकाः**। ज्ञापकसमुच्चय, पृष्ठ १००।

३—**अनिदित् पारायणेष्वपाठि, गोजति जुगोज**। पुरुषकार, पृष्ठ ५४।

४—**पारायणिकैरनुक्तोऽपि क्षिपिर्देवादिको·········**। पुरुषकार पृष्ठ ८५।

५—**कसि गतिशासनयोरिति पारायणिकैरुदाहारि, कंस्ते कंस्तः** इति। पुरुषकार पृष्ठ १११।

हमारा विचार है कि उपर्युक्त उद्धरणों में निर्दिष्ट धातु-पारायण सम्भवतः भीमसेन कृत धातुवृत्ति का वाचक हों। ये सभी उद्धर्त्ता पाणिनीय व्याकरण से सम्बद्ध व्यक्ति हैं। अतः इनका हैम धातुपारायण या पूर्णचन्द्र विरचित चान्द्र धातुपारायण का उल्लेख करना सम्भव नहीं है। सम्भव है भीमसेनीय धातुपारायण नाम के आधार पर ही हेमचन्द्र और पूर्णचन्द्र ने अपनी धातुवृत्तियों का नाम धातु-पारायण रखा हो। भीमसेनीय धातुवृत्ति का नाम 'धातुपारायण' होने पर **'धातुपारायणकार'** नाम से निर्दिष्ट पृथक् धातुवृत्तिकार नहीं होगा।

५—अज्ञातनामा

किसी प्राचीन अज्ञातनामा विद्वान् ने धातुपाठ पर एक वृत्तिग्रन्थ लिखा था। इस वृत्तिकार और इसके वृत्ति ग्रन्थ के अनेक उद्धरण क्षीरतरङ्गिणी, पुरुषकार और *निघण्टुव्याख्या* आदि में उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—क्षीरस्वामी **'श्रथि शैथिल्ये'** धातुसूत्र के व्याख्यान में लिखता है—

शश्रन्थे······**इदित्त्वादनुनासिकलोपाभावः । श्रेथे इति तूदाहरन् वृत्तिकृद् भ्रान्तः।** क्षीरत० १।२६१॥

अर्थात्—**शश्रन्थे** में धातु के इदित् होने से नकार का लोप नहीं होता । श्रेथे ऐसा उदाहरण देता हुआ **वृत्तिकृद् भ्रान्त** हुआ है ।

वृत्तिकृद्=**धातुवृत्तिकार**—'वृत्तिकृद्' तथा 'वृत्तिकार' शब्द प्रायः काशिकावृत्ति के रचयिताओं के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु यहां वृत्तिकृद् पद किसी धातुवृत्ति के रचयिता का बोधक है । सायणाचार्य ने क्षीरस्वामी के उपर्युक्त पाठ को उद्धृत करके लिखा है—

अत्र तरङ्गिणी—इदित्त्वादनुनासिकलोपाभावात् श्रेथे ग्रेथे इत्युदाहरन् वृत्तिकारो भ्रान्त इति । अत्र वृत्तिकारो धातुवृत्तिकृदुच्यते।

धातुवृत्ति पृष्ठ ४६ ।

२—देवराज यज्वा निघण्टु १।१।३ की व्याख्या में लिखता है—

अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु, म्रक्षणं सेचनमिति तद्वृत्तिः ।

अर्थात्—**म्रक्षण** का अर्थ **सेचन** है, ऐसा वृत्ति का मत है ।

इन उद्धरणों में स्मृत धातुवृत्तिकार अथवा धातुवृत्ति भीमसेन अथवा उसकी धातुवृत्ति ग्रन्थ न हो, तो क्षीरस्वामी से पूर्ववर्ती किसी अन्य वैयाकरण ने पाणिनीय धातुपाठ पर लिखी थी, ऐसा निःसंशय कहा जा सकता है ।

६—नन्दिस्वामी

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में बहुत्र नन्दी के धातुपाठ विषयक पाठ उद्धृत किए हैं । क्षीरतरङ्गिणी धातुसूत्र १।२२६ (पृष्ठ ५६) में नन्दीस्वामिनी पाठ मिलता है । इसका पाठान्तर '**नन्दीस्वामी**' भी है । दैव-व्याख्यान पुरुषकार (पृष्ठ ४६) में सुधाकर का जो पाठ उद्धृत है, उसमें '**नन्दिस्वामी**' का भी निर्देश है ।

यह नन्दिस्वामी यदि जैनेन्द्रव्याकरणप्रवक्ता देवनन्दी से भिन्न व्यक्ति हो, जैसा कि 'स्वामी' विशेषण से ज्ञात होता है तब निश्चय ही यह पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता हो सकता है; अन्यथा सन्दिग्ध है ।

७—राजश्री-धातुवृत्तिकार (१२१५ वि० पू०)

सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व भाग १ पृष्ठ १५३ पर राजश्री-धातुवृत्ति का एक पाठ उद्धृत किया है—

दीर्घत्वे सूक्षर्णमिति राजश्रीधातुवृत्तिः ।

इस राजश्री-धातुवृत्ति का लेखक कौन था, यह अज्ञात है। सम्भव है लेखक का नाम राजश्री हो। यह धातुवृत्ति क्षीरस्वामी से पूर्वभावी है अथवा उत्तरवर्ती, यह अज्ञात है।

८—नाथीय धातुवृत्ति (१२१५ वि० पू०)

सर्वानन्द ने अमरटीका सर्वस्व २।६।१०० में लिखा है—

नाथीयधातुवृत्तावपि कोषवन्मूर्धन्यषत्वं तालव्यत्वं चोक्तम् ।

भाग २, पृष्ठ ३६० ।

इस नाथीय धातुवृत्ति के लेखक का नाम अज्ञात है। इस का सम्बन्ध किस व्याकरण के साथ है, यह भी अज्ञात है।

रमानाथ-विरचित कातन्त्र धातुवृत्ति का वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। पदैकदेश न्याय से रमानाथविरचित धातुवृत्ति भी नाथीय नाम से व्यवहृत हो सकती है, परन्तु रमानाथ का काल १५९३ विक्रम सं० है, यह हम उसी कातन्त्र धातुपाठ के प्रकरण में लिखेंगे। अतः इस धातुवृत्ति का रमानाथ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

सरस्वतीकण्ठाभरण के टीकाकार दण्डनाथ को प्रक्रियासर्वस्वकार प्रायः 'नाथ' नाम से उद्धृत करता है।[1] अतः यह वृत्ति दण्डनाथ की हो सकती है। इस अवस्था में यह सरस्वतीकण्ठाभरण से सम्बद्ध धातुपाठ की मानी जा सकती है।

९—कौशिक (१०५० वि० पू०)

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में अनेक स्थानों पर कौशिक नाम से किसी धातुपाठ के वृत्तिकार के मत उद्धृत किये हैं। उद्धरणों से यही प्रतीत होती है कि कौशिक की वृत्ति पाणिनीय धातुपाठ पर लिखी गई होगी। क्षीरतरङ्गिणी से उत्तरवर्ती वृत्तिकारों ने भी इस के अनेक मत स्व-स्व ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं।

इससे अधिक हम इस विषय में कुछ नहीं जानते। क्षीरतरङ्गिणी

---

१. प्रक्रियासर्वस्व, मद्रास संस्क०, द्र० सूत्र ६४,२१९, ५३४,५७२, ७९५, ९९४, १०१०, १०२१, १०२३ ॥

में उद्धृत कौशिक के मतों के लिये क्षीरतरङ्गिणी के हमारे संस्करण के अन्त में पृष्ठ ३५४ देखें।

१०—क्षीरस्वामी (११०० के लगभग)

क्षीरस्वामी नामक शब्दशास्त्रनिष्णात व्यक्ति ने पाणिनीय धातु-पाठ के औदीच्य पाठ पर क्षीरतरङ्गिणी नाम का एक वृत्तिग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ को प्रथमवार प्रकाश में लाने का श्रेय जर्मन विद्वान् लिबिश को है। उसने इस ग्रन्थ को रोमन अक्षरों में प्रकाशित किया था। उसके चिरकाल से उत्सन्न हो जाने पर उसी के आधार पर इसका एक संस्करण हमने प्रकाशित किया है। यह रामलाल कपूर ट्रस्ट (बहालगढ़) की ग्रन्थमाला में छपा है।

परिचय

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोशोद्घाटन में अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। अतः इस महावैयाकरण का वृत्तान्त सर्वथा अज्ञात है।

पितृनाम—क्षीरतरङ्गिणी में भ्वादि और अदादि गण के अन्त में

भट्टेश्वरस्वामिपुत्रक्षीरस्वाम्युत्प्रेक्षितायां.........।

पाठ उपलब्ध है। इससे विदित होता है कि क्षीरस्वामी के पिता का नाम **भट्ट ईश्वरस्वामी** था।

शाखा—क्षीरस्वामी ने **यज** धातु की व्याख्या में लिखा है—

यजुः काठकम् । १।७२६॥

एकसौ एक शाखावाले यजुर्वेद में यजुः के उदाहरण-प्रसंग में **काठक** नाम का उल्लेख करना सूचित करता है कि क्षीरस्वामी सम्भवतः काठक शाखाध्येता था।

देश—क्षीरस्वामी ने अपने जन्म से भारत के किस प्रान्त, नगर वा ग्राम को अलङ्कृत किया, इसका कुछ भी साक्षात् परिचय नहीं मिलता। क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोश के आरम्भ में **वाग्देवी** की प्रशंसा करने से तथा क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में दृश्यमान श्लोक[1] से

---

१. काश्मीरमण्डलभुवं जयसिंहनाम्नि विश्वम्भरापरिवृढे दृढदीर्घदोष्णि।
शासत्यमात्यवरसूनुरिमां लिलेख भक्त्या द्रविणवानपि धातुपाठम्॥

प्रतीत होता है कि क्षीरस्वामी संभवतः कश्मीर प्रदेश का निवासी था। क्षीरस्वामी का कठशाखाध्यायी होना भी इस अनुमान का पोषक है। प्राचीन काल में कठशाखाध्येता ब्राह्मण कश्मीर में ही निवास करते थे।

काल—क्षीरस्वामी किस काल में हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तथापि उसके काल के परिच्छेदक निम्न प्रमाण हैं—

१—एक क्षीर नामक शब्दविद्योपाध्याय कवि कल्हण कृत राजतरङ्गिणी में स्मृत है—

'देशान्तरादागमय्याथ व्याचक्षाणान् क्षमापतिः ।
प्रावर्तयद् विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले ॥
क्षीराभिधानाच्छब्दविद्योपाध्यायात् सम्भृतश्रुतः ।
बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीडपण्डितः ॥४।४८८,४८९॥

अर्थात्—जयापीड नृपति ने देशान्तर से क्षीरसंज्ञक शब्दविद्योपाध्याय को बुलाकर अपने मण्डल (कश्मीर) में विच्छिन्न महाभाष्य को पुनः प्रवृत्त किया।

कश्मीर-नृपति जयापीड का राज्यकाल वि० सं० ८०८-८३९ पर्यन्त माना जाता है। क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोश की टीका में श्रीभोज और उसके सरस्वतीकण्ठाभरण को बहुधा उद्धृत किया है। भोज का काल सं० १०७५-१११० है। यजुर्वेदभाष्य में उव्वट ने भी भोजे प्रशासति लिखा है। उव्वट यजुः २५।८ में क्षीरस्वामी को उद्धृत करता है।[1]

अतः क्षीरस्वामी का काल सं० ११०० लगभग के होना चाहिये। इसलिए यह क्षीरस्वामी कल्हण द्वारा स्मृत क्षीरसंज्ञक वैयाकरण से भिन्न है, यह स्पष्ट है।

२—वर्धमान ने वि० संवत् ११९७ में स्वविरचित गणरत्न-महोदधि में क्षीरस्वामी को दो वार उद्धृत किया है—

(क) ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रादीनि वेत्ति ज्यौतिषिक इति वामनक्षीरस्वामिनौ। ४।३०३, पृष्ठ १८३॥

१. देखो आगे पृष्ठ ९७ पर संख्या ६ का सन्दर्भ।

इसका पाठान्तर इस प्रकार है—

'ज्योतींषि ग्रहादीनधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्यौतिषः. ज्यौतिषं वेद ज्यौतिषिकः ।' द्र०—पृष्ठ १८३, टि० २।

इनमें पाठान्तर में निर्दिष्ट पाठ क्षीरस्वामी की अमरकोश-व्याख्या (२।८।१४) से अक्षरशः मिलता है।

(ख) क्षीरस्वामिना मार्ष मारिष इत्यपि, यथा पर्षत् परिषदिति टीकायां विवृतम्। ७।४३०, पृष्ठ २३८ ॥

इसका पाठान्तर इस प्रकार है—

'मर्षणात् सहनात् मारिषः । मार्षोऽपि । यथा परिषत् [पर्षत्] द्र०—पृष्ठ ३८, टि० २।

इनमें भी पाठान्तर में निर्दिष्ट पाठ क्षीरस्वामी को अमरटीका में मारिष पद के व्याख्यान में उपलब्ध होता है।

गणरत्न-महोदधि के मुद्रित संस्करणों की भ्रष्टता—उपर्युक्त उद्धरणों की तुलना से स्पष्ट है कि गणरत्न-महोदधि का योरोपीय और उसके आधार पर छपा भारतीय. दोनों संस्करण अत्यन्त भ्रष्ट हैं। गणरत्न-महोदधि जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के शुद्ध संस्करण की महती आवश्यकता है। इस समय इसका कोई भी संस्करण सुप्राप्य नहीं है। कुछ वर्ष हुए योरोपीय संस्करण पुनः छपा है।

३—आचार्य हेमचन्द्र (वि० सं० ११४५-१२२९) ने हैम अभिधान की स्वोपज्ञ चिन्तामणि व्याख्या में क्षीरस्वामी के निम्न पाठ उद्धृत किये हैं—

(क) क्षीरस्वामी नु—**'काष्ठमुपलक्षणम्, काष्ठाऽश्मादिमयी जलधारिणी द्रोणी इति व्याचख्यौ ।'** ३।५४१, पृष्ठ ३५० ॥

क्षीरस्वामी का यह पाठ उसकी अमरकोश १।९।११ की व्याख्या (पृष्ठ ६३) में उपलब्ध होता है।

(ख) **'हिलजलापभ्रंशो हिज्जलः'** इति क्षीरस्वामी । ४।२११, पृष्ठ ४६१ ॥

क्षीरस्वामी का यह पाठ उसकी अमरकोश २।४।६१ की व्याख्या (पृष्ठ ६३) में उपलब्ध होता है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि क्षीरस्वामी आचार्य हेमचन्द्र से पूर्ववर्ती है।

क्षीरतरङ्गिणी के उपोद्घात (पृष्ठ ३२) में हमने श्री पं० चन्द्र-सागर सूरि के प्रमाण से क्षीरस्वामी को हैम से पूर्ववर्ती माना था। उस समय तक हमें साक्षात् ऐसा वचन उपलब्ध नहीं हुआ था, जिससे क्षीरस्वामी और हेमचन्द्राचार्य का निश्चित पौर्वापर्य परिज्ञात हो सके। अब आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा उद्धृत क्षीरस्वामी के उद्धरण से स्पष्ट हो गया है कि क्षीरस्वामी हेमचन्द्राचार्य से पूर्ववर्ती है।

४—क्षीरतरङ्गिणी के हस्तलेख के अन्त में निम्न पद्य उपलब्ध होता है—

कश्मीरभुवमण्डलं जयसिंहनाम्नि विश्वम्भरापरिवृढे दृढदीर्घदोष्णि।
शासत्यमात्यसूनुरिमां लिलेख भक्त्या स्वयं द्रविणवानपि धातुपाठम्॥

अर्थात्—कश्मीर-अधिपति जयसिंह के किसी अमात्य के पुत्र ने क्षीरतरङ्गिणी की प्रतिलिपि की थी।

उक्त श्लोक में स्मृत जयसिंह नृपति का राज्यकाल वि० सं० ११८५-११९५ तक है। इस काल के मध्य में क्षीरतरङ्गिणी की प्रतिलिपि करने से विदित होता है कि क्षीरस्वामी उक्त समय से पूर्ववर्ती है।

५—मैत्रेयरक्षित ने वि० सं० ११४० से ११६५ के मध्य अपना 'धातुप्रदीप' ग्रन्थ लिखा था, यह हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में महाभाष्य-प्रदीप के रचयिता कैयट के काल-निर्णय के प्रसंग में लिख चुके है। मैत्रेयरक्षित धातुप्रदीप में बहुत स्थानों पर **केचित्, एके, अपरे** पदों से क्षीरस्वामी के मतों का निर्देश करता है। यथा—

(क) **ऋञ्जते, ऋञ्जाञ्चक्रे ....। केचित्तु आनृञ्जे इति प्रत्युदाहरन्ति। पृष्ठ २०॥**

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी १।११० में **ऋञ्जते, आनृञ्जे** उदाहरण दिए हैं। क्षीरतरङ्गिणी १।११० (पृष्ठ ३६) की हमारी टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

(ख) **तुहिर् दुहिर् इत्येके। पृष्ठ ५२।**

इसके लिए क्षीरतरङ्गिणी १।४८७ द्रष्टव्य है।

(ग) **अपरे तु वावृतु वरणे इति परस्मिन् वाग्रहणं संबध्य धातुमेकार्थमनेकार्थं मन्यन्ते वावृतु वरणे इति वावृत्यते। ततो वावृत्यमाना सा रामशालां न्यविक्षतेति।** पृष्ठ ९३ ॥

क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिणी ४।४९ में लिखता है—

'वावृतु वरणे। वावृत्यते। ततो वावृत्यमाना सा रामशालामविक्षतेति भट्टिः (४।२८)।'

यहां निश्चय ही मैत्रेय अपरे पद से क्षीरस्वामी का ही निर्देश करता है।

(घ) **प्रीतिचलनयोरित्येके।** पृष्ठ १०३।

क्षीरतरङ्गिणी का मुद्रित पाठ **'स्मृ प्रीतिबलनयोः। बलनं जीवनम्'** (पृष्ठ २२८) है, तथापि क्षीरस्वामी का स्वपाठ **प्रीतिचलनयोः चलनं जीवनम्** ही था, यह माधवीया धातुवृत्ति पृष्ठ ३१८ के निम्न पाठ से व्यक्त है—

'प्रीतिचलनयोरित्यन्ये। चलनं जीवनमिति स्वामी।'

(ङ) **ण्वादयस्त्वागणान्ताः। तेषामपि समाप्त्यर्थमत्र वृत्करणमित्येके।** पृष्ठ १२७॥

यह संकेत भी क्षीरतरङ्गिणी ९।३३ के **'वृत्—ण्वादयः ण्वादयश्च वर्तिताः'** पाठ की ओर है।

(च) **भासार्था इत्येके भासार्था दीप्त्यर्थाः।** पृष्ठ १४४।

यद्यपि सम्प्रति क्षीरतरङ्गिणी १०।१९७ में **भासार्था दीप्त्यर्थाः** पाठ नहीं मिलता, पुनरपि सायण के काल में यह पाठ क्षीरतरङ्गिणी में विद्यमान था। सायण लिखता है—

'तथा च क्षीरस्वामी—भासा दीप्तिरर्थो येषां ते भासार्थाः इति। धातुवृत्ति पृष्ठ ३९३॥

(छ) पुरुषकार कृष्ण लीलाशुक मुनि लिखता है—

तथा च मैत्रेयरक्षितः स्वादिगणे 'तृप प्रीणने' इत्यस्यानन्तरं पठ्यमानं 'छन्दसि' इत्येतद् व्याचक्षाणः छन्दसीत्यागणपरिसमाप्तेरधिक्रियते इति क्षीरस्वामिवद् उक्त्वा……। पुरुषकार पृष्ठ २१।

इन कतिपय उद्धरणों से व्यक्त है कि क्षीरस्वामी मैत्रेयरक्षित से प्राचीन है।

६—क्षीरस्वामी क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोशटीका में श्रीभोज और उसके सरस्वतीकण्ठाभरण को बहुधा उद्धृत करता है। भोज का काल सं० १०७५–१११० है। यजुर्वेद का भाष्य उवट ने भोज के राज्यकाल में उज्जैन में रहते हुए लिखा है—

ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन्।
मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति॥ भाष्यान्ते।

उवट यजुः २५।८ के भाष्य में क्षीरस्वामी-विरचित अमरकोश २।६।६५ की टीका को उद्धृत करता है—

हृदयस्य दक्षिणे यकृत् वलोम वामे प्लीहा पुप्फुसश्चेति वैद्यः (?, वैद्याः) इति क्षीरस्वामी।

इस उद्धरण से स्पष्ट है क्षीरस्वामी निश्चित ही वि० सं० १११० से पूर्ववर्ती है।

क्षीरस्वामी स्वीकृत धातुपाठ

कश्मीर-वास्तव्य क्षीरस्वामी ने पाणिनीय धातुपाठ के औदीच्य पाठ पर अपनी वृत्ति लिखी है, यह हम पूर्व (पृष्ठ ६६) लिख चुके हैं।

क्षीरस्वामी द्वारा पाणिनीय धातुपाठ का सम्पादन—पूर्व पृष्ठ ९२ पर **'भट्टयज्ञेश्वरस्वामिपुत्रक्षीरस्वाम्युत्प्रेक्षितायां……'** पाठ उद्धृत किया है। भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध-प्रतिष्ठान में सुरक्षित शारदा लिपि में लिखे गये क्षीरतरङ्गिणी के हस्तलेखों के अन्त में इस प्रकार पाठ मिलता है—

क्षीरस्वाम्युत्प्रेक्षितधातुपाठे क्षीरतरङ्गिण्यां चुरादिगणः सम्पूर्णः।[1]

इससे विदित होता है कि क्षीरस्वामी ने पाणिनीय धातुपाठ का अपनी दृष्टि से सम्पादन भी किया था।

क्षीरतरङ्गिणी का हमारा संस्करण

जर्मन विद्वान् लिबिश ने क्षीरतरङ्गिणी का रोमन अक्षरों में जो

---

१. द्र० हस्तलेख सूचीपत्र, सन् १९३८, संख्या २२६,२२७। १८७५-७६।

संस्करण प्रकाशित किया था, वह उसके महान् परिश्रम का फल था, इस में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। हमारे संस्करण का मूल आधार यद्यपि लिबिश का संस्करण ही था, पुनरपि हमने व्याकरण के समस्त उपलब्ध वाङ्मय में उद्धृत क्षीरतरङ्गिणी के पाठों का संग्रह करके उनके प्रकाश में अपने संस्करण का सम्पादन किया है। प्रतिपृष्ठ व्याकरण आदि विविध शास्त्रसंबद्ध अनेक टिप्पणियां दी हैं। हमारे संस्करण में जर्मन संस्करण की अपेक्षा २६ प्रकार का वैशिष्टय है। यह सब हमारे संस्करण तथा उसके उपोद्घात पृष्ठ ४३–४७ के अवलोकन से ही भले प्रकार ज्ञात हो सकता है।

नये संस्करण की आवश्यकता—क्षीरतरङ्गिणी के ३-४ हस्तलेख प्राचीन शारदा लिपि में लिखे हुए भण्डारकर प्राच्य-शोध प्रतिष्ठान, पूना के संग्रह में विद्यमान हैं। उनके साहाय्य से इसका पुनः सम्पादन होना चाहिये। हमें प्राचीन शारदा लिपि जाननेवाला व्यक्ति उपलब्ध नहीं हुआ। अतः हम चाहते हुए भी उक्त हस्तलेखों की सहायता से क्षीरतरङ्गिणी का पुनः सम्पादन नहीं कर सके।

क्षीरस्वामी के अन्य ग्रन्थ

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी के अतिरिक्त पांच ग्रन्थ और लिखे थे। वह क्षीरतरङ्गिणी के आरम्भ में लिखता है—

'न्याय्ये वर्त्मनि वर्तनाय भवतां षड् वृत्तयः कल्पिताः।'

यही बात अमरकोश की व्याख्या के आदि में भी कही है। क्षीरतरङ्गिणी के अतिरिक्त चार अन्य वृत्तियों के नाम इस प्रकार हैं—

१—अमरकोषोद्घाटनम्—यह ग्रन्थ दो तीन बार प्रकाशित हो चुका है।

निघण्टु-टीका—देवराजयज्वा ने अपनी निघण्टु व्याख्या के आरम्भ में क्षीरस्वामी कृत **निघण्टुटीका**[1] को स्मरण किया है। यह निघण्टुटीका वैदिक यास्कीय निघण्टु की नहीं है। यह अमरकोश का 'उद्घाटन' टीका ही है, क्योंकि देवराज यज्वा द्वारा निघण्टु टीका में

१. क्षीरस्वाम्यनन्ताचार्यादिकृतां निघण्टुव्याख्याम्। पृष्ठ ४॥

स्मृत क्षीरस्वामी के ३२ उद्धरणों में से ३० उद्धरण क्षीरस्वामी की अमरटीका में उपलब्ध होते हैं।[1] अवशिष्ट दो उद्धरणों में से एक उद्धरण **शब्दनं शब्दः** (निघण्ट टीका १।११।३२) क्षीरतरङ्गिणी १।७२७ के व्याख्यान में उपलब्ध होता है। देखिए क्षीरतरङ्गिणी के पृष्ठ १५८ की टिप्पणी में निर्दिष्ट '**शब्दः शब्दनम्**' पाठ। इस प्रकार अब एक ही उद्धरण ऐसा है, जो अभी अज्ञात है, वह भी सम्भव है कुछ पाठभेद से क्षीरतरङ्गिणी में ही हो।

यतः लोक में कोशग्रन्थों के लिए भी निघण्टु शब्द का भी व्यवहार होता है,[2] अतः देवराज के 'निघण्टु-व्याख्या' पद से वैदिक निघण्टु व्याख्या की कल्पना करना ठीक नहीं है, जब कि क्षीरस्वामी के ३२ उद्धरणों में से ३० उद्धरण उसकी अमरकोश की व्याख्या में उपलब्ध हो चुके हों।

२—**निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति**—इसका एक हस्तलेख अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसका क्रमाङ्क ४८७ है। यह हस्तलेख **तिलक-नाम्नी** व्याख्या सहित है। हस्तलेख के अन्त में लिखा है—

'भट्टक्षीरस्वाम्युत्प्रेक्षितनिपाताव्ययोपसर्गीये तिलककृता वृत्तिः संपूर्णेति। भद्रं पश्येम प्रचरेम भद्रम्......।'

यह वृत्ति अप्पलसोमेश्वर शर्मा P. O. L. द्वारा सम्पादित, वेङ्कटेश्वर प्राच्यग्रन्थावली संख्या २८ में तिरुपति से १९५१ में प्रकाशित हो चुकी है। इस संस्करण का हस्तलेख सन् १९११ में श्रीपरवस्तु वेङ्कट रङ्गनाथस्वामी द्वारा लिखित है। अडियार के हस्तलेख और तिरुपति से मुद्रित हस्तलेख के अन्त का पाठ समान होने से

---

१. पं० भगवद्दत्तकृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' वेदों के भाष्यकार पृष्ठ २०८, २०९॥

२. इस बात को न समझकर मैकडानल ने षड्गुरुशिष्य की सर्वानुक्रमणी की व्याख्या में उद्धृत 'यातयामो जीर्णे भुक्तोच्छिष्टेऽपि च इति निघण्टौ' (पृष्ठ ५९) तथा 'शङ्कावितर्कभययोरिति निघण्टुः' उद्धरणों के विषय में लिखा है—कि यह यास्कीय निघण्टु में नहीं हैं। षड्गुरुशिष्य द्वारा उद्धृत दोनों वचन वैजयन्ती कोश में क्रमशः पृष्ठ २२३, २७५ पर मिलते हैं।

प्रतीत होता है कि वेङ्कट रङ्गनाथ स्वामी के हस्तलेख का आधार अडियार का हस्तलेख होगा। अथवा दोनों का कोई एक मूल आधार रहा होगा।

यह क्षीरकृत ग्रन्थ सूत्रबद्ध है, उस पर तिलक की वृत्ति है।

३—**गणवृत्ति**—यह गणपाठ की व्याख्या प्रतीत होती है। इसका हस्तलेख अभी तक अज्ञात है।

४—**अमृततरङ्गिणी**—इसका निर्देश क्षीरतरङ्गिणी में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

'कर्मयोगामृततरङ्गिण्याम्—
प्रत्ययोऽकर्मकाद् भावे कर्मणि वा स्यात् सकर्मकात्।
सकर्मकाकर्मकत्व द्रव्यकर्मनिबन्धनम्॥' १।१, पृष्ठ ७।

इस पर पाठान्तर है—

'यन्मयैवामृततरङ्गिण्यामुक्तम्—प्रत्ययो ...... बन्धनम्।'

इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि अमृततरङ्गिणी का दूसरा नाम **कर्मयोगामृततरङ्गिणी** भी है। यह ग्रन्थ व्याकरणशास्त्र-सम्बन्धी प्रतीत होता है।

ऐसी अवस्था में क्षीरस्वामी की शेष एक वृत्ति किस ग्रन्थ पर थी, यह अज्ञात है।

क्षीरस्वामी का अन्य ग्रन्थ

नाट्यदर्पण पृष्ठ १५५ (बड़ोदा सं०) में निम्न पाठ है—

यथा क्षीरस्वामिविरचितेऽभिनवराघवे—
स्थापकः—(सहर्षम्) आर्ये चिरस्य स्मृतम्।
अस्त्येव राघवमहोनकथापवित्रम्
काव्यं प्रबन्धघटनाप्रथितप्रथिम्नः।
भट्टेन्दुराजचरणाब्जमनुव्रतस्य
क्षीरस्य नाटकमनन्यसमानसारम्॥

यह क्षीरस्वामी पूर्वनिर्दिष्ट क्षीर से भिन्न है अथवा अभिन्न, यह अज्ञात है। यदि उपर्युक्त श्लोक में स्मृत भट्ट इन्दुराज ही क्षीर-स्वामी द्वारा क्षीरतरङ्गिणी (पृष्ठ ७) में स्मृत भट्ट शशाङ्कधर है,

तब तो निश्चय ही दोनों एक हैं, और इसी क्षीरस्वामी का अभिनव-राघव नाटक है, ऐसा मानना पड़ेगा।

९. मैत्रेयरक्षित (११४०–११६५ वि०)

मैत्रेयरक्षित नाम के बौद्ध विद्वान् ने धातुपाठ पर धातुप्रदीप नाम की एक लघुवृत्ति रची। यह वृत्ति वारेन्द्र रिसर्च सोसइटी राजशाही बङ्गाल से प्रकाशित हो चुकी है।

परिचय

मैत्रेयरक्षित ने किस कुल में, किस देश वा नगर में और किस काल में जन्म किया, यह अज्ञात है।

सम्भवतः बंगवासी—धातुप्रदीप में अनेक स्थानों पर धातुओं के आरम्भ में दन्त्योष्ठ्य वकार होने से **न शसददवादिगुणानाम्** (अष्टा० ६।४।१२६) सूत्र से एत्व और अभ्यासलोप का साक्षात् प्रतिषेध प्राप्त होने पर भी चन्द्राचार्य की सम्मति से एत्व और अभ्यासलोप को उदाहृत किया है। यथा—

(क) **वज व्रज गतौ** (१।२४९, २५०)········ **एत्वाभ्यासलोप-प्रतिषेधश्चास्य चान्द्रैरुदाहृतः, ववाज ववजतुः**·········। पृष्ठ २५॥

(ख) **ष्टन वन शब्दे** (१।४६०, ४६१)······**ववान ववनतुः। अस्य एत्वाभ्यासलोपतिषेधश्चान्द्रैरुदाहृतः**। पृष्ठ ३७॥

साक्षात् पाणिनि के सूत्र से एत्वाभ्यासलोप का निषेध प्राप्त होने पर भी चन्द्राचार्य के मत का आश्रय लेना, इस बात प्रमाण है कि मैत्रेयरक्षित को दन्त्योष्ठ्य **व** और ओष्ठ्य **ब** में साक्षात् भेदपरिज्ञान नहीं था। **व ब** के समान उच्चारण दोष के कारण बाङ्ग विद्वान् इनके भेदग्रह में प्रायः मोहित होते हैं। इसी मोह के कारण मैत्रेयरक्षित ने भी साक्षात् पाणिनीय नियम का आश्रयण न करके चान्द्र मत का आश्रयण किया। अतः प्रतीत होता है कि मैत्रेयरक्षित सम्भवतः बङ्गदेशवासी था। चन्द्राचार्य भी बंगदेशीय था, यह हम प्रथम भाग में चान्द्र व्याकरण के प्रसंग में लिख चुके हैं।

काल—मैत्रेयरक्षित का ग्रन्थलेखनकाल वि० सं० ११४०-११६५ के मध्य में रहा होगा, यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में महाभाष्य-प्रदीप के रचयिता कैयट के प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं।

विद्वत्ता—मैत्रेयरक्षित व्याकरणशास्त्र का असाधारण विद्वान् था। इसने न्यास पर 'तन्त्रप्रदीप' नाम्नी जो विपुल व्याख्या रची है, उससे इसकी असाधारण विद्वत्ता का परिचय अनायास प्राप्त होता है। मैत्रेयरक्षित ने धातुप्रदीप के अन्त में स्वयं भी कहा है—

वृत्तिन्यासं समुद्दिश्य कृतवान् ग्रन्थविस्तरम्।
नाम्ना तन्त्रप्रदीपं यो विवृतास्तेन धातवः ॥१॥

आकृष्य भाष्यजलधेरथ धातुनामपारायणक्षपणपाणिनिशास्त्रवेदी।
कालापचान्द्रमततत्त्वविभागदक्षो धातुप्रदीपमकरोज्जगतो हिताय ॥२॥

अर्थात्—जिसने वृत्ति (काशिका) पर लिखे गए न्यास को उद्देश्य करके भाष्यरूपी समुद्र से [शास्त्र-तत्त्व को] निकाल कर तन्त्रप्रदीप नामक विस्तृत ग्रन्थ रचा, उसने धातुओं का व्याख्यान किया है। धातुपारायण, नामपारायण क्षपणक और पाणिनीय शास्त्र के जानने वाले, कालाप तथा चान्द्रमत के तत्त्वविभाग में दक्ष [मैत्रेय ने] जगत् के हित के लिए धातुप्रदीप ग्रन्थ बनाया।

परिभाषावृत्तिकार सीरदेव ने भी लिखा है—

'**तस्माद् बोद्धव्योऽयं रक्षितः, बोद्धव्याश्च विस्तरा एव रक्षित-ग्रन्था विद्यन्ते।**' पृष्ठ ९५, परिभाषा-संग्रह, पूना, पृष्ठ २१५।

अन्य ग्रन्थ—मैत्रेयरक्षित ने धातुप्रदीप के अतिरिक्त न्यास पर तन्त्रप्रदीप नाम्नी विस्तृत व्याख्या लिखी है। इसके विषय में हम पूर्व 'काशिका के व्याख्याता' प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं। इसके अतिरिक्त मैत्रेय ने कदाचित् महाभाष्य का भी व्याख्यान किया था। इसके लिए इसी ग्रन्थ का प्रथम भाग में 'महाभाष्य के टीकाकार' प्रकरण देखें।

धातुप्रदीप-टीकाकार

किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने मैत्रेयरक्षित विरचित धातुप्रदीप पर कोई टीका ग्रन्थ लिखा था। इस टीका के कई उद्धरण सर्वानन्द ने अमरकोश की टीकासर्वस्वव्याख्या में दिए हैं। सर्वानन्द का टीका-सर्वस्व लिखने का काल वि० सं० १२१६ है। अतः धातुप्रदीपटीका का रचनाकाल वि० सं० ११९०-१२१५ के मध्य होना चाहिए।

११ हरियोगी (१२०० वि० लगभग)

हरियोगी नामक किसी विद्वान् ने पाणिनीय धातुपाठ पर **शाब्दिकाभरण** नामक एक व्याख्या लिखी है। इसका हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेखसंग्रह में विद्यमान है (सूचीपत्र भाग ५, खण्ड १A, संख्या ४३१४, पृष्ठ ६३४५)। इसका दूसरा हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम के राजकीय पुस्तकालय में है (सूचीपत्र भाग १, संख्या ६५, सन् १९१२)।

परिचय—हरियोगी का वंशादिवृत्त अज्ञात है। मद्रास राजकीय पुस्तकाल के पूर्वनिर्दिष्ट हस्तलेख के अन्त में—

'इति हरियोगिनः प्रोलनाचार्यस्य कृतौ शाब्दिकाभरणे शब्विकरण भूवादयो धातवः समाप्ताः ।'

पाठ उपलब्ध होता है। इसमें हरियोगी के पिता का नाम **प्रोलनाचार्य** लिखा है।

मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग २ खण्ड १A, संख्या १२८९, पृष्ठ १६१७ पर इसका एक हस्तलेख और निर्दिष्ट है। उसके अन्त में—

'इति हरियोगिनः शैलवाचार्यस्य कृतौ शाब्दिकाभरणे धातुप्रत्ययपञ्जिकायां सौत्रधातवः समाप्ताः।'

पाठ मिलता है। इन पाठ में पिता का नाम शैलवाचार्य लिखा है। अतः द्विविध पाठ की उपलब्धि के कारण हरियोगी के पिता का नाम क्या था, यह निश्चय रूप से कहना अशक्य है।

काल—हरियोगी के ग्रन्थ का अवलोकन न करने से इसके काल आदि के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। कृष्ण लीलाशुकमुनि-विरचित दैव-व्याख्यान पुरुषकार में हरियोगी का निम्न स्थानों में उल्लेख मिलता है—

१—**ध्मातेरनुकरणमिति हरियोगी**। पृष्ठ १९॥

२—**हरियोगी तु अत्र 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इत्येतदनादृत्य क्षेणोतीत्युदाहार्षीत्**। पृष्ठ २१॥

३—**धनपालहरियोगिपूर्णचन्द्रास्तु दरतीत्येवाहुः**। पृष्ठ ३७॥

४—रुट लुट इति हरियोगी। पृष्ठ ५८॥

इन उद्धरणों से व्यक्त है कि हरियोगी पुरुषकार कृष्ण लीलाशुक मुनि से पूर्ववर्ती है। कृष्ण लीलाशुक मुनि का काल वि० सं० १२५० के लगभग है, यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में भोजीय सरस्वती-कण्ठाभरण के प्रकरण में तथा क्षीरतरङ्गिणी के उपोद्घात पृष्ठ ३७ पर लिख चुके हैं। अतः हरियोगी का काल समान्यतया सं० १२०० विक्रम के लगभग माना जा सकता है।

धातुप्रत्यय-पञ्जिका—मद्रास के द्वितीय हस्तलेख का जो पाठ पूर्व उद्धृत किया है, उसमें **शाब्दिकाभरण** के साथ **धातुप्रत्ययपञ्जिका** नाम भी निर्दिष्ट है। इससे प्रतीत होता है कि शाब्दिकाभरण का नामान्तर 'धातुप्रत्ययपञ्जिका' भी है। अथवा यह भी संभव है कि शाब्दिकाभरण विस्तृत ग्रन्थ हो, उसमें सूत्रपाठ और खिलपाठ सभी का व्याख्यान हो, और तदन्तर्गत धातुप्रकरण की व्याख्या का अपरनाम धातुप्रत्ययपञ्जिका रहा हो।

अन्य धातुप्रत्यय-पञ्जिका—तञ्जौर के हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग १० संख्या ५७१९–५८२३ तक (पृष्ठ ४३३८–४२) धातु-प्रत्ययपञ्जिका के पांच हस्तलेख निर्दिष्ट हैं। इनके रचयिता का नाम धर्मकीर्ति लिखा है। एक धर्मकीर्ति रूपावतार नामक व्याकरण ग्रन्थ का लेखक है। उसका उल्लेख हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'प्रक्रिया-ग्रन्थकार' प्रकरण में कर चुके हैं। इस धातुप्रत्ययपञ्जिका का लेकक रूपावतारकृद् धर्मकीर्ति ही है, अथवा उससे भिन्न व्यक्ति है, यह अज्ञात है।

१२. देव (सं० ११५०–१२००)

देव नाम के किसी विद्वान् ने पाणिनीय धातुपाठ-विषयक 'दैव' संज्ञक एक श्लोकात्मक ग्रन्थ बनाया। इस ग्रन्थ में समानरूप वाली अनेक गणों में पठित धातुओं को विभिन्न गणों में पढ़ने का क्या प्रयोजन है, इस विषय पर विचार किया है। ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है—

'इत्यनेकविकरणसरूपधातुव्याख्यानं देवनाम्ना विदुषा विरचितं दैवं समाप्तम्।'

अर्थात् देवनामक विद्वान् द्वारा अनेक विकरणों वाली सरूप धातुओं का दैव नामक व्याख्यान समाप्त हुआ।

यह ग्रन्थ श्लोकात्मक है। इसमें २०० श्लोक हैं।

परिचय

देव नामक विद्वान् ने किस देश वा नगर अथवा किस काल में जन्म लिया था, यह अज्ञात है। दैव ग्रन्थ के सम्पादक गणपति शास्त्री ने देव का काल खीस्ताब्द की नवम शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के मध्य माना है। हमारा अनुमान है कि देव ने विक्रम की बारहवीं शती के अन्तिम चरण में 'दैव' ग्रन्थ लिखा था। हमारे इस अनुमान में निम्न हेतु हैं—

१—क्षीरस्वामी ने 'दैव' ग्रन्थ अथवा उसके ग्रन्थकार को कहीं स्मरण नहीं किया। क्षीरस्वामी का काल वि० सं० ११६५ पर्यन्त है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

२—दैव के व्याख्याता कृष्ण लीलाशुक मुनि ने ऐसा निर्देश किया है, जिससे विदित होता है कि देव मैत्रेयरक्षित का अनुसरण करता है। यथा—

(क) **देवेन तु 'ष्टै वेष्टने स्तायति तिष्टापयति' इति मैत्रेयरक्षितोक्ततकारविस्रम्भात्नायमनुसृतः** । पृष्ठ २० ॥[1]

(ख) **देवेन तु मैत्रेयरक्षितविस्रम्भादेतदुक्तम्** । पृष्ठ २५ ॥

(ग) **आप्लृ लम्भने इत्यत्र मैत्रेयरक्षितेन आपयत इत्यात्मनेपदमप्युदाहृतम्[2] उपलभ्यते। दैववशात्तु तस्यापि नेतदस्तीति प्रतीयते। तदनुसारेण हि प्रायेण देवः प्रवर्तमानो दृश्यते**। पृष्ठ ८८ ॥

इनसे स्पष्ट है कि देव मैत्रेयरक्षित से उत्तरकालीन हैं। इसलिए देव का काल सामान्यरूप से ११५०–१२०० के मध्य ही माना जा सकता है।

---

१. दैव पुरुषकार की यहां उद्ध्रियमाण पृष्ठ संख्या हमारे संस्करण की है।

२. मुद्रित धातुप्रदीप (पृष्ठ १४६) में आत्मनेपद उपलब्ध नहीं होता। सम्भव है पाठभ्रंश हो गया हो। सायण ने भी धातुवृत्ति (पृष्ठ ३२६) में लिखा है—'मैत्रेयेणापयत इत्यात्मनेपदमपि दर्शितम्।'

१३. कृष्ण लीलाशुक मुनि (सं० १२२५-१३०० वि०)

कृष्ण लीलाशुक मुनि ने देव-विरचित दैव ग्रन्थ पर **पुरुषकार**-संज्ञक वार्तिक लिखा है। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

'कृष्णलीलाशुकेनैव कीर्तितं दैववार्तिकम्।'

कृष्ण लीलाशुक मुनि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में भोजीय व्याकरण के प्रसंग में तथा क्षीरतरङ्गिणी के उपोद्घात पृष्ठ ३७, ३८, पर विस्तार से लिख चुके हैं. अतः यहां पुनः नहीं लिखते।

'दैव' पर कृष्ण लीलाशुक मुनि द्वारा लिखित 'पुरुषकार वार्तिक' का एक सुन्दर संस्करण हमने सं० २०१९ में प्रकाशित किया है।

अन्य ग्रन्थ

१—सरस्वतीकण्ठाभरण-व्याख्या—इस ग्रन्थ के विषय में हम सं० व्या० शास्त्र का इतिहास के प्रथम भाग में भोजीय व्याकरण के प्रसंग में लिख चुके हैं।

२—सुप्पुरुषकार—सायण ने माधवीया धातुवृत्ति में सुब्धातु-व्याख्यान में पुरुषकार के नाम से एक पाठ उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है—

तदुक्तं पुरुषकारे-'बह्मतीत्युदाहृत्येष्ठनि यद् दृष्टं कार्यं तदप्यतिदिश्यते, न चेष्ठनि यिट्, नापीष्ठवद्भावश्च। यिट्सन्नियोगशिष्टत्वात् तदभावे तु भावयतीति चिन्त्यमाप्तः इति। पृष्ठ ४२८॥

यह पाठ मुद्रित दैवटीका पुरुषकार में उपलब्ध नहीं होता है। इससे प्रतीत होता है कि कृष्ण लीलाशुक मुनि ने कदाचित् सुब्धातु-व्याख्यानरूप पुरुषकार ग्रन्थ भी लिखा हो।

लीलाशुक मुनि विरचित सरस्वती-कण्ठाभरण की टीका का नाम भी पुरुषकार है। सम्भव है सायण ने उक्त उद्धरण सरस्वती-कण्ठाभरण की टीका से लिया हो। परन्तु इसमें एक विप्रतिपत्ति भी है—सायण के उद्धरण में **'न चेष्ठनि यिट्'** लिखा है। परन्तु सरस्वती-कण्ठाभरण ६।३।१६७ में इष्ठन् परे युक् का विधान किया है। यह भी सम्भव हो सकता है कि सायण ने सरस्वती-कण्ठाभरण 'युक्'

आगम के स्थान में '**यिट्**' पाठ पाणिनीय व्याकरणानुसार बदल दिया हो।

३—**केनोपनिषद्-व्याख्या**—कृष्ण लीलाशुक मुनि ने केन उपनिषद् पर **शङ्करहृदयङ्गमा** नामक एक व्याख्या लिखी थी। इसका एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख-संग्रह में विद्यमान है। उसका निर्देश सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ A के पृष्ठ ४२९७ पर है। इस हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

'**श्रीकृष्णलीलाशुकमुनिविरचितायां शङ्करहृदयङ्गमाख्यायां केनोपनिषद्व्याख्यायाम्**·······।'

४—**कृष्णलीलामृत**—यह कृष्णलीलापरक स्तोत्र ग्रन्थ है।

५—**अभिनव-कौस्तुभ-माला**।

६—**दक्षिणामूर्तिस्तव**—दैव पुरुषकार के सम्पादक गणपति शास्त्री का मत है कि ये दोनों ग्रन्थ भी कृष्ण लीलाशुक मुनि विरचित हैं। इन ग्रन्थों के भी अन्त में '**इति कृष्णलीलाशुकमुनि**········।' इत्यादि पुरुषकारसदृश ही पाठ उपलब्ध होता है।

१४. काश्यप (सं० १२५०–१३०० वि०)

माधवीया धातुवृत्ति में असकृत् काश्यपनामा वैयाकरण के धातुवृत्ति-विषयक मत उद्धृत हैं। इस से काश्यप ने कोई धातुवृत्ति रचा थी, यह स्पष्ट है। इसका निश्चित काल अज्ञात है।

इस वृत्ति के जो पाठ माधवीया धातुवृत्ति में उद्धृत हैं उन से प्रायः यही प्रतीत होता है कि किसी काश्यप ने पाणिनीय धातुपाठ पर वृत्ति लिखी थी।

आगे हम चान्द्र धातुपाठ के प्रकरण में चान्द्र धातुपाठ के वृत्तिकार **कश्यपभिक्षु** का उल्लेख करेंगे। हमारे विचार में काश्यप एक वचनान्तशब्द से उस का निर्देश नहीं हो सकता। हां, **काश्यपाः** बहुवचनान्त से निर्देश किया होता तो कश्यप के मतानुयायियों का ग्रहण सम्भव है। परन्तु सायणादि ने एकवचनान्त काश्यप शब्द का ही प्रयोग किया है।

१५. आत्रेय (सं० १२५०–१३५०)

सायणाचार्य ने अपनी माधवीया धातुवृत्ति में आत्रेय के मत बहुधा

उद्धृत किये हैं। आत्रेय ने धातुपाठ पर कोई वृत्ति ग्रन्थ लिखा था, इसका साक्षात् उल्लेख सायण ने अथर्व-भाष्य २।२८.५ में किया है। वह लिखता है—

प्रियम्—यद्यपि वृत्तौ इगुपधज्ञा० इत्यत्र प्रीणातेरेव ग्रहणं कृतं तथापि आत्रेय धातुवृत्त्यनुसारेण अस्मादपि को द्रष्टव्यः।

'**मुस खण्डने**' पर धातुवृत्ति में सायण लिखता है—

मुसलमिति अस्मादेव औणादिकः कलप्रत्यय इति वदतोरात्रेय-मैत्रेययोरन्येषां······। पृष्ठ ३०८।

आत्रेयमैत्रेयाभ्यामपि स्वादेश्छान्दसेषु पठितस्य क्षेर्धातो·········। पृष्ठ ३५६।

यहां पाणिनीय धातुपाठ के व्याख्याता मैत्रेय के साथ आत्रेय का उल्लेख होने से विदित होता है कि आत्रेय ने पाणिनीय धातुपाठ पर ही वृत्ति लिखी थी। प्रथम उद्धरण में भी पाणिनीय सूत्र और उसकी वृत्ति का निर्देश भी हमारे इस अनुमान में साधक हैं।

आत्रेय का काल—आत्रेय का काल अज्ञात है। सायण ने आत्रेय का साक्षात् उल्लेख किया है। इसलिये यह सायण (१४०० वि०) से पूर्ववर्ती है। इतना स्पष्ट है। यह इसकी उत्तर सीमा है।

सायण ने धातुवृत्ति पृष्ठ ३५८ पर आत्रेय का एक पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

अत्रात्रेयः—'कथं क्रियतीति पुरुषकारः' इत्युपादाय व्यत्ययो बहुल-मिति कर्मण्यपि परस्मैपदसिद्धे······**इत्युक्तमित्याह**।

इस उद्धरण में स्मृत 'पुरुषकार' कृष्ण लीलाशुक मुनि विरचित 'दैवम्' ग्रन्थ की पुरुषकार-वार्तिक व्याख्या नहीं है, क्योंकि उस में यह

---

१. हमने 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के पुराने संस्करण में आत्रेय को कातन्त्र धातुपाठ का वृत्तिकार लिखा था। उसकी आलोचना पं० जानकीप्रसाद द्विवेद ने अपने 'कातन्त्र व्याकरण विमर्श' नामक शोध प्रबन्ध के पृष्ठ ९६ पर की है। उसे युक्तियुक्त मानकर आत्रेय के प्रकरण को कातन्त्र धातुपाठ के प्रकरण से हटाकर हमने यहां जोड़ा है। भूल दर्शाने के लिये ग्रन्थकार का धन्यवाद।

पाठ नहीं है। भोजीय सरस्वतीकण्ठाभरण व्याकरण की व्याख्या का नाम भी पुरुषकार है। वह अभी तक अमुद्रित है। अतः उसमें उक्त पाठ है वा नहीं, यह हमें ज्ञात नहीं। यदि पुरुषकार कृष्ण लीलाशुक मुनि प्रणीत ग्रन्थ ही हो, तब आत्रेय की पूर्व सीमा वि० सं० १२२५ होगी। इस अवस्था में धातुवृत्ति के पूर्व उद्धृत **आत्रेयमैत्रेययोः, आत्रेयमैत्रेयाभ्याम्** पाठों में आत्रेय का पूर्वनिपात **अजाद्यजन्तम्** (अष्टा० २।२।३३) नियम से जानना चाहिए, न कि काल के पौर्वापर्य से।

माधवीया धातुवृत्ति में एक पाठ है—

अत्र केचिदसंयोगादि तीभ इति दीर्घान्तं चतुर्थमपि पठन्ति इत्यात्रेयः। पृष्ठ २८५।

इस उद्धरण की क्षीरतरङ्गिणी के **तिम तिम ष्टिम आर्द्रीभावे** (४।१५) सूत्र के साथ तुलना करने से प्रतीत होता है कि यहां आत्रेय **'केचित्'** पद से क्षीरस्वामी का निर्देश करता है। क्षीरस्वामी का काल १११५–११६५ वि० के मध्य है यह हम पूर्व लिख चुके हैं। यदि कथंचित् प्रमाणान्तर से यह सिद्ध हो जाये कि पूर्व उद्धरण में स्मृत पुरुषकार कृष्ण लीलाशुक मुनि का ग्रन्थ नहीं है, तो आत्रेय की पूर्व-सीमा ११६५ वि० होगी।

१४. हेलाराज (१३५० वि० से पूर्व)

हेलाराज नाम के किसी वैयाकरण ने पाणिनीय धातुपाठ पर कोई वृत्ति लिखी थी। इस वृत्तिकार का उल्लेख माधवीया धातुवृत्ति में मिलता है—

अत्र[२] स्वामी संहितायां धातुपाठाद् 'वा' शब्दमुत्तरधातुशेषं वष्टि। तन्निपातस्य वा शब्दस्य 'च' शब्दादिवत् पूर्वप्रयोगो नेति हेलाराजीयादौ समर्थनाद् अयुक्तम्। पृष्ठ २९७।

इस उद्धरण में स्मृत हेलाराज वाक्यपदीय का टीकाकार हेलाराज है वा उससे भिन्न, यह अज्ञात है। यदि यह वाक्यपदीय का टीकाकार ही होवे तो इस का काल ११वीं शती का उत्तरार्ध होगा। इस

२. 'पत गतौ वा पश अनुपसर्गात्' (क्षीर० १०।२४९-२५०) धातुसूत्रे।

विषय में निश्चय न होने से हमने हेलाराज को सायण से पूर्व रखा है।

हेलाराजीय लिङ्गानुशासन का वर्णन हम आगे २५वें अध्याय में करेंगे।

१९. सायण (सं० १३७२-१४४४ वि०)

संस्कृत वाङ्मय में सायण का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। सायण ने अपने ज्येष्ठ भ्राता माधव के नाम से पाणिनीय धातुपाठ पर एक धातुवृत्ति लिखी है। वह वैयाकरण वाङ्मय में माधवीया धातुवृत्ति अथवा केवल धातुवृत्ति नाम से प्रसिद्ध है।

संक्षिप्त परिचय

सायण ने स्वविरचित विविध ग्रन्थों में अपना परिचय दिया है। तदनुसार इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है[1]—

सायण के पिता का नाम **मायण**, माता का नाम **श्रीमती**, ज्येष्ठ भ्राता का नाम **माधव**, और कनिष्ठ का नाम **भोगनाथ** था। सायण का भारद्वाज गोत्र तैत्तिरीय संहिता और बोधायन सूत्र था। इसका जन्म वि० सं० १३७२ में और स्वर्गवास वि० सं० १४४४ में हुआ था।

सायण ने ३१ वर्ष की अवस्था में विजयनगर के महाराजा हरिहर प्रथम के अनुज कम्पण (वि० सं० १४०३–११२) का मन्त्रिपद अलंकृत किया था। तत्पश्चात् कम्पण पुत्र संगम का शिक्षक तथा मन्त्रिपद (वि० सं० १४१२–१४२०) स्वीकार किया। तदनन्तर बुक्क प्रथम (वि० सं० १४२१–१४३७) का तथा हरिहर द्वितीय (वि० सं० १४३८–१४४४) का अमात्यपद सुशोभित किया।

धातुवृत्ति का निर्माण-काल

धातुवृत्ति के आदि और अन्त के पाठों से विदित होता है कि

---

१. जो महानुभाव सायण माधव के विषय में अधिक विस्तार से जानना चाहते हैं, वे श्री पं० बलदेव उपाध्याय विरचित 'आचार्य सायण और माधव' ग्रन्थ देखें।

सायण ने संगम नृपति के राज्यकाल में धातुवृत्ति लिखी थी। तद्यथा—

आदि में—**अस्तिश्रीसंगमक्ष्मापः पृथिवीतलपुरन्दरः ।**
यत्कीर्तिमौक्तिकमादर्शे त्रिलोक्यां प्रतिबिम्बते ॥

अन्त में—**इति पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वरकम्पराजसुत-संगममहाराजमहामन्त्रिणा मायणसुतेन माधवसहोदरेण सायणाचार्येण विरचितायां धातुवृत्तौ चुरादयः सम्पूर्णाः।**

इससे विदित होता है कि धातुवृत्ति विक्रम सं० १४१२-१४२० के मध्य किसी समय लिखी गई।

धातुवृत्ति का निर्माण

सायण के नाम से जो महती ग्रन्थराशि उपलब्ध होती है, उसको निरन्तर विजयनगर राज्य के मन्त्रिपद के भार को वहन करते हुए सायण ने ही लिखा हो, यह विश्वासार्ह नहीं है। प्रतीत होता है उसने अपने निर्देश में अनेक सहायक विद्वानों के द्वारा ये ग्रन्थ लिखवाए। यही कारण है कि सायण के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर परस्पर विरोध भी उपलब्ध होता है। ऐसी अवस्था में सायण ने माधवीया धातुवृत्ति किस विद्वान् के द्वारा लिखवाई, यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है। धातुवृत्ति में दो स्थानों पर ऐसे पाठ उपलब्ध होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि धातुवृत्ति के लेखक का नाम यज्ञनारायण था। यथा—

१—'क्रमु पादविक्षेपे' सूत्र के व्याख्यान के अन्त में लिखा है—

यज्ञनारायणार्येण प्रक्रियेयं प्रपञ्चिता ।
तस्या निःशेषतस्सन्तु बोद्धारो भाष्यपारगाः ॥ पृष्ठ ९७।

२—इसी प्रकार 'मव्य बन्धने' सूत्र के अन्त में भी लिखा है—

अत्रापि शिष्यबोधाय प्रक्रियेयं प्रपञ्चिता ।
यज्ञनारायणार्येण बुध्यतां भाष्यपारगैः ॥ पृष्ठ १०२।

धातुवृत्ति का वैशिष्ट्य

सायण की धातुवृत्ति से प्राचीन मैत्रेयरक्षित और क्षीरस्वामी की दो धातुवृत्तियां सम्प्रति उपलब्ध हैं। ये दोनों संक्षिप्त हैं। इनमें भी

मैत्रेय का धातुप्रदीप संक्षिप्ततर है । इन दोनों धातुवृत्तियों के साहाय्य से विद्वान् पुरुष भी धातुरूपी गहन वन का अवगाहन करने में असमर्थ रहते हैं, पुनः साधारण जनों का तो क्या कहना । इन वृत्तियों में प्रत्येक धातु के णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त आदि प्रक्रियाओं के रूप प्रदर्शित ही नहीं किए । माधवीया धातुवृत्ति में प्रायः सभी धातुओं के णिजन्त आदि प्रक्रियाओं के रूप संक्षेप से प्रदर्शित किए हैं । इतना ही नहीं, जिन रूपों के विषय में विद्वानों में मतभेद है, उनके विषय में प्राचीन आचार्यों के विविध मतों को उद्धृत करके निर्णयात्मक रूप में अपना मत लिखा है । यद्यपि अनेक स्थानों पर अतिसूक्ष्म विचार की चर्चा होने से यह ग्रन्थ कुछ कठिन भी हो गया है, तथापि बुद्धिमान् अध्यापकों के लिए यह परम सहायक है । सिद्धान्तकौमुदी के प्रचलन से पूर्व पाणिनीय वैयाकरणों में धातुपाठ के पठनपाठन की क्या शैली प्रचलित थी, इसका वास्तविक ज्ञान इसी ग्रन्थ से होता है । जो लोग पाणिनीय क्रम का उल्लङ्घन (जो कि कौमुदी आदि ग्रन्थों में किया गया है) न करके आर्षक्रम से ही पाणिनीय तन्त्र का अध्ययन-अध्यापन करना चाहते हैं, उनके लिए **यह 'धातुवृत्ति' ग्रन्थ काशिकावृत्ति के समान ही परम सहायक है ।**

प्रक्रियाग्रन्थों के अन्तर्गत धातुव्याख्यान

विक्रम की १२ वीं शती से पाणिनीय व्याकरण के पठन-पाठन में पाणिनीय शब्दानुशासन के सूत्र-क्रम का परित्याग करके प्रक्रियाक्रम से व्याकरण-अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति आरम्भ हुई । प्रक्रियाग्रन्थकारों ने धातुपाठ का भी उसी के भीतर अन्तर्भाव कर लिया। इसलिए उन ग्रन्थों में धातुपाठ की व्याख्या होने पर भी वे सीधे धातुव्याख्यान के ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते ।

इतना ही नहीं, इन प्रक्रियाग्रन्थकारों ने जिस प्रकार शब्दानुशासन के सूत्र-क्रम को भङ्ग किया, उसी प्रकार धातुपाठ की परम्परा से चली आ रही पठन-पाठन की प्रक्रिया का भी परित्याग कर दिया । प्राचीन पठन-पाठन-परिपाटी के अनुसार **प्रत्येक धातु की दसों प्रक्रियाओं के दसों लकारों के सभी रूपों का ज्ञान छात्रों को कराया जाता था ।** परन्तु प्रक्रियाग्रन्थकारों ने केवल सामान्य कर्तृप्रक्रिया के कतिपय रूपों का ही निदर्शन धातुव्याख्यान में कराया है । शेष भाव,

कर्म, णिजन्त, सन्नन्त आदि सभी प्रक्रियाओं का निदर्शन ग्रन्त में कतिपय धातुओं द्वारा ही कराया है। इस प्रक्रिया से अध्ययन करनेवाले छात्रों को सब धातुओं की सभी प्रक्रियाओं के रूप गतार्थ नहीं होते। लेट् लकार का तो **छन्दोमात्रगोचरः** कह कर निदर्शन करना ही व्यर्थ समझा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की महत्ता—दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती और उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीय क्रम के पुनरुद्धार का जो महान् प्रयत्न किया, उसका उल्लेख हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में महाभाष्य के प्रकरण में कर चुके हैं। जिस प्रकार से उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रवृत्त प्रक्रियाग्रन्थानुसारी पाणिनीय व्याकरण के पठन-पाठन के विरुद्ध वज्रनिर्घोष करके पुनः पाणिनीय क्रम को प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाणिनीय धातुपाठ की प्राचीन पठन-पाठन-शैली के परित्याग से होने वाली महती हानि को जानकर पुनः धातुपाठ की प्राचीन पठन-पाठन-शैली अर्थात् **प्रत्येक धातु को सभी प्रक्रियाओं के सभी लकारों के रूपसिद्धिशैली को प्रतिष्ठित किया**। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थ में पठन-पाठन-विधि पर लिखते हुए धातुपाठ के प्रसंग में लिखा है—

इसी प्रकार अष्टाध्यायी पढ़ाके धातुपाठ अर्थसहित और दश लकारों तथा प्रक्रियासहित सूत्रों के उत्सर्ग……। तृतीय समुल्लास[1]।

इसी प्रकार संस्कारविधि में भी लिखा है—

……**धातुपाठ और दश लकारों के रूप सधवाना, तथा दश प्रक्रिया भी सधवानी। पुनः**……। वेदारम्भ संस्कार[2]।

जिन प्रक्रियाग्रन्थों में धातुपाठ का प्रसंगतः व्याख्यान हुआ है, उनके तथा उनके लेखकों के नाम इस प्रकार हैं—

१६—रूपावतार	धर्मकीर्ति	११४० वै० के लगभग
१७—प्रक्रियारत्न		१३०० वै० से पूर्व
१८—रूपमाला	विमल सरस्वती	१४०० वै० से पूर्व

१. पृष्ठ ६८, रालाकट्र० संस्क०। २. पृष्ठ १४२, रालाकट्र० संस्क० ३।

१९–प्रक्रियाकौमुदी रामचन्द्र १४५० वै० लगभग
२०–सिद्धान्तकौमुदी भट्टोजि दीक्षित १५७०-१६५० वै०
२१–प्रक्रियासर्वस्व नारायण भट्ट १६१७-१७३३ वै०

इनमें से आरम्भ के चार ग्रन्थों में धातुपाठ की सम्पूर्ण धातुओं का व्याख्यान नहीं किया है। उत्तरवर्ती दो ग्रन्थों मे यद्यपि सभी धातुओं के रूप प्रदर्शित किए हैं, तथापि उनमें केवल शुद्ध कर्तृ प्रक्रिया के ही रूप लिखे हैं। भाव, कर्म, णिजन्त आदि प्रक्रिया के प्रदर्शन के लिए अन्त में कुछ धातुओं के रूप दर्शाए हैं। इन ग्रन्थों में कुछ भी वैशिष्ट्य नहीं है।

उपर्युक्त ग्रन्थों पर बहुत से व्याख्या-ग्रन्थ भी लिखे गए। सिद्धान्त-कौमुदी के पठन-पाठन में अधिक प्रचलित होने से इस पर अनेक व्याख्या-ग्रन्थ लिखे गए।

इन ग्रन्थों, इनके लेखकों तथा इन पर टीका-टिप्पणी लिखनेवाले वैयाकरणों के काल आदि विषय में हम इसी ग्रन्थ के 'पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया-ग्रन्थकार' नामक १६ वें अध्याय (प्रथम भाग) में विस्तार से लिख चुके हैं। उसका पुन: यहां लिखना पिष्टपेषमात्र होगा। अत: संकेतमात्र करके हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

इस प्रकार इस अध्याय में पाणिनीय धातुपाठ और उसके व्याख्याताओं के विषय में लिखकर अगले अध्याय में पाणिनि से अर्वाचीन धातुपाठ-प्रवक्ता और उनके व्याख्याताओं के विषय में लिखेंगे॥

बाइसवां अध्याय

धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्या (३)

(पाणिनि से उत्तरवर्ती)

आचार्य पाणिनि से सहस्रों वर्ष पूर्व व्याकरण-शास्त्र-प्रवचन की जिस धारा का आरम्भ इन्द्र से हुआ, और पाणिनिपर्यन्त अविच्छिन्न रूप से पहुंची, वह धारा पाणिनि के अनन्तर भी अजस्ररूप से बहती रही। हां, इस धारा ने उत्तरवर्ती काल में एक विशिष्ट दिशा की ओर मुख मोड़ा। वह विशिष्ट दिशा है—केवल लौकिक संस्कृत के शब्दों का अन्वाख्यान।[1] इस कारण पाणिनि से उत्तरवर्ती व्याकरण वैदिक ग्रन्थों के परिशीलन में किञ्चित् भी सहायक नहीं होते। कुछ आगे चलकर इस धारा ने दूसरा मोड़ लिया। वह मोड़ है—साम्प्रदायिकता का। जैनेन्द्र, जैन शाकटायन, हैम आदि व्याकरण एकमात्र साम्प्रदायिक हैं। इन्हीं के अनुकरण पर उत्तरकाल में हरिलीलामृत आदि कतिपय ऐसे भी व्याकरण लिखे गए, जो अथ से इति पर्यन्त साम्प्रदायिकता के रंग में रंगे हुए हैं। साम्प्रदायिकता के इस युग का न्यूनाधिक प्रभाव पाणिनीय व्याकरण के व्याख्याता जयादित्य-वामन, भट्टोजि दीक्षित आदि पर भी स्पष्ट दिखाई देता है। इन लोगों ने अनेक स्थानों पर प्राचीन परम्परागत उदाहरणों का परित्याग कर के स्वसम्प्रदायविशेष से सम्बद्ध उदाहरण अपनी-अपनी व्याख्याओं में दिए हैं। हां, इतना अवश्य है कि जयादित्य और वामन की काशिका में यह साम्प्रदायिक की प्रवृत्ति नाममात्र हैं। इस कारण इन्होंने चार स्थानों का छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र प्राचीन परम्परागत उदाहरणों की ही रक्षा की है।[2]

---

१. इस में चान्द्र और सरस्वतीकण्ठाभरण अपवादरूप हैं। चान्द्र व्याकरण में स्वरवैदिक प्रकरण का समावेश था, परन्तु उत्तरकाल में अध्येताओं के प्रमादवश यह प्रकरण नष्ट हो गया। द्र०—भाग १, चान्द्र व्याकरण प्रकरण।

२. यही ग्रन्थ, भाग १, 'काशिका-वृत्ति का महत्त्व' प्रकरण।

अर्वाचीन व्याकरण-प्रवक्ताओं में से प्रधानभूत निम्न अठारह वैयाकरणों का वर्णन हमने इस ग्रन्थ के पन्द्रहवें अध्याय में किया है—

१—कातन्त्रकार
२—चन्द्रगोमी
३—क्षपणक
४—देवनन्दी
५—वामन
६—पाल्यकीर्ति
७—शिवस्वामी
८—भोजदेव
९—बुद्धिसागर
१०—भद्रेश्वर सूरि
११—वर्धमान
१२—हेमचन्द्र
१३—मलयगिरि
१४—क्रमदीश्वर
१५—सारस्वतकार
१६—वोपदेव
१७—पद्मनाभ
१८—विनयसागर

अब हम अर्वाचीन वैयाकरणों में से जिनके धातुपाठ सम्प्रति उपलब्ध अथवा परिज्ञात हैं, उनके विषय में क्रमशः लिखते हैं—

७. कातन्त्रधातु-प्रवक्ता (१५०० वि० पूर्व)

कातन्त्र व्याकरण लोक में कलाप, कलापक, कौमार आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध है। कातन्त्र व्याकरण के काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में विस्तार से लिख चुके हैं।

कातन्त्र धातुपाठ

कातन्त्र व्याकरण का अपना एक स्वतन्त्र धातुपाठ है। इस के न्यूनातिन्यून दो पाठ हैं।

कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप—कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप है, यह हम काशकृत्स्न धातुपाठ के प्रकरण में (भाग २, पृष्ठ ३४-३५) लिख चुके हैं।

कातन्त्र धातुपाठ के हस्तलेख—कातन्त्र धातुपाठ के हस्तलेख अति विरल उपलब्ध होते हैं। हमने बड़े प्रयत्न से इस धातुपाठ के दो हस्तलेखों की प्रतिलिपियां प्राप्त की हैं। इन प्रतिलिपियों के प्राप्त होने पर ही हम इस निर्णय पर पहुंचे कि कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप है। इससे पूर्व हम डा० लिबिश द्वारा प्रकाशित

क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में छापे गये धातुपाठ के तिब्बती अनुवाद को ही कातन्त्र का धातुपाठ समझते थे।

कातन्त्र धातुपाठ का पुनः शर्ववर्मा द्वारा संक्षेप

क्षीरतरङ्गिणी के आद्य सम्पादक जर्मन विद्वान् लिबिश ने क्षीरतरङ्गिणी के अन्त में शर्ववर्मकृत धातुपाठ का तिब्बती-अनवाद प्रकाशित किया है। यदि यह तिब्बती अनुवाद शर्ववर्मप्रोक्त धातुपाठ का अक्षरशः अनुवाद हो तो मानना होगा कि शर्ववर्मा ने प्राचीन कातन्त्र धातुपाठ[1] का कोई संक्षेप किया था और उसी का यह अनुवाद है। कीथ का भी कहना है कि शर्ववर्मा का धातुपाठ केवल तिब्बती अनुवाद में उपलब्ध होता है।[2]

डा० रामअवध पाण्डेय (काशी) ने २०-१२-६१ के पत्र में हमें सूचना दी थी कि कातन्त्र धातुपाठ के दो प्रकार के पाठ मिलते हैं। गत वर्ष (सं० २०४०) के आरम्भ में डा० राम अवध पाण्डेय ने कातन्त्र धातुपाठ की एक प्रतिलिपि भेजी है। वह शर्ववर्मकृत संक्षिप्त संस्करण की है। मुद्रित दौर्गवृत्तिसार[3] में छपे धातुपाठ के साथ पं० रामअवध पाण्डेय द्वारा प्रेषित प्रतिलिपि प्रायः समता रखती है।

अब हमें यह निश्चय हो गया है कि प्राचीन कातन्त्र धातुपाठ का शर्ववर्मा ने पुनः संक्षेप किया था। वर्तमान कातन्त्र व्याकरण भी काशकृत्स्न व्याकरण के संक्षेपी-भूत प्राचीन कातन्त्र व्याकरण का संक्षेप है और यह संक्षेप भी शर्ववर्मा ने किया था। ऐसा मानने पर सातवाहन नृपति की वह कथा भी उपपन्न हो जाती है, जिस में शर्ववर्मा द्वारा छ मास में व्याकरण का ज्ञान करने का उल्लेख है।

वृत्तिकार दुर्गसिंह द्वारा पुनः परिष्कार

पं० जानकीप्रसाद द्विवेद ने 'कातन्त्र व्याकरण-विमर्श' में लिखा

---

१. इस धातुपाठ के कई हस्तलेख विभिन्न हस्तलेख-संग्रहालयों में विद्यमान है। काशी सरस्वती भवन के एक हस्तलेख की प्रतिलिपि हमारे पास है। एक दूसरे कोश की प्रतिलिपि डा० रामशंकर भट्टाचार्य ने करके हमें भेजी थी।

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ५११।

३. यह दौर्गवृत्तिसार 'पब्लिकेशन बोर्ड आफ असम' कलकत्ता से सन् १९७७ में पुनः छपा है।

है कि वृत्तिकार दुर्गसिंह ने कातन्त्र धातुपाठ का परिष्कार किया था। इसमें मनोरमाकार रमानाथ का निम्न वचन उद्धृत किया है—

दुर्गसिंहस्त्वमून् एकं योगं कृत्वा वैकल्प्ये पठति नाह्लादरोदनयोः ।[1]

कातन्त्र धातुपाठ के हमारे पास विद्यमान बृहत् और लघु दोनों पाठों में **कदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने च, क्लिदि परिदेवने** विभक्त पाठ ही उपलब्ध होता है। अतः मनोरमाकार रमानाथ के पूर्वोद्धृत उद्धरण से 'दुर्गसिंह द्वारा शर्ववर्मीय कातन्त्र धातुपाठ का पुनः परिष्कार' की प्रामाणिकता स्पष्ट है।

परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि आनन्दराय बहुवा विरचित कातन्त्र धातुवृत्तिसार, जो 'पब्लिकेशन बोर्ड असम' कलकत्ता द्वारा सन् १९७७ में दौर्गवृत्तिसार के नाम से छपा है, उस में पृष्ठ २, धातु संख्या ३२-३५ तक **कदि क्लदि क्रदि आह्वाने रोदने च, क्लिदि परिदेवने'** दो धातुसूत्र ही छपे हैं। अतः जब तक रमानाथ की मनोरमा वृत्ति स्वयं न देखी जाये, निर्णय करना कठिन है।

वृत्तिकार

कातन्त्र धातुपाठ के प्राचीन बृहत्पाठ पर कोई वृत्ति उपलब्ध नहीं होती है।

शर्ववर्मा द्वारा संक्षिप्त कातन्त्र धातुपाठ के निम्न वृत्तिकारों का हमें परिज्ञान है—

१—शर्ववर्मा (सं० ४००–५०० वि० पूर्व)

शर्ववर्मा ने कातन्त्र व्याकरण पर एक वृत्ति लिखी थी यह हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में कातन्त्र व्याकरण के प्रकरण में लिख चुके हैं। शर्ववर्मा ने स्वयं संक्षिप्त किये कातन्त्र धातुपाठ पर कोई वृत्ति लिखो थी, इसका साक्षात् प्रमाण तो उपलब्ध नहीं होता, तथापि कविकल्पद्रुम की दुर्गादास-विरचित धातुदीपिका में निम्न वचन उपलब्ध होता है—

---

१. कातन्त्र विमर्श, पृष्ठ ९५। द्विवेद जी ने कुछ और भी प्रमाण दिये हैं, उन्हें उनके ग्रन्थ में ही देखें।

विशेषः पाणिनेरिष्टः सामान्यं शर्वर्मणः। पृष्ठ ८।

अर्थात् स्वरितेत् और ञित् धातुओं से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल द्योतित होने पर आत्मनेपद होता है और अकर्त्रभिप्राय क्रियाफल गम्यमान होने पर परस्मैपद होता है, ऐसा विशेष नियम[1] पाणिनि को इष्ट है। सामान्य अर्थात् स्वगामी परगामी दोनों प्रकार के क्रिया फलों में दोनों पद होते हैं, यह शर्ववर्मा को इष्ट है।

इस उद्धरण से शर्ववर्मा ने स्वीय धातुपाठ पर कोई वृत्ति ग्रन्थ लिखा था, इस की स्पष्ट प्रतीति होती है।

शर्ववर्मा के काल आदि के विषय में हम पूर्व प्रथम भाग में कातन्त्र व्याकरण के प्रकरण में लिख चुके हैं।

२—दुर्गसिंह (सं० ७०० वि०)

आचार्य दुर्गसिंह ने शर्ववर्मा द्वारा संक्षिप्त कातन्त्र धातुपाठ पर एक वृत्ति लिखी थी। इसके उद्धरण व्याकरण वाङ्मय में बहुधा उद्धृत हैं। यह वृत्ति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इस वृत्ति के साहचर्य से कातन्त्र धातुपाठ भी दुर्ग के नाम से प्रसिद्ध हो गया। क्षीरस्वामी ने मूल कातन्त्र धातुपाठ के उद्धरण भी **दुर्गः अथवा दौर्गाः** के नाम से उद्धृत किये हैं। कतिपय शोध-कर्त्ताओं का यह भी विचार है कि दुर्गाचार्य ने शर्ववर्मा के धातुपाठ का परिष्कार किया था (द्र० कातन्त्र विमर्श पृष्ठ ६५-६७)। ऐसा स्वीकार करने पर भी किंचित् परिष्कार कर देने से शर्ववर्मा द्वारा संक्षिप्त धातुपाठ का व्याख्याता दुर्गसिंह माना ही जा सकता है। सायण ने पाणिनीय धातुपाठ का भरपूर

---

१. इस ग्रन्थ के पूर्व संस्करण में हमने यह विशेष नियम चुरादिगणस्थ धातुओं के लिये लिखा था। इसकी आलोचना पं० जानकीप्रसाद द्विवेद ने 'कातन्त्र व्याकरण विमर्श' नामक शोधप्रबन्ध में पृष्ठ ८४ पर की है। द्विवेदजी का लेख जितने अंश में हमें उचित प्रतीत हुआ तदनुसार हमने यहां संशोधन कर दिया है। परन्तु उनका मत 'शर्ववर्मा ने धातुपाठ पर कोई वृत्ति नहीं लिखी थी' यह अंश हमें उचित प्रतीत नहीं होता। शर्ववर्मा ने सूत्रपाठ पर वृत्ति लिखी हो और धातुपाठ पर वृत्ति न लिखी हो, यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

परिष्कार किया तब भी उसे पाणिनीय धातुपाठ का व्याख्याता माना ही जाता है।

दुर्गवृत्ति के कई हस्तलेख विभिन्न पुस्तकालयों में विद्यमान हैं, परन्तु वे सभी प्रायः अपूर्ण हैं। इस वृत्ति का प्रकाशन अत्यावश्यक है।

दुर्गसिंह के काल आदि के विषय में हम प्रथम भाग में कातन्त्र के व्याख्याकार प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं।

३—त्रिलोचनदास (सं० ११००?)

दुर्गसिंह कृत कातन्त्र वृत्ति पर पञ्चिका नाम्नी व्याख्या के लेखक त्रिलोचनदास ने कातन्त्र धातुपाठ पर '**धातुपारायण**' नाम की व्याख्या लिखी थी। इस के कई प्रमाण पं० जानकीप्रसाद द्विवेद ने अपने कातन्त्र व्याकरण विमर्श के पृष्ठ ६७ पर दिये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—**पवर्गपञ्चमादिरिति त्रिलोचनः** (मनोरमा,[1] भू० ६०)।

२—**[वेल्ल] नायमस्तीति दुर्गत्रिलोचनौ** (मनोरमा, भू० १८०)।

३—**दॄ विदारणे इति क्र्यादिकस्येह पाठो मानुबन्धार्थो न पुनः प्रकृत्यन्तराभिधानादिति त्रिलोचनादयः** (मनो० भू० ५२२)।

४—**चात् प्रकृतायां गतौ इति त्रिलोचनादयः** (मनो० भू० ५७३)।

५—**वृदिति त्रिलोचनः। वस्तुतस्त्वत्र वृचछब्दो नास्ति। वृत्तौ रुधादिपञ्चको गण इति व्याख्यानात्** (मनो० अ० ३५)

त्रिलोचनदास की वृत्ति का नाम **धातुपारायण** था, यह निम्न उद्धरण से ज्ञात होता है।

---

१. का० व्या० विमर्श पृष्ठ ६६ पर यहां (मुछ प्रमादे भू० ६०) ऐसा पाठ उद्धृत किया है। हमारे कातन्त्र धातुपाठ के हस्तलेखों में '**युछ प्रमादे**' पाठ है। यही शुद्ध है। 'मुछ' पाठ में 'पवर्गपञ्चमादिरिति त्रिलोचनः' निर्देश हो ही नहीं सकता है। क्योंकि वह पवर्गपञ्चमादि ही है।

६—धातुपारायणे त्रिलोचनेन खक्नातीति दर्शितम्, तत्तु लेखक-प्रमाद एवेति (कलापचन्द्र ३।२।३५) ।

त्रिलोचन का यही मत रमानाथ ने मनोरमा धातुवृत्ति में भी उद्धृत किया है—

धातुपारायणे तु खक्नातीत्युदाहृतमितिविस्तरवृत्तावुक्तम् (मनो० क्र्यादि ५०) ।

त्रिलोचनदास के काल आदि के विषय में हम प्रथम भाग में कातन्त्र व्याकरण के व्याख्याता प्रकरण में लिख चुके हैं ।

४ रमानाथ (सं० १५९३ वि०)

रमानाथ ने कातन्त्र धातुपाठ पर एक वृत्तिग्रन्थ लिखा था, इस की सूचना कविकल्पद्रुम के व्याख्याता दुर्गादास विद्यावागीश कृत धातुदीपिका से मिलती है। दुर्गादास लिखता है—

'भरणं पोषणं पूरणं वा इति कातन्त्रधातुवृत्तौ रमानाथः ।' पृष्ठ ४८ ।

दुर्गादास ने रमानाथकृत धातुवृति के अनेक उद्धरण अपनी धातु-दीपिका में उद्धृत किए हैं ।

परिचय—रमानाथकृत धातुवृत्ति हमारे देखने में नहीं आई। इसलिए इसके वंश और देश आदि के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं ।

काल—रामनाथकृत कातन्त्र-धातुवृत्ति का एक हस्तलेख इण्डिया आफिस (लन्दन) के पुस्तकालय में विद्यमान है। उसका उल्लेख इण्डिया आफिस पुस्तकालय के हस्तलेख सूचीपत्र भाग १ खण्ड २ संख्या ७७५ पर है। इस हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

'वसुबाणभुवनगणिते शाके धर्मद्रवोतीरे ।
कातन्त्रधातुवृत्तिं निर्मितवान् रमानाथः ।।'

अर्थात्—रमानाथ ने १४५८ शक में कातन्त्र व्याकरणसम्बन्धी धातुवृत्ति ग्रन्थ लिखा ।

इससे स्पष्ट है कि रमानाथ का काल (शक सं० १४५८+१३५=) १५९३ विक्रम है। बंगाल में शालिवाहन शक संवत् का

प्रचार न होने से तथा शक और शाक[1] शब्दों का संवत् का पर्याय होने से सम्भव है यहां निर्दिष्ट १४५८ विक्रम संवत् होवे।

धातुवृत्ति का नाम—रमानाथकृत कातन्त्र-धातुवृत्ति का नाम **मनोरमा** है। इसका एक हस्तलेख जम्मू के हस्तलेखसंग्रह में भी विद्यमान है। इसका निर्देश हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र पृष्ठ ४० पर उपलब्ध होता है।

नाथीय धातुवृत्ति—वन्द्यघटीय सर्वानन्द ने अमरटीकासर्वस्व में किसी नाथीय धातुवृत्ति का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

'नाथीयधातुवृत्तावपि कोषवन्मूर्धन्यषत्वं तालव्यशत्वं चोक्तम्।' २।६।१००; भाग २, पृष्ठ ३६०।

सर्वानन्द का काल वि० सं० १२१५ है। अतः अमरटीकासर्वस्व में उद्धृत नाथीय धातुवृत्ति रमानाथकृत नहीं हो सकती। यह नाथीय धातुवृत्ति किस की है, तथा किस व्याकरण से सम्बद्ध है, यह अनुसन्धातव्य है।

—:०:—

८. चन्द्रगोमी (सं० १००० वि० पू०)

आचार्य चन्द्रगोमी-प्रोक्त शब्दानुशासन तथा उसके देशकाल आदि के विषय में इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में चान्द्र व्याकरण के प्रसंग में हम विस्तार से लिख चुके हैं। अतः यहां पिष्टपेषण करना उचित नहीं है

चान्द्र-धातुपाठ

आचार्य चन्द्रगोमी ने स्वीय तन्त्र के लिये उपयोगी धातुपाठ का भी प्रवचन किया था। यह धातुपाठ सम्प्रति उपलब्ध हैं। ब्रूनो लिबिश ने चान्द्रव्याकरण के साथ इसे प्रकाशित किया है।

---

१. शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम् (महा० २।१।६८) वार्तिक में निर्दिष्ट शाकपार्थिव वे कहाते हैं जो संवत्सर के प्रवर्तक होते हैं। शक एव शाकः, प्रज्ञादि से स्वार्थ में अण्प्रत्यय। हरदत्त ने काशिका २।१।६० में पठित उक्त वार्तिक के व्याख्यान में तस्याभ्यवहारेषु शाकप्रियत्वात् प्रधानम् अर्थ लिखा है, वह चिन्त्य है। द्र० हमारी महाभाष्य हिन्दीव्याख्या २।१।६८, भाग ३, पृष्ठ १७४।

काशकृत्स्न धातुपाठ का प्रभाव—चान्द्र धातुपाठ पर काशकृत्स्न धातुपाठ की प्रवचन-शैली का पर्याप्त प्रभाव है। इसका निदर्शन हम काशकृत्स्न धातुपाठ के प्रकरण (भाग २, पृष्ठ ३४-३५) में करा चुके हैं।

पाठभ्रंश—चान्द्र-धातुपाठ का जो पाठ लिबिश ने सम्पादित करके प्रकाशित किया है, उसमें बहुत्र पाठभ्रंश उपलब्ध होता है। यथा—

१—धातुसूत्र १।३९९ (पृष्ठ १३, कालम १) का मुद्रित पाठ है—**केवृ पेवृ मेवृ रेवृ गतौ**। यह पाठ चिन्त्य है, क्योंकि प्रकरण पान्त धातुओं का है। धातुसूत्र ३९४-४०१ तक पान्त धातुएं पढ़ी है, उसके पश्चात् बान्त धातुओं का पाठ आरम्भ होता है।

२—धातुसूत्र १।४१५ का मुद्रित पाठ हैं—**अम्भु प्रमादे**। धातुवृत्ति में इसके विषय में स्पष्ट निर्देश है—**दन्त्यादिरिति चन्द्रः** (पृष्ठ ८६)। तदनुसार यहां शुद्ध पाठ **स्रम्भु प्रमादे** होना चाहिए।

३—धातुसूत्र १।१०४ के **कटी इ गतौ** पाठ में 'इ' धातु ह्रस्व इकाररूप है, परन्तु धातुप्रदीप पृष्ठ २९ में मैत्रेय ने **दीर्घमिच्छन्ति चान्द्राः** का निर्देश करके चान्द्र पाठ '**ई**' दर्शाया है।

४—क्षीरतरङ्गिणी में क्षीरस्वामी ने पाणिनीय धातुपाठ १।५६५ का पाठ **स्यमु स्वन स्तन ध्वन शब्दे** लिखकर **ष्टन इति चन्द्रः** (पृष्ठ ११५) लिखा है। चान्द्र धातुपाठ १।५५९ सूत्र का पाठ—**स्यमु स्वन ध्वन शब्दे** छपा है, इसमें **ष्टन** धातु का निर्देश नहीं है।

५—धातुसूत्र १।३५९ का पाठ जश है—**मच मुचि कल्कने**। क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में **मुचेति चन्द्रः** का निर्देश करके **मोचते** उदाहरण दिया है।

ये चान्द्र धातुपाठ के थोड़े से अपभ्रंश दर्शाए हैं। चान्द्र धातुपाठ के भावी सम्पादक को इन पाठभेदों का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए।

---

१. मैत्रेय के धातुप्रदीप पृष्ठ ३३ पर भी पान्त प्रकरण में पेवृ षेवृ सेवने, रेवृ प्लेवृ गतौ दो धातुसूत्रों में बान्त धातुएं पढ़ी हैं। प्रतीत होता है मैत्रेय ने यह पाठ चान्द्र के अनुसार स्वीकार किया है। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो मानना पड़ेगा कि चान्द्र धातुपाठ में पाठभ्रंश चिरकाल से विद्यमान है।

इतना ही नहीं, पाणिनीय तथा अन्य धातुपाठ के व्याख्याकारों द्वारा उद्धृत पाठों से इसके सम्पादन में अवश्य साहाय्य लेना चाहिए।

वृत्तिकार

आचार्य चन्द्र के धातुपाठ पर अनेक वैयाकरणों ने वृत्तियां लिखी थीं, उनमें से कतिपय परिज्ञात वृत्तिकार ये हैं—

१—आचार्य चन्द्र (सं० १००० वि०)

आचार्य चन्द्र ने जैसे अपने शब्दानुशासन पर स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी थी,[1] उसी प्रकार उसने अपने धातुपाठ पर भी कोई स्वोपज्ञ वृत्ति अवश्य लिखी थी। इस वृत्ति के निर्देशक कतिपय प्रमाण इस प्रकार हैं—

१—धातुवृत्ति में सायण लिखता है—

'चन्द्रस्तु गुणाभावं न सहते। यदाह—अर्णोतीत्युदाहृत्य क्षिणेर्धातोर्लघोरुपान्त्यस्य गुणो नेष्यत इति।'[2] पृष्ठ ३५७।

चन्द्र का उक्त उद्धृत पाठ उसकी धातुवृत्ति में ही सम्भव हो सकता है।

२—क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी में लिखा है—

'चन्द्रस्त्वत्राप्युभयपदित्वमाम्नासीत् णिज्विकल्पं च।' १०।१।

आचार्य चन्द्र का उक्त मत उसके धातु-व्याख्यान से ही उद्धृत हो सकता है, अन्यतः नहीं।

३—क्षीरस्वामी पुनः लिखता है—

'चन्द्रः प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे (१०।२९५) इत्यनेनैव साधयति।' १०।१८१॥

यह बात चन्द्राचार्य ने धातुपाठ की वृत्ति में ही लिखी होगी। अन्यत्र इसका प्रसङ्ग नहीं हो सकता।

---

१. द्र० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, चान्द्र व्याकरण प्रसंग।

२. तुलना करो—तथैव चान्द्रेण पूर्णचन्द्रेण ऋणु गतौ तृणु अदने घृणु दीप्तौ इत्यत्र अर्णोति तर्णोति घर्णोतीत्युदाहृत्योक्तम्—धातोर्लघोरुपान्त्यस्यादेङ् नेष्यत इत्यन्यः तस्याभिप्रायो मृग्य इति। पुरुषकार पृष्ठ २१।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आचार्य चन्द्र ने स्वधातु पाठ पर कोई स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी थी। विभिन्न धातुवृत्तिकारों ने उसी से चन्द्राचार्य के धातुविषयक मत उद्धृत किये हैं।

२—पूर्णचन्द (वि० सं० ११९५ से पूर्व)

पूर्णचन्द्र नामक वैयाकरण ने चान्द्र धातुपाठ पर कोई व्याख्यान लिखा था। उसके अनेक उद्धरण प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। दैव-व्याख्याता कृष्ण लीलाशुक मुनि लिखता है—

'तथैव चान्द्रेण पूर्णचन्द्रेण ऋणु गतौ ......।' पुरुषकार पृष्ठ २१।

पूर्णचन्द्रीय धातुवृत्ति का नाम—पूर्णचन्द्रविरचित चान्द्र धातुपाठ की वृत्ति का नाम **'धातुपारायण'** था। टीकासर्वस्वकार बन्द्यघटीय सर्वानन्द लिखता है—

'ऋभुक्षो वज्र इति धातुपारायणे पूर्णचन्द्रः।' अमरटीका १।१।४४ (भाग १, पृष्ठ ३४)॥

पूर्णचन्द्र का काल—पूर्णचन्द्र का **धातुपारायण** हमारे देखने में नहीं आया। अतः इसके काल के विषय में निश्चित रूप से हम कुछ कहने में असमर्थ हैं। हां, क्षीरस्वामी ने पूर्णचन्द्रविरचित 'धातुपारायण' का पारायण नाम से कई स्थानों में उल्लेख किया है। दो स्थानों पर उसके साथ चन्द्र तथा चान्द्र विशेषण भी निर्दिष्ट है। यथा—

१. **यम चम इति चन्द्रः पारायणे।** क्षीरतरङ्गिणी १०।७५, पृष्ठ २९८। इसका पाठान्तर है—**चन्द्रः पारायणव्याख्यानात्।**

२. **वन श्रद्धोपहिंसनयोरिति चान्द्रं पारायणम्।** क्षीरतरङ्गिणी १०।२२९, पृष्ठ ३०९॥

इन उद्धरणों से इतना स्पष्ट है कि पूर्णचन्द्र क्षीरस्वामी से प्राचीन है। क्षीरस्वामी का काल वि० सं० १११५-११६५ के मध्य है।

३—कश्यपभिक्षु (सं० १२५७ वि०)

कश्यपभिक्षु ने वि० सं० १२५७ के लगभग चान्द्र सूत्रों पर एक वृत्ति लिखी थी। यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में चान्द्र व्याकरण के वृत्तिकार प्रकरण में लिख चुके हैं। माधवीया धातुवृत्ति में कश्यप

तथा काश्यप के मत अनेक स्थानों पर उद्धृत हैं। उनसे विदित होता है कि किसी कश्यप ने किसी धातुपाठ पर भी कोई व्याख्यान ग्रन्थ लिखा था। हमारा विचार है कि धातुवृत्ति में स्मृत कश्यप यही कश्यपभिक्षु है, और उसके मत सायण ने उसकी चान्द्र धातुवृत्ति से ही उद्धृत किए हैं

—:०:—

९. क्षपणक (वि० सं० प्रथमशती)

क्षपणकप्रोक्त क्षपणक व्याकरण का उल्लेख हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में कर चुके हैं। क्षपणक ने अपने व्याकरण पर वृत्ति और महान्यास नामक ग्रन्थ लिखे थे। उज्ज्वलदत्त ने क्षपणक की उणादि-वृत्ति का उल्लेख किया है।[1] इन सब पर विचार करने से प्रतीत होता है कि क्षपणक ने अपने धातुपाठ पर भी कोई व्याख्यानग्रन्थ अवश्य लिखा होगा। क्षपणक के काल आदि के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'क्षपणक व्याकरण' के प्रसंग में लिख चुके हैं।

—:०:—

१०. देवनन्दी (वि० सं० ५००—५५० पूर्व)

जैन आचार्य देवनन्दी के जैनेन्द्र व्याकरण के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में विस्तार से लिख चुके हैं।

आचार्य देवनन्दी का काल—आचार्य देवनन्दी का काल वि० सं० ५००-५५० के मध्य है, यह प्रथम भाग में विस्तार से निर्णीत चुके हैं।

जैनेन्द्र धातुपाठ और उसके दो पाठ

आचार्य पूज्यपाद के जैनेन्द्र व्याकरण के धातुपाठ का मूलपाठ इस समय उपलब्ध नहीं है। आचार्य गुणनन्दी (वि० सं० ९१०-९६०) ने जैनेन्द्र व्याकरण का एक विशिष्ट प्रवचन किया था। उसका नाम है—**शब्दार्णव**। इसे वर्तमान वैयाकरण दाक्षिणात्य संस्करण के नाम से स्मरण करते हैं। शब्दार्णव का जो संस्करण काशी से प्रकाशित हुआ है, उसके अन्त में जैनेन्द्र धातुपाठ छपा है। इसके अन्त में जो

१. क्षपणकवृत्तौ अत्र 'इति' शब्द आद्यर्थे व्याख्यातः। पृष्ठ ६०

श्लोक छपा है, उससे ध्वनित होता है कि उक्त पाठ आचार्य गुणनन्दी द्वारा संशोधित है।[1]

शब्दार्णव के अन्त में छपा धातुपाठ आचार्य गुणनन्दी द्वारा संस्कृत है। इसमें यह भी प्रमाण है कि जैनेन्द्र १।२।७३ की महावृत्ति में मित्संज्ञाप्रतिषेधक '**यमोऽपरिवेषणे**' धातुसूत्र उद्धृत है। गुणनन्दी द्वारा संस्कृत धातुपाठ में न तो कोई मित्संज्ञाविधायक सूत्र मिलता है, और न ही प्रतिषेधक। प्राचीन धातुग्रन्थों में नन्दी के नाम से जो धातुनिर्देश उपलब्ध होते हैं, वे उसी रूप में इस धातुपाठ में सर्वथा नहीं मिलते। इससे भी यही प्रतीत होता है कि वर्तमान जैनेन्द्र धातुपाठ गुणनन्दी द्वारा परिष्कृत है।

जैनेन्द्र के मूल धातुपाठ के उपलब्ध न होने के कारण भारतीय ज्ञानपीठ (काशी) से प्रकाशित जैनेन्द्रमहावृत्ति के अन्त में मेरे निर्देश से गुणनन्दी द्वारा संशोधित पाठ ही छपा है।[2]

वृत्तिकार

जैनेन्द्र धातुपाठ पर अनेक वैयाकरणों ने वृत्तिग्रन्थ लिखे होंगे, परन्तु सम्प्रति उनमें से कोई भी वृत्ति ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

१—आचार्य देवनन्दी

आचार्य देवनन्दी ने अपने धातुपाठ पर कोई व्याख्यान लिखा था, इस विषय में कोई साक्षात् वचन उपलब्ध नहीं होता। परन्तु हैमलिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञविवरण में **नान्दिधातुपारायण** (पृष्ठ १३२, पं० २०) तथा **नन्दिपारायण** (पृष्ठ १३३, पं० २३) के पाठ उद्धृत हैं। इनसे इतना स्पष्ट है कि आचार्य देवनन्दी ने धातुपाठ पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था, और उसका नाम **धातुपारायण** था। आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय धातुपारायण में देवनन्दी और नन्दी के अनेक मत उद्धृत किये हैं।[3] इसके पृष्ठ १०३, पं० २ में '**पारायणिकानाम्**' निर्देश पूर्वक एक मत उद्धृत है।

---

१. देवनन्दी द्वारा संस्कृत शब्दार्णव व्याकरण के विषय में देखिए—'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास का प्रथम भाग।

२. जैनेन्द्र महावृत्ति ज्ञानपीठ संस्करण के आरम्भ में, पृष्ठ ४७।

३. द्र० हैम धातुपारायण षष्ठ परिशिष्ट, पृष्ठ ४७०।

आचार्य देवनन्दी ने पाणिनीय व्याकरण पर भी **शब्दावतारन्यास** नामक एक ग्रन्थ लिखा था।[1] धातुपारायण नाम का एक धातुव्याख्यान ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ पर भी था। सर्वानन्द ने अमरटीका-सर्वस्व में लिखा है—

वावदूकः—वदेर्यङन्ताद् यजजपदशां यङः इति बहुवचननिर्देशादन्यतोऽपि ऊक इति धातुपारायणम्।' भाग ४, पृष्ठ १८।

यहां उद्धृत **यजजपदशां यङः** सूत्र पाणिनीय व्याकरण (३।२। १६६) का है। इसलिए उक्त धातुपारायण भी पाणिनीय धातुपाठ पर था, यह स्पष्ट है।

माधवीया धातुवृत्ति में **वन षण संभक्तौ** (पृष्ठ ९४) धातुसूत्र पर धातुपारायण का एक पाठ उद्धृत है। उससे भी यही विदित होता है कि धातुपारायण नाम का कोई ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ पर भी था। काशिकावृत्ति के आरम्भ में भी धातुपारायण स्मृत है।

ऐसी अवस्था में हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि आचार्य देवनन्दी का धातुपारायण पाणिनीय धातुपाठ पर था, अथवा जैनेन्द्र धातुपाठ पर।

२—श्रुतपाल (वि० ९ शती अथवा कुछ पूर्व)

श्रुतपाल के धातुविषयक अनेक मत धातुव्याख्यानग्रन्थों में उद्धृत हैं। श्रुतपाल ने जैनेन्द्र धातुपाठ पर कोई व्याख्यान-ग्रन्थ लिखा था, यह हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में कातन्त्र-व्याकरण के दुर्गवृत्ति के टीकाकार दुर्गसिंह (द्वितीय) के प्रकरण में लिख चुके हैं।

काल—श्रुतपाल का निश्चित काल अज्ञात है। इसके जो उद्धरण व्याकरणग्रन्थों में उद्धृत हैं, उनसे निम्न परिणाम निकाला जा सकता है—

कातन्त्र व्याकरण की भगवद् दुर्गसिंह की कृद्वृत्ति के व्याख्याता अपर दुर्गसिंह ने कृतसूत्र ४१ तथा ६८ की वृत्तिटीका में श्रुतपाल का उल्लेख किया है।[2] इस कातन्त्रवृत्ति-टीकाकार दुर्गसिंह का काल

१. द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण।

२. द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, दुर्गवृत्ति के टीकाकार प्रकरण।

विक्रम की नवम शती है।[1] इसलिए श्रुतपाल का काल विक्रम की नवम शती अथवा उससे कुछ पूर्व है, इतना ही साधारणतया कहा जा सकता है।

३—आर्य श्रुतकीर्ति

आर्य श्रुतकीर्ति ने जैनेन्द्र व्याकरण पर पञ्चवस्तु नामक एक प्रक्रियाग्रन्थ लिखा है। इस प्रक्रियाग्रन्थ के अन्तर्गत जैनेन्द्र धातुपाठ का भी व्याख्यान है। आर्य श्रुतकीर्ति का काल विक्रम की १२ वीं शती का प्रथम चरण है।[2]

४—वंशीधर

वंशीधर नामक आधुनिक वैयाकरण ने भी जैनेन्द्र-प्रक्रिया ग्रन्थ लिखा है। इसका अभी पूर्वार्ध ही प्रकाशित हुआ है। उत्तरार्ध में धातुपाठ की भी व्याख्या होगी।

शब्दार्णव-संबद्ध जैनेन्द्र धातुपाठ

जैनेन्द्र धातुपाठ के गुणनन्दी-परिष्कृत संस्करण पर किसी वैयाकरण ने कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा अथवा नहीं, यह अज्ञात है। हां शब्दार्णव पर किसी अज्ञातनामा ग्रन्थकार ने एक प्रक्रियाग्रन्थ लिखा है।[3] उसके अन्तर्गत इस धातुपाठ की व्याख्या भी है।

—:०:—

११. वामन (वि० सं० ४०० अथवा ६०० पूर्व)

वामनविरचित **विश्रान्त-विद्याधर** नामक व्याकरण और उसकी स्वोपज्ञ **बृहत् व लघु वृत्तियों** का निर्देश हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में विश्रान्त-विद्याधर व्याकरण के प्रकरण में कर चुके हैं। वहीं पर तार्किकशिरोमणि **मल्लवादी** कृत न्यास ग्रन्थ का उल्लेख कर चुके हैं।

---

१. द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, दुर्गवृत्ति की दुर्गसिंह कृत टीका के प्रकरण में।

२. द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, जैनेन्द्र व्याकरण प्रकरण।

३. द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, शब्दार्णव व्याकरण प्रकरण।

वामन ने स्वव्याकरणसंबद्ध धातुपाठ का प्रवचन भी अवश्य किया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इस धातुपाठ और इसके किसी व्याख्याता अथवा व्याख्या का कोई साक्षात् उद्धरण हमारे देखने में नहीं आया। हां, क्षीरस्वामी ने धातुसूत्र १।२१६ की व्याख्या में एक पाठ उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है—

'अत एव विड शब्दे पिट आक्रोशे इति मल्लः पर्यट्टकान्तरे विभङ्ग्याह।' क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ५४।

यदि इस उद्धरण में स्मृत 'मल्ल' से आचार्य मल्लवादी का निर्देश हो, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मल्लवादी ने विश्रान्तविद्याधर व्याकरण से संबद्ध धातुपाठ पर कोई व्याख्यान ग्रन्थ लिखा था। आचार्य मल्लवादी ने वामन प्रोक्त विश्रान्तविद्याधर व्याकरण पर 'न्यास' ग्रन्थ लिखा था, यह हम प्रथम भाग में लिख चुके है।

धातुपाठसंबन्धी वाङ्मय में प्रसिद्ध एक मल्ल आख्यातचन्द्रिका का लेखक भट्ट मल्ल भी है। क्षीरतरङ्गिणी में स्मृत भट्ट मल्ल नहीं है। वह तो साक्षात् किसी धातुपाठ का व्याख्याता है, यह **पर्यट्टकान्तरे विभङ्ग्याह** पदों से स्पष्ट है।

इससे अधिक हम इस धातुपाठ के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते।

—:०:—

१२. पाल्यकीर्ति (शाकटायन) (सं० ८७१–९२४ वि०)

आचार्य पाल्यकीर्ति के शाकटायन व्याकरण और उसके काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में विस्तार से लिख चुके हैं।

शाकटायन धातुपाठ

पाल्यकीर्ति ने स्वीय शब्दानुशासन से संबद्ध धातुपाठ का भी प्रवचन किया था। यह धातुपाठ काशी से मुद्रित शाकटायन व्याकरण की लघुवृत्ति के अन्त में छपा है। डा० लिबिश ने भी इसका एक संस्करण प्रकाशित किया है। शाकटायन धातुपाठ पाणिनि के औदीच्य पाठ से अधिक मिलता है।

वृत्तिकार

पाल्यकीर्ति-प्रोक्त धातुपाठ पर अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएं लिखी होंगी, परन्तु हमें उनमें से निम्न व्याख्याकारों का ही परिज्ञान हैं।

१—पाल्यकीर्ति

पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण की स्वोपज्ञ अमोघा वृत्ति लिखी है। इस युग के प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने, विशेषकर सूत्रकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों पर स्वयं व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं। इससे सम्भावना है कि पाल्यकीर्ति ने भी स्वीय धातुपाठ पर कोई व्याख्याग्रन्थ लिखा हो। सायण ने माधवीय धातुवृत्ति आदि में पाल्यकीर्ति अथवा शाकटायन के जो पाठ उद्धृत किए हैं, उनमें से निम्न पाठ विशेष महत्त्व के हैं—

१—सायण तनादिगण की क्षिणु-धातु पर लिखता है—

शाकटायनक्षीरस्वामिभ्यामयं धातुर्न पठ्यते।...... शाकटायनः पुनस्तत्र (स्वादौ) छान्दसमेवाह। पृष्ठ ३५६।।

अर्थात् शाकटायन ने तनादिगण में **क्षिणु** धातु नहीं पढ़ी......... वह स्वादि में पठित क्षि धातु को छान्दस कहता है।

इससे स्पष्ट है कि शाकटायन ने अपने धातुपाठ पर कोई वृत्ति-ग्रन्थ लिखा था, उसी में उसने स्वादिगणस्थ क्षि धातु को छान्दस कहा होगा।

२-सायण[1] कण्ड्वादि के व्याख्यान में लिखता है—

तदेतदमोघायां शाकटायनधातुवृत्तौ अर्थनिर्देशरहितेऽपि गणपाठे ......। धातुवृत्ति, पृष्ठ ४०४।

३-**व्यक्तं चैतद् धनपालशाकटायनवृत्त्योः। पुरुषकार पृष्ठ २२।**

इन उद्धरणों से शाकटायन की स्वोपज्ञ धातुवृत्ति का सद्भाव विस्पष्ट है। धातुवृत्ति का पाठ कुछ भ्रष्ट है।

शाकटायन विरचित धातुवृत्ति का नाम **'धातुपाठविवरण'** था।

---

१. कण्ड्वादिगण के आरम्भ में 'तेन सायणपुत्रेण व्याख्या कापि विरच्यते' पाठ है। तदनुसार इस अंश का व्याख्याता सायणपुत्र है।

२—धनपाल

धनपाल ने भी शाकटायन धातुपाठ पर एक व्याख्या लिखी थी, ऐसी सम्भावना है।

३—प्रक्रिया-ग्रन्थकार

पाल्यकीर्ति के व्याकरण पर **अभयचन्द्राचार्य** ने प्रक्रिया-संग्रह, **भावसेन त्रैविद्य देव** ने शाकटायन-टीका तथा **दयालपालमुनि** ने **रूपसिद्धि** नाम के प्रक्रियाग्रन्थ रचे थे (द्र० प्रथम भाग) इनमें प्रसंगवश धातुपाठ का भी कुछ अंश व्याख्यात हो गया है।

—:०:—

१३. शिवस्वामी (सं० ९१४-९४०)

शिवस्वामीप्रोक्त शब्दानुशासन तथा उसके काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में लिख चुके हैं।

धातुपाठ और उसकी वृत्ति

शिवस्वामी ने धातुपाठ पर सम्भवतः कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था। क्षीरतरङ्गिणी तथा माधवीया धातुवृत्ति में शिवस्वामी के धातुपाठ-विषयक अनेक मत उद्धृत हैं। ये उद्धरण सम्भवतः उसके धातुव्याख्यान से ही उद्धृत किए होंगे।

हम नीचे शिवस्वामी के नाम से उद्धृत कतिपय ऐसे पाठ लिखते हैं, जिन से शिवस्वामी का धातुपाठप्रवक्तृत्व तथा उसका व्याख्यातृत्व स्पष्ट हो जाता है। यथा—

१—**धुञ् इति हामुं शिवस्वामी दीर्घमाह**। क्षीरतरङ्गिणी ५।१०॥

२—**शिवस्वामिकाश्यपौ तु [धुञ् धातुं] दीर्घान्तमाहतुः**।

धातुवृत्ति, पृष्ठ ३१६॥

३—**चान्तोऽयं [सश्च] इति शिवः**। क्षीरतरङ्गिणी १।१२२॥

४—**शिवस्वामी वकरोपधं [धृव] पपाठ**।

धातुवृत्ति, पृष्ठ ३५७॥

इससे अधिक शिवस्वामी के धातुपाठ और उसकी धातुवृत्ति के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

—:०:—

१४. भोजदेव (सं० १०७५-१११०)

धाराधीश महाराज भोजदेव के सरस्वतीकण्ठाभरण नामक व्याकरण और उसके काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में विस्तार से लिख चुके हैं।

भोजीय धातुपाठ

महाराजा भोजदेव ने अपने शब्दानुशासन में धातुपाठ को छोड़कर अन्य सभी अङ्गों को यथास्थान सन्निवेश कर दिया, केवल धातुपाठ का पृथक् प्रवचन किया। भोजदेव के धातुपाठ के उद्धरण क्षीरतरङ्गिणी और माधवीया धातुवृत्ति आदि ग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

वृत्तिकार

भोजीय धातुपाठ के किसी वृत्तिकार का हमें साक्षात् परिज्ञान नहीं है। क्षीरस्वामी और सायण ने भोज के धातुविषयक अनेक ऐसे मत उद्धृत किए हैं, जो उसके वृत्ति-ग्रन्थ के ही हो सकते हैं।

नाथीय धातुवृत्ति

हमने पाणिनीय धातुपाठ के वृत्तिकार प्रकरण में संख्या ८ पर नाथीय धातुवृत्ति का निर्देश किया है। **पदे पदैकदेश** न्याय से यदि नाथीय शब्द दण्डनाथीय का निर्देशक हो, तो यह भोजीय धातुपाठ पर दण्डनाथविरचित धातुवृत्ति ग्रन्थ हो सकता है, परन्तु इस विषय का साक्षात् कोई प्रमाण हमें अभी उपलब्ध नहीं हुआ।

प्रक्रियान्तर्गत धातुव्याख्या

सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १ में सरस्वतीकण्ठाभरण पर लिखे गए **पदसिन्धु-सेतु नामक** प्रक्रियाग्रन्थ का उल्लेख किया है, उसमें आख्यातप्रकिया में धातुव्याख्यान भी अवश्य रहा होगा। इस ग्रन्थ को प्रक्रियकौमुदी के टीकाकार विट्ठल ने (भाग २, पृष्ठ ३१३) उद्धृत किया है। अतः इसका काल वि० सं० १५०० से पूर्व है।

—:o:—

१५. बुद्धिसागर सूरि (सं० १०८० वि०)

आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने ७, ८ सहस्र श्लोकपरिमाण का पञ्च-

ग्रन्थी व्याकरण लिखा था। यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में लिख चुके हैं। वहीं इस आचार्य के काल का भी निर्देश किया है।

धातुपाठ और उसकी वृत्ति

बुद्धिसागर सूरि प्रोक्त धातुपाठ और उसके वृत्तिग्रन्थ का साक्षात् उल्लेख हमें कहीं प्राप्त नहीं हुआ। पुनरपि व्याकरण के पांच ग्रन्थों में धातुपाठ का अन्तर्भाव होने तथा हैमलिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञविवरण (पृष्ठ १००) तथा हैम अभिधानचिन्तामणि (पृष्ठ २४६) में लिङ्गानुशासन का उद्धरण होने से धातुपाठ का प्रवचन तो निश्चित है।

—:०:—

१६. भद्रेश्वर सूरि (सं० १२०० से पूर्व वि०)

आचार्य भद्रेश्वर सूरिविरचित दीपक व्याकरण और उसके काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में लिख चुके हैं।

धातुपाठ और उसकी व्याख्या

सायण ने धातुवृत्ति में श्रीभद्र नाम से भद्रेश्वर सूरि के धातुपाठ-विषयक अनेक मत उद्धृत किए हैं। उनसे भद्रेश्वर सूरि का धातुपाठप्रवक्तृत्व स्पष्ट है। धातुवृत्ति में कुछ उद्धरण ऐसे भी हैं, जिनसे श्रीभद्रकृत धातुवृत्ति का भी परिज्ञान होता है। यथा—

१—**एवं च 'लक्षञ्' इति पठित्वा 'ञित्करणादन्येभ्यश्चुरादिभ्यो णिचश्च इति तङ् न भवति' इति च श्रीभद्रवचनमपि प्रत्युक्तम्।**

पृष्ठ ३८९।

२—**अत्र श्रीभद्रादयो 'दीर्घोच्चारणसामर्थ्यात् पक्षे णिज् न' इति।**

पृष्ठ ३७९।

इससे अधिक भद्रेश्वर सूरि के धातुपाठ और उसकी वृत्ति के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

—:०:—

१७. हेमचन्द्र सूरि (सं० ११४५–१२२६ वि०)

आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शब्दानुशासन और काल के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में विस्तार से लिख चुके है।

धातुपाठ

हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण से संबद्ध सभी अङ्गों (खिलों) का प्रवचन किया था। उसके अन्तर्गत धातुपाठ का प्रवचन भी सम्मिलित है। इस धातुपाठ में भी काशकृत्स्नवत् जुहोत्यादिगण का अदादिगण में अन्तर्भाव होने से ९ गण हैं। तथा परस्मैपद आत्मनेपद उभयपद विभाग भी प्रतिगण काशकृत्स्नवत् संगृहीत हैं। हैम धातुपाठ प्रतिगण अन्त्यस्वरवर्णानुक्रम-युक्त है।

वृत्तिकार

हेमचन्द्र सूरि के धातुपाठ पर जिन वैयाकरणों ने व्याख्याग्रन्थ लिखे उनमें दो आचार्य परिज्ञात हैं—

१—आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने धातुपाठ पर ५६०० श्लोक परिमाण स्वोपज्ञ-धातुपारायण नाम की विस्तृत व्याख्या लिखी है। पहले यह व्याख्या यूरोप से प्रकाशित हुई थी। चिरकाल से यह अप्राप्य थी। इसका नवीन परिशुद्ध संस्करण सं० २०३५ में अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है।

धातुपारायण-संक्षेप—आचार्य हेमचन्द्र ने धातुपारायण का एक संक्षेप भी रचा था।[1] इसे हम लघु धातुपारायण कह सकते हैं।

हैम धातुपारायण-टिप्पण—हैम धातुपारायण पर सं० १५१६ की लिखी किसी विद्वान् की टिप्पणी भी मिलती है।

२—गुणरत्न सूरि (सं० १४६६)

आचार्य गुणरत्न सूरि ने हैम धातुपाठ पर **क्रियारत्न-समुच्चय** नाम्नी व्याख्या लिखी है।

---

१. द्र० जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक, पृष्ठ ९७।

२. वही दीपोत्सवी अंक, पृष्ठ ९७।

परिचय—गुणरत्न सूरि ने क्रियारत्नसमुच्चय के अन्त में ६६ श्लोकों में **गुरुपर्वक्रम-वर्णन** किया है। इसमें ४६ पूर्व गुरुओं का उल्लेख है। गुणरत्न सूरि के साक्षात् गुरु का नाम **श्री देवसुन्दर** था (श्लोक ५६)। देवसुन्दर के पांच उत्कृष्ट शिष्य थे। उनके नाम श्री ज्ञानसागर, श्री कुलमण्डन, श्री गुणरत्न, श्री सोमसुन्दर और श्री साधुरत्न थे। श्राद्ध-प्रतिक्रमण की सूत्र-वृत्ति से भी इसी की पुष्टि होती है।[1]

काल—आचार्य गुणरत्न सूरि ने क्रियारत्नसमुच्चय लिखने के काल का निर्देश स्वयं इस प्रकार किया है—

काले षड्रसपूर्व[2] **१४६६ वत्सरमिते श्री विक्रमार्काद् गते**
गुर्वादेशवशाद् विमृश्य च सदा स्वान्योपकारं परम्।
ग्रन्थं श्रीगुणरत्नसूरिरतनोत् प्रज्ञाविहीनोप्यमुं
निर्हेतूपकृतिप्रधानजननैः शोध्यस्त्वयं धीधनैः ॥६३॥ पृष्ठ ३०१।

इस श्लोक के अनुसार गुणरत्न सूरि ने वि० सं० १४६६ में क्रियारत्न समुच्चय लिखा था।

क्रियारत्नसमुच्चय—गुणरत्न सूरि ने हैम धातुपारायण के अनुसार क्रियारत्नसमुच्चय ग्रन्थ लिखा है। इसमें प्राचीन मत के अनुसार सभी धातुओं के सभी प्रक्रियाओं में रूपों का संक्षिप्त निर्देश किया है। इस ग्रन्थ में धातुरूपसम्बधी अनेक ऐसे प्राचीन मतों का उल्लेख है, जो हमें किसी भी अन्य व्याकरण ग्रन्थ में देखने को नहीं मिले। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ संक्षिप्त होता हुआ भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। पं० अम्बालाल प्रे० शाह ने क्रियारत्नसमुच्चय का परिमाण ५६६१ श्लोक लिखा है।[3] ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थमान ५७७८ छपा है।

३—जयवीर गणि (सं० १५०१ से पूर्व)

हैम धातुपाठ पर जयवीर गणि की एक **अवचूरी** व्याख्या उपलब्ध होती है। इसका लेखनकाल वि० सं १५०१ वैशाखसुदि ३ सोमवार है। यह भुवनगिरि पर लिखी गई है। द्र० विक्रमविजय सम्पादित हैम-धातुपाठ-अवचूरी, पृष्ठ १११।

यह काल तथा लेखन स्थान मूल ग्रन्थ के लिखने का है अथवा

---

१. द्र० क्रियारत्नसमुच्चय की अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ १, टि० ४।

२. यहां पाठभ्रंश है। ३. वही दीपोत्सवी अंक, पृष्ठ ८८।

प्रतिलिपि करने का है, यह अज्ञात है। सम्भावना यही है कि यह मूल ग्रन्थ के लेखन का काल है।

सम्पादक विक्रमविजय की भूल—हैम धातुपाठ-अवचूरि के सम्पादक ने लिखा है कि चन्द्र ने चुरादि में २, ३ ही धातुएं पढ़ी हैं (द्र० पृष्ठ ११०-१११)। यह सम्पादक की भारी भूल है। प्रतीत होता है कि उन्होंने मुद्रित चान्द्र धातुपाठ का अवलोकन ही नहीं किया।

४—अज्ञातनामा-टिप्पणीकार (सं० १५१६ वि०)

हैम धातुपाठ पर किसी अज्ञातनामा विद्वान् की सं० १५१६ की लिखी हुई टिप्पणी भी मिलती है। द्र० मुनि दक्षविजय सम्पादित हैम धातुपाठ, सं १९९६ वि०।

५—आख्यात-वृत्तिकार

श्री जैन सत्यप्रकाश वर्ष ७, दीपोत्सवी अंक पृष्ठ ८९ पर किसी अज्ञातनामा लेखक की आख्यातवृत्ति का उल्लेख है।

६—श्री हर्षकुल गणि (१६ वीं शती वि०)

श्री हर्षकुल गणि ने हैम धातुपाठ को पद्यबद्ध किया है। इसका नाम **कविकल्पद्रुम** है। इसमें ११ पल्लव हैं। प्रथम पल्लव में धातुस्थ अनुबन्धों के फलों का निर्देश किया है। २—१० तक ९ पल्लवों में धातुपाठ के ९ गणों का संग्रह है। ११ वें पल्लव में सौत्र धातुओं का निर्देश है।

कविकल्पद्रुम की टीका—हर्षकुल गणि ने अपने कविकल्पद्रुम पर **धातुचिन्तामणि** नाम की टीका भी लिखी थी। यह टीका सम्प्रति केवल ११ वें पल्लव पर ही उपलब्ध है।

काल—हर्षकुलगणि ने ११ वें पल्लव के १० वें श्लोक की टीका के आगे लिखा है—

…नामधातुविशेषविस्तरस्तु श्रीगुणरत्नसूरिविरचितक्रियारत्नसमुच्चयग्रन्थादवसातव्यः। पृष्ठ ६१।

क्रियारत्नसमुच्चय का काल वि० सं० १४६६ है, यह हम पूर्व (पृष्ठ १३६-१३७) लिख चुके हैं। कविकल्पद्रुम के प्रकाशक ने हर्षकुलगणि का काल सामान्यतया वि० की १६ वीं शती माना है।

प्रक्रिया-ग्रन्थान्तर्गत धातुव्याख्याता

विनयविजय गणि ने हैमलघुप्रक्रिया और मेघविजय ने हैमकौमुदी नाम के प्रक्रिया ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें धातुपाठ की धातुओं का व्याख्यान उपलब्ध होता है।

—:०:—

१८—मलयगिरि (सं० ११८८-१२५०)
१९—क्रमदीश्वर (सं० १२५० के लगभग)
२०—सारस्वतकार (स० १२५० के लगभग)
२१—वोपदेव (सं० १३२५-१३७०)
२२—पद्मनाभदत्त (सं० १४०० वि०)
२३—विनयसागर (सं० १६६०–१७०० वि०)

इन वैयाकरणों के शब्दानुशासनों का वर्णन हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में यथास्थान किया है। इन शब्दानुशासनों के अपने-अपने धातुपाठ हैं और उन पर कतिपय वैयाकरणों के व्याख्याग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

सारस्वत धातुपाठ

हर्षकीर्ति नामक विद्वान् ने सारस्वत व्याकरण से संबद्ध धातुपाठ की रचना और उस पर धातुतरङ्गिणी नाम्नी स्वोपज्ञ व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोधसंस्थान होशियारपुर के संग्रह (सूचीपत्र भाग १, पृष्ठ ७०) तथा अनेक जैन भाण्डागारों में विद्यमान हैं।

श्री अगरचन्द नाहटा का 'हर्षकीर्ति विरचित धातुतरङ्गिणी' शीर्षक एक लेख 'श्रमण' पत्रिका (वाराणसी) के वर्ष ३० अङ्क १२ (अक्टूबर १९७९) में छपा है। हम उसके आधार पर ही निम्न पंक्तियां लिख रहे हैं—

हर्षकीर्ति सूरि नागपुरीय तपा गच्छ के चन्द्रकीर्ति सूरि के शिष्य थे।[1] चन्द्रकीर्ति सूरि विरचित सारस्वत टीका का उल्लेख हम पूर्व

१. श्रीमन्नागपुरीयाह्व-तपोगणकजारुणाः।.........
श्रीचन्द्रकीर्त्तिसूरीन्द्राश्चन्द्रचन्द्रवच्छ्वभूकीर्तयः ॥१३॥

प्रथम भाग में कर चुके हैं। हर्षकीर्ति सूरि ने व्याकरण छन्द काव्य स्तोत्र और ज्योतिष विषय के अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इन्होंने सारस्वत का धातुपाठ रचा था।[1] धातुपाठ के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि बाकलीवाल गोत्र के हेमसिंह खण्डेलवाल की अभ्यर्थना पर यह ग्रन्थ रचा था।[2] इस श्लोक की टीका के अनुसार हेमसिंह के प्रपितामह नेमदास ने टुंक (=टोंक) नगर में पार्श्वनाथ-प्रासाद की रचना की थी।[3] इस धातुपाठ में १८९१ धातुएं थीं।[4] हर्षकीर्ति सूरि ने स्वीय धातुपाठ की 'धातुतरङ्गिणी' नाम्नी व्याख्या लिखी थी।[5]

हर्षकीर्ति का संबन्ध सिकन्दर सूर से था। सिकन्दर सूर को हुमायूं ने सरहिन्द के समीप सं० १६१२ (सन् १५५५) में पराजित करके अपना राज्य पुनः प्रतिष्ठित किया था। धातुतरङ्गिणी की प्रशस्ति के ४ थे श्लोक में पद्मसुन्दर गणि का शाह अकबर से संबन्ध दर्शाया है।[6] इससे स्पष्ट है कि हर्षकीर्ति ने धातुतरङ्गिणी की रचना

---

१. तच्छिष्या हर्षकीर्त्याह्व सूरयो व्यदधुः स्फुटम् ।
धातुपाठमिमं रम्यं सारस्वतमतानुगमम् ॥१४॥

२. खण्डेलवालसद्वंशे हेमसिंहाभिधः सुधीः ।
तस्याभ्यर्थनया ह्येव निर्मितो नन्दतात् चिरम् ॥१५॥

३. षंडेलवाल ज्ञातो बाकलीवाल गोत्रे टुंकनगरे पार्श्वनाथ प्रासाद कारक नेमदास पुत्र साह श्री जइतात पुत्र सा० गेहात तस्यात्मज साहहेम सिंहाभ्यर्थनयाऽऽग्रहेण धातुपाठः कृतः। [नेमदास–साह जइता–साहगेहा–साह हेमसिंह]

४. संख्याने सर्वधातूनामेतेषामेक संख्यया ।
अष्टादशशतान्येक नवत्युत्तरतां ययुः ॥२॥

५. धातुपाठस्य टीकेयं नाम्नाधातुतरङ्गिणी।……॥६॥……श्री…।
श्रीमन्नागपुरीयतपगच्छाधिपभट्टारकश्रीहर्षकीर्तिसूरिविरचितं स्वोपज्ञधातुपाठविवरणं सम्पूर्णम्। समाप्तो (? प्ते)यं धातुतरङ्गिणी स्वश्रेयसे कल्याणमस्तु ।

६. साहेः संसदि पद्मसुन्दरगणिर्जित्वा महापण्डितम् ।
क्षौम ग्राम सुरषा(शा)सनाद् अकबर श्रीसाहितोलब्धवान् ।

शाह अकबर के राज्य के प्रारम्भिक काल में सं० १६१३–१६२५ (सन् १५५६–१५६८) के मध्य की होगी।

वोपदेवीय धातुपाठ-कविकल्पद्रुम

वोपदेव ने अपना धातुपाठ पद्यबद्ध लिखा है। इसका नाम **कविकल्पद्रुम** है। एक 'कविकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ हर्षकुलगणि ने भी लिखा है। यह हैम धातुपाठ पर है (द्र०—भाग २ पृष्ठ १३७)।

कविकल्पद्रुम की व्याख्या

१—**कविकामधेनु**—कविकल्पद्रुम पर ग्रन्थकार ने **कविकामधेनु** नाम की व्याख्या स्वयं लिखी है। एक 'कविकामधेनु' नामक ग्रन्थ दवव्याख्या पुरुषकार में पृष्ठ २६,६४ पर उद्धृत है। यह कविकल्पद्रुम की कामधेनुव्याख्या से भिन्न ग्रन्थ है। इसमें पाणिनीय सूत्र उद्धृत हैं। देखो—पुरुषकार पृष्ठ ६४।

२—**रामनाथकृत**—सरस्वती भवन वाराणसी के संग्रह में वोपदेव के धातुपाठ पर रामनाथ (रमानाथ ?) की टीका सुरक्षित हैं। इस हस्तलेख के अन्त में लेखनकाल १७८३ शकाब्द अङ्कित है। ग्रन्थकार का काल सन्दिग्ध है।

३—**धातुदीपिका**—यह टीकाग्रन्थ वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य के आत्मज दुर्गादास विद्यावागीश ने लिखा है। दुर्गादास विद्यावागीश का काल ईसा की १७ शती माना जाता है। द्र०—पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति राजशाही संस्क० भूमिका पृष्ठ ६।

धातुपाठ संबद्ध कतिपय ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार

धातुपाठ से सम्बद्ध कतिपय ऐसे ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम धातुवृत्तियों में उपलब्ध होते हैं, जिनका सम्बन्ध किसी तन्त्रविशेष से अज्ञात है। उनका नामनिर्देश हम नीचे करते हैं, जिससे भावी लेखकों को उनके यथावत् सम्बन्ध के अनुसन्धान में सुभीता हो।

ग्रन्थनाम

१—**पञ्चिका**—क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ ५८,११० पर उद्धृत।

२—**पारायण**—क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १०,२६१,३०५ पर उद्धृत।

३—**प्रक्रियारत्न**—धातुवृत्ति में बहुत्र तथा पुरुषकार पृष्ठ १०२ पर उद्धृत है।

४—**कविकामधेनु**—पुरुषकार पृष्ठ २९, ९४ पर उद्धृत।

५—**सम्मता**—धातुवृत्ति पृष्ठ ६२ तथा बहुत्र। द्र०—**सम्मतायां तु वर्धमानवदुक्त्वाऽन्यैस्त्वयमिदित् पठ्यत इत्युक्तम्**। धातु० पृ० ६२।

संख्या ४ का कविकामधेनु ग्रन्थ सम्भवतः धातुपाठ की व्याख्या न होकर अमरकोश की व्याख्या हो।[1]

ग्रन्थकारनाम

१—**आर्य**—क्षीरत० पृष्ठ २५२। पुरुषकार पृष्ठ ४२, ६६, ६८, ८३, १०४।

२—**आभरणकार**—धातुवृत्ति, बहुत्र। यथा पृष्ठ २३४।

३—**अर्हित**—क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १०१।

४—**उपाध्याय**—क्षीरत०, पृष्ठ १८।

५—**कविकामधेनुकार**—पुरुषकार पृष्ठ ४१।

६—**काश्यप**—धातुवृत्ति, बहुत्र।

७—**कुलचन्द्र**—धातुदीपिका, पृष्ठ २३५।

८—**कौशिक**—क्षीरत०, पृष्ठ १४,१९ आदि अनेकत्र। पुरुषकार पृष्ठ १२,६४,६७।

९—**गुप्त**—क्षीरत०, पृष्ठ ६६, ११२, ३२०, ३२३। पुरुषकार पृष्ठ ६६,९०।

१०—**गोविन्द भट्ट**—धातुदीपिका, पृष्ठ १७३,२३७।

११—**चतुर्भुज**—धातुदीपिका, पृष्ठ २८, २१०, २३७ आदि।

१२—**द्रमिड**—क्षीरत०, पृष्ठ २२,३४ आदि बहुत्र। पुरुषकार ३२,४६,६८,८३,१०४।

१३—**धनपाल**—पुरुषकार, पृष्ठ ११, २२, २६ आदि बहुत्र। धातुवृत्ति पृष्ठ ६१, १३६ आदि अनेकत्र।

---

१. 'प्रसूतं कुसुमं समम्' (अमर २।४।१७) इत्यत्र कविकामधेनु…… पृष्ठ २९। तथा 'अकुंसश्च……(अमर १।६।११,१२) इत्यत्र कविकामधेनुकार……। पृष्ठ ४१।

१४—धातुवृत्तिकार—पुरुषकार, पृष्ठ ८,२६,४७।

१५—पञ्जिकाकार—क्षीरत० पृष्ठ ५८, पं० २० पाठा०।

१६—पारायणिक—क्षीरत०, पृष्ठ १,२,१८२,३२३। पुरुषकार, पृष्ठ ८५,१११।

१७—भट्ट शशांकधर—क्षीरत०, पृष्ठ ७।

१८—मल्ल—क्षीरत०, पृष्ठ ५४।

१९—वर्धमान—धातुवृत्ति, पृष्ठ १३५। धातुदीपिका, पृष्ठ ८।

२०—वृत्तिकृत्—(धातुवृत्तिकृत्) क्षीरत०, पृष्ठ २०।

२१—सभ्य—क्षीरत०, पृष्ठ १८, ३६ आदि बहुत्र। पुरुषकार, पृ० ९१।

२२—सुधाकर—पुरुषकार, पृष्ठ ११, २८,३१ आदि बहुत्र। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २३।

२३—सुबोधिनीकार—धातुवृत्ति बहुत्र।

२४—स्वामी—क्षीरत०, पृष्ठ ५६।

२५—हेवाकिन—क्षीरत०, पृष्ठ १२५।

विशेष

(१) **वर्धमान मैत्रेय का अनुयायी**—सायण धातुवृत्ति (पृष्ठ १३५) में लिखता है—**वर्धमानोऽपि मैत्रेयवल्लकारवन्तमिदितं चापठत्**। इससे विदित होता है कि वर्धमान मैत्रेय से उत्तरवर्ती है। एक वर्धमान गणरत्नमहोदधि का रचयिता है। यह वर्धमान उससे भिन्न प्रतीत होता है।

(२) **धनपाल शाकटायन का अनुसारी**—सायण ने भौवादिक मचि धातु के व्याख्यान में लिखा है—**धनपालस्तावत् शाकटायनानुसारी** (धातुवृत्ति पृष्ठ ६१)। इससे स्पष्ट है कि धनपाल शाकटायन का उत्तरवर्ती है, और सम्भवतः शाकटायनीय धातपाठ का व्याख्याकार है।

(३) **आभरणकार हरदत्त से उत्तरवर्ती**—सायण धातुवृत्ति में लिखता है—

'आभरणकारस्तु तालव्यान्तं पठित्वा 'वा निश' इति सूत्रमपि स्वपाठानुगुणं पपाठ। तत्त 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इत्यत्र वृत्तिन्यासपदमञ्जर्याद्यपर्यालोचनविजृम्भितम्'। पृष्ठ २३४।

इससे ध्वनित होता है कि सायण के मत में आभरणकार हरदत्त से उत्तरवर्ती है।

कतिपय अनिर्ज्ञातसंबंध हस्तलिखित ग्रन्थ

१—**धातुमञ्जरी**—काशीनाथविरचित धातुमञ्जरी का एक कोश जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में सुरक्षित है। (द्र०–सूचीपत्र सं० १४८, पृष्ठ ४२)। दूसरा भण्डारकर प्राच्यशोध प्रतिष्ठान पूना में विद्यमान है।

यह ग्रन्थ सन् १८१५ में लन्दन से अंग्रेजी अनुवाद सहित छपा था। इसका सम्पादन चार्ल्स विल्किसन ने किया था। सम्पादक ने धातुमञ्जरी में व्याख्यात धातुओं को अकारादि क्रम से छापा है। इस ग्रन्थ का मूल पाठानुसारी सम्पादन सौन्दर्य शास्त्री रामाश्रय शुक्ल कर रहे हैं।

२—**धातुमञ्जरी**—इसका लेखक रामसिंह वर्मा है। यह छप चुका है परन्तु हमारे देखने में नहीं आया।

३—**तिङन्तशिरोमणि**—अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र में सं० ३९६ पर धातुपाठ का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। इसमें एक पाठ है—

'तिङन्तशिरोमणिरीत्या धातवो लिख्यन्ते'।

४—**धातुमाला**—अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र में संख्या ३९७ पर इसका हस्तलेख निर्दिष्ट है। यह ग्रन्थ पूर्ण है।

इस प्रकार आचार्य पाणिनि से उत्तरवर्ती धातुपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याताओं के विषय में लिखकर अगले अध्याय में गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याताओं के विषय में लिखेंगे॥

तेईसवां अध्याय

गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता

गणपाठ का स्थान—पञ्चाङ्गी अथवा पञ्चग्रन्थी व्याकरण[1] में गणपाठ का सूत्रपाठ और धातुपाठ के अनन्तर तृतीय स्थान है। जब व्याकरण अथवा शब्दानुशासन का अर्थ केवल सूत्रपाठ तक सीमित समझा जाता है, उस अवस्था में सूत्रपाठ के अतिरिक्त चारों ग्रन्थों को खिल अथवा परिशिष्ट का रूप दिया जाता है। इस दृष्टि से गण-पाठ का खिलपाठों में द्वितीय स्थान है।

गण शब्द का अर्थ—गण शब्द गण संख्याने (क्षीरत०) धातु से निष्पन्न माना जाता है। तदनुसार गण शब्द का मूल अर्थ है—**जिनकी गिनती की जाए।**

गण और समूह में भेद—यद्यपि सामान्यतया गण-समूह-समुदाय समानार्थक शब्द हैं, तथापि गण और समूह अथवा समुदाय में मौलिक भेद है। गण उस समूह अथवा समुदाय को कहते हैं, जहां पौर्वापर्य का कोई विशिष्ट क्रम अभिप्रेत होता है। समूह अथवा समुदाय में क्रम की अपेक्षा नहीं होती।

गणपाठ शब्द का अर्थ—गणों का=क्रमविशेष से पढ़े गए शब्द-समूहों का जिस ग्रन्थ में पाठ (=संकलन) होता है उसे 'गणपाठ' कहते हैं। इस सामान्य अर्थ के अनुसार धातुपाठ को भी गणपाठ कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें भी क्रमविशेष से पठित १० धातुगणों का संकलन है। इसी दृष्टि से धातुपाठ के लिए कहीं-कहीं गणपाठ शब्द का प्रयोग भी उपलब्ध होता है[2]। परन्तु वैयाकरण वाङ्मय में गणपाठ

---

१. हेमचन्द्राचार्यैः श्रीसिद्धहेमाभिधानाभिधं पञ्चाङ्गमपि व्याकरण ....। प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ४६०। बुद्धिसागर प्रोक्त व्याकरण का एक नाम 'पञ्चग्रन्थी' था। सं० व्या० इतिहास, भाग १, बुद्धिसागर-व्याकरण प्रकरण। व्याकरण के ये पांचों ग्रन्थ लोक में 'पञ्चपाठी' नाम से प्रसिद्ध हैं।

२. गणपाठस्तु पूर्वमेवाङ्गीक्रियते। न्यास भाग १, पृष्ठ २११॥ न

शब्द का प्रयोग उसी ग्रन्थ के लिए होता है, जिसमें केवल प्रातिपदिक शब्दों के समूहों का संकलन है, अर्थात् गणपाठ शब्द वैयाकरणनिकाय में शुद्ध यौगिक न रह कर योगरूढ़ बन गया है।

गणपाठ का सूत्रपाठ से पार्थक्य—अति पुराकाल में जब शब्दों का उपदेश प्रतिपद-पाठ द्वारा होता था[1], तब शब्दस्वरूपों की समानता के आधार पर कुछ शब्दसमूह निर्धारित किए गए होंगे। उत्तरवर्ती काल में जब शब्दोपदेश ने प्रतिपद-पाठ की प्रक्रिया का परित्याग करके लक्षणात्मक रूप ग्रहण कर लिया, उस काल में भी समान कार्य के ज्ञापन के लिए निर्देष्टव्य प्रातिपदिक अथवा नामशब्दों के समूहों को तत्तत् सूत्रों में ही स्थान दिया गया।[2] और उस समूह के आदि (=प्रथम) शब्द के आधार पर ही आरम्भ में कुछ संज्ञाएं रखी गई। उत्तरकाल में अर्थ की दृष्टि से अन्वर्थ और शब्दलाघव की दृष्टि से एकाक्षर संज्ञाओं की प्रकल्पना हो जाने पर भी अति-पुराकाल की प्रथम शब्द पर आधृत संज्ञा का व्यवहार पाणिनीय व्याकरण में भी क्वचित् सुरक्षित रह गया है।[3]

तस्य पाणिनिरिव प्रस भुवि इति गणपाठः। न्यास १।३।२२॥

१. एवं हि श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। महा० नवा० पृष्ठ ५० (निर्णयसागर)।

२. महाराज भोज द्वारा प्रोक्त सरस्वतीकण्ठाभरण में यह शैली देखी जा सकती है।

३. पाणिनि के शास्त्र में एकाक्षर से बड़ी जो भी संज्ञाएं हैं, वे सब अन्वर्थ हैं। परन्तु एक 'नदी' संज्ञा ऐसी है, जो महती संज्ञा होते हुए भी अन्वर्थ नहीं है। यह संज्ञा पूर्वाचार्यों द्वारा गणादि शब्द के आधार पर रखी गई संज्ञाओं में से बची हुई संज्ञा है। अर्थात् पूर्वाचार्यों ने स्त्रीलिंग दीर्घ ईकारान्त शब्दों का जो समूह पढ़ा होगा, उसमें नदी शब्द का पाठ प्रथम रहा होगा। उसी के आधार पर उस समुदाय को नदी संज्ञा रखी गई होगी (आधुनिक परिभाषा में ऐसे समुदाय को नद्यादि कहा जाता है)। इसी प्रकार की 'अग्नि' और 'श्रद्धा' दो संज्ञाएं कातन्त्र व्याकरण में उपलब्ध होती हैं ('इदुदग्निः' २।१।८; 'आ श्रद्धा' २।१।१०)। इन संज्ञाओं के प्रकाश में पाणिनि के 'गोतो णित्' (७।१।६०) सूत्र में 'गो' शब्द ओकारान्तों की संज्ञा प्रतीत होती है, 'गोतः' में पञ्चम्यर्थक

उत्तरकाल में अध्येताओं के मतिमान्द्य तथा आयु-ह्रास के कारण जब समस्त वाङ्मय में संक्षेपीकरण आरम्भ हुआ, तब शब्दानुशासनों को भी संक्षिप्त करने के लिये समानकार्यज्ञापनार्थ निर्देष्टव्य तत्तद् गण अथवा समुदाय के प्रथम शब्द के साथ आदि अथवा प्रभृति शब्द को जोड़कर सूत्रपाठ में रखा और आदि पद से निर्देष्टव्य शब्द-समूहों को सूत्रपाठ से पृथक् पढ़ा।

गणशैली का उद्भव और पूर्व वैयाकरणों द्वारा प्रयोग—गणशैली के उद्भव के मूल में शास्त्र का संक्षेपीकरण मुख्य हेतु है। उसी लाघव के लिए शास्त्रकारों ने गणशैली को जन्म दिया। इस गणशैली का प्रयोग पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों ने भी अपने शब्दानुशासनों में किया है। उनके कतिपय निर्देश पूर्ववैयाकरणों के उपलब्ध सूत्रों और वैदिक व्याकरणों में उपलब्ध होते हैं।[1]

पाणिनि से पूर्ववर्ती गणपाठ-प्रवक्ता

आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के शब्दानुशासन इस समय उपलब्ध नहीं, अतः किस-किस वैयाकरण आचार्य ने अपने शब्दानुशासन के साथ गणपाठ का प्रवचन किया था, यह सर्वथा

तसिल् का प्रयोग है,। 'गोतः' में तपरकरण नहीं हो सकता, क्योंकि तपरकरण तत्काल वर्णों के ग्रहण के लिये स्वरों के साथ ही किया जाता है गो संज्ञा मान लेने पर 'द्यो' शब्द के उपसंख्यान अथवा 'ओतो णित्' पाठान्तर कल्पना की आवश्यकता भी नहीं रहती।

१. इस विषय के विस्तार के लिए देखिए हमारे मित्र प्रो० कपिलदेवजी, साहित्याचार्य, एम. ए., पी. एच. डी. द्वारा लिखित 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्र में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' नामक निबन्ध का प्रथम और द्वितीय अध्याय। यह ग्रन्थ 'भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' (अजमेर) की ओर से छपा है और रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत) से प्राप्त होता है। सम्पूर्ण शोध ग्रन्थ अंग्रेजी में कुरुक्षत्र विश्वविद्यालय से छप चुका है। इसी विषय पर एस. एम. अयाचित का 'गणपाठ ए क्रिटिकल स्टडि' नाम निबन्ध भी उपयोगी है। यह निबन्ध (लिङ्ग्विस्टिक सोसाइटी आफ इण्डिया' डक्कन कालेज पूना की) 'इण्डियन लिङ्ग्विस्टिक' पत्रिका के भाग २२ सन् १९६१ में छपा है।

अज्ञात है। प्राचीन वैयाकरणों के उपलब्ध सूत्रों और उद्धृत मतों से इस विषय में जो प्रकाश पड़ता है, तदनुसार पाणिनि से पूर्ववर्ती निम्न आचार्यों ने अपने-अपने तन्त्रों में गणपाठ का प्रवचन किया था—

१. भागुरि (४००० वि० पूर्व)

आचार्य भागुरि के व्याकरणशास्त्र और उसके काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ १०४-११० (च० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं। वहीं पर पृष्ठ १०६-१०७ पर भागुरि-व्याकरण के उपलब्ध कतिपय वचन तथा मत लिखे हैं। उनमें निम्न वचन विशेष द्रष्टव्य हैं—

मुण्डादेस्तत्करोत्यर्थे, गृह्णात्यर्थे कृतादितः।
वक्तीत्यर्थे च सत्यादेर्, अङ्गादेस्तन्निरस्यति॥[1]
तूस्ताद्विघाते, संछादेर्वस्त्रात् पुच्छादितस्तथा।[2]
सेनातश्चाभियाने णिः, श्लोकादेरप्युपस्तुतौ॥[3]

इन उद्धरणों में **मुण्डादि, कृतादि, सत्यादि, पुच्छादि** और **श्लोकादि** पांच गणों का निर्देश है। बिना गणपाठ के पृथक् प्रवचन के इस प्रकार के आदि पद घटित निर्देशों का कोई अर्थ नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि भागुरि ने गणपाठ का पृथक् प्रवचन अवश्य किया था।

एक अन्य प्रमाण—भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तम देव ने ४।१।१० की व्याख्या करते हुए लिखा है **नप्तेति भागुरिः**। अर्थात् भागुरि के मत में नप्तृ शब्द भी **स्वस्रादि** गण में पठित था, इसलिए उससे स्त्रीलिंग में ङीप् न होकर **नप्ता** प्रयोग ही होता था।

उक्त पाठ में अशुद्धि—पुरुषोत्तम देव द्वारा उद्धृत भागुरि मत-निदर्शक पाठ में हमें कुछ अशुद्धि प्रतीत होती है। कातन्त्र परिशिष्ट की गोपीनाथ कृत टीका पृष्ठ ३८६ (गुरुनाथ विद्यापति का संस्क०) में **नप्तेति भागवृत्ति, नप्त्रीति भागुरिः** पाठ मिलता है। 'नप्ता' में ङीप् नहीं होता, यह मत भागवृत्तिकार के नाम से अन्य ग्रन्थों में भी उद्धृत है। यथा—

---

१. जगदीश तर्कालंकार कृत शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृष्ठ ४४४ (काशी सं०)। २. वही, पृ० ४४५। ३. वही, पृ० ४४६।

भागवृत्तिकारस्तु नप्तृशब्दमपि स्वस्रादिषु पठित्वा नप्ता कुमारी इत्युदाजहार'। शब्दकौस्तुभ, भाग ३, पृष्ठ १०।

'भागवृत्तिकृद् नप्तृशब्दं स्वस्रादौ पठितवान्'। दुर्घटवृत्ति, पृष्ठ ७४।

हमारे विचार में पुरुषोत्तमदेव के पाठ में कुछ भ्रंश हुआ है। सम्भव है यहां **नप्तेति भागवृत्तिः नप्त्रीति भागुरिः** ही मूल पाठ हो, और लेखक के दृष्टिदोष से दोनों नामों में 'भाग' शब्द की समानता के कारण लेखन में पाठ छूट गया हो, अथवा मुद्रणकाल में संशोधक के दृष्टिदोष से पाठ रह गया हो।

कुछ भी हो, भागुरि का गणपाठप्रवक्तृत्व तो उभयथा प्रज्ञापित होता है। **नप्तेति भागुरिः** पाठ से प्रतीत होता है कि भागुरि ने 'स्वस्रादि' गण में 'नप्तृ' का भी पाठ किया था। **नप्त्रीति भागुरिः** से प्रज्ञापित होता है कि भागुरि ने 'स्वस्रादि' गण में 'नप्तृ' का पाठ नहीं किया था। भागुरि ने **स्वस्रादि** गण पढ़ा था, यह तो सर्वथा स्पष्ट है।

---

२. शन्तनु (सं० ३००० वि० पूर्व०)

आचार्य शन्तनु कृत शब्दानुशासन के उपलभ्यमान एकदेश **फिट्-सूत्रों** में कुछ गणों का निर्देश मिलता है। यथा—**घृतादि, ग्रामादि**। ये नियतपठितगण नहीं हैं, आकृतिगण हैं, ऐसा आधुनिक व्याख्याताओं का मत है। यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाये तब भी उसके शब्दानुशासन में गणपरम्परा तो माननी ही होगी। शन्तनु के काल आदि के विषय में 'फिट्सूत्रों का प्रवक्ता और व्याख्याता, नामक २७ वें अध्याय में लिखेंगे।

---

३. काशकृत्स्न (सं० ३००० वि० पू०)

काशकृत्स्न के धातुपाठ का इसी भाग में पूर्व वर्णन कर चुके हैं। धातुपाठ के पृथक् प्रवचन करने वाले वैयाकरण ने गणपाठ का भी पृथक् प्रवचन अवश्य किया होगा, इसमें सन्देह का कोई अवसर नहीं।

चन्नवीर कविकृत धातुपाठ की कन्नड टीका में काशकृत्स्न के जो १३५ सूत्र उपलब्ध हुए हैं,[1] उनमें एक सूत्र है—

क्षिप्नादीनां न नो णः । पृष्ठ २४७ ।[2]

अर्थात्—**क्षिप्ना** प्रभृति शब्दों में न के स्थान में ण नहीं होता। यथा **क्षिप्नाति** ।

इस सूत्र की पाणिनि के **क्षुभ्नादिषु च** (अष्टा० ८।४।३९) सूत्र से तुलना करने पर स्पष्ट है कि काशकृत्स्न ने कोई **क्षिप्नादि गण** अवश्य पढ़ा था।

---

४. आपिशलि (सं० २९०० वि० पू०)

आपिशलि के व्याकरण और उसके काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ १४६-१५८ (च० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं। पाणिनि द्वारा स्मृत आचार्यों में आपिशलि ही एक ऐसा आचार्य है, जिसके विषय में हम अन्यों की अपेक्षा अधिक जानते हैं। पदमञ्जरीकार हरदत्त के मतानुसार पाणिनीय तन्त्र की पृष्ठ-भूमि प्रधानरूप से आपिशल व्याकरण ही है।[3] हरदत्त के लेख की पुष्टि आपिशलि और पाणिनि के उपलब्ध शिक्षासूत्रों की तुलना से भी होती है। दोनों आचार्यों के शिक्षासूत्रों में कुछ साधारण सा वैशिष्ट्य है,[4] अन्यथा दोनों में समानता है। आपिशलि के व्याकरण

---

१. इन सूत्रों की विशद व्याख्या के लिए देखिए 'काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र' नामक निबन्ध।

२. उक्त निबन्ध, क्रमिक सूत्र संख्या ११३।

३. कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनाऽवगतमेते साधव इति? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन.........। पदमञ्जरी, 'अथ शब्दा०' भाग १, पृष्ठ ६। इसी प्रकार पृष्ठ ७ पर भी लेख है।

४. पाणिनीय शिक्षासूत्रों में अष्टाध्यायी के समान आपिशलि का मत भी उद्धृत है। द्र० पृष्ठ संख्या १८, सूत्र ८।२५ दोनों शिक्षासूत्रों का विस्तृत विवेचनायुक्त आदर्श संस्करण हम प्रकाशित कर चुके हैं।

के जो सूत्र, संज्ञा और प्रत्याहार आदि उपलब्ध हुए हैं, वे भी पाणिनीय सूत्र, संज्ञा और प्रत्याहारों से प्रायः समानता रखते हैं।[1]

गणपाठ

आचार्य आपिशलि ने स्वशब्दानुशासन से संबद्ध गणपाठ का पृथक् प्रवचन किया था। आपिशलि के सर्वादिगण के पाठक्रम का निर्देश करनेवाला आचार्य भर्तृहरि का एक वचन इस प्रकार है—

'इह त्यदादीन्यापिशलैः किमादीन्यस्मत्पर्यन्तानि, ततः पूर्वापरावरेति'........'। महाभाष्यदीपिका, हमारा हस्तलेख, पृष्ठ २८७, पूना संस्क० पृष्ठ २१६।

अर्थात् आपिशलि के गणपाठ में **त्यदादि—किम्** से लेकर **अस्मत्** पर्यन्त थे, तत्पश्चात् **पूर्वापरावर** आदि गणसूत्र पठित थे।

भर्तृहरि के उक्त वचन की पुष्टि प्रदीपकार कैयट के निम्न वचन से भी होती है—

'त्यदादीनि पठित्वा गणे कैश्चित् पूर्वादीनि पठितानि'।[2]

इन उद्धरणों से आपिशलि के गणपाठ की सत्ता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

पाणिनि से पूर्ववर्ती अन्य गणकार

पाणिनि से पूर्ववर्ती अन्य वैयाकरणों ने भी गणपाठ का प्रवचन किया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु उनके स्पष्ट निर्देशक प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हुए, इसलिए हमने अन्यों का उल्लेख नहीं किया। प्रातिशाख्य-प्रवक्ताओं में भी कुछ एक ने गणपाठशैली का आश्रय लिया था, यह उनके विभिन्न सूत्रों से स्पष्ट है। इस विषय के विस्तार के लिए प्राध्यापक कपिलदेव साहित्याचार्य एम० ए० पीएच० डी का **"संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि"** निबन्ध का द्वितीय अध्याय देखना चाहिए।[3]

पाणिनीय गणपाठ में कतिपय ऐसे अंश हैं, जिनसे प्रतीत होता

---

१. द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, पृष्ठ १५१–१५६।

२. महा० प्रदीप १।१।३३॥

३. यह ग्रन्थ रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत) से प्राप्य है।

है कि पाणिनि ने उन अंशों को अपने से पूर्ववर्ती किन्हीं गणपाठों से उसी रूप में ग्रहण कर लिया है। यथा—

वाजाऽसे ।४।१।१०५ **बष्कयाऽसे** ।४।१।८६।
राजाऽसे ।५।१।१२८ **हृदयाऽसे** ।५।१।१३०।।

इन गणसूत्रों में **असे** शब्द से **असमासे** का निर्देश है। पाणिनीय शब्दानुशासन में कहीं पर भी असमास के लिए **अस** का निर्देश उपलब्ध नहीं होता। पाणिनि से पूर्ववर्ती ऋक्तन्त्र में इस प्रकार के निर्देश बहुधा उपलब्ध होते हैं। यथा—

समासे का **मासे** शब्द से।[1]
स्ववरे का **रे** शब्द से।[2]
लघु का **घु** शब्द से।[3]
स्तोभे का **भे** शब्द से।[4]

इसी प्रकार अनेक संज्ञाशब्दों का उसके अन्त्य अक्षर से निर्देश मिलता है। इनकी पूर्वनिर्दिष्ट गणसूत्रों में प्रयुक्त **असे** पद के साथ तुलना करने से निश्चित है कि पाणिनि ने अपने गणपाठ के प्रवचन में पूर्वाचार्यों के उक्त गणसूत्रों को उसी रूप में संगृहीत कर लिया है, उसमें स्वशास्त्र के अनुसार परिष्कार भी नहीं किया। आचार्य पाणिनि की यह शैली उसके शब्दानुशासन में भी परिलक्षित होती है। यथा—

औङ आपः । ७।१।१८।।
आङि चापः ।७।३।१०५।।
आङो नाऽस्त्रियाम् ।७।३।१२०।।

इन सूत्रों में स्मृत **आङ्** और **औङ्** प्रत्यय पाणिनि के शब्दानुशासन में कहीं पर भी पठित नहीं है। यहां पाणिनि ने पूर्व आचार्यों

---

१. मासे धमृति ३।५।३० (पूर्ण संख्या १०३) ।। सप्रकृतिर्मासि संक्रकयोः। ३।७।५; (पूर्ण संख्या १२५)।

२. न वृद्धं रे ३।१।८; (पूर्ण संख्या ६८) ।। रे ३।६।६; (पूर्ण संख्या ११६)। ३. युग्मं घु ४।३।१; (पूर्ण संख्या २३६) ।।

४. भे स्वे मान्तस्थी ४।१।१०; (पूर्ण संख्या १५०)।

के सूत्रों को ही अपने प्रवचन में स्थान दे दिया। अत एव भाष्यकार ने भी स्पष्ट कहा है—

निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात् ।७।१।१८।।

काशिकाकार ने भी ७।३।१०५ की व्याख्या में लिखा है—

आङ् इति पूर्वाचार्यनिर्देशेन तृतीयैकवचनं गृह्यते ।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती अनेक वैयाकरणों के गणपाठ विद्यमान थे। आचार्य पाणिनि ने उनमें कहीं पर परिष्कार करके और कहीं पर यथातथरूप में ही उनको अपने गण-प्रवचन में स्वीकार कर लिया है।

---

५. पाणिनि (सं० २९०० वि० पू०)

आचार्य पाणिनि का गणपाठ हमें उपलब्ध है, यह अत्यन्त सौभाग्य का विषय है। यदि यह लुप्त हो गया होता, तो पाणिनीय शब्दानुशासन के गणसंबन्धी सूत्रों का पूर्ण तात्पर्य कभी समझ में न आता। पाणिनीय वैयाकरण जिस गणपाठ को अपनाते हैं, उसके पाणिनीयत्व-अपाणिनीयत्व विषय में प्राचीन ग्रन्थकारों में मतवैभिन्न्य उपलब्ध होता है। इसलिए उस पर कुछ विचार करना उचित है—

गणपाठ का अपाणिनीयत्व—काशिका के व्याख्याता जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास ग्रन्थ में कई स्थानों पर लिखा है कि यह गणपाठ पाणिनीय नहीं है। यथा—

१—अथ गण एव कौशिकग्रहणं कस्मान्न कृतम्? कः पुनरेवं सति गुणो भवति? सूत्रे पुनर्बभ्रुग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति। सत्यमेतत् अपाणिनीयत्वाद् गणस्य नैवं चाकरणे पाणिनिरुपालम्भमर्हति। ४।१।१०६।।

अर्थात्—[बभ्रु शब्द गर्गादि में पढ़ा है, उसका प्रयोजन लोहितादि अन्तर्गत होने से 'ष्फ' विधान है। यदि ऐसा है तो] गर्गादिगण में ही बभ्रु के साथ कौशिक का ग्रहण क्यों नहीं किया? इस प्रकार करने में क्या लाभ होता? सूत्र में बभ्रु शब्द के ग्रहण की आवश्यकता न होती। सत्य है, गणपाठ के अपाणिनीय होने से उक्त प्रकार निर्देश न करने के विषय में पाणिनि उपालम्भ के योग्य नहीं है।

२—किंशब्दोऽयं द्व्यादिषु पठ्यते तस्य द्व्यादिभ्यः पर्युदासः क्रियते। तस्मात् सर्वनाम्नोऽपि स्वशब्देनोपादानम्। यद्येवं द्विशब्दात् पूर्वं किंशब्दः पठितव्यः। एवं हि तस्य पृथक्ग्रहणं न कर्तव्यं भवति। सत्यमेतत्। न सूत्रकारस्य इह गणपाठ इति नासावुपालम्भमर्हति। ५।३।२॥

अर्थात्—'किम्' शब्द को सर्वादि गण में द्व्यादि शब्दों में पढ़ा है। उसका **अद्व्यादिभ्यः** पद से प्रतिषेध प्राप्त होता है। उस प्रतिषेध को दूर करने के लिए सूत्र में सर्वनाम होते हुए भी 'किम्' शब्द का ग्रहण किया है। यदि ऐसा ही है तो 'किम्' शब्द को 'द्वि' से पहले पढ़ देना चाहिए [ऐसा करने पर न प्रतिषेध प्राप्त होगा और न उसको हटाने के लिए 'किम्' का ग्रहण करना होगा।] सत्य है। यहां सूत्रकार का गणपाठ नहीं है (अर्थात् गणपाठ का कर्ता अन्य है), इसलिए सूत्रकार को उपालम्भ नहीं दिया जा सकता।

कुछ अंश का वार्तिककार से भी उत्तरकालीनत्व—न्यासकार गणपाठ के कुछ अंश को वार्तिककार से भी उत्तरकालीन मानता है। वह लिखता है—

३—यद्येवं 'पद्यत्यतदर्थे' (६।३।५३) **'पद्भाव इके चरतावुपसंख्यानम्' कस्माद् उपसंख्यायते? नैष दोषः। पादः पदित्यस्यापौराणिकत्वात्** ।४।४।१०॥

अर्थात्—[पर्पादिगण में पठित **'पादः पत्'** सूत्र से ही ष्ठन् और पद्भाव होकर **पदिकः पदिकी** प्रयोग उपपन्न हो जाएंगे]। यदि ऐसा है, तो **पद्यत्यतदर्थे** (६।३।५३) सूत्र पर **पद्भाव इके चरतावुपसंख्यानम्** वार्तिक पढ़कर पद्भाव के विधान की क्या आवश्यकता है? यह कोई दोष नहीं है, **पादः** पत् गणसूत्र के आधुनिक होने से।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जिनेन्द्रबुद्धि पाणिनीय सम्प्रदायसंबद्ध गणपाठ को केवल अपाणिनीय ही नहीं मानता, अपितु उसके कुछ अंश को वह वार्तिककार से भी उत्तरकाल का मानता है।

आई. एस. पावते—न्यासकार के उक्त वचनों तथा कतिपय अन्य वचनों के आधार पर आई. एस. पावते ने भी गणपाठ के विषय में लिखा है कि अष्टाध्यायी के कर्ता ने गणपाठ तथा धातुपाठ दोनों

को अपने आचार्यों से प्राप्त किया[1], अर्थात् ये पाणिनीय नहीं हैं।

गणपाठ का पाणिनीयत्व—न्यासकार को छोड़कर प्रायः अन्य सभी पाणिनीय वैयाकरण इस गणपाठ को पाणिनि का प्रवचन मानते हैं। पुनरपि हम इसके पाणिनीयत्व के ज्ञापक कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—गणशैली को अपनाने वाला कोई भी वैयाकरण बिना गणपाठ का निर्धारण किए अपने शब्दानुशासन का प्रवचन नहीं कर सकता। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में सर्वत्र गणशैली का आश्रयण किया है, इसलिए आवश्यक है कि पाणिनि शब्दानुशासन के प्रवचन से पूर्व, तत्तद्गणसंबद्ध सूत्रों के उपदेश से पूर्व उन-उन गणों के स्वरूप का निर्धारण करे, और अनन्तर उसके साहाय्य से शब्दानुशासन का प्रवचन करे। इस दृष्टि से यह सुतरां सिद्ध है कि पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन के गणसंबद्ध सूत्रों के प्रवचन से पूर्व उन-उन गणों के स्वरूप का निर्धारण अवश्य किया होगा, और वह निर्धारण ही वर्तमान पाणिनीय-संप्रदाय-संबद्ध गणपाठ है।

२—भगवान् भाष्यकार ने जसे महाभाष्य में अनेक स्थानों पर सूत्रपठित शब्द-विशेषों से विभिन्न प्रकार के ज्ञापन करते हुए **ज्ञापयति** क्रिया के साथ आचार्य पद का निर्देश किया है, उसी प्रकार गणपाठ में पठित अनेक विशिष्ट शब्दों से भी अनेक अर्थविशेषों का ज्ञापन करते हुए आचार्य पद का प्रयोग किया है। यथा—

(क) **यदयं युक्तारोह्यादिषु एकशितिपाच्छब्दं पठति तज्ज्ञापयत्याचार्यो निमित्तस्वरान्निमित्तिस्वरो बलीयानीति**। महा० २।१।१॥

(ख) **यदयं कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दं पठति तज्ज्ञापयत्याचार्यो नैकादेशनिमित्तात् षत्वं भवतीति**। महा० ८।३।११॥

(ग) **एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोदात्तनिवृत्तिस्वरः शुन्यवतरति यदयं श्वन्शब्दं गौरादिषु पठति, अन्तोदात्तार्थं यत्नं करोति, सिद्धं हि स्यान्ङीपैव**। महा० १।४।२७,६।४।२२॥

(घ) **एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न तद्विशेषेभ्यो भवति, यदयं विपाट्शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति**। महा० १।१।२२॥

---

१. दी स्ट्रक्चर आफ अष्टाध्यायी, पृष्ठ ६१।

(ङ) एवं तर्हि सिद्धे सति यत्सवनादिषु अश्वसनिशब्दं पठति, तज्ज्ञापयत्याचार्यो अनिणन्तादपि षत्वं भवतीति। महा० ८।३।११०॥

(च) आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यकराज्ञो णत्वमिति, यदयं क्षुभ्नादिषु नृनमनशब्दं पठति। ......यस्तर्हि तृप्नोतिशब्दं पठति। महा० १।१। आ० २ (पृष्ठ १०८ निर्णयसागर)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि महाभाष्यकार सूत्रपाठ के समान ही गणपाठ का प्रवक्ता भी आचार्य पाणिनि को मानते हैं। महाभाष्यकार जैसे मूर्धाभिषिक्त आचार्य के प्रमाणों के सम्मुख जिनेन्द्रबुद्धि का कथन क्योंकर प्रमाण हो सकता है ?

जिनेन्द्रबुद्धि का वदतोव्याघात—धातुपाठ के प्रकरण में ही हम लिख चुके हैं कि जिनेन्द्रबुद्धि धातुपाठ के अपाणिनीयत्व का प्रतिपादन करते हुए अनेक स्थानों में अवरुद्ध कण्ठ से उसे पाणिनीय भी स्वीकार करता है। उसी प्रकार गणपाठ के विषय में उसके परस्पर विरुद्ध वचन उपलब्ध होते हैं। गणपाठ के अपाणिनीयत्व-प्रतिपादक वचन उद्धृत कर चुके हैं, अब हम उसके कतिपय ऐसे वचन उद्धृत करते हैं, जिनमें वह गणपाठ को पाणिनीय भी मानता है। यथा—

१—**उपदेशेऽजनुनासिक इत** (अष्टा० १।३।२) के 'उपदेश' पद की व्याख्या में काशिकाकार ने लिखा है—**उपदेशः शास्त्रवाक्यानि, सूत्रपाठ खिलपाठश्च**। अर्थात् उपदेश नाम शास्त्रवाक्यों का है, वह सूत्रपाठ और खिलपाठ रूप है। न्यासकार इसकी व्याख्या में लिखता है—

'सूत्रपाठः खिलपाठश्च। खिलपाठो धातुपाठः। चकारात् प्रातिपदिकपाठश्च'। यहाँ न्यासकार ने उपदेश पद की व्याख्या में सूत्रपाठ के समान ही प्रातिपदिकपाठ अर्थात् गणपाठ का भी निर्देश किया है। यदि सूत्रपाठ के समान ही गणपाठ भी पाणिनीय अभिप्रेत न होता, तो उसका पाणिनीय उपदेश पद से कथंचित भी ग्रहण नहीं हो सकता। यतः न्यासकार उपदेश पद की व्याप्ति गणपाठ पर्यन्त मानता है, अतः स्पष्ट है कि गणपाठ भी पाणिनीय है। अन्यथा—सूत्रपाठ और गणपाठ के प्रवक्ताओं में भिन्नता होने पर पाणिनीय सूत्र की प्रवृत्ति गणपाठ में नहीं हो सकती।

२—**कम्बलाच्च संज्ञायाम्** (५।१।३) सूत्र के विषय में न्यासकार लिखता है—

'अथ गवादिष्वेव कम्बलाच्च संज्ञायामिति कस्मान्न पठति। तत्र पाठे न कश्चिद् गुरुलाघवकृतो विशेष इति यत्किञ्चिदेतदिति'। भाग २, पृष्ठ ६।

अर्थात्—गवादि (५।१।२) गण में ही **कम्बलाच्च संज्ञायाम्** सूत्र क्यों नहीं पढ़ता। वहां पाठ करने में [और यहां पाठ करने में] कोई गौरवलाघवकृत विशेषता तो है नहीं, इसलिए वहां का पाठ प्रयोजनरहित है।

इस स्थान पर न्यासकार ने **कम्बलाच्च संज्ञायाम्** सूत्र को सूत्रपाठ में पढ़ने और गणपाठ में पढ़ने के गौरव-लाघव पर विचार किया है। यह विचार तभी उत्पन्न हो सकता है, जब कि दोनों का प्रवक्ता एक ही आचार्य हो। भिन्न-भिन्न प्रवक्ता मानने पर उक्त विचार किया ही नहीं जा सकता। इतना ही नहीं, **कस्मान्न** वाक्य में **पठति** क्रिया का कर्ता पाणिनि के अतिरिक्त और कोई नहीं माना जा सकता, क्योंकि **कम्बलाच्च संज्ञायाम्** सूत्र का पाठ पाणिनि का है, अतः उक्त वाक्य में **पठति** क्रिया का कर्ता भी पाणिनि ही है यह निश्चित है।

३—न्यासकार ने अष्टा० ५।३।२ के सूत्रपाठ और गणपाठ की तुलना करके सूत्रपाठ में जो दोष दिखाई पड़ा, उसका समाधान **न सूत्रकारस्येह गणपाठः इति नासावुपालम्भमर्हति** अर्थात् यहां सूत्रकार का गणपाठ नहीं है (गणपाठ अन्य आचार्य का है) इसलिए वह उपालम्भ योग्य नहीं हैं, ऐसा समाधान करके उक्त समाधान से सन्तुष्ट न होकर समाधानान्तर लिखता है—

'अपि च त्यदादीनां यत् यत् परं तत्तच्छिष्यते इति किमः सर्वैरेव त्यदादिभिः सहविवक्षायां शेष इष्यते—त्वं च कश्च कौ, भवांश्च कश्च कौ। स चैवं पाठे न सिद्ध्यतीति यथान्यासमेवास्तु।

अर्थात्—'त्यदादियों में जो-जो परे होता है, उसका शेष इष्ट है' इस नियम से किम् का सभी त्यदादियों के साथ सहविवक्षा में शेषत्व इष्ट है। यथा—**त्वं च कश्च कौ, भवांश्च कश्च कौ**। वह उक्त प्रकार

के पाठ में अर्थात् त्यदादियों से किम् को पूर्व पढ़ने में सिद्ध नहीं होता, इसलिए यथान्यास ही पाठ ठीक है।

यहां स्पष्ट ही न्यासकार ने पूर्व समाधान से असन्तुष्ट होकर समाधानान्तर किया, और गणपाठ के यथास्थित पाठ को युक्तियुक्त दर्शाया। इससे तथा पूर्वनिर्दिष्ट दो प्रमाणों से स्पष्ट है कि न्यासकार गणपाठ को पाणिनीय ही मानता है, परन्तु जहां-जहां दोनों में उसे विरोध प्रतीत हुआ और उसका वह समाधान नहीं कर सका, वहां-वहां उसने सूत्रपाठ को प्रधानता देने के लिए प्रौढ़िवाद से गणपाठ के अपाणिनीयत्व का प्रतिपादन किया है।

न्यासकार की भ्रान्ति का कारण और समाधान—न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि को गणपाठ के पाणिनीयत्व में जो भ्रान्ति हुई है, उसका कारण प्रोक्त और कृत ग्रन्थों के भेद का वास्तविक परिज्ञान न होना है। साम्प्रतिक अनुसंधानकर्त्ता भी प्रोक्त और कृत ग्रन्थों में भेद-ज्ञान नहीं रखते, । इसलिए उनके द्वारा निकाले गए परिणाम भी प्रायः असत्य होते हैं। प्रोक्त और कृत ग्रन्थों में क्या भेद होता है, यह हम विस्तार से पाणिनीय धातुपाठ के प्रकरण में लिख चुके हैं, अतः उसका पुनः पिष्टपेषण करना अयुक्त है। न्यासकार को धातुपाठ के पाणिनीयत्व के संबन्ध में भी प्रोक्त और कृत ग्रन्थों के भेद का अपरिज्ञान होने से जो भ्रान्ति हुई, उसका निराकरण हम पाणिनीय धातुपाठ के प्रसङ्ग में कर चुके हैं।

पाणिनि का गणपाठ उसका प्रोक्त ग्रन्थ है, इसलिए उसमें आदि से अन्त तक की सम्पूर्ण वर्णानुपूर्वी पाणिनि को अपनी नहीं है। पाणिनि ने पूर्वपरम्परा से प्राप्त गणपाठों से उचित सामग्री को कहीं पूर्णतया उन्हीं के शब्दों में, कहीं स्वल्प परिवर्तन अथवा परिवर्धन करके अपने गणपाठ का प्रवचन किया है। पूर्व उद्धृत।

वाजासे। ४।१।१०५॥ वष्कयासे। ४।१।८६॥
राजासे। ५।१।१२८॥ हृदयासे। ५।१।१३०॥

इत्यादि गणसूत्र पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के गणपाठों से अक्षरशः ग्रहण कर लिए हैं, यह हम पूर्व (पृष्ठ १५१) लिख चुके हैं। इसलिए जैसे पाणिनीय अष्टाध्यायी में पूर्व आचार्यों के सूत्रों के निर्देश से सूत्रपाठ का पाणिनीयत्व खण्डित नहीं होता, उसी प्रकार

धातुपाठ और गणपाठ में भी पूर्व आचार्यों की सामग्री का ग्रहण होने से उनके पाणिनीयत्व का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। इन ग्रन्थों में जहां-कहीं भी कुछ विरोध अथवा न्यूनाधिकता प्रतीत हो, उसका समाधान महाभाष्यकार का अनुसरण करते हुए[1] पूर्वाचार्यनिर्देश मान कर ही करना चाहिए।

गणपाठ के दो पाठ

हम अष्टाध्यायी और धातुपाठ के प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं कि इनके पाणिनि द्वारा प्रोक्त ही न्यूनातिन्यून दो-दो संस्करण हैं। एक लघुपाठ है, और दूसरा वृद्धपाठ। इसी प्रकार गणपाठ के भी पाणिनि के दो प्रवचन हैं, अर्थात् दो प्रकार के पाठ हैं—एक लघुपाठ और दूसरा वृद्धपाठ। गणपाठ का जो सम्प्रति उपलभ्यमान पाठ है, वह उसका वृद्धपाठ है। लघुपाठ इस समय अप्राप्त है।

दो प्रकार के पाठ में प्रमाण—पाणिनि के गणपाठ का दो प्रकार का पाठ है, इसकी सूचना महाभाष्यकार पतञ्जलि के निम्न पाठ से मिलती है। महाभाष्यकार **तृज्वत् क्रोष्टुः, स्त्रियां च** (७।१।९५,९६) सूत्रों की व्याख्या में लिखते हैं—

तृज्वद्भावनिमित्तकः स ईकारः। नाकृते तृज्वद्भावे ईकारः प्राप्नोति। किं कारणम्? 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इत्युच्यते। ईकारे च तृज्वद्भावः। तदिदमितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। एवं तर्हि गौरादिषु पाठादीकारो भविष्यति। गौरादिषु न पठ्यते। नहि किंचित्तृजन्तं गौरादिषु पठ्यते। एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः—भवत्यत्र ईकार इति यदयमीकारे तृज्वद्भावं शास्ति।

अर्थात्—तृज्द्भाव को निमित्त मानकर वह ईकार होता है। तृज्वद्भाव बिना किये ईकार प्राप्त नहीं होता। क्या कारण है? ऋकारान्तों से ङीप् होता है, ऐसा कहा है (द्र०—अष्टा० ४।१।५)। ईकार परे होने पर तृज्वद्भाव का विधान किया है (द्र०—अष्टा० ७।१।९६)। यह इतरेतराश्रय होता है (=ईकार हो तो तृज्वद्भाव

---

१. महाभाष्यकार ने पाणिनीय सूत्रों में प्रतीयमान असामञ्जस्य के निवारण के लिए स्थान-स्थान पर 'पूर्वसूत्रनिर्देश' का आश्रयण लिया है। यथा-निर्देशोऽयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात् ।७।१।१८।

हो, तृज्वद्भाव होवे तो ईकार हो) । इतरेतराश्रय कार्य सिद्ध नहीं होते । अच्छा तो गौरादि (गणपाठ ४।१।४१) पाठ से ईकार हो जाएगा (अर्थात् गौरादि में तुन्नन्त क्रोष्टु शब्द पढ़ा है) । गौरादि में नहीं पढ़ा जाता । कोई भी तुन्नन्त शब्द गौरादि में नहीं पढ़ा । अच्छा तो आचार्य बतलाते हैं कि यहां ईकार होता है, जो यह [आचार्य] ईकार परे रहने पर तृज्वद्भाव का विधान करते हैं ।

इस उद्धरण में दो परस्पर विरुद्ध बातें कही प्रतीत होती हैं। पहले कहा है कि क्रोष्टु शब्द गौरादि (४।१।४१) गण में पढ़ा है। अगले वाक्य में कहा कि कोई भी तुन्नन्त गौरादि में नहीं पढ़ा। जहां पर इस प्रकार का विरोध होता है, इसके समाधान का मार्ग स्वयं भाष्यकार ने ऋलृक् सूत्र के भाष्य में दर्शाया है—

पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति । १।१। प्रत्या० सूत्र २ ।

अर्थात्—जहां विरोध की प्रतीति हो, वहां पक्षान्तर मानकर समाधान करना चाहिए ।

इसी नियम से यहां भी प्रतीयमान विरोध के परिहार का मार्ग यही है कि गणपाठ के जिस पाठ में गौरादि में क्रोष्टु शब्द का पाठ था, उसे मानकर पूर्व समाधान दिया और जिस पाठ में गौरादि में क्रोष्टु शब्द का पाठ नहीं था उसे मान कर कहा कि गौरादि में कोई तुन्नन्त शब्द नहीं पढ़ा । यदि पक्षान्तर से परिहार न माना जाए तो भाष्यकार का उक्त कथन परस्परविरुद्ध होने से प्रमत्तगीत होगा ।

महाभाष्य के इस स्थल की व्याख्या करते हुए कैयट ने स्पष्ट लिखा है—

गौरादिपाठादिति—'पृथिवी क्रोष्टु पिप्पल्यादयश्च' इति छेदाध्यायिनः पठन्ति । नहि किञ्चिदिति—संहिताध्यायिनो न पठन्ति ।

अर्थात्—गौरादि गण में **पृथिवी क्रोष्टु पिप्पल्यादयश्च** ऐसा पाठ छेदाध्यायी पढ़ते हैं । संहिताध्यायी [उक्त पाठ] नहीं पढ़ते ।

हमारे विचार में यहां छेदाध्यायी से गणपाठ के वृद्धपाठ के अध्येता अभिप्रेत हैं और संहिताध्यायी से लघुपाठ के अध्येता । वृद्धपाठ में **पिप्पल्यादयश्च** गणसूत्र के उदाहरणरूप पृथिवी, क्रोष्टु आदि

शब्द भी पढ़े गये थे और लघुपाठ में गणसूत्र ही पठित था, उदाहरण-भूत शब्दों का निर्देश नहीं था।

नागेश की भूल—नागेशभट्ट ने कैयट के इस स्थल की व्याख्या में लिखा है—

आचार्याणां मतभेदेन क्रोष्टुशब्दपाठापाठावुक्तौ ।

अर्थात्—आचार्यों के मतभेद से गौरादि गण में क्रोष्टु शब्द का पाठ अथवा पाठाभाव कहा है।

इससे ऐसा ध्वनित होता है कि नागेश पाणिनि से भिन्न आचार्यों द्वारा पठित गणपाठ में क्रोष्टु शब्द के पाठ अथवा पाठाभाव को मानता है।

उभयपाठों का पाणिनीयत्व—गणपाठ के वृद्ध और लघु दोनों पाठ पाणिनि-प्रोक्त हैं। यह अष्टाध्यायी और धातुपाठ के वृद्ध और लघुपाठ की तुलना से स्पष्ट है।

कई विद्वानों का कहना है कि गौरादि गण में **पिप्पल्यादयश्च** गणसूत्र सर्वथा प्रक्षिप्त है। क्योंकि पाणिनि ने कहीं पर भी पिप्पल्यादि शब्द नहीं पढ़े, जिनके आधार पर गणसूत्र की रचना हो सके।[1]

वस्तुतः यह कथन चिन्त्य है। पाणिनीय गणपाठ में अन्यत्र भी अवान्तर गणसूचक गणसूत्र विद्यमान हैं, यथा गहादि (४।२।१३८) गण में **वेणुकादिभ्यश्छण्** गणसूत्र। ऐसे सभी गण अथवा गणसूत्र उन प्राचीन गणपाठों से आए हुए हैं, जिनमें ये गण स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र पढ़े गये थे। गहादि गण में पठित **वेणुकादिभ्यश्छण्** गणसूत्र इस बात की स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि इस गणसूत्र को पाणिनि ने किसी पूर्वाचार्य के गणपाठ से लिया है, क्योंकि गहादियों से 'छ' प्रत्यय तो प्राप्त ही है, केवल उसके णित्व का विधान ही इष्ट है। यदि इस सूत्र को पाणिनि पूर्वसूत्र के रूप में ही स्वीकार न करते तो उन्हें **वेणुकादिभ्यो णित्** आनुपूर्वी रखनी चाहिए थी।

---

१. द्रष्टव्य—प्राध्यापक कपिल देव साहित्याचार्य एम. ए. पीएच. डी. का 'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' नामक निबन्ध, अ० २, पृष्ठ ३४।

गणपाठ का अनेकधा प्रवचन—पाणिनि ने अष्टाध्यायी और धातुपाठ का जैसे अनेकधा प्रवचन किया, उसी प्रकार गणपाठ का भी अनेकधा प्रवचन किया था। उसी प्रवचनभेद से गणपाठ के न्यूनातिन्यून दो प्रकार के पाठ उपपन्न हुए। नद्यादि गण (४।२।९७) में पठित **पूर्वनगरी** पद की व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने लिखा है—

पौर्वनगरेयम्। केचित्तु पूर्वनगिरीति पठन्ति विच्छिद्य च प्रत्ययं कुर्वन्ति पौरेयम्, वानेयम्, गैरेयम्। तदुभयमपि दर्शनं प्रमाणम्।

अर्थात्—[पूर्वनगरी से] पौर्वनगरेय। कई लोग 'पूर्वनगिरि' पढ़ते हैं और उससे 'पूर्-वन-गिरि' ऐसा विच्छेद करके प्रत्यय करते हैं और रूप बताते हैं—पौरेयम्, वानेयम्, गैरेयम्। ये दोनों ही दर्शन प्रमाण हैं।

हरदत्त द्वारा स्पष्टीकरण—काशिका के उक्त मत का स्पष्टीकरण करते हुए हरदत्त ने लिखा है—

उभयथाप्याचार्येण शिष्याणां प्रतिपादनात्।

अर्थात्—आचार्य द्वारा दोनों प्रकार [पूर्वनगरी-पूर्-वन-गिरि] का प्रतिपादन होने से दोनों पाठ प्रमाण हैं।

ऐसा ही न्यासकार ने भी लिखा है (भाग १, पृष्ठ ९५९)।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि आचार्य पाणिनि ने गणपाठ का अनेकधा प्रवचन किया था।

गणपाठ के अध्ययनाध्यापन का उच्छेद

हम इसी ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय (भाग २, पृष्ठ ४) पर लिख चुके हैं कि शब्दानुशासन में गणपाठ आदि के पृथक्करण से एक महती हानि हुई। अध्येता लोगों ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन छोड़ दिया। उसका फल यह हुआ कि गणपाठ के पाठ में बहुत ही गड़बड़ी हो गई, शुद्धपाठ लुप्त हो गया। उसकी यह दीन अवस्था देखकर काशिकाकार के महान् परिश्रम से गणपाठ के पाठ का शोधन किया। अतएव उसने काशिका के आरम्भ में एक विशेषण रखा—**शुद्धगणा**। इसकी व्याख्या में हरदत्त लिखता है—

तथा शुद्धगणा—वक्ष्यति 'लोहितडाज्भ्यः क्यष्वचनं भृशादिष्वितराणि' इति, 'कण्वात्तु शकलः पूर्वः कतादुत्तर इष्यते' इति च। सैषा गणस्य शुद्धिः। वृत्यन्तरेषु तु गणपाठ एव नास्ति, प्रागेव शुद्धिः।
भाग १, पृष्ठ ४।

अर्थात्—कहेगा [काशिकाकार] लोहित और डाजन्तों से क्यष् करना चाहिए, शेष लोहितादि पदों को भृशादि में पढ़ देना चाहिये। तथा शकल शब्द का पाठ कण्व से पूर्व और कत से उत्तर इष्ट है। यह है गण की शुद्धि। अन्य वृत्तियों में गणपाठ नहीं उनमें पहिले ही गण साफ हैं।

काशिकार के गणपाठ की शुद्धि का प्रयत्न अनेक स्थानों पर स्पष्टतया उपलब्ध होता है। वह गोपवनादि गण के सम्बन्ध में लिखता है—

एतावत एवाष्टौ गोपवनादयः। परिशिष्टानां हरितादीनां प्रमादपाठः। काशिका २।४।६७॥

अर्थात्—इतने ही आठ गोपवनादि शब्द हैं। अवशिष्ट हरितादि का पाठ प्रमादजन्य हैं।

गणपाठ का आदर्श संस्करण—काशिकाकार के इतना महान् प्रयत्न करने पर भी गणपाठ उत्तरकाल में भ्रष्ट, भ्रष्टतर और भ्रष्टतम होता गया।

आज गणपाठ की यह स्थिति है कि गणपाठ के किन्हीं भी दो हस्तलेखों के पाठ परस्पर समान नहीं हैं। काशिका के हस्तलेखों में भी गणपाठ में महद् अन्तर उपलब्ध होता है। ऐसी भयानक स्थिति में जहां गणपाठ के परिशोधन का कार्य बहुत महत्त्व रखता है, वहां यह अत्यधिक परिश्रम भी चाहता है। हमारे मित्र प्रो० कपिलदेव जी साहित्याचार्य एम० ए० ने पीएच० डी० के लिए मेरे कहने से 'पाणिनीय गणपाठ का सम्पादन और तुलनात्मक अध्ययन' कार्य हाथ में लिया। और उन्होंने अनेकों हस्तलेखों और विभिन्न व्याकरणों के गणपाठों के साहाय्य से कई वर्ष प्रयत्न करके पाणिनीय गणपाठ का आदर्श संस्करण तैयार किया। उन्हें इस कार्य पर पीएच० डी० की उपाधि भी प्राप्त हो गई। गणपाठों का तुलनात्मक अध्ययन अंश

'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' के नाम से छप गया है। गणपाठ का आदर्श संस्करण भी प्रकाशित करने का विचार है ।[1]

गणों के दो भेद

गणपाठ में जितने गण हैं, उन्हें हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। एक वे गण हैं जिनमें शब्द नियमित हैं अर्थात् उस गण में जितने शब्द पढ़े हैं, उतने शब्दों से ही उस गण का कार्य होगा। यथा सर्वादि गण[2]। दूसरे गण वे हैं, जिनमें शब्दों की नियत संख्या अभिप्रेत नहीं है। अन्य शब्दों से भी उक्त गण का कार्य हो जाता है। इस प्रकार के गण वैयाकरणों की परिभाषा में आकृतिगण कहाते हैं। जिन गणों में शब्दों का संकलन सीमित होता है, उनके अन्त में शब्दसंकलन की परिसमाप्ति के द्योतन के लिए समाप्त्यर्थक वृत् शब्द पढ़ा जाता है। और जो आकृतिगण होते हैं उनके अन्त में वृत् शब्द का पाठ नहीं होता। यथा—

आवृत्करणाद् आकृतिगणोऽयम्। काशिका २।१।४८।।

काशिका में यहां पाठ छपा है—**अव्यक्तत्वाच्चाकृतिगणोऽयम्**। यह अपपाठ है। पूर्वनिर्दिष्ट पाठ जो कि शुद्ध है, सम्पादक ने टिप्पणी में रखा है। (यह सम्पादक के अज्ञान का द्योतक है)।

कहीं-कहीं नियत रूप से पठित गण को भी च शब्द के पाठ से आकृति गण माना जाता है। यथा—

१—आकृतिगणश्च प्रवृद्धादिर्द्रष्टव्य इति। कुतत एत्? आकृतिगणतां तस्य सूचयितुमनुक्तसमुच्चयार्थस्य चकारस्येह करणात्। न्यास ६।२।१४७।।

---

१. हम इसे प्रकाशित नहीं कर सके। डा० कपिल देव के पीएच. डी. का निबन्ध 'कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय' से अंग्रेजी में छपा है। उसमें यह भी अंश छप गया है।

२. सर्वादिगण में शब्द नियत होने पर भी कतिपय ऐसे आर्ष प्रयोग देखे जाते हैं। जिनमें सर्वनाम संज्ञा का कार्य होता है। यथा—'अत्यतमस्मिन् स्थाने' (आपि० पाणि० शिक्षासूत्र ८।१)।

२—चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। स चाकृतिगणतां सुषामादेर्बोधयतीत्यत आह—अविहितलक्षण इत्यादि। न्यास ८।३।१००॥ भाग ३, पृष्ठ १०९४

गणपाठ के व्याख्याता

पाणिनीय गणपाठ पर अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएं लिखी होंगी, परन्तु इस समय पाणिनीय गणपाठ पर कोई भी प्राचीन व्याख्या उपलब्ध नहीं होती। यज्ञेश्वर भट्ट की **गणरत्नावली** नामक एक व्याख्या मिलती है। इसका रचना काल वि० सं० १९३१ है।[1] उसका मुख्य आधार भी वर्धमान कृत **गणरत्नमहोदधि** है। प्राचीन वाङ्मय के अवगाहन से गणपाठ पर अनेक व्याख्याग्रन्थों का परिचय मिलता है। हमें गणपाठ के जिन-जिन व्याख्याताओं अथवा व्याख्याओं का बोध है, वे इस प्रकार हैं—

१—पाणिनि

पाणिनि ने अपने सूत्रपाठ की और धातुपाठ की वृत्तियों का स्वयं प्रवचन किया था और वह भी अनेकधा, यह हम पूर्व यथास्थान लिख चुके हैं। हमारा विचार है कि पाणिनि ने सूत्रपाठ और धातुपाठ की वृत्तियों के समान गणपाठ की किसी वृत्ति का भी प्रवचन किसी न किसी रूप में अवश्य किया था। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—काशिकाकार **नद्यादि** (४।२।९७) गण में पठित **पूर्वनगरी** की व्याख्या करके लिखता है—

'केचित् पूर्वनगिरी इति पठन्ति विच्छिद्य च प्रत्ययं कुर्वन्ति, पौरेयम्, वानेयम्, गैरेयम् इति तदुभयमपि दर्शनं प्रमाणम्।'

अर्थात्—कई [व्याख्याता **पूर्वनगरी** पद के स्थान में] **पूर्वनगिरि** पढ़ते हैं, और विच्छेद करके प्रत्यय करते हैं—**पूर्-पौरेय, वन-वानेय, गिरि-गैरेय**। ये दोनों दर्शन ही प्रमाण है।

इसकी व्याख्या करते हुए न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने लिखा है—

'उभयथाप्याचार्येण शिष्याणां प्रतिपादनात्।' भाग १, पृष्ठ ९५९।

अर्थात्—दोनों प्रकार [**पूर्वनगरी-पूर्वनगिरि**] से आचार्य द्वारा शिष्यों को प्रतिपादन करने से (पढ़ाने से) दोनों ही पाठ प्रमाण हैं।

---

१. इसका वर्णन इसी प्रकरण में आगे करेंगे।

ऐसा ही उल्लेख हरदत्त ने भी इसी सूत्र पर किया है।

२—न्यासकार स्थूलादि (५।४।३) गण में पठित **स्थूलाणुमाषेषु** की तीन प्रकार की, तथा **पाद्यकालावदात्ताः सुरायाम्** सूत्र की दो प्रकार की प्राचीन व्याख्याएं उद्धृत करता है। ये विभिन्न व्याख्याएं सम्भवतः पाणिनि द्वारा ही अनेक प्रवचनकाल में की गई होंगी। अन्यथा सभी व्याख्याओं का प्रामाण्य नहीं माना जा सकता।

३—वर्धमान सूरि गणरत्नमहोदधि में क्रोड्यान्तर्गत **चैतयत** पद पर लिखता है—

'पाणिनिस्तु चित संवेदने इत्यस्य चैतयत इत्याह'। पृष्ठ ३७।

पाणिनि ने चैतयत पद की वर्धमाननिर्दशित व्युत्पत्ति गणपाठ की वृत्ति में प्रदर्शित की होगी। काशिका में 'चैतयत' के स्थान में **चैटयत** पाठ मिलता है, वह चिन्त्य है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि पाणिनि ने अपने गणपाठ के प्रवचन के साथ-साथ उसकी किसी वृत्ति का भी प्रवचन किया था, और वह गणपाठ और वृत्ति का प्रवचन अनेकविध था। उसी वैविध्य के कारण पाणिनीय सम्प्रदाय में भी गणपाठ के व्याख्याकारों में अनेक मत प्रचलित हो गए।

२—नामपारायणकार (वि० सं० ७०० से पूर्व)

काशिकाकार ने ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—

'वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनामपारायणादिषु।'

यहां पारायण शब्द दोनों के साथ संबद्ध होकर नामपारायण और धातुपारायण नाम के ग्रन्थों का संकेत करता है। धातुपारायण नाम के धातुपाठ के व्याख्यान ग्रन्थ कई एक प्रसिद्ध हैं। उनका निर्देश धातुपाठ के प्रकरण में यथास्थान कर दिया है। धातुपारायण के सादृश्य से नामपारायण गणशब्दों का व्याख्यान ग्रन्थ होना चाहिए। हरदत्त ने उक्त श्लोक की व्याख्या में यही तात्पर्य प्रकट किया है। यथा—

'यत्र धातुप्रक्रिया तद् धातुपारायणम्, यत्र गणशब्दानां निर्वचनं तन्नामपारायणम्।' पदमञ्जरी (प्रारम्भ में) भाग १, पृष्ठ ४।

हरदत्त ने लौल्वल्यादि गण (२।४।६१) के कतिपय शब्दों का निर्वचन करके लिखा है—

'परिशिष्टाः पारायणे द्रष्टव्याः' । २।४।६२, भाग १, पृष्ठ ४८७

यह नामपारायण ग्रन्थ पाणिनीय गणपाठ का व्याख्यान ग्रन्थ रहा होगा । परन्तु नामपारायण के दो उद्धरण ऐसे भी उपलब्ध होते हैं, जिन से आशंका होती है कि यह नामपारायण किसी अन्य तन्त्र से संबद्ध रहा हो । वे उद्धरण इस प्रकार हैं—

१—काशिकाकार ने ८।३।४८ में लिखा है—

'सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, बर्हिष्पूलम्, यजुष्पात्रम् इत्येषां पाठ उत्तरपदस्यस्यापि षत्वं यथा स्यादिति पारायणिका आहुः' ।

यतः यह पाठ कस्कादि गण से सम्बन्ध रखता है, अतः यहां **पारायणिकाः** पद से नामपारायण के अध्येता इष्ट हैं ।

काशिकाकार ने पारायणिकों के उक्त मत का भाष्य तथा वृत्ति ग्रन्थ से विरुद्ध होने के कारण प्रत्याख्यान कर दिया है ।

२—निदाघ शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए सायण ने लिखा है—

'निदध्यतेऽनेनेति कृत्वा निदाघशब्दः साधुरिति पारायणिकाः इति सुधाकरस्तदपाणिनीयम् ।' धातुवृत्ति पृष्ठ ३२२ ।

यहां भी सुधाकर के नाम से उद्धृत नामपारायणिकों के मत को अपाणिनीय कहा है ।

३—क्षीरस्वामी (वि० सं० ११९५-११६५)

क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी और अमरकोश की व्याख्या के आरम्भ में समानरूप से एक श्लोक पढ़ा है । उसका चतुर्थ चरण है—

'न्याय्ये वर्त्मनि वर्तनाय भवतां षड् वृत्तयः कल्पिताः ॥

इस पद्यांश में क्षीरस्वामी ने ६ वृत्तियां लिखने का संकेत किया है । इन छः वृत्तियों में गणपाठ से सम्बन्ध रखने वाली दो वृत्तियां हैं । **एक निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति, दूसरी गणवृत्ति ।**

निपाताव्ययोपसर्गवृत्ति

क्षीरस्वामी ने इस वृत्ति में निपात, अव्यय और उपसर्गों के अर्थ आदि पर विचार किया है । इनका सम्बन्ध गणपाठ के चादि

(१।४।५७), स्वरादि (१।१।३७) तथा प्रादि (१।४।५८) गणों के साथ है।

निपाताव्ययोपसर्ग की व्याख्या—क्षीरस्वामी के उक्त वृत्ति ग्रन्थ पर तिलक नाम के किसी विद्वान् ने व्याख्या लिखी है। इस सव्याख्या निपातोपसर्गवृत्ति का एक हस्तलेख अडियार (मद्रास) के हस्तलेख संग्रह में सुरक्षित है। द्र०—व्याकरणविभागीय सूचीपत्र, पुस्तक संख्या ४८७। इसके अन्त में निम्न पाठ है—

'इति भट्टक्षीरस्वाम्युत्प्रेक्षितनिपाताव्ययोपसर्गीये तिलककृता वृत्तिः संपूर्णेति। भद्रं पश्येम प्रचरेम भद्रम् ओमिति शिवम्।

विशेष देखो पूर्व भाग २, पृष्ठ ९९–१००।

गणवृत्ति

क्षीरस्वामी ने एक **गणवृत्ति** ग्रन्थ लिखा था। इसमें गणपाठ की व्याख्या रही होगी, यह इसके नाम से ही स्पष्ट है। क्षीरस्वामी की गणवृत्ति इस समय अनुपलब्ध है। इसके उद्धरण भी हमें देखने को नहीं मिले।

गणवृत्ति नाम से उद्धृत कतिपय उद्धरण

सायण ने माधवीया धातुवृत्ति के नाम-धातु-प्रकरण में गणवृत्ति के निम्न उद्धरण लिखे हैं—

क—अत्र गणवृत्तौ—

लोहितश्यामदुःखानि हर्षगर्वसुखानि च।
मूर्च्छा निद्रा कृपा धूमा करुणा नित्यचर्मणि॥ पृष्ठ ४१७

ख—रेहःशब्दो रहसि निर्घृणत्वे भिक्षाभिलाषस्य च निवृत्तौ वर्तत इति गणवृत्तौ। पृष्ठ ४१६॥

ग—गणवृत्तौ तु बृहच्छन्दो न दृश्यते भद्रशब्दस्तु पठ्यते। तथा च कन्धरशब्दश्च त्वचोऽभ्यन्तरे स्थूलत्वाभा असंयुक्ता स्नायुः कन्धरा तद्वान् कन्धरः। मत्वर्थे अर्शआदिभ्योऽच् इति व्याख्यातं च। पृष्ठ ४१६॥

घ—अन्धरो मूर्खोऽपुष्करश्चेति गणवृत्तौ। पृष्ठ ४१६॥

ङ—रेहस् रोष इति गणवृत्तौ। पृष्ठ ४१७॥

इनमें से प्रथम उद्धरण नामनिर्देश के विना सिद्धान्तकौमुदी

(भाग ३, पृष्ठ ५२६) में **लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्** सूत्र के व्याख्यान में उद्धृत है। वहां तृतीय चतुर्थ चरण का पाठ **मूर्छानिद्राकृपाधूमाः करुणा नित्यचर्मणी** है। सायण द्वारा गणवृत्ति के नाम से उद्धृत उद्धरण वस्तुतः वर्धमान विरचित गणरत्नमहोदधि के हैं। उसमें उत्तरार्ध का पाठ है—

'**मूर्च्छानिद्राकृपाधूमाः करुणा जिह्मचर्मणी** ।' गणरत्नमहोदधि पृष्ठ २४५ ॥

माधवीया धातुवृत्ति का पाठ अशुद्ध है। **नित्यचर्मणी** का कोई अर्थ ही नहीं बनता है। सिद्धान्तकौमुदी का **नित्यचर्मणी** पाठ भी भ्रष्ट है। वहां **जिह्मचर्मणी** पाठ ही होना चाहिए।

सायण का दूसरा उद्धरण भी गणरत्नमहोदधि से अर्थतः उद्धृत प्रतीत होता है। गणरत्नमहोदधि का पाठ है—

'**रेहत् नैर्घृण्यधर्मवृत्तिभिक्षाभिलाषधर्मवृत्ति वा, रहसि वर्तत इत्यन्ये** ।' पृष्ठ २४४।

धातुवृत्ति ग्रन्थ अत्यन्त अशुद्ध छपा है। अतः उसके मुद्रित पाठ पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता।

सायण का जो तीसरा उद्धरण हमने उद्धृत किया है, उसके दो भाग हैं। प्रथम **पठ्यते** पर्यन्त गणवृत्ति का है, तथा उतर भाग उसकी किसी व्याख्या का है। गणरत्नमहोदधि में भृशादिगण में बृहच्छन्द का पाठ नहीं है। 'भद्र' शब्द का पाठ श्लोक ४४१ के पूर्वार्ध में उपलब्ध होता है।

चतुर्थ उद्धरण का पाठ अशुद्ध है। गणरत्नमहोदधि में इसका शुद्ध पाठ इस प्रकार है—**आण्डरो मूर्खो मुष्करो वा**। पृष्ठ २४४।

पञ्चम उद्धरण का भी गणरत्नमहोदधि में शुद्ध पाठ इस प्रकार है—**रैफत् सदोष इत्यर्थः**। पृष्ठ २४५

उपर्युक्त पाठों को गणरत्नमहोदधि के साथ समता होने से यही सम्भावना है कि सायण द्वारा स्मृत **गणवृत्ति** वर्धमान सूरिकृत गणरत्नमहोदधि ग्रन्थ ही है। सायण के मुद्रित पाठ सभी अशुद्ध हैं।

गणव्याख्याता नाम से उद्धृत उद्धरण

मल्लिनाथ ने किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा रघुवंश आदि में '**गणव्याख्यान**' नाम से कई उद्धरण उद्धृत किये हैं। यथा—

१—कृतमिति निवारणनिषेधयोः, इति गणव्याख्याने ।
किरात० २।१७॥
२—सहसेत्याकस्मिकाविमर्शयोः, इति गणव्याख्याने ।
किरात० २।३०॥
३—अस्मीत्यस्मदर्थानुवादेऽहमर्थेऽपि, इति गणव्याख्याने ।
किरात० ३।६॥
४—प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्ये, इति गणव्याख्यानात् ।
शिशुपाल० १।३६॥

इसी प्रकार रघुवंश में भी तीन स्थानों पर 'गणव्याख्यान' का उल्लेख मिलता है। यह गणव्याख्यान वर्धमानकृत गणरत्नमहोदधि ही है, अन्य नहीं। ये चारों उद्धरण क्रमशः गणरत्नमहोदधि पृष्ठ ६, १८, १७ तथा ६ पर अक्षरशः उपलब्ध होते हैं।

४—गणपाठ-विवृत्ति (वि० सं० १२००)

इस ग्रन्थ का एक हस्तलेख कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में विद्यमान है। यह शारदा लिपि में लिखित है।

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रथम सूचना श्री पं० विरजानन्द दैवकरणि (कन्या गुरुकुल नरेला—दिल्ली) ने अपने २६-६-१६७५ के पत्र में दी थी। इसी के आधार पर इस विषय में अधिक परिचय पाने के लिये मैंने अपने मित्र श्री प्रा० कपिलदेव जी शास्त्री (कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय) को पत्र लिखा था। उसके उत्तर में शास्त्री जी ने अपने ता० ८-७-१६७५ के पत्र में गणपाठ-विवृत्ति के विषय में निम्न सूचना दी थी—

'गणपाठ विवृति नामक एक हस्तलेख यहां है। डा० रामसुरेश त्रिपाठी (अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़) ने देवनागरी तथा शारदा दोनों लिपियों में इस ग्रन्थ के हस्तलेख प्राप्त कर लिये हैं। वे इसका आलोचनात्मक संस्करण निकाल रहे हैं—ऐसी सूचना उन्होंने दी थी। यहां पं० स्थाणुदत्त जी के सुपुत्र श्री पिनाकपाणि शर्मा ने पीएच॰ डी. के लिये इस 'गणपाठ विवृति तथा गणरत्नमहोदधि के तुलनात्मक अध्ययन' का आरम्भ मेरे निर्देश में किया है............।

गणपाठ विवृति प्रकाशवर्ष का छोटा सा छन्दोबद्ध संग्रह मात्र है। 'विवृति' की अन्वर्थता के लिये एक दो शब्द ही व्याख्या के रूप में कहीं-कहीं मिलते हैं।'[1]

मेरे मित्र डा० रामसुरेश जी त्रिपाठी का कुछ वर्ष पूर्व स्वर्गवास हो गया है। इसलिये यह ज्ञात नहीं हो सका कि त्रिपाठी जी के द्वारा स्वसम्पादित संस्करण प्रकाशित हुआ है वा नहीं।

श्री डा० कपिलदेव शास्त्री के ता० २१-२-८४ के पत्र से ज्ञात हुआ कि पं० पिनाकपाणि ने गणपाठ विवृति का कार्य छोड़ दिया।

इस ग्रन्थ के हस्तलेख शारदा लिपि में होने से सम्भव है लेखक प्रकाशवर्ष कश्मीर का रहनेवाला हो। मल्लिनाथ ने प्रकाशवर्ष को उद्धृत किया है। मल्लिनाथ का काल सं० १२६४ से पूर्व है।[2]

५—पुरुषोत्तमदेव (वि० सं०१२००)

भाषावृत्तिकार पुरुषोत्तम देव ने कोई 'गणवृत्ति' ग्रन्थ लिखा था, ऐसी सूचना भाषावृत्ति के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती ने भूमिका के पृष्ठ १ पर दी है।

६—नारायण न्यायपञ्चानन

नारायण न्यायपञ्चानन ने गणपाठ पर **'गणप्रकाश'** नाम की एक व्याख्या लिखी थी। इसके एक कोश का संकेत एस. एम. अयाचित ने अपने 'गणपाठ ए क्रिटिकल स्टडि' नामक निबन्ध में दिया है। इस हस्तलेख में अ० ४,५ गणों की ही व्याख्या है। उनके मतानुसार यह ग्रन्थ ईसा की १८ वीं शती के पूर्वार्ध का है।

७—यज्ञेश्वर भट्ट

यज्ञेश्वर भट्ट नाम के आधुनिक वैयाकरण ने पाणिनीय गणपाठ पर **गणरत्नावली** नाम की व्याख्या लिखी है। इसमें ग्रन्थकार ने गणरत्नमहोदधि का अनुकरण करते हुए पहले गणशब्दों को श्लोक-बद्ध किया है, तत्पश्चात् उनकी व्याख्या की है।

परिचय तथा काल—यज्ञेश्वर भट्ट ने आर्यविद्यासुधाकर ग्रन्थ

---

१. यथा सर्वादिगण में 'त्व' एवं 'त्वत्' के भेद को दर्शाने के लिये उसमें 'स्वरार्थम्' पाठ मिलता है। २. द्र०—आगे मल्लिनाथ कृत न्यासोद्योत।

में अपने पिता का नाम चिमणा जी[1] और गुरु का नाम महाशंकर लिखा है।[2] यह दाक्षिणात्य तैत्तिरीय शाखाध्येता ब्राह्मण था। यज्ञेश्वर भट्ट ने आर्यविद्यासुधाकर ग्रन्थ की रचना शकाब्द १७८८ (= विक्रमाब्द १९२३) में की है।[3] गणरत्नावली का आरम्भ विक्रम सं० १९३० में किया था। यह उसने स्वयं लिखा है—

संवत् श्रीविक्रमादित्यकालात् खत्र्यङ्कभू (१९३०) मिते।
अतीते गणरत्ननामावलीयं विनिर्मिता ॥

पृष्ठ ३६ (हमारा हस्तलेख)।

गणरत्नावली की समाप्ति शकाब्द १७९६ (=वि० सं० १९३०) आषाढ़ मास में हुई। इसका निर्देश ग्रन्थकार ने स्वयं किया है—

भट्टयज्ञेश्वरकृतो ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः।
शाके रसाङ्कमुनिभू (१७९६) मिते तपोऽभिधे ॥

ग्रन्थ के अन्त में।

यज्ञेश्वर भट्ट की गणरत्नावली का मुख्य आधार गणरत्नमहोदधि है, यह उसने स्वयं मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। वह ग्रन्थ के अन्त में लिखता है—

अस्य ग्रन्थस्य निर्माणे गणरत्नमहोदधिः।
अभवन् मुख्यः सहायोऽन्ये ग्रन्था इत्युपकारकाः ॥

पाणिनीय सम्प्रदाय में गणपाठ पर एकमात्र 'गणरत्नावली' ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ बहुत पूर्व शिलाक्षरों पर छप चुका है, सम्प्रति अति दुर्लभ है। हमने इसकी उपयोगिता को देख के आज से २८ वर्ष पूर्व[4] छात्रावस्था में इस ग्रन्थ की अपने लिये प्रतिलिपि की थी, और प्रकाशनार्थ कुछ भाग की प्रेसकापी भी तैयार की थी।

---

१. चिमणाजीतनूजेन दाक्षिणात्यद्विजन्मा। आर्यविद्यासुधाकर के अन्त में।

२. महाशंकरशर्माणं गुरुं नत्वा विदांवरम्। आर्यविद्यासुधाकर के आरम्भ में, श्लोक ७।

३. द्र०—आर्यविद्यासुधाकर के अन्त में।

४. यह संकेत सन् १९६१ का है, जब 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' का द्वितीय भाग प्रथम वार छपा था। हमारी गणरत्नावली की प्रतिलिपि के अन्त में प्रतिलिपि की समाप्ति का काल ३-३-१९३३ लिखा है। यह प्रतिलिपि

१. श्लोकगणकार (वि० सं० १४०० से पूर्व)

पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थों में श्लोकगणपाठ तथा श्लोकगणकार के अनेक वचन उद्धृत मिलते हैं। यथा—

१—सायण धातुवृत्ति पृष्ठ ४१६ पर लिखता है—

'अत्रामी भृशादयोऽस्माभिः श्लोकगणपाठानुरोधेन पठिताः।'

यहां श्लोकगणपाठ शब्द से गणरत्नमहोदधि अन्तर्गत श्लोकबद्ध गणपाठ अभिप्रेत है अथवा अन्य, यह कहना कठिन है। क्योंकि इस प्रकरण में गणवृत्तौ के नाम से उद्धृत समस्त पाठ गणरत्नमहोदधि के हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं—

२—सायण पुनः पृष्ठ ४१८ पर लिखता है—

अत्र श्लोकगणकारः—

सुखदुःखगहनकृच्छ्राद्युपकप्रतीपकरुणाश्च।
कृपणः सोढ इतीमे तृपादयो दशगणे पठिताः॥ इति।

नागेशभट्ट विरचित लघु और बृहत् शब्देन्दुशेखरों में **'तृपादयः'** के स्थान में **सुखादयः** पाठ है।

यहां पर सायण श्लोकगणकार का उक्त श्लोक उद्धृत करके लिखता है—

'अत्र गणरत्नमहोदधौ आस्यशब्दोऽपि पठ्यते, यदाह आस्यमेवास्यम् इति। तृप्रं दुःखम्, सोढं सहनम् अभिभवो वा'

इस स्थल पर श्लोकगणकार से गणरत्नमहोदधिकार का मतभेद दर्शाने से स्पष्ट है कि यहां श्लोकगणकार वर्धमान नहीं है। पृष्ठ ४१७ पर सायण गणरत्नमहोदधि के **लोहितश्याम** आदि श्लोकगण को गणवृत्ति के नाम से उद्धृत करता है। इससे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि गणवृत्ति के नाम से उद्धृत उद्धरण वर्धमान के

हमने काशी में अध्ययन करते हुए 'संस्कृत महाविद्यालय (वर्तमान सं० वि० वि०) के सरस्वती भवन नामक पुस्तकालय में लीथो प्रेस पर छपी पुस्तक से की थी।

गणरत्नमहोदधि के हैं, और श्लोकगणपाठ अथवा श्लोकगणकार के नाम से उद्धृत उद्धरण किसी अन्य वैयाकरण के हैं।

२. गणपाठकारिकाकार

मद्रास विश्वविद्यालय के अन्तर्गत हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ५, खण्ड १ B. पृष्ठ ६४२१, पुस्तक संख्या ४३७ B. पर **गणपाठकारिका ग्रन्थ** का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। इसके कर्त्ता का नाम अज्ञात है। यह कारिका ग्रन्थ पाणिनीय धातुपाठ पर है। हस्तलेख अपूर्ण है।

गणकारिकाव्याख्याता—रासिकर

रासिकर नाम के किसी शैवाचार्य ने **गणकारिका नाम** के ग्रन्थ पर एक भाष्य लिखा था। इसका उल्लेख जर्नल आफ दी आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी भाग १३, खण्ड ३, ४ पृष्ठ १७६ पर मिलता है। गणकारिका के कर्त्ता आदि का नाम अज्ञात है।

३. गण-संग्रहकार—गोवर्धन

अष्टाध्यायी के प्रत्येक गणनिर्देशक आदि पदसंबद्ध सूत्र के लिए इस ग्रन्थ में कुछ शब्दों का संग्रह कर दिया है, चाहे वे गणपाठ से संबद्ध हों अथवा न हों। व्यवस्थित (पठित) गणों में कहीं-कहीं वृत्करण भी किया है। इसका संग्राहक कोई गोवर्धननामा वैयाकरण है। इस ग्रन्थ का एक अधूरा हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन में हमने देखा था।

४. गणपाठकार—रामकृष्ण

काशी के सरस्वती भवन के हस्तलेखसंग्रह में गणपाठ का एक हस्तलेख और है। उसके अन्त में निम्न पाठ है—

इति श्रीगणपाठे श्रीगोवर्धनदीक्षितसूनुरामकृष्णविरचितोऽष्टमोऽध्यायः।

इस लेख से प्रतीत होता है कि इस गणपाठ का संग्राहक कोई रामकृष्णनामा वैयाकरण था। इसके पिता का नाम गोवर्धन दीक्षित था। पूर्वनिर्दिष्ट गोवर्धन और यह गोवर्धन दोनों एक हैं अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्ति, यह अज्ञात है। इसका एक हस्तलेख भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में भी है। द्र०—व्याकरण विभागीय सूचीपत्र सन् १९३८ सं० २५३ (३२९/१८८१-८२)।

५. गणपाठ श्लोक

यह ग्रन्थ पाणिनीय गणपाठ विषयक है। इसका पञ्चमाध्याय पर्यन्त एक अपूर्ण हस्तलेख भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में विद्यमान है। द्र०—सूचीपत्र सन् १९३८, संख्या २५६/७८०/१८९५-१९०२। ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है।

पाणिनीय गणपाठ से संबद्ध जितने ग्रन्थकारों का हमें ज्ञान है, उनका वर्णन करके पाणिनि से औत्तरकालिक गणपाठप्रवक्ताओं का वर्णन करते हैं।

६—कातन्त्रकार (सं० २००० वि० पूर्व)

कातन्त्र व्याकरण के प्रवक्ता ने स्वतन्त्र संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। कातन्त्र गणपाठ के जो हस्तलेख मिलते हैं, उनमें कातन्त्र व्याकरण के प्रायः सभी गणों का उल्लेख है। कातन्त्र व्याकरण के तीन भाग हैं—

१—आख्यातान्त	मूल ग्रन्थकार द्वारा प्रोक्त
२—कृदन्त भाग	वररुचि कात्यायन कृत
३—छन्दःप्रक्रिया	परिशिष्टकार

इन तीनों गणों की सूची इस प्रकार—

आख्यातान्त भाग में—

१—सर्वादि (२।१।२५)
२—पूर्वादि (२।१।२८)
३—स्वस्रादि (२।१।६९)
४—अन्यादि (२।१।८)
५—त्यदादि (२।३।२९)
६—युजादि (२।३।४६)
७—दृगादि (२।३।४८)
८—मुहादि (२।३।४९)
९—गर्गादि
१०—यस्कादि
११—विदादि
१२—नदादि (२।४।५०)
१३—पूरणादि (२।५।१८)
१४—कुञ्जादि (२।६।३)
१५—अश्व्यादि (२।६।४)
१६—बह्वादि (२।६।६)
१७—गवादि (२।६।११)
१८—कच्चादि (२।६।२४)
१९—सख्यादि (२।६।३७)
२०—राजादि (२।६।४१)
२१—श्वन्वनडुहादि (२।६।४१-६५)

विशेष—कातन्त्र के सर्वादि गण में 'किम्' शब्द का पाठ 'एक द्वि' से पूर्व किया है। अतः **अद्वयादेः सर्वनाम्नः** (३।२।२४) सूत्र में पाणिनि के समान 'किम्' के पाठ की आवश्यकता नहीं रही।[1]

कृदन्त भाग में—

१—पचादि (४।२।४८)	५—भिदादि (४।५।८२)
२—नन्द्यादि (४।२।४९)	६—भीमादि (४।६।५१)
३—ग्रहादि (४।२।५०)	७—न्यङ्क्वादि (४।६।५७)
४—गम्यादि (४।४।६८)	

छन्दःप्रक्रिया में—

१—केवलादि	**केवलमामक** आदि सूत्र के लिए
२—कद्रवादि	**कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि** सूत्र के लिए
३—छन्दोगादि	**छन्दोगौक्थिक** आदि सूत्र के लिए
४—सोमादि	**सोमाश्वेन्द्रिय** आदि सूत्र के लिए

इन उपरि निर्दिष्ट गणों में से मूल कातन्त्र अन्तर्गतगणों को कातन्त्र के संक्षेपकार शर्ववर्मा ने व्यवस्थित किया होगा। क्योंकि बिना गणपाठ की व्यवस्था के 'आदि' पद मात्र के निर्देश से सूत्रों में सर्वादि गर्गादि का निर्देश नहीं हो सकता। इसी प्रकार कृत्प्रकरण के गणों का कृत् सूत्रकार कात्यायन वररुचि ने तथा छन्दःप्रक्रियान्तर्गत गणों का छन्दः परिशिष्टकार ने व्यवस्थित किया होगा।

कातन्त्र व्याकरण के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में विस्तार से लिख चुके हैं।

कातन्त्र व्याकरण के गणपाठ पर किसी वैयाकरण ने कोई व्याख्या लिखी अथवा नहीं, इस विषय में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य—'किसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः' (५।३।२) पाणिनीय सूत्र पर न्यासकार ने लिखा है—'सर्वनामत्वं किमः सर्वादिषु पाठात्। किमो ग्रहण-मित्यादि। किंशब्दोऽयं द्व्यादिषु पठ्यते इति, तस्य अद्व्यादिभ्य इति पर्युदासः क्रियते। तस्मात् सर्वनाम्नोऽपि स्वशब्देनोपादानम्। यद्येवं द्विशब्दात् पूर्वं किंशब्दः पठितव्यः। एवं हि तस्य पृथग्ग्रहणं कर्तव्यमेव भवति। सत्य-मेतद्..............।' न्यास भाग २, पृष्ठ १०९।

७. चन्द्रगोमी (सं० १००० वि० पूर्व)

आचार्य चन्द्रगोमी ने स्वशब्दानुशासन से सबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। चन्द्रगोमी तथा उसके व्याकरण के सम्बन्ध में हम इस ग्रन्थ के प्रथमभाग में विस्तार से लिख चुके हैं।

चन्द्रगोमी का गणपाठ उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति में उपलब्ध होता है।

चान्द्र गणपाठ की विशिष्टता

चन्द्रगोमी ने गणपाठ के प्रवचन में पाणिनि का अनुसरण ही नहीं किया अपितु उसने अपने प्रवचन में पाणिनि और पाणिनि से पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती उपलब्ध सभी सामग्री का उपयोग किया है। अतः उसके गणपाठ में पाणिनि से कुछ विशिष्ट भिन्नताएं हैं। यथा—

१—कात्यायन आदि वार्त्तिककारों द्वारा निर्दिष्ट शब्दों को भी गण का रूप दे दिया है। यथा—

क—व्यासादि (२।४।२१)	ख—कम्बोजादि (२।४।१०४)
ग—क्षीरपुत्रादि (३।१।२४)	घ—देवासुरादि (४।१।१३३)
ङ—स्वर्गादि (४।१।१३३)	च—पुण्याहवाचनादि (४।१।१३४)
छ—ज्योत्स्नादि (४।२।१०७)	ज—नवयज्ञादि (४।२।१२४)

२—कई स्थानों में पाणिनीय सूत्रों और वार्तिकों को मिलाकर नए गण बनाये हैं। यथा—

क—ऊषादि (४।२।१२७) गण पाणिनि के **ऊषशुषिमुष्कमधो रः** (५।२।१०७) सूत्र तथा **रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्** (५।२।१०७) वार्त्तिक को मिलाकर बनाया।

ख—कृष्यादि (४।२।११६) गण पाणिनि के **रजःकृष्यासुति०** (५।२।११२) इत्यादि, **दन्तशिखात् संज्ञायाम्** (५।२।११३) सूत्रों तथा **वलचप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते** (५।२।११२) वार्तिक को मिलाकर बनाया।

ग—केशादि (४।२।११९) गण पाणिनि के **केशाद्वोऽन्यतरस्याम्** (५।२।१०९) सूत्र तथा **वप्रकरणे अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (५।२।१०९) आदि वार्तिक को मिलाकर बनाया।

इसी प्रकार कुछ अन्य गण भी सूत्र और वार्तिकों के योग से बनाए।

३—कुछ नए गण बनाए। यथा—

क—ऋत्वादि (४।१।१२४) ख—हिमादि (४।२।१३६)
ग—वेणुकादि (३।२।६१)

कई विद्वानों का कथन है कि चन्द्रगोमी के वेणुकादि गण (३।२।६१) के आधार पर ही काशिकाकार ने गहादि गण में वेणुकादिभ्यश्छण् (४।२।१३८) गणसूत्र पढ़ा है। द्र०—S.S.G.P.38।

४—आचार्य चन्द्र ने लाघवार्थ पाणिनि के कई गणों को मिलाकर एक गण बना दिया। यथा—

क—सिन्ध्वादि (३।३।६१) में पाणिनि के सिन्ध्वादि और तक्षशिलादि (द्र०—अष्टा० ४।३।९३) गणों को मिला दिया।

ख—कथादि (३।४।१०४) में पाणिनि के कथादि और गुडादि (द्र०—अष्टा० ४।४।१०२,१०३) गणों को एक कर दिया।

हमारे विचार में चन्द्राचार्य का इस प्रकार गणों का एकीकरण करके लाघव का प्रयत्न करना सर्वथा चिन्त्य है। पाणिनि ने इन गणों को पृथक् इसलिए पढ़ा था कि इनसे निष्पन्न शब्दों में स्वरभेद होने से उसे स्वर के अनुरोध से पृथक्-पृथक् अण्-अञ् और ठक्-ठञ् आदि प्रत्यय पढ़ने पड़े। अनेक व्याकरणतत्त्वपरिज्ञानरहित लेखक पाणिनि से उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा स्वर की उपेक्षा करने की गई लाघवता को अनावश्यक रूप में उसकी सूक्ष्म मनीषा का चमत्कार मानते अथवा कहते हैं। हमें ऐसे व्यक्तियों की मनीषा पर ही हसी आती है कि कहां पाणिनि आदि प्राचीन आचार्यों की सूक्ष्म मनीषा, जिन्होंने स्वर जैसे सूक्ष्म भेद का परिज्ञान भी बड़े कौशल और लाघव के साथ दर्शाया[1], और कहां उत्तरवर्ती वैयाकरणों की स्थूल बुद्धि, जिन्होंने तथा-कथित लाघव करके शब्दों के सूक्ष्म भेद को ही नष्ट कर दिया। आचार्य चन्द्र की इस कृति पर तो हमें अत्याश्चर्य

---

१. इसी दृष्टि से काशिकाकार ने ४।२।७४ में 'स्वरे विशेषः। महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य' जैसे स्तुति शब्दों का मुक्तकण्ठ से प्रयोग किया।

है क्योंकि उसने स्वर-भेद की रक्षा करते हुए और स्वर-प्रकरण का निर्देश करते हुए[1] भी यहां पर स्वर-भेद की उपेक्षा क्यों की ? हो सकता है कि उसने एकीकृत गणों के शब्दों के स्वर-भेद के निदर्शनार्थ स्वग्रन्थ में स्वर-प्रक्रिया में विशेष निर्देश किया हो। चान्द्र व्याकरणस्थ स्वर प्रक्रियांश के सम्प्रति अनुपलब्ध होने से हम कुछ भी निर्णय करने में असमर्थ हैं।

५—पाणिनि के कई गण छोड़ दिए। यथा—
शौण्डादि (२।१।४०) से **राजदन्तादि** (२।२।३१) पर्यन्त के गण। **पलाशादि** (४।३।१४१), **रसादि** (५।२।६५) तथा **देवपथादि** (५।३।१००) गण।

६—चन्द्राचार्य ने लाघवार्थ पाणिनि के कई गणों के अधिकाक्षर आदि पद को हटाकर गण के आरम्भ में लघु पद रखा, अर्थात् लाघवार्थ नाम परिवर्तन किया। यथा—

क—**अपूपादि**	(पा० ५।१।४) को
यूपादि	(चान्द्र ४।१।३) रूप में।
ख—**इन्द्रजननादि**	(पा० ४।३।८९) को
शिशुक्रन्दादि	(चान्द्र ४।१।३) रूप में।
ग—**अनुप्रवचनादि**	(पा० ५।१।१११) को
उत्थापनादि	(४।१।१३२) रूप में।
घ—**किंशुलकादि**	(पा० ६।३।११६) को
अञ्जनादि	(चान्द्र ५।२।१३२) रूप में।

ऐसा लाघव चान्द्र गणपाठ में बहुत्र उपलब्ध होता है।

७—पाणिनि के कई गणों का परिष्कार किया। यथा—**अर्धर्चादि-गण**। इस गण के विषय में चान्द्र व्याकरण २।२।८३ की टीका भी द्रष्टव्य है।

८—पाणिनि के कई व्यवस्थित (पठित) गणों को आकृतिगण बनाया। यथा—**शरादि**। इस विषय में चान्द्र व्याकरण ५।२।१३४ की वृत्ति द्रष्टव्य है।

---

१. चान्द्र व्याकरण में स्वरप्रकरण भी था, द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास भाग १, चान्द्र व्याकरण प्रकरण।

आचार्य चन्द्रगोमी से उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने चन्द्र के सूत्र-पाठ, धातुपाठ, गणपाठ आदि का अनुकरण किया, परन्तु उन्होंने उसके नाम का निर्देश भी नहीं किया। कहां आचार्य पाणिनि का अपने से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का सम्मानार्थ नामस्मरण करना और कहां अर्वाचीन आचार्यों का अहंकारवश किसी पूर्ववर्ती आचार्य के नाम का निर्देश न करना। यह है आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों के स्वरूप की भिन्नता। भला ऐसे अहंकारी कृतघ्न ग्रन्थकारों के ग्रन्थों के अध्ययन से कभी किसी शास्त्र के तत्त्व का बोध हो सकता है ? क्या ऐसे ग्रन्थ के पढ़नेवाले सुकुमार-मति छात्रों की बुद्धि पर इस कृतघ्नता का कुप्रभाव न होगा ?

स्वामी दयानन्द सरस्वती की चेतावनी—उस युग में जब कि चारों ओर अनार्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन का ही बोलबाला था, सबसे पूर्व महामनस्वी स्वामी विरजानन्द सरस्वती की विमल मेधा में अनार्ष ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन से होने वाली हानियों की उपज्ञा हुई। उनसे आर्ष-ज्योति पाकर इस युग के प्रवर्तक, क्रान्तदर्शी अशेष-शेमुषीसम्पन्न स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट घोषणा की—

'जितना बोध इन (अष्टाध्यायी-महाभाष्य) के पढ़ने से तीन वर्षों में होता है', उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत चन्द्रिका, कौमुदी,

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती के उक्त मत की बहुधा परीक्षा कर ली गई है। आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु तथा श्री पं० शंकरदेव जी तथा उनकी शिष्य-परम्परा में सम्पूर्ण महाभाष्य पर्यन्त व्याकरणशास्त्र का अध्यापन प्रायः ५ वर्ष में समाप्त हो जाता है। और छात्र कौमुदी शेखर प्रभृति ग्रन्थों के माध्यम से १२ वर्ष पर्यन्त अध्ययन करने वाले व्याकरणाचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक विद्वान् हो जाते हैं। दो-एक अति कुशाग्रमति परिश्रमी छात्रों ने तो तीन वर्ष में ही महाभाष्यान्त व्याकरण का अध्ययन समाप्त कर लिया।

अष्टाध्यायी के क्रम से पठन-पाठन का प्रयोग तो आर्यसमाज के क्षेत्र में अनेक स्थानों पर हो रहा है, परन्तु इस क्रम से वास्तविक रीति से पठन-पाठन (जिससे छात्र वस्तुतः अल्प काल में ही अच्छे वैयाकरण बन सकें) केवल श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, श्री पं० शंकरदेवजी तथा उनकी शिष्यपरम्परा तक ही सीमित है।

मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता। क्योंकि महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है? महर्षि लोगों का आशय, जहां तक हो सके वहां तक सुगम और जिसके ग्रहण में थोड़ा समय लगे, इस प्रकार का होता है। और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें, जैसे पहाड़ का खोदना, कौड़ी का लाभ होना और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि एक गोता लगाना, बहुमूल्य मोतियों का पाना।' सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पठनपाठनविधि।

सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण के चौदहवें समुल्लास[1] के अन्त में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो एक विज्ञापन लिखा था, उसमें अनार्ष क्षुद्राशय लोगों के लिखे ग्रन्थों के विषय में यहां तक लिखा है कि—

'जिन ग्रन्थों को दूर छोड़ने को कहा[2] कि इनको न पढ़ें, न पढ़ावें, न इनको देखें। क्योंकि इनको देखने से वा सुनने से मनुष्य की बुद्धि बिगड़ जाती है। इससे इन ग्रन्थों को संसार में रहने भी न दें, तो बहुत उपकार होय'।[3]

---

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सं० १९३२ (सन् १८७५) में सत्यार्थप्रकाश का जो प्रथम संस्करण छपवाया था, उसके लिए लिखे तो चौदह समुल्लास ही थे, परन्तु किन्हीं कारणों से अन्त के दो समुल्लास उस समय न छप सके थे। इस आद्य सत्यार्थप्रकाश की हस्तलिखित प्रति सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ के लिखवाने और छपवाने वाले राजा जयकृष्णदास के घर मुरादाबाद में अद्ययावत् सुरक्षित है। कुछ वर्ष हुऐ श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर ने इस हस्तलेख को महान् यत्न से प्राप्त करके इसकी फोटो कापी करा कर उसने अपने पास भी सुरक्षित करली है। द्र०—ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ २२–२५।

२. सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लासान्तर्गत पठनपाठन-विधि में।

३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन भाग १, पृष्ठ ३७ (तृ० सं०)। उक्त विज्ञापन स० प्र० की हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ ४८५–४९५ तक उपलब्ध होता है।

संसार के कल्याण के इच्छुक सत्यनिष्ठ विद्वानों को स्वामी दयानन्द सरस्वती के उक्त मत के ग्रहण और अयुक्त मत को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन।

---

८. क्षपणक (वि० प्रथमशती)

क्षपणक व्याकरण के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में लिख चुके हैं।

क्षपणक के उणादिसूत्र के इति पद से संबद्ध एक उद्धरण उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिसूत्रवृत्ति में उद्धृत किया है—

'क्षपणकवृत्तौ अत्र 'इति' शब्द आद्यर्थे व्याख्यातः'। पृष्ठ ६०।

इस उद्धरण से न केवल क्षपणक प्रोक्त उणादिसूत्रों की सत्ता का ही ज्ञान होता है, अपितु उसकी स्वोपज्ञ उणादिवृत्ति का भी परिचय मिलता है। क्षपणक-प्रोक्त धातुपाठ के विषय में हम धातुपाठ के प्रकरण में (भाग २, पृष्ठ १२६) लिख चुके हैं। अतः जिस वैयाकरण ने अपने शब्दानुशासन, उसके धातुपाठ और उणादि-सूत्र तथा उसकी वृत्ति का प्रवचन किया हो, उसने अपने शब्दानुशासन से सम्बद्ध गणपाठ का प्रवचन न किया हो, यह कथमपि बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता। अतः क्षपणकप्रोक्त गणपाठ के विषय में साक्षात् निर्देश उपलब्ध न होने पर भी उसकी सत्ता अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है।

९—देवनन्दी (सं० ५०० वि० से पूर्व)

आचार्य देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद के शब्दानुशासन का वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में विस्तार से कर चुके हैं। पूज्यपाद ने स्वतन्त्र-संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। यह गणपाठ अभयनन्दी-विरचित महावृत्ति में संप्रविष्ट उपलब्ध होता है।[1] जैनेन्द्र गणपाठ में निम्न विभिन्नताएं हैं—

---

१. जैनेन्द्र गणपाठ के अनेक पाठ वर्धमान ने अभयनन्दी के नाम से

१—अनेक स्थानों पर पूर्व आचार्यप्रोक्त गणसूत्रों को गणपाठ में स्थान न देकर स्वतन्त्र सूत्र रूप में प्रतिष्ठित करना।

२—कतिपय विभिन्न गणों का एकीकरण। यथा—**पिच्छादि** और **तुन्दादि** का। द्र०—महावृत्ति ४।१।४३॥

३—आकृतिगण में प्रयोगानुसार कतिपय शब्दों की वृद्धि।

४—काशिका तथा चान्द्रवृत्ति दोनों के भिन्न-भिन्न पाठों का संग्रह। यथा—कुर्वादिगण में काशिका का पाठ **अभ्र** है, चान्द्रवृत्ति का **शुभ्र**। जैनेन्द्र में दोनों का पाठ उपलब्ध होता है। द्र०—महावृत्ति ३।१।१३८॥

५—प्राय: सर्वत्र तालव्य श को दन्त्य स के रूप में पढ़ा है। यथा। **शंकुलाद** को **संकुलाद** (द्र०—महावृत्ति ३।२।९३), **सर्वकेश** को **सर्वकेस** (द्र०—महावृत्ति ३।३।९६)।

इन विभिन्नताओं के अतिरिक्त इस गणपाठ में कोई मौलिक वैशिष्ट्य नहीं है। गणपाठ की किसी व्याख्या का भी हमें कोई ज्ञान नहीं है।

गुणनन्दी

गुणनन्दी ने जैनेद्र व्याकरण का परिष्कार किया था। इस का स्वतन्त्र नाम शब्दार्णव है। इसका वर्णन प्रथम भाग में जैनेन्द्र व्याकरण के प्रसङ्ग में कर चुके हैं। गुणनन्दी ने आचार्य पूज्यपाद के गणपाठ को उसी रूप में स्वीकार किया था, अथवा उसमें भी कुछ परिष्कार किया था, यह शब्दार्णव व्याकरण संबद्ध गणपाठ के अनुपलब्ध होने से अज्ञात है। हमारा अनुमान है कि जैसे गुणनन्दी ने जैनेन्द्र धातुपाठ का कुछ-कुछ परिष्कार किया, उसी प्रकार गणपाठ का भी परिष्कार अवश्य किया होगा।

उद्धृत किए हैं। यथा—'गोभिलचक्रवाकाशोकच्छगलकुशीरकयमलमुख-मन्मथशब्दान् अभयनन्दी गणेऽस्मिन् ददर्श।' गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ १७२। इस प्रकार के पाठों से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि जैनेन्द्र गणपाठ का अभयनन्दी ने प्रवचन किया था। अभयनन्दी तो काशिकाकारवत् अपनी वृत्ति में गणपाठ का संग्रह करने वाला है।

१०—वामन (सं० ३५०–६०० वि० पूर्व)

वामनकृत विश्रान्तविद्याधर व्याकरण का वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में कर चुके हैं। वामन ने स्वशब्दानुशासन से संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। वामनप्रोक्त गणपाठ का निर्देश वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में बहुत्र किया है।

वामन के गणपाठ में अनेक भिन्नताएं हैं। कुछ एक इस प्रकार हैं—

१—**नये गणों का संग्रह**—वामन ने अपने गणपाठ में कई नये गणों का संग्रह किया है। यथा—**केदारादि**। वर्धमान लिखता है—

'**केदारादौ राजराजन्यवत्सा उष्ट्रोरभ्रौ वृद्धयुक्तो मनुष्यः।**
उक्षा ज्ञेयो राजपुत्रस्तथेह केदारादौ वामनाचार्यदृष्टे॥'

गणरत्नमहोदधि श्लोक २५८।

इस श्लोक के चतुर्थ चरण में स्पष्ट कहा है कि केदारादि गण वामन-दृष्ट है।

२—**पाठभेद से गणों के नामकरण की भिन्नता**—वामन के कई एक गण ऐसे हैं जो पूर्वाचार्यों के समान होते हुए भी प्रथम शब्द के पाठभेद के कारण नामभेद होने से भिन्नगणवत् प्रतीत होते हैं। यथा—

पाणिनि के **शण्डिकादि** (पा० ४।३।९२) का वामन के मत में **शुण्डिकादि** नाम है। वर्धमान लिखता है—

'**शुण्डिका ग्रामोऽभिजनोऽस्य शौण्डिक्यः। अयं वामनमताभिप्रायः पाणिन्यादयस्तु शण्डिकस्य ग्रामजनपदवाचिनः शाण्डिक्य इत्युदाहरन्ति।**' गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २०४।

वामन के गणपाठ के विषय में हम उतना ही जानते हैं, जितना वर्धमान के गणरत्नमहोदधि में उद्धृत उद्धरणों से जाना जा सकता है।

११—पाल्यकीर्ति (वि० सं० ८७१–९२४)

आचार्य पाल्यकीर्ति ने सम्प्रति **शाकटायन** नाम से प्रसिद्ध शब्दा-

नुशासन का प्रवचन किया था। पाल्यकीर्ति के समय और उसके शब्दानुशासन के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में विस्तार से लिख चुके हैं।

शाकटायन नाम का कारण—आचार्य पाल्यकीर्ति के लिए **शाकटायन शकटाङ्गज शकटपुत्र** आदि शब्दों का भी विभिन्न ग्रन्थों में प्रयोग देखा जाता है। इसके कारण की विवेचना भी प्रथम भाग में **'वंश तथा शाकटायन नाम का हेतु'** सन्दर्भ में कर चुके हैं।

गणपाठ=पाल्यकीर्ति ने स्व-तन्त्र संबद्ध गणपाठ का भी प्रवचन किया था। उसका सन्निवेश अमोघावृत्ति में मिलता है। यह स्वतन्त्र रूप से भी लघुवृत्ति के अन्त में छपा है। इस गणपाठ में पुराने गण-पाठों से अनेक भिन्नताएं उपलब्ध होती हैं। यथा—

१—**नामकरण की लघुता**—पाल्यकीर्ति ने अनेक गणों के पुराने बड़े नामों के स्थान में लघु नामों का निर्देश किया है। यथा—

(क) **आहिताग्न्यादि** के स्थान में **भार्योढादि** (२।१।११५)।
(ख) **लोहितादि** „ „ „ **निद्रादि** (४।१।२७)।
(ग) **अश्वपत्यादि** „ „ „ **धनादि** (२।४।१७४)।
(घ) **सन्धिवेलादि** „ „ „ **सन्ध्यादि** (३।१।१७६)।
(ङ) **ऋगयनादि** „ „ „ **शिक्षादि** (३।१।१३६)। इत्यादि

आचार्य हेमचन्द्र ने गणनिर्देश में शाकटायन का अनुसरण किया है। केवल पाणिनीय **पक्षादि** के स्थान पर पाल्यकीर्ति द्वारा निर्दिष्ट **पथ्यादि** (२।४।२०) के स्थान पर **पन्थ्यादि** (६।२।८६) का परिवर्तन उपलब्ध होता है।

२—**गणों का न्यूनीकरण**—जिन पाणिनीय गणों में दो चार ही शब्द थे, उन्हें पाल्यकीर्ति ने सूत्र में पढ़कर गणपाठ से हटा दिया।

३—**नये गणों का निर्माण**—पाणिनि ने जिन सूत्रों में अनेक पद हैं, उन्हें सूत्र से हटाकर नये गणों के रूप में परिवर्तित कर दिया। यथा—

(क) **देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः** (५।४।५६) के स्थान में **देवादिगण** (३।४।६३)।

(ख) **द्वितीयाश्रितातीत** (२ । १ । २४) इत्यादि के स्थान में **श्रितादिगण** (२।३।३३) ।

समानस्य छन्दस्य० (६।३।८४) के योगविभाग से सिद्ध होनेवाले सपक्ष सधर्म तथा **ज्योतिर्जनपद** (६।३।८५) आदि के लिए **धर्मादि गण** (२।२।११६) ।

पाल्यकीर्ति ने कई स्थानों पर सर्वथा ऐसे नए गणों का भी प्रयोग किया है, जो पाणिनीय शास्त्र में गण रूप से निर्दिष्ट नहीं हैं। यथा—

(क) पाणिनि के **तेन प्रोक्तम्** (४।३।१०१) सूत्र से यथाविहित प्रत्यय होकर सिद्ध होनेवाले **मौदाः पैप्पलादाः** आदि प्रयोगों के लिए पाल्यकीर्ति ने **मोदादिभ्यः** (३।१।१७०) सूत्र में **मोदादि** गण का निर्देश किया है।

(ख) पाणिनि के **समासाच्च तद्विषयात्** (५।३।१०६) सूत्र से सिद्ध होनेवाले **काकतालीय अजाकृपाणीय** प्रयोगों के लिए **काकतालीयादयः** (३।३।४२) सूत्र में **काकतालीयादि गण** का पाठ किया है।

४—**सन्देहनिवारण**—पाणिनि ने तन्त्र में जहां एक नामवाले दो गण थे, उनमें सन्देह की निवृति के लिए विभिन्न नामों का उपयोग किया है। यथा—

पाणिनि ने ४।२।८० में दो कुमुदादि गण पढ़े हैं। पाल्यकीर्ति ने पहले कुमुदादि को कुमुदादि ही रखा, और द्वितीय कुमुदादि को **अश्वत्थादि** नाम से स्मरण किया है (द्रष्टव्य—सूत्र २।४।१०२)।

५—**गणों का एकीकरण**—पाल्यकीर्ति ने पाणिनि के अनेक गणों को परस्पर मिलाकर लाघव करने का प्रयास किया है। यथा—

(क) पाणिनि के **भिक्षादि** (४।२।३८) और **खण्डिकादि** (४।२।४५) को पाल्यकीर्ति ने मिलाकर एक भिक्षादि गण (२।४।१२८) ही स्वीकार किया है।

(ख) पाणिनि के **कथादि** (४।४।१०२) और **गुडादि** (४।४।१०३) दो गणों को भी पाल्यकीर्ति ने **कथादि** (३।२।२०२) के रूप में एक बना दिया है।

(ग) पाणिनि के **ब्राह्मणादि** (५।१।१२४) और **पुरोहितादि** (५।१।१२८) दोनों गणों का पाल्यकीर्ति ने **ब्राह्मणादि** (३।३।१०) में अन्तर्भाव कर दिया है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी यह एकीकरण देखा जाता है।

गणों के एकीकरण से हानि—पाल्यकीर्ति आदि ने पाणिनि के विभिन्न गणों का लाघव की दृष्टि से जहां-जहां एकीकरण किया है, वहां सर्वत्र एक महान् दोष उपस्थित हो जाता है। पाणिनि आदि पुराने आचार्यों ने शब्दों के स्वर-भेद के परिज्ञापन के लिए जो महान् प्रयत्न किया था, वह उत्तरवर्ती आचार्यों के लाघव के नाम पर किए गए ऐसे प्रयत्नों से सदा के लिए विलुप्त हो गया।

६—**गणसूत्रों का गणपाठ से पृथक्करण**—पाणिनि आदि ने गणपाठ में जो अनेक गणसूत्र पढ़े थे, उन्हें पाल्यकीर्ति ने गणपाठ से निकालकर शब्दानुशासन में स्वतन्त्र सूत्र रूप में पढ़ा है। यथा—

(क) पाणिनि के **स्थूलादि** गण (५।४।३) में पठित **कृष्ण तिलेषु, यव व्रीहिषु** आदि गणसूत्रों को पाल्यकीर्त्ति ने **कृष्णयवजीर्ण** (३।३। १८१) आदि स्वतन्त्र सूत्र का रूप दे दिया है।

(ख) पाणिनि के **प्रज्ञादि** गण (५।४।३८) में पठित **कृष्ण मृगे, श्रोत्र शरीरे** गणसूत्रों को पाल्यकीर्ति ने पाणिनि के **ओषधेरजातौ** (५।३।३७) सूत्र के साथ मिलाकर **कृष्णौषधिश्रोत्रान्मृगभेषजशरीरे** (३।४।१३३) के रूप में पढ़ा है।

७—**चान्द्र नामों का परिवर्तन**—पाल्यकीर्ति ने गणनामों में चान्द्र शब्दानुशासन का अनुकरण करते हुए भी कई स्थानों पर चान्द्र नामों का परित्याग करके नए गणनाम दिए हैं। यथा—

क—चन्द्राचार्य के **हिमादिभ्यः** (४।२।१३६) सूत्र में निर्दिष्ट **हिमादि** गण का नाम पाल्यकीर्ति ने **गुणादि** (३।३।१५८) रखा है।

ख—चन्द्राचार्य द्वारा निर्धारित **कलाप्यादि गण** (५।३।१४०) का नाम पाल्यकीर्ति ने **मौदादि** (३।१।७०) रखा है।

पाल्यकीर्ति प्रोक्त गणपाठ उस की स्वोपज्ञ अमोघा वृत्ति में पढ़ा है। यह यक्षवर्मविरचित चिन्तामणि अपरनाम लघु-वृत्ति के अन्त में भी छपा हुआ मिलता है।

१२. महाराज भोजदेव (सं० १०७५–१११० वि०)

पूर्वाचार्यों द्वारा गणपाठ को शब्दानुशासन से पृथक् खिलपाठ के रूप में पढ़ने से इसके पठन-पाठन में जो उपेक्षा हुई, और उसका जो भयङ्कर परिणाम हुआ, उसका निर्देश हम पूर्व (भाग २ पृष्ठ ४) कर चुके हैं। महाराज भोजदेव ने पूर्व वैयाकरणों द्वारा की गई उपेक्षा और उसके दुष्परिणामों को देखकर उसे पुनः शब्दानुशासन (सूत्रपाठ) में पढ़ने का साहस किया (द्र० पूर्व पृष्ठ ५)।

भोजीय गणपाठ का वैशिष्ट्य

भोज के गणपाठ का प्रधान वैशिष्ट्य उसका सूत्रपाठ में समाविष्ट होना है। इसके साथ ही इसमें निम्न वैशिष्ट्य भी उपलब्ध होते हैं—

१—आकृति-गणों का पाठ—पाणिनि आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा आकृतिगण रूप से निर्दिष्ट गणों को भोज ने उन-उन गणों में समाविष्ट होनेवाले शब्दों का यथा-सम्भव पाठ करके अन्तिम शब्द के साथ **आदि** पद का निर्देश किया है।

२—वार्तिकगणों का पाठ—आचार्य चन्द्र ने जिस प्रकार कात्यायनीय वार्तिकों में निर्दिष्ट गणों को अपने सूत्रपाठ में स्थान दिया, उसी प्रकार आचार्य भोज ने भी उन्हें सूत्रपाठ में पढ़ा है।

३—नवीन गणों का निर्देश—भोज ने पूर्व वैयाकरणों द्वारा अपठित कतिपय नवीन गणों का भी पाठ किया है। यथा—

किंशुकादि (३।२।९८) **वृन्दारकादि** (३।२।८६)
मतल्लिकादि (३।२।८८) **खसूच्यादि** (३।२।८३)
जपादि (७।३।६२)

इनमें से प्रथम चार गणों का निर्देश करते हुए वर्धमान ने स्पष्ट शब्दों में इन्हें भोज द्वारा अभिप्रेत लिखा है। यथा—

किंशुकादि—**अयं च गणः श्रीभोजदेवाभिप्रायेण**। गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ८६।

वृन्दारकादि—**मतल्लिकादि**—**खसूच्यादि एतच्च गणत्रयं भोज-**

देवाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्। अन्यवैयाकरणमतेन सूत्राण्येतानि। गणरत्न-महोदधि, पृष्ठ ८६।

जपादि—भोज के जपादि गण का तथा तन्निर्देशक **जपादीनां पो वः** सूत्र का अनुकरण आचार्य हेमचन्द्र ने २।३।१०५ में किया है। क्षीरस्वामी ने भी अपने अमरकोशोद्घाटन में भोजीय जपादि गण का असकृत् निर्देश किया है। यथा—

कं शिरः पाटयति प्रविशतां कवाटो द्वारपट्टः, जपादित्वाद् वत्वम्। २।२।१७॥

'पा(प)रापतपस्यायं पारावतः, जपादित्वाद् वत्वम् ।२।५।१५॥

इसी प्रकार अनेकत्र जपादि का निर्देश अमरकोशोद्घाटन में उपलब्ध होता है।

४—**गणों के नामान्तर**—भोज ने आचार्य चन्द्र के अनुकरण पर पाणिनीय ऋषूपादि का **सूपादि** (४।४।१८८) तथा **बह्वादि** का **शोणादि** (३।४।७५) नाम से निर्देश किया है।

५—क्वचित् चान्द्र अनुकरण का अभाव—यद्यपि भोज ने आचार्य चन्द्र का अत्यधिक अनुकरण किया है, पुनरपि कहीं-कहीं उसने चन्द्र का अनुकरण न करके स्वतन्त्र मार्ग भी अपनाया है। यथा—

पाणिनि के **व्रीह्यादि** गण का आचार्य चन्द्र ने कात्यायन के अनुकरण पर त्रिधा विभाग किया है—**व्रीह्यादि, शिखादि** और **यव-खदादि**। परन्तु भोज ने व्रीह्यादि गण में पठित **शिखा** आदि शब्दों को **पुष्करादि** गण (५।२।१९०–१९२) और **कर्म** तथा **चर्म** शब्द को **बलादि** गण (५।२।१९३–१९४) में पढ़ कर अपनी स्वतन्त्र मनीषा का परिचय दिया है।

६—**पाठान्तरों का निर्देश**—भोज ने प्राचीन विभिन्न आचार्यों द्वारा स्वीकृत एक शब्द के विभिन्न पाठान्तरों को भी कहीं-कहीं स्वतन्त्र शब्दों के रूप में स्वीकार किया है। यथा—

कुर्वादि—गण में काशिका का पाठ **मुर** है। चन्द्र ने इसके स्थान में **पुर** पाठ स्वीकार किया है। भोज ने इस गण में (४।४।१४४-१५३) दोनों शब्दों का पाठ किया है।

व्याख्याकार

भोजीय सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याता दण्डनाथ ने शब्दानुशासन की व्याख्या में गणसूत्रों की व्याख्या भी की है। परन्तु गणपाठ के शब्दों की जैसी व्याख्या होनी चाहिए, वैसी व्याख्या उसकी टीका में स्वरादि चादि प्रादि आदि कतिपय गणों की ही उपलब्ध होती है।

१३—भद्रेश्वर सूरि (सं० १२०० वि० से पूर्व)

भद्रेश्वर सूरि विरचित दीपक व्याकरण का वर्णन हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में कर चुके हैं। उसी प्रकरण में हमने वर्धमान के गणरत्नमहोदधि का एक उद्धरण दिया है। जिससे विदित होता है कि भद्रेश्वर सूरि ने स्व-शब्दानुशासन से सम्बद्ध किसी गणपाठ का भी प्रवचन किया था। वह अवतरण इस प्रकार है—

भद्रेश्वराचार्यस्तु—

किंच स्वा दुर्भगा कान्ता रक्षान्ता निचिता समा।
सचिवा चपला भक्तिर्बाल्येति स्वादयो दश॥
इति स्वादौ वेत्यनेन विकल्पेन पुंवद्भावं मन्यते।

गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ९८।

इन उद्धरण में भद्रेश्वर सूरि प्रोक्त गणपाठ के स्वादि गण का उल्लेख है। यदि उक्त उद्धरण में निर्दिष्ट श्लोक भद्रेश्वर सूरि का ही हो (जिसकी अधिक सम्भावना है), तो इससे यह भी जाना जाता है कि उक्त गणपाठ श्लोकबद्ध था।

नामपरिवर्तन—भद्रेश्वर सूरि ने भी पूर्वाचार्यों की पद्धति पर चलते हुए पाणिनिनिर्दिष्ट कतिपय गणनामों का परिवर्तन किया था। उक्त उद्धरण में निर्दिष्ट स्वादि नाम पाणिनि-प्रोक्त **प्रियादि** (६।३।३३) गण का है।

इससे अधिक हम इस आचार्य के गणपाठ के विषय में कुछ नहीं जानते।

१४—हेमचन्द्र सूरि (सं० ११४५–१२२९ वि०)

आचार्य हेमचन्द्र का गणपाठ उसकी स्वोपज्ञ-बृहद्वृत्ति में उपलब्ध होता है।

पाल्यकीर्ति का अनुकरण

हेमचन्द्र ने पाल्यकीर्ति के शब्दानुशासन और उसकी अमोघा वृत्ति का अत्यधिक अनुकरण किया है। डा० बेल्वेल्कर ने इस सम्बन्ध में लिखा है—

'विशेषतः शाकटायन के शब्दानुशासन तथा अमोघा वृत्ति के सम्बन्ध में उसका (=हेमचन्द्र का) आश्रित होना इतना निकट का है कि वह सर्वथा अन्धानुकरण की स्थिति तक जा पहुंचता है'।[1]

हमारा मन्तव्य—निःसन्देह आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती पाल्कीर्ति का अत्यधिक अनुकरण किया है, परन्तु उसके सम्बन्ध में हम डा० बेल्वेल्कर की सम्मति से सहमत नहीं हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने यद्यपि अपने सभी ग्रंथों के तत्तद् विषय के प्राचीन ग्रन्थकारों तथा उनके ग्रन्थों का अनुकरण किया है, तथापि उनमें आचार्य के अपने मौलिक अंश भी हैं। अन्धानुकरण का दोष तभी दिया जा सकता है, जबकि किसी ग्रन्थकार के ग्रन्थ में उसका मौलिक अंश किञ्चिन्मात्र भी न हो। इतना ही नहीं, वाङ्मय के क्षेत्र में ऐसा कौन-सा लेखक है, जो अपने से पूर्व लेखकों की सामग्री का उपयोग न करके सब कुछ स्वमनीषा से उद्भासित वस्तु अथवा तत्त्व का ही निर्देश करता है।

जहां तक हेमचन्द्र के गणपाठ का सम्बन्ध है, वह प्रायः पाल्यकीर्ति के गणपाठ का अनुकरण करता है, पुनरपि उसमें कतिपय स्थानों में स्वोपज्ञ अंश भी है। यथा—

१—नए गणों का निर्धारण—प्राचीन वैयाकरणों की शब्दानुशासन के लाघव के लिए नए-नए गणों की उद्भावना पद्धति पर चलते हुए हेमचन्द्र ने कतिपय नये गणों की उद्भावना की है। यथा—

---

१. सिस्टम्स् आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ७६।

क—पाणिनि के **सायंचिरं** (४।३।२३) सूत्रपठित शब्दों के लिए **सायाह्नादि** (३।१।५३) गण की कल्पना की है।

ख—पाणिनि के **अनन्तावसथ** (५।४।२३) सूत्रपठित शब्दों के लिए **भेषजादि** (७।२।१६४) गण का निर्धारण किया है।

२—**नाम परिवर्तन**—कहीं-कहीं पर हेमचन्द्र ने पाल्यकीर्ति आदि पूर्वाचार्यों द्वारा निर्धारित गणनामों में भी परिवर्तन किया है। यथा—

पाणिनि के **चतुर्थी तदर्थार्थ०** (२।१।३६) सूत्र के लिए पाल्यकीर्ति द्वारा निर्धारित **अर्थादि** (शाक० २।१।३६) गण के स्थान में हेमचन्द्र ने उसका नाम **चितादि** (३।१।७१) रक्खा है।

३—**एक गण के दो गण**—एक गण के दो विभाग अथवा दो गण बनाने की दिशा में भी हेमचन्द्र ने कुछ नया प्रयास किया है। यथा—

क—पाणिनि के **पुष्करादि** (५।२।१३५) गण को **पुष्करादि** (७।२।७०) तथा **अब्जादि** (७।२।६७) दो गणों में विभक्त किया है।

ख—पाणिनि के **कस्कादि** (८।३।४८) गण को एक ही सूत्र में **भ्रातुष्पुत्रादि** (२।३।१४) तथा **कस्कादि** (२।३।१४) दो गणों में बांटा है।

४—**संगृहीत विगृहीत पाठ**—हेमचन्द्र ने कतिपय स्थानों पर समान शब्दों को संगृहीत (=समस्त) तथा विगृहीत (=विभक्त) दोनों रूपों में पढ़ा है। यथा—

क—**उत्करादि** (६।२।९१) गण में **इडाजिर** संगृहीत रूप में, तथा **इडा अजिर** विगृहीत रूप में।

ख—**तिकादि**—(६।१।१३१) गण में **तिककितव** संगृहीत रूप में, तथा **तिक कितव** विगृहीत रूप में।

५—**पाठान्तरों का संग्रह**—गणपाठ के तत्तत् गणों में पूर्वाचार्य स्वीकृत प्रायः सभी पाठान्तरों का हेमचन्द्र ने अपने गणपाठ में संग्रह कर दिया है। हेमचन्द्र की यह प्रवृत्ति उसके स्वभाव के अनुरूप है। हेमचन्द्राचार्य के प्रायः सभी ग्रन्थों में यह संग्रहात्मक प्रवृत्ति देखी जाती है।

व्याख्या

हेमचन्द्र के गणपाठ पर स्वतन्त्र व्याख्या उपलब्ध नहीं होती। तथापि उसके कतिपय गणों के शब्दों की व्याख्या उसके **बृहन्न्यास** में उपलब्ध होती है। जैन सत्यप्रकाश पत्र वर्ष ७ के दीपोत्सवी अंक पृष्ठ ८४ में सवृत्ति गणपाठ का निर्देश है। परन्तु हमारा विचार है कि यहां 'सवृत्ति' पद का सम्बन्ध 'सूत्र' के साथ होना चाहिये।

---

१५. वर्धमान (सं० ११६०–१२१० वि०)

गणकारों में वर्धमान का नाम सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण गणपाठ के वाङ्मय में वर्धमान के स्वीय गणपाठ की स्वोपज्ञा **गणरत्नमहोदधि** व्याख्या ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसके साहाय्य से गणपाठ के सम्बन्ध में हम कुछ जान सकते हैं।

वर्धमान ने स्वीय व्याकरण से संबद्ध गणपाठ का श्लोकबद्ध संकलन एवं उसकी विस्तृत व्याख्या लिखी है। वर्धमान ने इस व्याख्या के अन्त में गणरत्नमहोदधि के रचना-काल का निर्देश इस प्रकार किया है—

सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु।
वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः॥

अर्थात् विक्रम से ११९७ वर्षों के व्यतीत होने पर गणरत्नमहोदधि ग्रन्थ लिखा गया।

वर्धमान ने अपनी व्याख्या में से प्राचीन सभी वैयाकरणों के गणपाठस्थ तत्तत् शब्द विषयक सभी पाठभेदों और मतों का विस्तार से निर्देश किया है। इसमें **एके केचित् अपरे** आदि सामान्य निर्देशों के अतिरिक्त जिन वैयाकरणों को नामनिर्देशपूर्वक स्मरण किया है, वे ये हैं—

१—अभयनन्दी	५—द्रमि(वि)ड़ वैयाकरण
२—अरुणदत्त	६—पाणिनि
३—चन्द्रगोमी	७—पारायणिक
४—जिनेन्द्रबुद्धि	८—भद्रेश्वर

९—भोज—(श्रीभोज)
१०—रत्नमति
११—वसुक्र
१२—वामन
१३—वृद्ध वैयाकरण
१४—शकटाङ्गज (पाल्यकीर्ति)
१५—सुधाकर
१६—हेमचन्द्र

इस ग्रन्थ में उपर्युक्त आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न पाठभेदों अथवा मतों का तो उल्लेख किया ही गया है, अनेक स्थानों पर उनके गणपाठ में पढ़े जाने के प्रयोजन, गणसूत्रों की व्याख्या, तथा विशिष्ट शब्दों के प्रयोग निदर्शन के लिए स्वविरचित और प्राचीन कवियों के पद्यों को उद्धृत किया है।

वर्धमान ने पाणिनीय गणपाठ के स्वर वैदिक प्रकरणातिरिक्त प्रायः सभी गणों का समावेश अपने ग्रन्थ में किया है, किन्हीं का सर्वथा अभिन्न रूप में और किन्हीं का नाम परिवर्तन करके। इसी प्रकार कात्यायन के वार्तिक-गणों को भी इसमें समाविष्ट कर लिया गया है। पाणिनि के कतिपय दीर्घकाय सूत्रों और एक प्रकरण के दो चार सहपठित सूत्रों के आधार पर कतिपय नये गण भी निर्धारित किये हैं। इसी प्रकार कतिपय वार्तिकों के आधार पर भी नये गणों की रचना की है। कहीं-कहीं पाणिनि के अनेक गणों का एक गण में भी समावेश देखा जाता है।

आचार्य चन्द्र, पाल्यकीर्ति और हेमचन्द्र द्वारा निर्धारित गणों को प्रायः उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। हां किन्हीं गणों के नाम परिवर्तित अवश्य किये गये हैं। वामन और भोज द्वारा निर्धारित गणों को भी इसमें स्थान दिया गया है। अरुणदत्त के मतानुसार अर्धर्चादि गण के शब्दों की एक विस्तृत सूची उपस्थित की है।

इन सब विशेषताओं के कारण वर्धमान का गणरत्नमहोदधि ग्रन्थ अपने विषय का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ बन गया है। सम्प्रति गणपाठ के शब्दों के अर्थ, पाठभेद और प्रयोग ज्ञान के लिए यही एकमात्र साहाय्य ग्रन्थ है। भट्ट यज्ञेश्वर विरचित गणरत्नावली का भी यही आधार ग्रन्थ है।

गणरत्न महोदधि के व्याख्याकार

१. गङ्गाधर

महामहोपाध्याय गङ्गाधर ने वर्धमान के गणरत्नमहोदधि पर

एक टीका लिखी थी। इसका एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लायब्रेरी लन्दन के सूचीपत्र भाग २ खण्ड १ में निर्दिष्ट है।

२. गोवर्धन

आफ्रेक्ट ने अपने हस्तलेखों के सूचीपत्र में गङ्गाधर के साथ गोवर्धन का भी गणरत्नमहोदधि के टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है।

३. बालकृष्ण शास्त्री

वर्धमान-विरचित गणपाठ के श्लोकों की एक **गणरत्न** नाम्नी संक्षिप्त व्याख्या बालकृष्ण शास्त्री ने लिखी है। इस में कहीं-कहीं वर्धमान कृत व्याख्या=गणरत्नमहोदधि की आलोचना भी की है। यथा सर्वादि गण में वर्धमान द्वारा पठित **अन्योन्य परस्पर इतरेतर** शब्दों के विषय में लिखा है—**अन्योन्य-परस्परेतरेतराणां पाठोऽप्रामाणिकः** ।

---

१६. क्रमदीश्वर (सं० १३०० वि० से पूर्व)

क्रमदीश्वर प्रोक्त **संक्षिप्तसार** अपर नाम **जौमर** व्याकरण से संबद्ध जो गणपाठ है, उसका प्रवचन क्रमदीश्वर ने ही किया, अथवा संक्षिप्तसार के परिष्कर्ता अथवा व्याख्याता जुमरन्दी ने किया, यह अज्ञात है। इस गणपाठ में प्रधानभूत गणों का ही संकलन है।

व्याख्याता-न्यायपञ्चानन

जौमर गणपाठ पर न्यायपञ्चानन नाम के विद्वान् ने **गणप्रकाश** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है।

इस न्यायपञ्चानन ने जौमर व्याकरण पर गोयीचन्द्र विरचित टीका पर टीका लिखी है। इसका वर्णन हमने इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में क्रमदीश्वर-प्रोक्त संक्षिप्तसार (जौमर) व्याकरण के प्रकरण में किया है।

---

१७. सारस्वत व्याकरणकार (वि० सं० १३०० के लगभग)

सारस्वत सूत्रों के रचयिता नरेन्द्राचार्य (अथवा अनुभूतिस्वरूपा-

चार्य) ने अपने सूत्रों में अनेक गणों का निर्देश किया है। इस गणपाठ में भी प्राचीन गणपाठों के समान कुछ वैचित्र्य उपलब्ध होता है। यथा—

१—पाणिनीय **स्वरादि** और **चादि** गणों का एक में समावेश।

२—कात्यायन द्वारा उपसंख्यात श्रत् और **अन्तर्** शब्द का आदिगण में समावेश, तथा **संभस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्** आदि वार्तिक के उदाहरणों का **अजादि** में समावेश द्रष्टव्य है।

३—**पाणिनीय गणनामों** का कहीं-कहीं परिवर्तन भी देखा जाता है। यथा—

गौरादि गण का **नदादि**, **बाह्वादि** का **पद्धत्यादि**, **सपत्न्यादि** का **पत्न्यादि**, **शुभ्रादि** का **अत्र्यादि** आदि नामकरण उपलब्ध होते हैं।

४—कहीं-कहीं पाणिनि के विस्तृत सूत्र में निर्दिष्ट शब्दों के लिये नये गणों का निर्धारण भी देखा जाता है। यथा—

इन्द्रवरुणभवशर्व की दृष्टि से **इन्द्रादि**, **जानपदकुण्डगोण** की दृष्टि से **जानपदादि गण**। (ये अन्य व्याकरणों में भी मिलते हैं)।

पाणिनि के **पूतक्रतोरै च**, **वृषाकप्यग्नि** तथा **मनोरौ वा** सूत्रों की दृष्टि से **मन्वादि** आकृतिगण तथा **पितृष्वसुश्छण्** और **मातृष्वसुश्च** सूत्रों की दृष्टि से **पितृष्वस्रादि** गण की कल्पना सारस्वतकार की अपनी उपज्ञा है।

५—कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों द्वारा निर्धारित गणों की उपेक्षा भी की है। यथा—

आचार्य चन्द्रगोमी ने पाणिनि के **ऊषशुषिमुष्कमधो रः** तथा इसी सूत्र पर रचे गये कात्यायन के **रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्यः उपसंख्यानम्** वार्तिक के लिए **ऊषादि** गण की कल्पना की थी, परन्तु सारस्वतकार ने यहां इस लाघव को स्वीकार न करके पाणिनि के सूत्र तथा कात्यायन के वार्तिक का सम्मिश्रण करके **ऊषशुषिमुष्कमधुखमुखकुञ्जनगपांशुपाण्डुभ्यः** जैसे बड़े सूत्र की रचना की है। सारस्वत-गणपाठ इसकी **चन्द्रिका** टीका में उपलब्ध होता है।

वस्तुतः '**सिद्धान्त-चन्द्रिका**' सारस्वत का रूपान्तर है[1]। इसलिए

---

१. द्र० सं० व्या० शा० इतिहास भाग १, सारस्वत व्याकरण-प्रकरण।

सारस्वत गणपाठ के लिये उसका आश्रयण करना उचित प्रतीत नहीं होता। 'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' के लेखक प्रा० कपिलदेव साहित्याचार्य ने अपने ग्रन्थ में सारस्वत गणपाठ के सम्बन्ध में (हमने भी ऊपर) जो लिखा है, वह सिद्धांत-चन्द्रिका नामक रूपान्तर के आधार पर लिखा गया है।

१८. वोपदेव (सं० १३००–१३५० वि०)

वोपदेव ने मुग्धबोध व्याकरण से संबद्ध गणपाठ का प्रवचन भी किया था। इसमें अनेक पाणिनीय गण अपरिवर्तित रूप से मिलते हैं। कुछ गणों के नामों में परिवर्तन किया है। कल्याण्यादि, शरत्प्रभृति तथा द्वारादि जैसे कतिपय गणों के शब्दों का सूत्रों में ही पाठ किया है। मुग्धबोधकार द्वारा इदंप्रथमतया निर्धारित एक तन्वादि गण ही ऐसा है, जिसे इसका मौलिक गण कहा जा सकता है।

मुग्धबोध के टीकाकार दुर्गादास और रामतर्क वागीश ने अपनी व्याख्याओं में पाणिनि के प्रायः सभी गणों का विस्तार से निर्देश किया है। मुग्धबोध के सर्वादि गण में पूर्वादि शब्दों का निर्देश द्वि शब्द के पीछे उपलब्ध होता है। यही क्रम सम्भवतः आपिशलि के गणपाठ में भी था।

१९. पद्मनाभदत्त (सं० १४०० वि०)

डा० बेल्वेल्कर का मत है कि सौपद्म सम्प्रदाय के गणपाठ का निर्धारण काशीश्वर नाम के विद्वान् ने किया था, और रमाकान्त नाम के वैयाकरण ने इस गणपाठ पर एक वृत्ति लिखी थी।[1] गणेश्वर के पुत्र पद्मनाभदत्त ने पृषोदरादि-वृत्ति नामक एक विशिष्ट ग्रन्थ की रचना सं० १४३० वि० (सन् १३७५ ई०) में की थी।[2]

अज्ञात व्याकरण संबद्ध गण-प्रवक्ता और व्याख्याता

वैयाकरण वाङ्मय में गणपाठ से सम्बन्ध रखने वाले कतिपय

---

१. सिस्टम्स् आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ १११।

ऐसे वैयाकरणों के नाम तथा कृतियां मिलती हैं, जिनका किसी व्याकरण विशेष से सम्बन्ध हमें ज्ञात नहीं है। ऐसे गणप्रवक्ता और व्याख्याताओं का हम नीचे निर्देश करते हैं—

---

२०. कुमारपाल (१३ वीं शती वि० प्रथमचरण)

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर के संग्रह में चौलुक्य-भूपति कुमारपाल विरचित **गणदर्पण** नाम का एक हस्तलेख (फोटो कापी) है। इसकी क्रमसंख्या २६५३ है, इसमें २१ पत्रे हैं। आरम्भ के १–२ पत्रे नहीं हैं। शेष १६ पत्रों के ३८ फोटो पत्रे हैं।

इसमें प्रति पृष्ठ १४ पंक्ति और प्रति पंक्ति ४७ अक्षर हैं। **फोटो कापी के आदि में निम्न पाठ है—**

काष्ठादारुणवेशामातापुत्रादभुतस्वतयः । भृशघोरानाज्ञातायुतपरमाश्चेति काष्ठादिगणः। पत्र ३१।

ग्रन्थ के अन्त में—

सूत्रनडचतुर्विद्याः कुरुपंचालाधिदेवास्व।
अनुसंवत्सरो धेनुव गाजातत्रशत्रवः।
संक्रमोधकशुद्धौ पुष्करसत्परिमण्डलः।
प्रतिभूराजपुरुषौ सर्ववेद इति व्यष्टि वृद्धिः।

इति राजपितामहश्रीचौलुक्यभूपालकुमारपालदेवेन दंडवोसरि-प्रतिहारभोजदेवार्थं विरचिते गणदर्पणे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः। शुभं भवतु। ग्रन्थाग्रं ६०० ॥

श्री शके १३८३ वृषसंवत्सरे पौषवदि १३ भौमे॥ श्री देवगिरौ उकेशवंशे श्री देवडागोत्रे सा० वीरा पुत्रेण वीनपाले सं० सोना सं चांपसीपुत्रेण ग्रन्थोऽयं समलेखि। वा० समयतक्रगणीनं॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यह **गणदर्पण** चौलुक्य-भूपाल कुमारपाल विरचित है। इसमें तीन अध्याय हैं, और प्रति अध्याय चार पाद हैं।

गणदर्पण की रचना श्लोकबद्ध है। यह किस व्याकरण से संबंध रखता है, यह अन्वेष्य है।

महाराज कुमारपाल द्वारा इस ग्रन्थ को रचना होने से स्पष्ट है कि इसका काल विक्रम को तेरहवीं शती का प्रथम चरण है।

इस हस्तलेख का लेखनकाल शक सं० १३८३ (वि० सं० १५१८) है। हस्तलेख पृष्ठ मात्रायुत प्राचीन लिपि में हैं।

इस हस्तलेख का सामान्य परिचय तथा आद्यन्त निर्दिष्ट पाठ राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर के अध्यक्ष श्री डा० गोपाल नारायण जी बहुरा के अनुग्रह से प्राप्त हुआ।

---

२१. अरुणदत्त (सं० ११९० वि० से पूर्ववर्ती)

वर्धमान ने अरुणदत्त के मतानुसार अर्धर्चादि गण के शब्दों की एक विस्तृत सूची उपस्थित करके लिखा है—

'अरुणदत्ताभिप्रायेणैते दर्शिताः' । पृष्ठ ६४।

किसी अरुणदत्त के मत उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति पृष्ठ १४२, १६३ पर उद्धृत हैं। एक अरुणदत्त अष्टाङ्ग हृदय का व्याख्याता भी है। इनसे यह अभिन्न है अथवा भिन्न, इस विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते।

एक अरुणाचार्य का निर्देश हैम व्याकरण बृहद्वृत्ति अवचूणि पृष्ठ १९८ पर मिलता है। हमारा विचार है कि अरुणाचार्य नाम से अरुणदत्त का ही निर्देश है।

---

२२. द्रविड वैयाकरण

इस आचार्य के धातुपाठ तथा गणपाठ सम्बन्धी अनेक मत क्षीरतरङ्गिणी, माधवीया धातुवृत्ति तथा गणरत्नमहोदधि में उपलब्ध होते है, परन्तु हम इसके विषय में कुछ नहीं जानते।

---

२३. पारायणिक

पारायण नाम के दो ग्रन्थ है—धातुपारायण और नामपारायण। इन ग्रन्थों के अध्ययन करनेवाले वैयाकरण पारायणिक कहाते हैं।

नामपारायण का साक्षात् निर्देश काशिका के आद्य श्लोक में उपलब्ध होता है, और नामपारायण से संबद्ध पारायणिकों का निर्देश काशिका ८।३।४८ में मिलता है। पदमञ्जरी (२।४।६१) भाग १, पृष्ठ ४८७ पर लिखा है— **परिशिष्टाः पारायणे द्रष्टव्याः।**

---

२४. रत्नमति

रत्नमति का गणपाठ सम्बन्धी मत वर्धमान की गणरत्नमहोदधि में मिलता है। *यथा*—

१—**रत्नमतिस्तु कालशब्दस्य संज्ञावाचिनो ङी।** पृष्ठ ४६।

२—**रत्नमतिना तु हरितादयो गणसमाप्ति यावत् व्याख्यातम्। तन्मतानुसारिणा मयाप्येते किल निबद्धाः।** पृष्ठ १५२।

इन उदाहरणों से रत्नमति का गणपाठ-व्याख्यातृत्व स्पष्ट है।

रत्नमति के धातुपाठ विषयक कतिपय मत माधवीया धातुवृत्ति आदि में उपलब्ध होते हैं। उज्ज्वलदत्त ने भी उणादिवृत्ति १।१५१ में रत्नमति का एक उद्धरण दिया है—**प्रुष्वा जलकणिकेति रत्नमतिः।**[1]

रत्नमति का उल्लेख हैमबृहन्न्यास १।४।३६; २।१।६६ प्रभृति में भी मिलता है।

---

२५. वसुक्र

वर्धमान ने **अहरादिषत्यादि** गणस्थ **उषर्बुध** शब्द का व्याख्यान करते हुए लिखा है—

'**उषर्भुद् श्रीवसुक्रः**।' पृष्ठ २६।

इससे वसुक्र का गणपाठ-व्याख्यातृत्व द्योतित होता है। इसके विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते।

---

१. कलकत्ता मुद्रित संस्करण, पृष्ठ ५५ पर 'रत्नामति' पाठ छपा है। वह अशुद्ध है।

२६. वृद्ध वैयाकरण

वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में शरदादि गण के व्याख्यान में किसी वृद्ध वैयाकरण का मत उद्धृत किया है। ब्राह्मणादि के व्याख्यान में 'वृद्धाः' पद से सम्भवतः उसे ही स्मरण किया है।

१—'ऋक्पूरब्धूःपथात् इत्यनेनैव समासान्तस्य सिद्धत्वादस्य पाठो न संगतः प्रतिभाति, परं वृद्धवैयाकरणमतानुरोधेन पठितः।' पृष्ठ ९५।

२—'गडुलदायादविशस्तिविशम्पुरशब्देभ्यस्त्वतलौ न भवत इति वृद्धाः।' पृष्ठ २२५।

वर्धमान की भूल

वर्धमान ने प्रथम उद्धरण में प्रतिपथम् अनुपथम् शब्दों का शरदादि गण में पाठ असंगत बताया है, परन्तु यह उसकी भूल है। ऋक्पूरब्धू० सूत्र से 'अ' प्रत्यय होता है। उस अवस्था में प्रत्ययस्वर होने पर पूर्वपदप्रकृति स्वर प्राप्त होता है। परन्तु शरदादि में पाठ होने से टच् प्रत्यय होता है। उस अवस्था में पूर्व प्रकृतिस्वर की प्राप्ति को टच् के चित्करणसामर्थ्य से बाधकर अन्तोदात्तत्व होता हैं। इतना ही नहीं, अप्रत्यय होने पर स्त्रीलिङ्ग में टाप् की प्राप्ति होती है। टच् प्रत्यय होने पर टित्त्वात् ङीप् होता है। इन विशेषताओं के होने पर भी उक्त पदों का शरदादि में पाठ असंगत बताना उसका स्वरशास्त्र से अज्ञान प्रकट करता है।

---

२७. सुधाकर

वर्धमान ने अव्यय शब्दों से उत्पन्न होनेवाली नाम-विभक्तियों के संबन्ध में विचार करते हुए सुधाकर का एक मत इस प्रकार उद्धृत किया है—

सुधाकरस्त्वाह अव्ययेभ्यस्तु निस्संख्येभ्योऽव्ययादाप्सुप इति ज्ञापकाद् विभक्त्युत्पत्तिः।' गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ २३।

सुधाकर ने यह वचन स्वरादि गण के व्याख्यान में लिखा है, अथवा अष्टाध्यायी की व्याख्या में, यह कहना कठिन है।

सुधाकर के धातुविषयक मत कृष्ण लीलाशुक मुनि विरचित दैव-व्याख्यान में बहुधा उद्धृत हैं।

इससे अधिक सुधाकर के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

गणपाठ के तुलनात्मक अध्ययन और विशेष परिज्ञान के लिए हमारे मित्र प्रा० कपिलदेवजी साहित्याचार्य एम. ए., पीएच. डी. का **'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि'** ग्रन्थ देखना चाहिए।

अंग्रेजी भाषा में मूल गणपाठ के संशोधित पाठ और उस पर टिप्पणियों के सहित छपा है। इस के साथ ही डा० एस.एम. अयाचित का 'गणपाठ ए क्रिटिकल स्टडी' ग्रन्थ भी देखना चाहिये। यह कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार इस अध्याय में हमने गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता आचार्यों का यथाज्ञान वर्णन करने का प्रयत्न किया है। अगले अध्याय में उणादिसूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता वैयाकरणों का वर्णन किया जायगा।

चौबीसवां अध्याय

उणादि-सूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता

अति पुराकाल में जब संस्कृत भाषा के सम्पूर्ण नाम (जाति-द्रव्य-गुण-शब्द) और अव्यय (स्वरादि-निपात) शब्द एक स्वर से यौगिक माने जाते थे, उस समय उणादिसूत्र शब्दानुशासन के कृदन्त प्रकरण के अन्तर्गत ही थे, परन्तु उत्तरकाल में मनुष्यों की धारणाशक्ति और मेधा के ह्रास के कारण जब यौगिक शब्दों के धातु-प्रत्यय-संबद्ध यौगिकार्थ की अप्रतीति होने लगी, तब यौगिकार्थ की अप्रतीति तथा स्वरवर्णानुपूर्वी विशिष्ट समुदाय से अर्थ विशेष की प्रतीति होने के कारण संस्कृतभाषा के सहस्रों शब्द वैयाकरणों द्वारा रूढ मान लिए गये। इस अवस्था में भी वैयाकरणों में शाकटायन तथा नैरुक्तों में गार्ग्य भिन्न सभी आचार्य तथाकथित रूढ शब्दों को भी यौगिक ही मानते रहे। यास्कीय निरुक्त के प्रथमाध्याय के १२।१३।१४ वें खण्डों में इस विषय की गम्भीर विवेचना की गई है, और अन्त में तथाकथित रूढ शब्दों के यौगिकत्व पक्ष की स्थापना की है।

शाकटायन के अतिरिक्त प्रायः सभी वैयाकरणों द्वारा सहस्रों शब्दों को रूढ मान लेने पर भी उन्होंने यौगिकत्वरूपी प्राचीन पक्ष की रक्षा तथा नैरुक्त आचार्यों के सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए रूढ शब्दों के धातु-प्रत्यय निदर्शक के लिये उणादिसूत्र रूपी कृदन्त भाग को शब्दानुशासन से पृथक् करके उसे शब्दानुशासन के खिलपाठ अथवा परिशिष्ट का रूप दिया।[1]

इस प्रकार उणादिसूत्रों को शब्दानुशासन का परिशिष्ट बना देने पर वैयाकरणों की दृष्टि में चाहे इनका मूल्य कुछ स्वल्प हो गया हो, परन्तु नैरुक्त आचार्यों के मतानुसार सम्पूर्ण शब्दों को यौगिक माननेवाले वैदिक विद्वानों की दृष्टि में इनका मूल्य शब्दानुशासन के कृदन्त भाग की अपेक्षा किसी प्रकार अल्प नहीं है।

---

१. द्रष्टव्य—उन्नीसवां अध्याय, भाग २, पृष्ठ ९-१६।

उणादिसूत्रों की निदर्शनार्थता

कोई भी शब्दानुशासन चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो, वह अनन्तशब्दराशि के सम्पूर्ण शब्दों का संग्राहक नहीं हो सकता। इसलिए समस्त शब्दानुशासन चाहे वे कितने ही विस्तृत क्यों न हों, निदर्शकमात्र ही होते हैं। पुनरपि उणादिसूत्र अत्यन्त स्वल्पकाय होने के कारण विशेष रूप से तथाकथित रूढ शब्दों के प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के निदर्शकमात्र ही हैं। भगवान् पतञ्जलि ने उणादिसूत्रों के महत्त्व और निदर्शनत्व के विषय में लिखा है—

'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायः समुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु।
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्।
कार्याद्विद्यादनूबन्धम् ·······।३।३।१॥'

अर्थात्—**उणादयो बहुलम्** (३।३।१) सूत्र में **बहुल** पद का निर्देश इस लिये किया है कि थोड़ी सी धातुओं से उणादि प्रत्ययों का विधान देखा जाता है। प्रत्ययों का भी प्रायः करके समुच्चय किया है, सब का समुच्चय (पाठ) नहीं किया। प्रकृति प्रत्यय के कार्य भी शेष रखे हैं, सूत्रों के द्वारा सब कार्यों का विधान नहीं किया। [सूत्रकार ने ऐसा क्यों किया, इसका उत्तर यह है कि] सभी निगम=वेद में पठित तथा रूढ शब्दों का साधुत्व परिज्ञात हो जाये। निरुक्त में सभी नामशब्दों को धातुज=यौगिक कहा है, और व्याकरण में शकट के पुत्र=शाकटायन का यही मत है। इसलिए जिन शब्दों का प्रकृति प्रत्यय आदि विशिष्ट स्वरूप लक्षणों से समुत्थ=ज्ञात नहीं है, उनमें प्रकृति को देखकर प्रत्यय की ऊहा करनी चाहिये, और प्रत्यय को देखकर प्रकृति की। इसी प्रकार धातु-प्रत्यय-गत कार्यविशेष को देखकर अनुबन्धों का ज्ञान करना चाहिए।

उणादिपाठ के नामान्तर

प्राचीन ग्रन्थकारों ने उणादिपाठ के लिए उणादिकोश तथा उणादिगण शब्दों का भी व्यवहार किया है—

उणादिकोश (**कोष**)—पञ्चपादी उणादिपाठ के व्याख्याकार

महादेव वेदान्ती तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रभृति वैयाकरणों ने उणादिपाठ के लिए उणादिकोश (कोष) शब्द का प्रयोग किया है यथा—

क—**इत्युणादिकोशे निजविनोदाभिधेये वेदान्तिमहादेवविरचिते पञ्चमः पादः सम्पूर्णः ।**

ख—**इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतोणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे पञ्चमः पादः समाप्तः ।**

ग—''''''**पानीविषिभ्यः पः इति पः पानीयम् इत्युणादिकोषः ।** शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ ५०६ ।

घ—शिवराम तथा राजशर्मा ने भी उणादिपाठ का '**उणादिकोश**' नाम से व्यवहार किया है । द्र०—पञ्चपादी वृत्तिकार, सं० १६, १७, २० ।

उणादि-निघण्टु—निघण्टु शब्दकोष का पर्यायवाची है। अतः वेङ्कटेश्वर नाम के वृत्तिकार से उणादिपाठ का उणादि-निघण्टु शब्द से भी व्यवहार किया है । द्र०—पञ्चपादी वृत्तिकार, संख्या १३ ।

उणादिगण—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादिसूत्रों के लिए उणादिगण शब्द का भी व्यवहार किया है । यथा—

क—**इस उणादिगण की एक वृत्ति भी छपी है।** उणादिकोष, भूमिका, पृष्ठ ४ ।

ख—**भूयात् सोऽयमुणादिरुत्तमगणोऽध्येतुर्यशोवृद्धये ।** उणादिकोष व्याख्या के अन्त में ।

इसी प्रकार संस्कारविधि तथा पत्रों और विज्ञापनों में भी उणादिगण शब्द का व्यवहार देखा जाता है ।

ग—**हैमोणादिवृत्ति के हस्तलेख में**—हैमोणादिवृत्ति के सम्पादक ओहन किर्स्टे ने अपनी भूमिका (पृष्ठ १) में एक हस्तलेख का अन्तिम पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—

'**इत्याचार्यहेमचन्द्रकृतं स्वोपज्ञोणादिगणसूत्रविवरणं समाप्तम् ।**'

उणादि के लिये कोष वा निघण्टु शब्द प्रयोग का कारण—उणादि सूत्रों के लिये कोष वा निघण्टु का व्यवहार क्यों आरम्भ हुआ,

इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से हम कुछ नहीं कह सकते। सम्भव है दशपादी उणादि का संकलन मातृका क्रमानुसार अन्त्यवर्णक्रम से होने के कारण अन्य मेदिनी आदि कोशों के सादृश्य से इन शब्दों का व्यवहार उणादिपाठ के लिये आरम्भ हुआ हो। अथवा दशपादी के संकलन में प्राचीन कोशक्रम कारण रहा हो।

उपलभ्यमान प्राचीन उणादिसूत्र

इस समय जितने उणादिसूत्र उपलब्ध हैं, उनमें पञ्चपादी और दशपादी उणादिसूत्र प्राचीन हैं। इनमें भी पञ्चपादी उणादिसूत्र प्राचीनतर है, यह हम आगे यथास्थान लिखेंगे।

पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा पञ्चपादी और दशपादी दोनों प्रकार के ही उणादिसूत्र समादृत हैं। सिद्धान्तकौमुदी के रचयिता भट्टोजि दीक्षित ने पञ्चपादी उणादिसूत्रों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। प्रक्रिया-कौमुदी के व्याख्याता विट्ठल ने अपनी व्याख्या में दशपादी उणादिसूत्रों की व्याख्या की है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पाणिनीय वैयाकरणों ने दोनों प्रकार के उणादिसूत्रों पर वृत्ति ग्रन्थ लिखे हैं। इन दोनों में कौन सा पाठ पाणिनीय है, इसकी विवेचना आगे पाणिनीय उणादिपाठ के प्रकरण में विस्तार से की जाएगी।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता को धातुपाठ गणपाठ उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन रूपी खिल पाठों का प्रवचन करता होता है। इसलिए प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता ने उणादिसूत्रों का खिल रूप से प्रवचन किया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु सम्प्रति न तो पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों के उणादि पाठ ही उपलब्ध हैं, और न उसके सम्बन्ध में कोई सूचना ही प्राप्त होती है। इसलिए जिन प्राचीन वैयाकरणों के उणादिप्रवक्तृत्व में कुछ भी संकेत उपलब्ध होते हैं, अथवा जिनके उणादिपाठ सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनके विषय में आगे लिखा जाता है—

———

१—काशकृत्स्न (सं० ३१०० वि० पूर्व)

काशकृत्स्नप्रोक्त उणादिसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। काशकृत्स्नप्रोक्त

धातुपाठ की जो चन्नवीर कवि की टीका प्रकाश में आई है, उसके सम्पादक ने अपनी भूमिका में लिखा है कि चन्नवीर ने **पुरुषसूक्त** की भी कन्नड टीका लिखी है। उसके कतिपय पाठों को उद्धृत करते हुए पुरुषसूक्त व्याख्या के पृष्ठ १८ पर **ब्राह्मणे** पद के साधुत्व-प्रतिपादन के लिए निर्दिष्ट **बृहो ममत्मणिश्च** सूत्र उद्धृत किया है। और अन्त में लिखा है कि यह बात काशकृत्स्न के **दशपादी उणादि** में कही गई है।

सम्पादक द्वारा उद्धृत सूत्र का पाठ कुछ भ्रष्ट है। चन्नवीर ने धातुपाठ की टीका में **बृहेर्ऋरो मनि** सूत्र उद्धृत किया है (द्र० – पृष्ठ ६७)। सम्भवतः यह पाठ भी मूल सूत्र का पाठ न होकर उसका एकदेश अथवा अर्थानुवाद हो।

सम्पादक महोदय ने काशकृत्स्न के जिस दशपादी उणादि का उल्लेख किया है, उसका संकेत उन्हें कहां से प्राप्त हुआ, इसका उन्होंने कुछ भी संकेत नहीं किया। सम्प्रति उपलभ्यमान दशपादी उणादि-सूत्र पञ्चपादी सूत्रों से उत्तरकालीन हैं, यह हम आगे लिखेंगे। अतः यदि काशकृत्स्न का उणादिपाठ दशपादी हो, तब भी वह वर्तमान में उपलभ्यमान दशपादी पाठ नहीं है, इतना निश्चित है।

हमने धातुपाठ के प्रकरण में पृष्ठ ३४ पर लिखा है कि आचार्य चन्द्र ने धातुपाठ के प्रवचन में काशकृत्स्न के धातुपाठ का अनुकरण किया है। यदि चन्द्रगोमी ने अपने उणादिसूत्रों के प्रवचन में भी काशकृत्स्न उणादिसूत्रों का अनुकरण किया हो, तो चान्द्र उणादिपाठ में तीन पादों का दर्शन होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि काशकृत्स्न उणादिपाठ में भी तीन पाद ही रहे होंगे। वर्तमान में उपलभ्यमान पञ्चपादी उणादिसूत्रों के प्रवचन का मूल आधार कोई प्राचीन त्रिपादी उणादिसूत्र थे, यह हम आगे पञ्चपादी के प्रकरण में लिखेंगे।

काशकृत्स्न के उणादिपाठ के सम्बन्ध में हम केवल काशकृत्स्न धातुपाठ के सम्पादक डा० ए० एन० नरसिंहिया के निर्देश पर ही आश्रित हैं। इस सम्बन्ध में हमें कहीं अन्यत्र से कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई।

२—शन्तनु (सं० २९०० वि० पूर्व)

आफ्रेक्ट ने अपनी बृहद् हस्तलेखसूत्री (पृष्ठ ६३, कालम १) में डा० कीलहार्न सम्पादित मध्यप्रदेश-हस्तलेख सूची (नागपुर) के आधार पर आचार्य शन्तनु के उणादिसूत्र के हस्तलेख का संकेत किया है ।

शन्तनुप्रोक्त उणादिसूत्र की सूचना अन्य किसी भी स्थान से प्राप्त नहीं होती । सम्प्रति उपलभ्यमान शान्तनव फिट सूत्र शान्तनव शब्दानुशासन का एक अंश है ।[1] इसलिए शन्तनु ने अपने शब्दानुशासन से संबद्ध किसी उणादिपाठ का प्रवचन भी किया हो, इसमें सन्देह करने की कोई स्थिति नहीं ।

३—आपिशलि (सं० २९०० वि० पूर्व)

आचार्य आपिशलि ने अपने शब्दानुशासन के खिलरूप धातुपाठ और गणपाठ का प्रवचन किया था, यह हम अनेक प्रमाणों द्वारा तत्तत् प्रकरण में लिख चुके हैं। आचार्य ने स्वव्याकरण से संबद्ध किसी उणादिपाठ का भी अवश्य प्रवचन किया होगा इसमें सन्देह का कोई अवसर नहीं। पुनरपि आपिशल उणादिपाठ सम्बन्धी कोई साक्षात् वचन अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ ।

पञ्चपादी उणादिसूत्रों में धातु प्रत्यय तथा तत्सम्बन्धी जो अनुबन्ध उपलब्ध होते हैं, उनसे भी इस विषय में कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि पञ्चपादी उणादि का संबन्ध किस शब्दानुशासन के साथ है। क्योंकि आपिशल धातु, प्रत्यय और तत्सम्बद्ध अनुबन्ध सभी प्रायः पाणिनीय धातु प्रत्यय और अनुबन्धों के साथ समानता रखते हैं। हां, उणादिसूत्रों में एक **अमन्ताड्डः**[2] सूत्र ऐसा है, जिसके आधार पर कुछ अनुमान किया जा सकता है।

पाणिनीय प्रत्याहार सूत्र **ञ म ङ ण नम्** में जो वर्णानुपूर्वी है, उसे यदि **ङ ञ न ण म म्** इस वर्णक्रम से रखा जाए, तो पाणिनीय

---

१. इसके लिए देखिए इसी ग्रन्थ का 'फिट्सूत्र और उसके व्याख्याता' नामक २७ वां अध्याय। २. पञ्चपादी १।१०७॥ दशपादी ५।७॥

शब्दानुशासन में इस क्रम-परिवर्तन से अकारान्त पद न होने से कोई दोष नहीं होगा, परन्तु इससे मकारान्तों को मुट् का आगम प्राप्त हो जायेगा, जो कि इष्ट नहीं है। तथापि आपिशलि के **'ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाश्च'** शिक्षासूत्र (१।२४) और पाणिनि के **'ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः'** शिक्षा सूत्र (१।२४) के अनुनासिक वर्णों के पाठक्रम पर ध्यान दिया जाये, तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्याहारसूत्र का ञ म ङ ण न वर्णक्रम आपिशल अभिप्रेत है, और इसी कारण उसने अपनी शिक्षा में भी उसी क्रम को अपनाया है। इससे विदित है कि पाणिनीय प्रत्याहारसूत्र में आपिशल वर्णक्रम को ही स्वीकार किया है, यह क्रम उसका अपना नहीं है।

आपिशलि ने प्रत्याहारसूत्र में वर्णक्रम का परित्याग करके ञ म ङ ण नम् यह क्रम क्यों अपनाया ? यदि इस पर विचार किया जाए तो मानना होगा कि उसे कहीं पर **ञम्** प्रत्याहार बनाना इष्ट रहा होगा। वह **ञम्** प्रत्याहार उणादि पाठ के **ञमन्ताड्डः**[1] सूत्र में उपलब्ध होता है। यद्यपि **ञमन्ताड्डः**[1] सूत्र पञ्चपादी और दशपादी दोनों पाठों में समानरूप से पठित है, पुनरपि दशपादी पाठ का प्रवचन पञ्चपादी पाठ के आधार पर हुआ है (इसकी विस्तृत मीमांसा आगे की जाएगी), इसलिए पञ्चपादी पाठ मूल होने से प्राचीन है। हां, कई वैयाकरण पञ्चपादी उणादिपाठ को आचार्य पाणिनि का प्रवचन मानते हैं, परन्तु **ञमङणनम्** प्रत्याहारसूत्र **ञमङणनाः स्वस्थाना०** आपिशल शिक्षासूत्र और **'ञमन्ताड्डः** उणादिसूत्र की तुलना से यही प्रतीत होता है कि दशपादी पाठ का मूल आधारभूत पञ्चपादी पाठ आचार्य आपिशलि द्वारा प्रोक्त है, और दशपादी पाठ सम्भवतः आचार्य पाणिनि द्वारा परिष्कृत है।

यह हमारा अनुमानमात्र है। इसलिए यदि पञ्चपादी सूत्र आपिशलिप्रोक्त नहीं हों, तो निश्चय ही ये पाणिनि-प्रोक्त होंगे। अतः पञ्चपादी उणादिसूत्रों के वृत्तिकारों का वर्णन हम पाणिनि के प्रकरण में करेंगे।

---

१. पञ्चपादी १।१०७॥ दशपादी ५।७॥

४—पाणिनि (सं० २८०० वि० पूर्व)

आचार्य पाणिनि ने अपने पञ्चाङ्ग व्याकरण की पूर्ति के लिए, तथा **उणादयो बहुलम्** (अष्टा० ३।३।१) सूत्र से संकेतित उणादि प्रत्ययों के निदर्शन के लिये किसी उणादिपाठ का प्रवचन किया था, यह निश्चित है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा पञ्चपादी और दशपादी दोनों प्रकार के उणादिसूत्र समादृत हैं। इनमें से पाणिनि प्रोक्त कौन-सा है, इसकी विवेचना करते हैं—

पञ्चपादी का प्रवक्ता

पञ्चपादी उणादिसूत्रों का प्रवक्ता कौन है? इस विषय में प्राचीन ग्रन्थों में दो मत उपलब्ध होते हैं। कतिपय अर्वाचीन वैयाकरण पूर्व-निर्दिष्ट महाभाष्य के **व्याकरणे शकटस्य च तोकम्** वचन के आधार पर पञ्चपादी उणादिपाठ को शाकटायनप्रोक्त मानते हैं। यथा—

१—'**उणादय इत्येव सूत्रमुणादीनां शास्त्रान्तरपठितानां साधुत्व-ज्ञापनार्थमस्त्विति भावः।**' कैयट, प्रदीप ३।३।१॥

२—पञ्चपादी का वृत्तिकार श्वेतवनवासी लिखता है—

'**येयं शाकटायनादिभिः पञ्चपादी रचिता।**' पृष्ठ १,२।

३—नागेश भट्ट लिखता है—

'**एवं च कृवापेति उणादिसूत्राणि शाकटायनस्येति सूचितम्।**' प्रदीपोद्योत ३।३।१॥

४—वासुदेव दीक्षित सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में लिखता है—

'**तानि चेमानि सूत्राणि शाकटायनमुनिप्रणीतानि, न तु पाणिनिना प्रणीतानि।**' बालमनोरमा भाग ४, पृष्ठ १३८ (लाहोर सं०)।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त ग्रन्थकार पञ्चपादी उणादि सूत्रों को शाकटायन-प्रोक्त मानते हैं।

कतिपय प्राचीन ग्रन्थकार ऐसे भी हैं, जो पञ्चपादी उणादिसूत्रों को पाणिनीय मानते हैं। यथा—

१—प्रक्रियासर्वस्वकार नारायण भट्ट उणादि-प्रकरण में लिखता है—

अकारं मुकुरस्यादौ उकारं दर्दुरस्य च ।
बभाण पाणिनिस्तौ तु व्यत्ययेनाह भोजराट् ॥

अर्थात्—पाणिनि 'मुकुर' शब्द के आदि में अकार (=मकुर) और 'दर्दुर' शब्द के आदि में उकार (=दुर्दुर) कहता है, और भोजराट् इससे उलटा (=मुकुर-दर्दुर) मानता है।

नारायण भट्ट ने यह पंक्ति पञ्चपादी के **मकुरदुर्दुरौ** (१।४०; पृष्ठ १०) सूत्र की व्याख्या में लिखी है। इससे स्पष्ट है कि नारायण भट्ट इस पाठ को पाणिनीय मानता है।

२—शिशुपालवध का रचयिता माघ कवि लिखता है—

'निपातितसुहृत्स्वामिपितृव्यभ्रातृमातुलम् ।
पाणिनीयमिवालोचि धीरैस्तत्समराजिरम् ॥' १९।७५॥

इस श्लोक में सुहृत् **स्वामी पितृव्य भ्रातृ मातुल** शब्द पाणिनि द्वारा निपातित हैं, ऐसा संकेत किया है। इन शब्दों में 'भ्रातृ' शब्द उणादिसूत्रों में निपातित है। इससे स्पष्ट है कि माघ कवि किसी उणादिपाठ को पाणिनिप्रोक्त मानता है। शिशुपालवध के प्राचीन टीकाकार बल्लभदेव ने जो उणादिसूत्र उद्धृत किया है, वह पञ्चपादी सूत्रों के कतिपय पाठों के अनुकूल है। बल्लभदेव की टीका का जो पाठ काशी से छपा है, वह पर्याप्त भ्रष्ट है। इस श्लोक की व्याख्या में 'भ्रातृ' शब्द के निपातन को बताने के लिए जो उणादिसूत्र उद्धृत है, उसमें 'भ्रातृ' शब्द का ही अभाव है।

३—पञ्चपादी उणादिसूत्रों के व्याख्याता स्वामी दयानन्द सरस्वती इन्हें पाणिनीय मानते हैं। यथा—

क—वह अष्टाध्यायी, धातुपाठ आदिगण (? उणादिगण) शिक्षा और प्रातिपदिकगण यह पांच पुस्तक पाणिनि मुनिकृत……।'[1]

ख—पाणिनि मुनि रचित उणादि गणसूत्र प्रमाण हनिकुषिनीरमि……।'[2]

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ३५, पं २ (तृ० संस्क०)।

२. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ ५४, पं० ८ (तृ० संस्क०)

ग—पाणिनि बड़े विद्वान् वैयाकरण हो गये ।......इन महामुनि ने पांच पुस्तकें बनाई—१ शिक्षा, २ उणादिगण, ३ धातुपाठ, ४ प्रातिपदिकगण, ५ अष्टाध्यायी ।[1]

शाकटायन-प्रोक्त मानने में भ्रान्ति का कारण

कैयट, श्वेतवनवासी, नागेश भट्ट और वासुदेव प्रभृति वैयाकरणों का पञ्चपादी उणादिसूत्रों को शाकटायन-प्रोक्त मानना भ्रान्तिमूलक है। इस भ्रान्ति का कारण महाभाष्य ३।३।१ का **व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति** वचन है।

इस वचन में पतञ्जलि ने केवल इतना ही संकेत किया है कि वैयाकरणों में शाकटायन सम्पूर्ण नाम शब्दों को धातुज मानता है। इस संकेत से यह कैसे सूचित हो गया कि **कृवापा** आदि पञ्चपादी उणादिसूत्र शाकटायन प्रोक्त हैं, यह हमारी समझ में नहीं आता। भाष्यकार द्वारा संकेतित शाकटायन मत 'सम्पूर्ण नाम धातुज हैं' यास्कीय निरुक्त (१।१२) में भी स्मृत है।

दशपादी पाठ का प्रवक्ता

दशपादी पाठ का प्रवक्ता कौन है ? यह अभी तक निश्चित रूप से अज्ञात है। प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याता विट्ठल ने उणादि प्रकरण में दशपादी उणादिपाठ की व्याख्या की है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। पाणिनीय व्याकरण का आश्रयण करनेवाले कतिपय वैयाकरणों ने इस पर वृत्तियां भी लिखी हैं।[2] इसके अतिरिक्त इसके पाणिनीयत्व में निम्न हेतु भी उपस्थित किये जा सकते हैं—

---

१. ऋ० द० सं० के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पूना का १० वां प्रवचन, पृष्ठ ३८७, पं० १९-२० (रालाकट्र संस्क०)।

२. माणिक्यदेव विरचित दशपादी पाठ की प्राचीन वृत्ति का हमने सम्पादन किया है। यह वृत्ति राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (सं० सं० वि० वि०) वाराणसी की 'सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला' में छपी है (इस संस्करण के छपने तक वृत्तिकार का नाम संदिग्ध होने से नहीं छापा गया)। इसकी दूसरी वृत्ति हमारे पास हस्तलिखित रूप में विद्यमान है।

१—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **हयवरट्** प्रत्याहार सूत्र के भाष्य में एक प्राचीन सूत्र उद्धृत किया है—

'जीवेरदानुक्'[1] —जीरदानुः ।'

महाभाष्यकार द्वारा उद्धृत **'जीवेरदानुक्'** सूत्र दशपादी पाठ (१।१६३) में ही उपलब्ध होता है, पञ्चपादी पाठ में नहीं है। इस सूत्र को काशिकाकार ने भी ६।१।६६ की वृत्ति में उद्धृत किया है।

२—पाणिनीय व्याकरण के अनेक व्याख्याताओं ने दशपादी सूत्रों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। यथा—

क—वामन ने काशिकावृत्ति ६।२।४३ में यूप शब्द के लिए **कुसुयुभ्यश्च** सूत्र उद्धृत किया है। यह पाठ दशपादी ७।५ में ही उपलब्ध होता है।[2] पञ्चपादी में पाठभेद है।

ख—हरदत्त मिश्र ने काशिका ७।४।४८ में वार्तिक के **उषस्** शब्द की सिद्धि के लिये **वसेः कित्** सूत्र उद्धृत किया है।[3] यह पाठ दशपादी ६।६४ में ही मिलता है। पञ्चपादी में **उषः कित्** (४।२३६) पाठ है।

३—पाणिनीय धातुपाठ के व्याख्याता क्षीरस्वामी ने अपनी क्षीरतरङ्गिणी में जो उणादिसूत्र उद्धृत किये हैं, उनकी पञ्चपादी और दशपादी के पाठों की तुलना करने से विदित होता है कि क्षीरस्वामी उणादिसूत्रों के दशपादी पाठ को स्वीकार करता है। उसके दशपादी के पाठ भी हमारे द्वारा सम्पादित दशपादी के क-हस्तलेख के अनुकूल हैं।

---

१. कहीं कहीं 'जीवेरदानुः' पाठान्तर भी है। परन्तु महाभाष्य ६।१।६६ के पाठ से विदित होता है कि 'जीवेरदानुक्' पाठ ही प्रामाणिक है। वहां 'जीव' धातु को 'ऊठ्' की प्राप्ति दर्शाई है। वह प्राप्ति प्रत्यय के कित होने पर ही सम्भव है।

२. तुलना करो—दशपाद्यां तु 'कुसुयुभ्यश्च' इति पाठः। प्रौढमनोरमा पृष्ठ ७७५।

३. तुलना करो—दशपाद्यां तु 'वसेः कित्' इति पाठः। प्रौढमनोरमा पृष्ठ ८०५।

४—पाणिनीय व्याकरण का आश्रयण करनेवाले अनेक ग्रन्थकारों ने कतिपय ऐसे सूत्र उद्धृत किये हैं, जो दशपादी में ही मिलते हैं। यथा—

क—देवराज यज्वा ने 'शाखा' पद के निर्वचन के प्रसङ्ग में निम्न सूत्र उद्धृत किया है—

'**वृक्षावयवाच्च**।' निघण्टुटीका २।५।१६, पृष्ठ १६८।

यह पाठ दशपादी के **वृक्षावयव आ च** (३।५६) का ही लेखक-प्रमादजन्य पाठ है। अन्यत्र यह सूत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता।

ख—'नहुष' पद के व्याख्यान में देवराज लिखता है—

'**अकारान्तमिदं नाम केषुचित् कोशेषु, तदा 'ऋहनिभ्यामुषन्' इत्युषन् प्रत्ययः**।' निघण्टुटीका २।३।६, पृष्ठ १८०।

उणादिसूत्र का यह पाठ दशपादी ६।१३ में उपलब्ध होता है। पञ्चपादी ४।७८ में **पृकलिभ्यामुषन्** पाठ है।

ग—अमरकोष के व्याख्याकार क्षीरस्वामी, सर्वानन्द, भानुजिदीक्षित प्रभृति ने '**अनड्वान्**' पद के निर्वचन (अमर २।६।६०) में जो सूत्र उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

'**अनसि वहेः क्विबनसो डश्च**।'

यह सूत्र केवल दशपादी पाठ में ही मिलता है। वहां इसका पाठ **वहेः क्विबनसो डश्च** (६।१०७) है। न्यास ६।१।१५८ (भाग २, पृष्ठ २६८) पदमञ्जरी ६।१।१५८ (भाग २, पृष्ठ ५०३) में भी यह सूत्र उद्धृत है। वहां इसका पाठ **अनसि वहेः क्विब् डश्चानसः** है। अमरकोष की टीकाओं, न्यास तथा पदमञ्जरी में उद्धृत पाठ सम्भव है अर्थानुवाद रूप हों। परन्तु इन पाठों का मूल दशपादी उणादिसूत्र ही है, यह स्पष्ट है। क्योंकि यह सूत्र पञ्चपादी में किसी रूप में भी उपलब्ध नहीं होता।

५—दशपादी पाठ में इकारान्त से औकारान्त पर्यन्त शब्दों के साधक सूत्रों का पाठ करके अकार विशिष्ट कान्त से लेकर हान्त शब्दों के साधक सूत्रों का पाठ मिलता है। यह अन्त्यवर्णानुसारी संकलन प्रकार पाणिनीय लिङ्गानुशासन में भी **कोपधः** (सूत्र ६०)

टोपधः (सूत्र ६३) **णोपधः** (सूत्र ६६) **योपधः** (सूत्र ६९) आदि में उपलब्ध होता है।

६—पाणिनि अष्टाध्यायी में जिन प्रत्ययों का धातुमात्र से विधान मानता है, वहां 'सर्वधातु' शब्द का निर्देश न करके केवल प्रत्ययमात्र का निर्देश करता है। यथा—

ण्वुल्तृचौ । ३।१।१३३ ॥ तृन् । ३।२।१३५॥
लुङ् । ३।२।११० ॥ **वर्तमाने लट्** । ३।२।१२३॥

इसी प्रकार दशपादी उणादिपाठ में भी जो प्रत्यय धातुमात्र से इष्ट हैं, उनमें केवल प्रत्ययमात्र का निर्देश मिलता है। यथा—

इन् । १।४६ ॥ **ष्ट्रन्** । ८।७९ ॥
असुन् । ९।४९ ॥ **मनिन्** । ६।७३॥

पञ्चपादी के उज्ज्वलदत्त, भट्टोजि दीक्षित प्रभृति वैयाकरणों द्वारा समादृत पाठ में इन प्रत्ययों के प्रसङ्ग में सर्वत्र 'सर्वधातुभ्यः' शब्द का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

सर्वधातुभ्य इन् ।४।११७॥[1] **सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्** । ४।१५८॥[1]
सर्वधातुभ्योऽसुन् ।४।१८८॥[1] **सर्वधातुभ्यो मनिन्** ।४।१४४॥[1]

भट्टोजि दीक्षित ने उपर्युक्त पञ्चपादी सूत्रों की व्याख्या करते हुए **सर्वधातुभ्यः** पद को प्रक्षिप्त तथा व्यर्थ कहा है।[2]

उपर्युक्त प्रमाणों से प्रतीत होता है कि उपरि निर्दिष्ट ग्रन्थकार दशपादी पाठ को पाणिनीय मानते हैं।

दशपादी पाठ को पाणिनीय न मानने में एक युक्ति दी जा सकती है, वह यह है कि पाणिनि ने **उणादयो बहुलम्** (३।३।१) सूत्र में **उण्** प्रत्यय के साथ आदि पद का संयोग किया है। दशपादी में **अनि** प्रत्यय प्रारम्भ में है, **उण्** प्रत्यय का निर्देश प्रथम पाद के अस्सीवें सूत्र में मिलता है। पञ्चपादी में **उण्** प्रत्यय प्रथम सूत्र में ही पठित है।

इस कथन का यह समाधान हो सकता है कि पाणिनि ने अपने कई सूत्रों में **आदि** पद को प्रकारवाची माना है। भगवान् पतञ्जलि

---

१. यह सूत्र संख्या उज्ज्वलदत्तीय वृत्ति के कलकत्ता संस्करण के अनुसार है।

२. द्रष्टव्य—प्रौढमनोरमा, पृष्ठ ७९६, ८००।

ने भी **भूवादयो धातवः** (१।३।१) सूत्र में पक्षान्तर में **वा** पद के साथ संयोजित आदि पद को प्रकारवाची कहा है। ऐसी अवस्था में पूर्व आचार्यों के निर्देशानुसार **उणादयो बहुलम्** सूत्र पढ़ते हुए आदि पद को प्रकारवाची माना जा सकता है। अथवा यह प्राचीन आचार्यों का सूत्र हो और पाणिनि ने स्वीकार कर लिया हो। (द्र० भाग १, पृष्ठ २४६-२५२)।

पञ्चपादी उणादिसूत्र पाणिनीय हैं अथवा दशपादी उणादिसूत्र, इस विषय में हमारा विचार इस प्रकार है—

हमने आपिशलि के प्रकरण में पञ्चपादी उणादिसूत्रों के आपिशलिप्रोक्त होने की सम्भावना में जो युक्ति उपस्थित की है, उसके अनुसार हमारा विचार है कि पञ्चपादी उणादिसूत्र आपिशलि-प्रोक्त हैं, और दशपादी उणादिसूत्र पाणिनि-प्रोक्त।

वास्तविकता यह है कि पञ्चपादी और दशपादी दोनों उणादिपाठों के प्रवक्ता अनिर्ज्ञात हैं। पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा दोनों पाठों का आश्रयण करने से दोनों पाठों के अवान्तर पाठों तथा वृत्तिकारों का वर्णन हम यहीं करना उचित समझते हैं।

पञ्चपादी—उणादिपाठ

पञ्चपादी का मूल त्रिपादी—वर्तमान पञ्चपादी उणादिसूत्रों में दो शैली उपलब्ध होती हैं। एक शैली तो यह है कि पूर्व पाद के अन्त का और उत्तरपाद के आदि के प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं। यथा—प्रथम पाद के अन्त में **कनिन्** प्रत्यय, और द्वितीय पाद के आरम्भ में **ऐणु** प्रत्यय है। इसी प्रकार चतुर्थ पाद के अन्त में **कनसि** प्रत्यय और पञ्चम पाद के आरम्भ में **डुतच्** प्रत्यय है। दूसरी शैली यह है कि पूर्वपाद के अन्त में वर्तमान प्रत्यय का ही उत्तर पाद के प्रथम सूत्र में सम्बन्ध रहता है। यथा—द्वितीय पाद के अन्त में श्रूयमाण **ष्वरच्** प्रत्यय का तृतीय पाद के प्रथम सूत्र में, तथा तृतीयपाद के अन्त में श्रूयमाण **ई** प्रत्यय का ही चतुर्थ पाद के प्रथम सूत्र में सम्बन्ध है।

प्राचीन ग्रन्थों में द्वितीय शैली ही देखी जाती है। निरुक्त में एक पाद के अन्तर्गत खण्ड विभागों में देखा जाता है कि पूर्व खण्डस्थ विषय को पूर्ण करके उत्तर खण्ड में जिस बात का प्रतिपादन करना

होता है, उसका आरम्भ पूर्व खण्ड के अन्त में ही कर दिया जाता है। यथा—निरुक्त अ० १, खण्ड १ का अन्तिम पाठ है—

'**इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।**'

द्वितीय खण्ड में इसी विषय में विवेचना की है। उसका आरम्भ होता है—

'**तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते युगपदुत्पन्नानाम्**' आदि वाक्य से।

यही शैली शतपथ में भी है। वहां भी एक ब्राह्मण अन्तर्गत कण्डिकाएं पूर्वकण्डिका के अन्तिम और उत्तर कण्डिका के आदि पाठ से सुसंबद्ध हैं।

इस प्राचीन शैली के अनुसार यदि पञ्चपादी उणादिगण के पाद-विभागों पर विचार किया जाए, तो प्रतीत होगा कि पञ्चपादी पाठ के मूल पाठ में तीन ही पाद थे। पहला पाद वर्तमान द्वितीय पाद पर समाप्त होता था, और द्वितीय पाद वर्तमान तृतीय पाद पर। अर्थात् पूर्वपाठ के **प्रथम पाद** में वर्तमान के प्रथम-द्वितीय पाद थे, **द्वितीय पाद** में वर्त्तमान तृतीय पाद, और **तृतीय पाद** में वर्त्तमान चतुर्थ-पञ्चम पाद थे।

पञ्चपादी के अवान्तर पाठ—पञ्चपादी उणादि की जितनी भी वृत्तियां सम्प्रति उपलब्ध हैं, उनके सूत्रपाठ में अनेक प्रकार की विषमताएं हैं। किसी भी वृत्ति का सूत्रपाठ किसी दूसरी वृत्ति के सूत्रपाठ के साथ पूर्णतया नहीं मिलता। सूत्रों में न्यूनाधिकता और सूत्रगत पाठभेदों का बाहुल्य देखने में आता है। उनकी सूक्ष्मता से विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि पञ्चपादी के मूलभूत कई पाठ हैं।

तीन प्रकार के मूल पाठ—हमारे विचार में अष्टाध्यायी तथा धातुपाठ के समान पञ्चपादी उणादिपाठ के भी तीन पाठ हैं—**प्राच्य औदीच्य और दाक्षिणात्य**।

प्राच्य पाठ—उज्ज्वलदत्त, भट्टोजि दीक्षित, स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रभृति ने जिस पाठ पर अपनी वृत्तियां रची हैं, वह मूलतः प्राच्य पाठ है। उणादि का यह पाठ अष्टाध्यायी और धातुपाठ के

समान बृहत् पाठ है। धातुमात्र से प्रत्यय-विधायक सूत्र में **सर्वधातुभ्यः** अंश इसी पाठ में मिलता है।[1]

औदीच्य पाठ—किसी औदीच्य देशवासी वैयाकरण की पञ्चपादी पाठ पर वृत्ति उपलब्ध न होने से उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करना कठिन है। कश्मीर देशवासी क्षीरस्वामी ने अमरकोश की टीका और क्षीरतरङ्गिणी में जिन उणादिसूत्रों को उद्धृत किया है, यदि वे दशपादी के न हों, तो उनके आधार पर पञ्चपादी के औदीच्य पाठ की कल्पना की जा सकती है। धातुपाठ और अष्टाध्यायी के औदीच्य और दाक्षिणात्य पाठों की तुलना से इतना अवश्य जाना जाता है कि इन पाठों में स्वल्प ही अन्तर रहता है।

दाक्षिणात्य पाठ—श्वेतवनवासी तथा नारायण भट्ट प्रभृति ने जिस पञ्चपादी पाठ पर अपनी वृत्तियां लिखी हैं, वह दाक्षिणात्य पाठ है, क्योंकि ये दोनों वैयाकरण दाक्षिणात्य थे। दाक्षिणात्य पाठ में औदीच्य पाठ में दर्शाया हुआ **सर्वधातुभ्यः** अंश उपलब्ध नहीं होता।

हां 'इन्' प्रत्यय विधायक सूत्र (४।१२६ श्वे० १२८ ना०) में **सर्वधातुभ्यः** पद मिलता है। परन्तु इसमें भी प्राच्य पाठ से कुछ वैलक्षण्य है। प्राच्य पाठ में **सर्वधातुभ्य इन्** पाठ है, और दाक्षिणात्य में **इन् सर्वधातुभ्यः**। इस प्रकरण में एक बात और विवेचनीय है, वह है दोनों वृत्तियों में **इन् सर्वधातुभ्यः** सूत्र के आगे समानरूप से पठित **पचिपठिकाशिवाशिनन्दिभ्यः इन्** सूत्र में पुनः **इन्** प्रत्यय का निर्देश। इससे प्रतीत होता है कि दाक्षिणात्य पाठ में इस प्रकरण में कुछ पाठ-भ्रंश अवश्य हुआ है।

अब हम कालक्रमानुसार पञ्चपादी उणादिपाठ के व्याख्याकारों का वर्णन करते हैं—

---

१. वामन ने भी काशिका ७।२।९ में 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' पाठ उद्धृत किया है। काशिका वृत्ति अष्टाध्यायी के प्राच्य पाठ पर है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। अतः उसके द्वारा उणादि के प्राच्य पाठ का उद्धृत होना स्वाभाविक है। न्यासकार ने भी प्राच्यपाठ को उद्धृत किया है। यथा—न्यास ६।१।१५८ में **'सर्वधातुभ्योऽसुन्'** (भाग २, पृष्ठ २९८) पाठ ही मिलता है।

पञ्चपादी के व्याख्याकार

१—भाष्यकार (अज्ञात काल)

उज्ज्वलदत्त ने अपनी उणादिवृत्ति में किसी अज्ञात नाम वैयाकरण द्वारा पञ्चपादी पाठ पर लिखे गये भाष्य नामक व्याख्या ग्रन्थ का दो स्थानों पर निर्देश किया है। यथा—

१—'इगुपधात् किरिति प्रमाद पाठः। स्वरे विशेषादिति भाष्यम्।' ४।११६ पृष्ठ १७५।

२—"इह इक इति वक्तव्ये 'अचः' इति वचनं सन्ध्यक्षरादप्याचारक्विबन्ताद् यथा स्यादिति भाष्यम्।" ४।१३८, पृष्ठ १८१।

इस ग्रन्थ वा ग्रन्थकार के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

२—गोवर्धन (सं० १२०० वि० से पूर्व)

गोवर्धन नाम के वैयाकरण ने उणादिसूत्रों पर एक वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति के उद्धरण सर्वानन्द कृत अमरटीकासर्वस्व, उज्ज्वलदत्त रचित उणादिवृत्ति, भट्टोजि दीक्षित लिखित प्रौढमनोरमा आदि अनेक ग्रन्थ में मिलते हैं।

परिचय—गोवर्धन ने आर्याशप्तशती में अपना कुछ वर्णन किया है। तदनुसार इसके पिता का नाम नीलाम्बर अथवा संकर्षण था। इसके सहोदर का नाम बलभद्र और शिष्य का नाम उदयन था। यह बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन का सभ्य था—

'गोवर्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणसेनस्य॥'

काल—आर्यासप्तशती तथा पूर्वनिर्दिष्ट श्लोक से यह स्पष्ट है कि गोवर्धन महाराज लक्ष्मणसेन का समकालिक है। लक्ष्मणसेन के काल के विषय में ऐतिहासिकों में मत-भेद है। श्री पं० भगवद्दत्त जी ने वैदिक वाङ्मय के इतिहास के 'वेदों के भाष्यकार' नामक भाग के पृष्ठ १०५ पर लक्ष्मणसेन का राज्यकाल वि० सं० १२२७–१२५७

माना है। कीथ के संस्कृत साहित्य के इतिहास (हिन्दी अनुवाद) के पृष्ठ २३० के टिप्पण में ई० सन् ११७५-१२०० अर्थात् वि० सं० १२३२-१२५७ लिखा है।

'संसार के संवत्' ग्रन्थ के लेखक जगनलाल गुप्त ने सेन संवत् के आरम्भ होने का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, तदनुसार—

कोलब्रुक के मत में	ई० सन् ११०४,	वि० सं०	११६१
राजेन्द्रलाल	" " " " ११०८,	"	११६५
कनिंघम	" " " " "	"	"
बुकानन	" " " " ११०९,	"	११६६
कीलहार्न	" " " " "	"	"

विभिन्न लेखकों ने विभिन्न काल सेन-संवत् प्रारम्भ होने के माने हैं। इसलिए इस आधार पर गोवर्धन का काल निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। स्थूल रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि गोवर्धन का काल वि० सं० ११६१ से लेकर १२५७ के मध्य है।

ग्रन्थकारों का साक्ष्य—सर्वानन्द ने अमरकोष पर टीकासर्वस्व का प्रणयन वि० सं० १२१६ (शक० १०८१) में किया था।[1] सर्वानन्द ने इसमें पुरुषोत्तमदेव को नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया है।[2] पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति में गोवर्धन को तात्कालिक वैयाकरणों में श्रेष्ठ कहा है।[3] इससे स्पष्ट है कि गोवर्धन पुरुषोत्तमदेव का समकालिक अथवा कुछ पूर्ववर्ती है। इस उद्धरण परम्परा से इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोवर्धन ने उणादिवृत्ति वि० सं० १२०० के लगभग अथवा उससे कुछ पूर्व लिखी होगी।

गोवर्धन का वैदुष्य—गोवर्धन का लक्ष्मणसेन के सभारत्नों में उल्लेख होना ही उसके विशिष्ट पाण्डित्य का द्योतक है। पुरुषोत्तमदेव ने भाषावृत्ति १।४।८७ में **उपगोवर्धनं वैयाकरणाः** द्वारा गोवर्धन को तात्कालिक वैयाकरणों में श्रेष्ठ बताया है। सुभूतिचन्द्र (?) ने

---

१. अमरटीकासर्वस्व १।४।२१॥

२. अमरटीकासर्वस्व, भाग २, पृष्ठ २७७।

३. उपगोवर्धनं वैयाकरणाः।

अमरटीका में गोवर्धन को पारायण-परायण कहा है।[1]

यतः गोवर्धन बंग प्रान्तीय है, अतः उसकी टीका पञ्चपादी के प्राच्य पाठ पर थी, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। यह वृत्ति सम्प्रति अनुपलब्ध है।

---

३. दामोदर (सं० १२०० वि० से पूर्व)

वैयाकरण दामोदर ने उणादिपाठ पर कोई वृत्ति ग्रन्थ लिखा था। सुभूतिचन्द्र[2] (?) की अमरटीका के निम्न उद्धरण से व्यक्त होता है—

'यत्तु विद्याशीलः असिविधौ दिविभुजिभ्यां विश्वे' (तु०४।२३७) इति पठित्वा 'विश्वे' इति सप्तम्या अलुकि दीव्यतेरसि विश्वेदेवाः इति सान्तमुदाजहार स तस्य विपर्यस्तदृशोर्दोषेण हस्तामर्णं, तत्रैव पारायण-परायणैर्गोवर्धन-दामोदर-पुरुषोत्तमादिभिः विदिभुजिभ्यां विश्वे इति वृत्ति पठित्वा विश्वं वेत्ति विश्वेवेदाः इति, 'आशुप्रुषीति' (१।१५१) क्वन्विधौ विश्वं जगत् विश्वेदेवा इत्युदाहृत्वात्।' हस्तलेख पृष्ठ १८।[3]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि दामोदर ने उणादिपाठ पर कोई वृत्ति ग्रन्थ अवश्य रचा था।

दामोदर नाम के अनेक व्यक्ति संस्कृत वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं। भाषावृत्ति के व्याख्याता सृष्टिधराचार्य ने ५।१।१०० की व्याख्या में लिखा है—

---

१. तत्रैव पारायण परायणैर्गोवर्धन-दामोदर-पुरुषोतमादिभि.........। हस्तलेख पृष्ठ १८। पूरा उद्धरण आगे दमोदर के प्रकरण में देखिए।

२. हमने अपनी कापी में आगे उद्ध्रियमाण उद्धरण के साथ 'सुभूतिचन्द्र ? की अमरटीका' ऐसा प्रश्नात्मक चिह्न दे रखा है। अतः हमें इस नाम में सन्देह है।

३. यह प्रमाण हमने किसी त्रैमासिक जर्नल से लिया था, परन्तु उसका नाम और प्रकाशन काल लिखना प्रमादवश रह गया।

'तथा च इह मूर्धन्यान्त एव दामोदरसेनस्य शाब्दिकसिंहत्वात् ।'[1]

इस उल्लेख से विदित होता है कि इस उणादिवृत्तिकार का पूरा नाम दामोदरसेन था।

काल—उक्त अमरटीका का काल वि० सं० १५३१ है।[2] सृष्टिधर का काल भी विक्रम की १५वीं शती है।[3] दामोदर को उज्ज्वलदत्त ने भी उणादिवृत्ति में स्मरण किया है।[4] उणादिवृत्ति के आरम्भ में उपाध्यायसर्वस्व का भी निर्देश किया है।[5] सर्वानन्द के निर्देशानुसार उपाध्यायसर्वस्व दामोदर विरचित है।[6] सुभूतिचन्द्र (?) ने दामोदर का निर्देश गोवर्धन और पुरुषोत्तमदेव के मध्य में किया है। इससे स्पष्ट है कि यह इनका समकालिक है।

एक दामोदरसेन आयुर्वेद का प्रसिद्ध विद्वान् है। उसका काल विक्रम की १२वीं शती माना जाता है। हमारे विचार में यही दामोदरसेन उपाध्याय-सर्वस्व और उणादिवृत्ति का रचयिता है। अतः दामोदर का काल निश्चय ही वि० सं० १२०० के लगभग अथवा उससे कुछ पूर्व है।

दामोदर बंगवासी है। अतः उसकी उणादिवृत्ति प्राच्यपाठ पर थी, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

४—पुरुषोत्तमदेव (सं० १२०० वि०)

पुरुषोत्तमदेव ने उणादिपाठ पर एक वृत्ति लिखी थी। उज्ज्वलदत्त ने इस वृत्ति के अनेक उद्धरण अपनी उणादिवृत्ति में देववृत्ति के

---

१. पुरुषोत्तमविरचित परिभाषावृत्ति आदि के उपोद्घात में पृष्ठ २१ पर दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य द्वारा उद्धृत।

२. सेनानीवदनग्रहाग्निविधुभिः (१३९६) शाके मिते हायने, शुक्रे मास्यसिते दिनाधिपतितिथौ सौरेऽह्नि मध्यन्दिने।

३. द्र० सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, 'भाषावृत्ति-व्याख्याता सृष्टिधर' प्रकरण।

४. तथा च वाहो विश्वभुजयोः पुमान् इति दामोदरः। पृष्ठ १४।

५. उपाध्यायस्य सर्वस्वम्······। द्वितीय श्लोक।

६. एतच्चोपाध्यायसर्वस्वे दामोदरेणोक्तम्। भाग २ पृष्ठ १९७।

नाम से उद्धृत किए हैं।[1] शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति में स्पष्ट रूप से पुरुषोत्तमदेव के नाम से उसकी उणादिवृत्ति की ओर संकेत किया है।[2]

पुरुषोत्तमदेव के काल के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ४२६ (च० सं०) पर विस्तार से लिख चुके हैं। इस विषय में पाठक वहीं देखें। वाचस्पति गैरोला ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में पृष्ठ ७८१ पर पुरुषोत्तमदेव का काल ७वीं शती ई० लिखा है, वह सर्वथा चिन्त्य है।

५—सूतीवृत्तिकार (वि० सं० १२००)

उज्ज्वलदत्त ने उणादिसूत्र ३।१४० की वृत्ति में लिखा है—

'सूत्रमित्रं सूतीवृत्तौ देववृत्तौ च न दृश्यते।' पृष्ठ १३८।

अर्थात्—सूतीवृत्ति और देव (पुरुषोत्तमदेव) की वृत्ति में छोड़ो तुट् च सूत्र नहीं है।

यहां पञ्चपादी सूत्र के विषय में, और वह भी पञ्चपादी-वृत्तिकार पुरुषोत्तमदेव की देववृत्ति के साथ निर्दिष्ट होने से उज्ज्वलदत्त द्वारा निर्दिष्ट सूतीवृत्ति पञ्चपादी पाठ पर ही थी, यह निश्चित है।

इस वृत्ति और इसके लेखक के विषय से हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

६—उज्ज्वलदत्त (१३वीं शती वि० का आरम्भ)

उज्ज्वलदत्त ने पञ्चपादी उणादिपाठ पर एक विस्तृत वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति सम्प्रति उपलब्ध है। थोडेर आफ्रेक्ट ने इस वृत्ति का प्रथमतः सम्पादन किया था।

परिचय—उज्ज्वलदत्त ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया।

---

१. पृष्ठ १२८, १३२, १३८, २१७, कलकत्ता संस्करण।

२. पुरुषोत्तमदेवस्तु 'श्लाघ्याहाम्यः' (उ० उ० ४।५१) इत्यत्र श्लैधातुमपि पठति। दुर्घटवृत्ति, पृष्ठ ६८।

अतः उसका वंश, देश, काल आदि सब अज्ञात है। हां, वृत्ति के प्रत्येक पाद के अन्त में जो पाठ उपलब्ध होता है, उससे विदित होता है कि उज्ज्वलदत्त का अपर नाम जाजलि था।[1]

भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध-संस्थान पूना के व्याकरणविषयक हस्तलेखों के सन् १९३८ में मुद्रित सूचीपत्र में संख्या २६७–२७३ तक ७ हस्तलेख हैं। इनमें संख्या २६७, २६८ में 'जाजलि के स्थान में क्रमश: 'जेजलि' 'जेजिलि' तथा संख्या २६९ में जेजलीय' पाठ मिलता है। संख्या २७३ में 'श्रीमहामहोपाध्याय नागदेव उज्ज्वलदत्त-विरचितायां……' पाठ उपलब्ध होता है। इस हस्तलेख के विषय में सूचीपत्र में लिखा है कि इस में पृष्ठमात्रा का प्रयोग है। इस के आवरण पत्र पर कीलहार्न की टिप्पणी है—यह 'उज्ज्वलदत्त का ग्रन्थ नहीं है, उससे संगृहीत है।' इस हस्तलेख के अन्त में निर्दिष्ट 'नागदेव' नाम का समावेश कैसे हुआ यह विचारणीय है। हो सकता है उज्ज्वलदत्तीय वृत्ति का यह संक्षेपक हो। भावी लेखकों को इस हस्तलेख को अवश्य देखना चाहिये।

देश—यद्यपि उज्ज्वलदत्त ने अपने निवास स्थान का उल्लेख नहीं किया तथापि उसकी उणादिवृत्ति के एक पाठ से ज्ञात होता है कि वह बंगाल का निवासी था। वह इस प्रकार है—

उज्ज्वलदत्त ने वलेर्गुक् च (१।२०) सूत्र की व्याख्या में वकारादि वल्गु शब्द को बकारादि समझ कर वल संवरणे धातु के स्थान पर बकारादि बल प्राणने धातु का निर्देश करके बकारादि बल्गु शब्द की निष्पत्ति दर्शाई है। यह भूल बकार वकार के समान उच्चारण के कारण हुई है। बकार वकार का समान-उच्चारण-दोष बंगवासियों में चिरकाल से चला आ रहा है।

---

१. इति महामहोपाध्यायजाजलीत्यपरनामधेयश्रीमदुज्ज्वलदत्तविरचितायामुणादिवृत्तौ प्रथम: पाद:।

२. यत्तु उज्ज्वलदत्तेन सूत्रे पवर्गादिं पठित्वा बल प्राणने इत्युपन्यस्त तल्लक्ष्यविरोधादुपेक्ष्यम्, 'अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे' (ऋ० १०।६२।४) इत्यादौ दन्तोष्ठ्यपाठस्य निर्विवादत्वात्। प्रौढमनोरमा, पृष्ठ ७४१।

काल—उज्ज्वलदत्त का काल अत्यन्त सन्दिग्ध है। साम्प्रतिक ऐतिहासिक विद्वान् उसका काल प्रायः ईसा की १३वीं १४वीं शती मानते हैं।[1] हमारे विचार में उज्ज्वलदत्त का काल विक्रम की १३वीं शती के पूर्वार्ध से उत्तरवर्ती किसी प्रकार नहीं है। अतः हम उज्ज्वलदत्त के काल-निर्णायक सभी प्रमाण नीचे संगृहीत करते हैं—

१—सायण ने माधवीया धातुवृत्ति में उज्ज्वलदत्त का नाम-निर्देश पूर्वक उल्लेख किया है।[2] सायण का काल वि० सं० १३७२-१४४४ निश्चित है।

२—उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति १।१०१ में मेदिनी कोष के रचयिता मेदिनीकर का नामोल्लेख पूर्वक निर्देश किया है। मेदिनी कोष का काल विक्रम की १४वीं शती माना जाता है।[3] अतः उससे यह उत्तरवर्ती है।

मेदिनी कोष का काल—वस्तुतः उज्ज्वलदत्त का काल मेदिनी कोष के काल पर प्रधान रूप से अवलम्बित है। अतः हम उसके काल का निर्णय करते हैं—

क—सं० १४०० वि० के समीपवर्ती पद्मनाभदत्त ने भूरिप्रयोग कोष में मेदिनी कोष का उल्लेख किया है।[4]

ख—मल्लिनाथ ने माघ काव्य के २।६५ की टीका में '**इनः पत्यौ नृपार्कयोः इति मेदिनी**' पाठ उद्धृत किया है। ऐतिहासिक मल्लिनाथ का काल विक्रम की चौदहवीं शती मानते हैं।[5] यह चिन्त्य है। हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में पृष्ठ १५४ पर मल्लिनाथ कृत तन्त्रोद्योत अपर

---

१. पुरुषोत्तमदेव भाषावृत्ति, भूमिका, पृष्ठ २० में दिनेशचन्द्र।

२. ऋज्रेन्द्राग्र (उ० २।२८) इति सूत्रे वर्णशब्दस्य पाठोऽनार्षः 'कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित् (उ० ३।१०) इति नप्रत्ययेन सिद्धत्वादित्युज्ज्वलदत्तः। धातुवृत्ति पृष्ठ ३१६। द्रष्टव्य—उज्ज्वलदत्तीय उणादिवृत्ति २।२८, पृष्ठ ७३।

३. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ५५१-५५२ (ई० १४वीं शतक पूर्व)।

४. वही, पृष्ठ ५५२। ५. वही, पृष्ठ ५५२ (ई० १३५०)।

नाम न्यासोद्योत को उद्धृत किया है।[1] हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि का लेखन-काल वि० सं० १२६४ है।[2] अतः मल्लिनाथ का काल सं० १२५० वि० के लगभग होगा, और मेदिनी कोष का काल उससे भी पूर्व मानना पड़ेगा।

ग—कल्पद्रुम कोष की भूमिका में मंख की टीका में मेदिनी के उल्लेख का निर्देश है।[3] मंख का काल विक्रम की १२वीं शती का उत्तरार्ध है। 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के लेखक पं० सीताराम जयराम जोशी ने लिखा है कि कल्पद्रुम कोष की भूमिका में निर्दिष्ट—

'कमिति प्रकृत्य मस्तके च सुखेऽपि चेति अव्ययप्रकरणे मेदिनिः।' वचन मेदिनी कोष में उपलब्ध नहीं होता।[4] **अतः प्रमाण सन्दिग्ध है।** हमारे विचार में पं० सीताराम का कथन युक्त नहीं है। उक्त उद्धरण में **अव्यय-प्रकरणे** स्पष्ट लिखा है। मेदिनी कोष में अव्यय प्रकरण है। उसमें 'कम्' का निर्देश मान्त में विद्यमान है।[5] अतः मंख ने उक्त उद्धरण मेदिनी कोश से ही लिया है, यह स्पष्ट है।

इस प्रकार मेदिनीकार का काल विक्रम की १२वीं शती के उत्तरार्ध से पूर्व निर्धारित होता है। इसलिए मेदिनी का निर्देश होने मात्र से उज्ज्वलदत्त का काल १४ वीं शती अथवा उससे पश्चात् नहीं माना जा सकता।

३—उज्ज्वलदत्त उणादिवृत्ति में दो स्थानों पर **दुर्घटे रक्षितः** (१।५७; ३।१६०) लिख कर दुर्घटवृत्ति का निर्देश करता है। शरणदेव ने दुर्घटवृत्ति सं० १२२९ वि० में लिखी थी। अतः उज्ज्वलदत्त का समय सं० १२२९ वि० से उत्तरवर्ती होना चाहिए।

वस्तुतः यह हेतु भी **अशुद्ध है।** उज्ज्वलदत्त द्वारा उद्धृत दोनों

---

१. तन्त्रोद्योतस्तु शतहायनशब्दस्य कालवाचकत्वाभावे।

२. संवत् १२६४ वर्षे श्रावण शुदि ३ रवौ श्रीजयानन्दसूरिशिष्येणाऽमरचन्द्रेणाऽऽत्मयोग्याऽवचूर्णिकायाः प्रथम पुस्तिका लिखिता। पृष्ठ २०७।

३. सं० सा० का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ५५२।

४. सं० सा० का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ५५२।

५. कं पादपूरणे तोये मस्तके च सुखेऽपि च।

दुर्घटपाठ शरणदेव रक्षित तथा सर्वरक्षित द्वारा संस्कृत दुर्घटवृत्ति में उपलब्ध नहीं होते। उज्ज्वलदत्त ने अपनी टीका में बहुत्र मैत्रेयरक्षित के पाठ रक्षित नाम से उद्धृत किए हैं। अतः **दुर्घटे रक्षितः** वाले पाठ भी मैत्रेयरक्षित के हैं, शरणदेव विरचित दुर्घटवृति के संस्कर्ता सर्वरक्षित के नहीं हैं। इसलिए इन उद्धरणों के आधार पर उज्ज्वलदत्त को सं० १२२६ वि० से उत्तरवर्ती नहीं माना जा सकता।

४—पुरुषकार पृष्ठ २७ में कृष्ण लीलाशुक मुनि **उणादिवृत्तौ** निर्देशपूर्वक उज्ज्वलदत्तीय वृत्ति २।२५ के पाठ की ओर संकेत करता है।[1] कृष्ण लीलाशुक मुनि का काल सं०१२२५-१३५०वि० के मध्य है।[2]

अतः हमारे विचार में उज्ज्वलदत्त का काल वि० सं० १२०० से उत्तरवर्ती नहीं हो सकता। इसमें एक हेतु यह भी है कि सर्वानन्द द्वारा सं० १२१६ में विरचित अमरटीकासर्वस्व में विना नाम-निर्देश के उज्जवलदत्तीय उणादिवृत्ति स्मृत है। दोनों के पाठ इस प्रकार हैं—

टीकासर्वस्व—**प्रज्ञाद्यणि चाण्डाल इत्युणादिवृत्तिः** ।२।१०।१६॥

उज्ज्वल-उणादिवृत्ति—**प्रज्ञादित्वादणि चाण्डाल इत्यपि**। १।११६॥

वस्तुतः उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति में पुरुषोत्तमदेव से अर्वाक्कालिक कोई भी ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार उद्धृत नहीं है। इसलिए उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति का प्रणयन पुरुषोत्तमदेव के ग्रन्थप्रणयन और टीकासर्वस्व लेखन के मध्य किया है। इसलिए उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति का सामान्यतया वि० सं० १२०० के आस-पास ही मानना युक्त है।

७—दिग्गशील (वि० सं० १२५० के लगभग)

हमने दामोदर विरचित उणादिवृत्ति के प्रसङ्ग में अमरटीका का जो पाठ उद्धृत किया है, उसके—

---

१. उणादिवृत्तौ तु सौत्रोऽयं धातुः।

२. द्र०—सं० व्या० शा० का इतिहास भाग १, 'भोजदेवीय सरस्वतीकण्ठाभरण' के प्रकरण में।

'यत्तु दिद्याशीलः असिविधौ 'दिविभुजिभ्यां विश्वे' इति पठित्वा विश्वे इति सप्तम्या अलुकि दीव्यतेरसि विश्वेदेवाः इति सान्तमुदाजहार ......।'

पाठ से प्रतीत होता है कि किसी दिद्याशील नाम के वैयाकरण ने उणादिसूत्रों पर कोई वृत्तिग्रन्थ लिखा था।

काल—जिस अमरटीका में यह पाठ उद्धृत है, उसका काल वि० सं० १५३१ है, यह हम पूर्व कह चुके हैं। इसलिए दिद्याशील वि० सं० १५०० से पूर्ववर्ती है, इतना निश्चित है। परन्तु हमारा यह विचार है कि दिद्याशील का काल वि० सं० १२५० के लगभग होगा।

८—श्वेतवनवासी (वि० १३ वीं शती)

श्वेतवनवासी नाम के वैयाकरण ने पञ्चपादी उणादिपाठ पर एक उत्कृष्ट वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति मद्रास विश्वविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुकी है।

परिचय—श्वेतवनवासी के पिता का नाम **आर्यभट्ट** था। यह धर्मशास्त्र में पारङ्गत था, और गार्ग्य गोत्र का था। श्वेतवनवासी इन्दुग्राम समीपवर्ती अग्रहार (=ब्राह्मण वसति)[1] का निवासी था। इसके पूर्वज **उत्तर मेरु** में रहते थे। इन सब बातों का संकेत श्वेतवनवासी ने स्वयं किया है। वह लिखता है—

'इतीन्दुग्रामसमीपवर्त्यग्रहारवास्तव्येन उत्तरमेर्वभिजनेन[2] धर्मशास्त्रपारगार्यभट्टसूनुना गार्ग्येण श्वेतवनवासिना विरचितायामुणादिवृत्तौ प्रथमः पादः।'

इन्दु ग्राम की स्थिति अज्ञात है। इस वृत्ति के सम्पादक टी० आर० चिन्तामणि ने **उत्तर मेरु** नामक ग्राम की स्थिति मद्रास प्रान्त

---

१. मद्रास प्रान्त में 'अग्रहार' शब्द 'ब्राह्मण-वसति' शब्द के लिये प्रयुक्त होता है।

२. अभिजन उस स्थान को कहते हैं, जहां पूर्वजों ने निवास किया हो। अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्। महा० ४।३।९०॥

के चंगलपट नामक जिले में बताई है।[1] इस वृत्ति के हस्तलेख मलाबार प्रान्त से उपलब्ध हुए हैं। सम्भव है इन्दु ग्राम मलाबार प्रान्त में रहा हो।[1]

काल—श्वेतवनवासी का काल अज्ञात है। इस वृत्ति के सम्पादक ने श्वेतवनवासी का काल विक्रम की ११वीं शती से लेकर १७वीं शती के मध्य सामान्य रूप से माना है।[2] हम इसके काल पर विशेष रूप से विचार करते हैं—

१—सं० १६१७ से १७३३ वि० तक विद्यमान नारायणभट्ट ने प्रक्रिया सर्वस्व के उणादि प्रकरण में श्वेतवनवासी की उणादिवृत्ति को नामनिर्देश के विना बहुधा उद्धृत किया है, इससे स्पष्ट है कि श्वेतवनवासी विक्रम की १७वीं शती से पूर्ववर्ती है। यह श्वेतवनवासी की उत्तरसीमा है।

२—श्वेतवनवासी ने अपनी व्याख्या में जिन ग्रन्थकारों को उद्धृत किया है, उनमें कैयट और भट्ट हलायुध का नाम भी है। भट्ट हलायुध ने अभिधानरत्नमाला कोष लिखा था। इसी के उद्धरण श्वेतवनवासी ने पृष्ठ १२७ तथा २१४ पर दिये हैं। भट्ट हलायुध का काल ईसा की १०वीं शती माना जाता है। कीथ ने अभिधानरत्नमाला का काल सन् ९५० माना है।[3] तदनुसार विक्रम सं० १००० के आस-पास हलायुध का काल है। श्वेतवनवासी ने कैयट का निर्देश पृष्ठ ६६, १६८ तथा २०४ पर किया है। कैयट का काल सामान्यतया वि० सं० ११०० से पूर्व है। यह श्वेतवनवासी की पूर्व सीमा है।

३—सायण ने धातुवृत्ति में एक पाठ उद्धृत किया है—

'कुटादित्वात् ङित्वादेव कित्वफले सिद्धे किद्वचनं तस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम्, तेन धुवतेरित्रप्रत्यये धवित्रमिति गुणो भवतीत्याहुः।' पृष्ठ ३३४।

यह पाठ श्वेतवनवासी के निम्न पाठ से मिलता है—

---

१. श्वे० उ० वृत्ति भूमिका, पृष्ठ १०।

२. श्वे० उ० वृत्ति भूमिका, पृष्ठ ११।

३. कीथ कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ४६०।

'कुटादित्वाङ्ङित्त्वेनैव गुणाभावे सिद्धे तस्यानित्यत्वज्ञापनार्थं पुनः क्त्विविधानम्, तेन धवित्रमित्यत्र गुणो भवति।' पृष्ठ १५२।

इन पाठों की तुलना से विदित होता है कि सायण श्वेतवनवासी के उणादिवृत्ति के पाठ को ही नाम का निर्देश न करते हुए स्वल्प परिवर्तन से उद्धृत कर रहा है। इसलिए श्वेतवनवासी धातुवृत्ति के रचनाकाल (सं० १४१५–१४२०) से पूर्ववर्ती है।

४—सर्वानन्द ने अमरटीका सर्वस्व में लिखा है—

'केचित्तु आतिदेशिकङित्त्वस्यानित्यत्वाद् गुण एव, नोवङ् इति मन्यन्ते।' भाग ३, पृष्ठ २०।

सर्वानन्द की इस पंक्ति का भाव श्वेतवनवासी की उद्धृत पंक्ति से सर्वथा अभिन्न है। इसलिए यदि सर्वानन्द ने यह पंक्ति श्वेतवनवासी की उणादिवृत्ति के आधार पर लिखी हो, तो श्वेतवनवासी को वि० सं० १२१६ से पूर्ववर्ती मानना होगा।

६—श्वेतवनवासी जहां भी डुधाञ् धातु के अर्थ का निर्देश करता है, वहां प्रायः दानधारणयोः पाठ लिखता है। क्षीरस्वामी देवराज यज्वा स्कन्दस्वामी दशपादिवृत्तिकार आदि प्राचीन ग्रन्थकार डुधाञ् का दानधारणयोः अर्थ ही पढ़ते हैं।[1] निरुक्तकार ने भी रत्नधातमम् पद का अर्थ रमणीयानां धनानां दातृतमम् ही किया है।[2] (सायण ने धारणपोषणयोः अर्थ लिखा है) इस प्रकार प्राचीन अर्थ का निर्देश करनेवाले व्यक्ति को भी १३०० शती से प्राचीन ही मानना युक्त है।

इन सब हेतुओं के आधार पर हमारा विचार है कि श्वेतवनवासी का काल विक्रम की बारहवीं शताब्दी है। परन्तु १३ वीं शती से अर्वाचीन तो उसे किसी प्रकार नहीं मान सकते, यह स्पष्ट है।

श्वेतवनवासी की वृत्ति उणादिसूत्र के दाक्षिणात्य पाठ पर है।

श्वेतवनवासी वृत्ति के दो पाठ—इस वृत्ति के दो पाठ हैं। इनका निर्देश सम्पादक ने A.B संकेतों से किया है। नारायण भट्ट (उणादिवृत्ति पृष्ठ १२३) A पाठ को मूल मान कर उद्धृत करता है।

---

१. क्षीरस्वामी–क्षीरतरङ्गिणी ३।१०, देवराजयज्वा निघण्टुटीका पृष्ठ ११६, स्कन्द ऋग्भाष्य १।१।१॥ २. निरुक्त ७।१५॥

यद्यपि A.B. पाठों में ४।१४६ तक बहुत अन्तर नहीं है, पुनरपि ४।१४७ से अन्त तक दोनों पाठों में महदन्तर है इस अन्तर का कारण मृग्य है।

९—भट्टोजि दीक्षित (सं० १५७०-१६५० वि०)

भट्टोजि दीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी के अन्तर्गत उणादिसूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या की है। यह व्याख्या प्राच्य पाठ पर है।

भट्टोजि दीक्षित के देशकाल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' प्रकरण में विस्तार से लिख चुके हैं।

टीकाकार

यतः भट्टोजि दीक्षित की उणादिव्याख्या सिद्धान्तकौमुदी का एकदेश है, इसलिए जिन विद्वानों ने सिद्धान्तकौमुदी पर टीका ग्रन्थ लिखे, उन्होंने प्रसङ्ग प्राप्त उणादि-व्याख्या पर भी टीकाएं कीं। हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में सिद्धान्तकौमुदी के निम्न टीकाकारों का उल्लेख किया है—

१—भट्टोजि दीक्षित
२—ज्ञानेन्द्र सरस्वती
३—नीलकण्ठ वाजपेयी
४ रामानन्द
५—नागेश भट्ट
६—रामकृष्ण
७—रङ्गनाथ यज्वा
८—वासुदेव वाजपेयी
९—कृष्णमित्र
१०—रामचन्द्र
११—तिरुमल द्वादशाहयाजी
१२—तोप्पल दीक्षित (प्रकाश)
१३—अज्ञात कर्तृक (लघुमनोरमा)
१४— „ „ (शब्दसागर)
१५— „ „ (शब्दरसार्णव)
१६— „ „ (सुधाञ्जन)
१७—लक्ष्मीनृसिंह
१८—शिवरामचन्द्र सरस्वती
१९—इन्द्रदत्तोपाध्याय
२०—सारस्वत व्यूढमिश्र
२१—बल्लभ

इन सब टीकाकारों के देशकाल आदि के परिचय के लिए इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'पाणिनीयव्याकरण के प्रक्रिया ग्रन्थकार' नामक १६ वें अध्याय में सिद्धान्तकौमुदी के व्याख्याता प्रकरण देखें।

इनके अतिरिक्त जिन लेखकों ने दीक्षितकृत प्रौढ़मनोरमा, नागेश के लघुशब्देन्दुशेखर बृहत्शब्देन्दुशेखर आदि पर टीकाग्रन्थ लिखे, उन्होंने भी प्रसंगतः उणादि भाग पर कुछ न कुछ लिखा ही है। विस्तरभिया हमने उनका निर्देश नहीं किया।

इन सभी टीकाओं का प्रधान आश्रय भट्टोजि दीक्षित विरचित प्रौढमनोरमा है। उणादिसूत्रों की व्याख्या तथा पाठ भेद आदि के लिए प्रौढमनोरमा देखने योग्य है।

१०—नारायण भट्ट (सं० १६१७-१७३३ वि० के मध्य)

नारायण भट्ट ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रक्रियासर्वस्व नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसके कृदन्त प्रकरण में उणादिसूत्रों पर भी संक्षिप्त वृत्ति लिखी है। इस वृत्ति में नारायण भट्ट ने स्थान-स्थान पर भोजदेवद्वारा विवृत औणादिक शब्दों का भी संग्रह किया है। यही इसकी विशेषता है। यह वृत्ति उणादि के दाक्षिणात्य पाठ पर है।

नारायण भट्ट के देशकाल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया ग्रन्थकार, नामक १६ वें अध्याय में लिख चुके हैं।

टीकाकार

नारायणभट्ट के प्रक्रियासर्वस्व पर जिन विद्वानों ने टीकाएं लिखीं, उन्होंने प्रसङ्ग प्राप्त उणादिवृत्ति की भी टीकाएं कीं। प्रक्रियासर्वस्व पर लिखी गई तीन टीकाओं का निर्देश हमने इस ग्रंथ के प्रथम भाग में किया है।

११—महादेव वेदान्ती (सं० १७२०—१७७० वि०)

सांख्य दर्शन के वृत्तिकार महादेव वेदान्ती ने उणादिसूत्रों पर एक लघ्वी वृत्ति लिखी है। हमने इसका एक हस्तलेख पहले पत्तल सरस्वती भवन वाराणसी के संग्रह में वि० सं० १९९० में देखा था।[1] अब यह वृत्ति अडियार (मद्रास) से प्रकाशित हो चुकी है।

---

१. इसका उल्लेख हमने स्वसम्पादित दशपादी वृत्ति के उपोद्घात पृष्ठ २१ पर किया है।

परिचय—महादेव वेदान्ती का उल्लेख वेदान्ती महादेव, महादेव सरस्वती वेदान्ती के नाम से भी मिलता है। इसके गुरु का नाम स्वयंप्रकाश सरस्वती है।[1] महादेव वेदान्ती ने अद्वैतचिन्ताकौस्तुभ में स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती नाम लिखा है।[2] तत्त्वचन्द्रिका में सच्चिदानन्द सरस्वती नाम मिलता है।

काल—महादेव वेदान्ती के काल के सम्बन्ध में मतभेद है। रिचॅर्ड गार्बे ने अनिरुद्ध वृत्ति के उपोद्घात में महादेव वेदान्ती का काल १६०० ई० (वि० सं० १६५७) माना है। 'सांख्यदर्शन का इतिहास' के मनस्वी लेखक श्री उदयवीरजी शास्त्री ने महादेव वेदान्ती की सांख्यवृत्ति की अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु के भाष्य के साथ तुलना करके महादेव वेदान्ती को अनिरुद्ध से उत्तरवर्ती, और विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्ती अर्थात् १२ वीं शती में माना है।[3]

महादेव वेदान्ती ने विष्णुसहस्रनाम की एक टीका लिखी है। उसमें टीका लिखने का काल इस प्रकार उल्लिखित है—

खबाणमुनिभूमाने वत्सरे श्रीमुखाभिधे।
मार्गासिततृतीयायां नगरे ताप्यलंकृते ॥

इस श्लोक के अनुसार विष्णुसहस्रनाम की व्याख्या का काल वि० सं० १७५० है।

इस निश्चित काल के परिज्ञात हो जाने पर श्री शास्त्रीजी का लेख ठीक प्रतीत नहीं होता।

हमारे मित्र पं० रामअवध पाण्डेय (वाराणसी) का विचार है कि महादेव वेदान्ती के उणादिकोश पर पेरुसूरि के औणादिक पदार्णव का प्रभाव है। दोनों के ग्रन्थों की १०% दश प्रतिशत से अधिक पंक्तियां मिलती हैं। **सिन** (पं० उ० ३।२) शब्द के अर्थ में महादेव ने पेरुसूरि को केवल एक पंक्ति (श्लोकार्ध) को उद्धृत किया है,

१. श्रीमत्स्वयंप्रकाशाङ्घ्रिलब्धवेदान्तिसत्पदः। विष्णुसहस्रनामव्याख्या।

२. इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वतीमुनिवर्यचूडामणिविरचिते तत्त्वानुसंधानव्याख्याने अद्वैतचिन्ताकौस्तुभे चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः।

३. सांख्य दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ३१३-३१६।

और आर्या को पूरा भी नहीं किया। इसलिए महादेव वेदान्ती पेरु-सूरि से उत्तरवर्ती है।

महादेव वेदान्ती का काल उसकी विष्णुसहस्रनाम की टीका से प्राय: निश्चित है। इसी प्रकार पेरुसूरि का काल भी प्राय: निश्चित है। पेरुसूरि ने अपने गुरु का नाम वासुदेव अध्वरी लिखा है। वासुदेव अध्वरी ने तुक्कोजी के राज्य-काल में बालमनोरमा व्याख्या लिखी है। यह वासुदेव अध्वरी चोल (तञ्जौर) के भोसलवंशीय शाहजी, शरभजो, तुक्कोजी नामक तीन राजाओं के मंत्री सार्वभौम आनन्द-राय का अध्वर्यु था। इन तीनों का राज्यकाल वि०सं०१७४४-१७९३ तक माना जाता है, अत: वासुदेव अध्वरी का काल सामान्यत: वि० सं० १७५०-१८०० तक माना जा सकता है। पेरुसूरि वासुदेव अध्वरी का शिष्य है। अत: इसका काल सं १७५० से उत्तरवर्ती होगा। ऐसी अवस्था में हमें महादेव वेदान्ती को पेरुसूरि का पूर्ववर्ती मानना अधिक उचित जंचता है। और महादेव वेदान्ती के उणादिकोष का प्रभाव पेरुसूरि के औणादिकपदार्णव पर मानना पड़ता है।

उणादिवृत्ति का नाम—महादेव की उणादिवृत्ति का नाम **निज-विनोदा** है। वह लिखता है—

'इत्युणादिकोशे निजविनोदाभिधेये वेदान्तिमहादेवविरचिते पञ्चमः पादः सम्पूर्णः।'

हमने महादेव वेदान्ती के विषय में जो कुछ लिखा है, वह अधि-कांशत: श्री पं० रामअवध पाण्डेय द्वारा प्रेषित निर्देशों पर आधृत है।

उणादिकोश का सम्पादन—इस वृत्ति का जो संस्करण अडियार (मद्रास) से प्रकाशित हुआ है, उसके सम्पादक वी. राघवन है। इस संस्करण में बहुत्र प्रमादजन्य पाठभ्रंश उपलब्ध होते हैं। इसलिए हमारे मित्र पं० रामअवध पाण्डेय ने अन्य कई हस्तलेखों के साहाय्य से इसका अति परिशुद्ध संस्करण तैयार किया है। यह अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया।

वाचस्पति गैरोला की भूल—वाचस्पति गैरोला ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ के कोश प्रकरण में महादेव वेदान्तिन् विरचित 'प्रनादिकोश' का उल्लेख किया है (द्र०—पृष्ठ ७८२)। इसमें दो

भूलें हैं। प्रथम—ग्रन्थ का नाम 'उणादिकोश' है, 'अनादि कोश' नहीं। द्वितीय—यह व्याकरण ग्रन्थ है, कोश ग्रन्थ नहीं। प्रतीत होता है लेखक ने इस ग्रन्थ का अवलोकन विना किये ही उक्त उल्लेख किया है। गैरोलाजी का अंग्रेजी भाषाविज्ञों के अनुकरण पर महादेव वेदान्तिन्—चन्द्रगोमिन् आदि पदों का प्रयोग करना भी चिन्त्य है।

१२—रामभद्र दीक्षित (सं० १७१०-१७६० वि० के लगभग)

रामभद्र दीक्षित ने उणादिपाठ पर एक व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या का नाम उणादि **मणिदीपिका** है।[1] इस ग्रन्थ का एक हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में विद्यमान है।[2] आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् सूचीपत्र में लेखक का नाम रामचन्द्र दीक्षित लिखा है। यह वृत्ति सन् १९७२ में मद्रास विश्वविद्यालय से मुद्रित हो गई है। इसके सम्पादक डा० के कुञ्जनी राजा हैं। यह वृत्ति दूसरे पाद के ५० वें सूत्र तक ही छपी है। सम्भव है सम्पादक के पास हस्तलेख इतना ही होगा।

परिचय—रामभद्र दीक्षित के पिता का नाम यज्ञराम दीक्षित था। इसके पूरे परिवार का सचित्र वर्णन हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४६४ (च० सं०) पर किया है। रामभद्र दीक्षित के गुरु का नाम चोक्कनाथ मखी है। यह रामभद्र का श्वशुर भी है। रामभद्र ने स्वयं लिखा है—

'शेषं द्वितीयमिव शाब्दिकसार्वभौमम्।
श्रीचोक्कनाथमखिनं गुरुमानतोऽस्मि॥'[3]

रामभद्र ने सीरदेवीय परिभाषावृत्ति की व्याख्या में अपना जो परिचय दिया है, तदनुसार वह भोसला वंश के शाहजी भूपति अर्पित शाहपुर नाम के अग्रहार (ब्रह्मण-वसति) का निवासी है। शाहजी भूपति ने यह अग्रहार रामभद्र अथवा उसके पिता यज्ञराम को अर्पित

---

१. इति श्रीरामभद्रदीक्षितस्य कृतौ उणादिमणिदीपिकायां प्रथमः पादः।

२. हस्तलेख संग्रह सूची भाग १०, पृष्ठ ४२३६, ग्रन्थाङ्क ५६७५।

३. परिभाषावृत्ति व्याख्या के आरम्भ में। अडियार पुस्तकालय, व्याकरण विभाग सूचीपत्र, संख्या ५००।

किया होगा। परिभाषवृत्तिव्याख्या के आरम्भ में अनेक शास्त्रवित् 'त्र्यम्बक यज्वा' और उसके पुत्र काकोजि का उल्लेख किया है। ये शाहजी के सचिव आनन्दराय मखी के पूर्वज थे।

रामभद्र दीक्षित का एक शिष्य श्रीनिवास स्वरसिद्धान्तमञ्जरी का कर्त्ता हैं।

काल—रामभद्र ने उणादिवृत्ति में लिखा है कि उसने यह उणादिवृत्ति शाहजी भूपति की प्रेरणा से लिखी है।[1] शाहजी का राज्यकाल वि० सं० १७४०-१७६६ तक माना जाता है। कतिपय ऐतिहासिक राज्य का आरम्भ वि० सं० १७४४ से मानते हैं। अतः रामभद्र का काल भी वि० सं १७४४ के लगभग मानना उचित है।

रामभद्र की अभ्यर्थना—रामभद्र ने उणादिवृत्ति के अन्त में लिखा है—

'धातुप्रत्ययनियोज्य टीकासर्वस्वनियोज्य मनोरमका नियोज्य शोधनीयमिदम्।'

१३—वेङ्कटेश्वर (वि० सं० १७६० के समीप)

वेङ्कटेश्वर नाम के लेखक ने उणादिसूत्रों की **उणादिनिघण्टु** नाम की एक वृत्ति लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र में क्रम संख्या ४७३२ पर निर्दिष्ट है। दूसरा हस्तलेख तञ्जौर के हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ६ पृष्ठ ३७४८ पर उल्लिखित है।

वेङ्कटेश्वर रामभद्र दीक्षित का शिष्य है। अतः वेङ्कटेश्वर का काल वि० सं० १७६० के आसपास समझना चाहिए।[2]

वेङ्कटेश्वर ने रामभद्र दीक्षित के 'पतञ्जलि-चरित' पर भी टीका लिखी है।

---

१. भोजो राजति भोसलान्वयमणिः श्रीशाह–पृथिवीपतिः ॥६॥ रामभद्रमखी तेन प्रेरितः करुणाब्धिना प्रबन्धमेतत् कुरुते प्रौढानां प्रीतिसिद्धये ॥७॥

२. रामचन्द्रोदय महाकाव्य का कर्ता वेङ्कटेश्वर भिन्न व्यक्ति प्रतीत होता

१४—पेरुसूरि (वि० सं० १७६०–१८००)

पेरुसूरि नाम के वैयाकरण ने उणादिपाठ पर एक श्लोकबद्ध व्याख्या लिखी है। इसका नाम '**औणादिकपदार्णव**' है।

परिचय—पेरुसूरि ने ग्रन्थ में अपना जो परिचय दिया है, उसके अनुसार माता-पिता दोनों का श्रीवेङ्कटेश्वर समान नाम है।[1] यह 'श्रीधर' वंश का है[2], और इसके गुरु का नाम वासुदेव अध्वरी है।[3]

देश—पेरुसूरि ने अपने को काञ्चीपुर का वास्तव्य कहा है।[4]

काल—पेरुसूरि ने अपने गुरु का नाम वासुदेव अध्वरी लिखा है। यही वासुदेव अध्वरी सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमा नामक प्रसिद्ध टीका का रचयिता है। बालमनोरमा का काल वि० सं० १७४०—१८०० के लगभग माना जाता है।[5] अतः पेरुसूरि का काल वि० सं० १७६०—१८०० के लगभग मानना उचित है।

वृत्ति का वैशिष्टय—ग्रन्थकार ने औणादिक पदों का व्याख्यान करते हुए स्थान-स्थान पर उनसे निष्पन्न तद्धित प्रयोगों का भी निर्देश किया है। सूत्रपाठ की शुद्धि पर ग्रन्थकार ने विशेष बल दिया है, और स्थान-स्थान पर अपने द्वारा साम्प्रदायिक=(गुरुपरम्परा-प्राप्त) पाठ के आश्रयण का निर्देश किया है।[6]

अक्षम्य अपराध—पेरुसूरि ने अपनी वृत्ति के लिखने में भट्टोजि

है। उसने सं० १६९२ में ४० वर्ष की अवस्था में काशी में उक्त काव्य की रचना की थी। द्र०—सं० साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २१५।

१. जरत्कारू इवान्योन्यमाख्ययानन्ययौत्सुकौ श्रीवेङ्कटेश्वरौ मातापितरौ ··· ॥ पृष्ठ १। २. इति श्रीधरवंश्येन रचिते पेरुशास्त्रिणा। पृष्ठ १२१।

३. अवतीर्णं हरिं वन्दे वासुदेवाध्वरिच्छलात्। तच्छिष्योऽहम्·· ·····। पृष्ठ १। ४. पृष्ठ १ श्लोक २।

५. द्र० सं०व्या० शास्त्र का इतिहास का १६ वां अध्याय 'सिद्धान्तकौमुदी के व्याख्याता' प्रकरण।

६. यथा—साम्प्रदायिकोऽयं पाठः। पृष्ठ १॥ तैस्तैर्वृत्तिकारैः कानिचित् सूत्राणि अधिकानि व्याख्यातानि। सूत्रक्रमभेदश्च तत्र भूयान् परिदृश्यते, पाठभेदाश्च भूयांसः, इति साम्प्रदायिक एवाश्रित इत्यलं बहुना। पृष्ठ ८०॥

दीक्षित विरचित प्रौढमनोरमा से अत्यधिक सहायता ली है[1]। यह दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है। कई स्थान ऐसे भी हैं, जहां तत्त्वबोधिनी का आश्रयण भी किया है।[2] परन्तु ग्रन्थकार ने इन दोनों ग्रन्थों का अथवा इनके लेखकों का कहीं भी निर्देश नहीं किया। ग्रन्थ-लेखन में ऐसा व्यवहार अशोभनीय है।

यह वृत्ति उणादि ४।१५६ तक ही मद्रास से प्रकाशित हुई है। क्योंकि इसका आधारभूत हस्तलेख भी यहीं तक हैं। उसका अगला भाग सम्भवतः खण्डित हो गया है।

१५—नारायण सुधी

नारायण नाम के किसी वैयाकरण ने अष्टाध्यायी की **प्रदीप** अपरनाम **शब्दभूषण** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

परिचय—नारायण के वंश तथा काल आदि के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं। शब्दभूषण के तृतीयाध्याय के द्वितीयपाद के अन्त में निम्न पाठ मिलता है—

'इति गोविन्दपुरवास्तव्यनारायणसुधिविरचिते सवार्तिकाष्टाध्यायीप्रदीपे शब्दभूषणे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः।'

इसमें नारायण ने अपने को गोविन्दपुर का वास्तव्य लिखा है। भारत में गोविन्दपुर नाम के अनेक स्थान हैं।

नारायण नाम के अनेक वैयाकरण विभिन्न ग्रन्थों के लेखक हो चुके हैं। अतः विशेष परिचय के अभाव में इस नारायण का निश्चय करना और इसके काल का निर्धारण करना कठिन है।

---

१. यथा—पाद १ श्लोक २६३, २६४; पाद ३ श्लोक ७८, ७९; २०५, २०६, ३०९; ३२१, ३३७ तथा सूत्रपाठ; पाद ४, श्लोक १८९—१९१; २०४, २८८, २८९; ३४३, ४३२॥ इन सूत्रों की प्रौढमनोरमा भी देखिए।

२. प्रौढमनोरमा में अनिर्णीत 'कुबेरादेश्च चः' सूत्रपाठ (पृष्ठ ११८) तत्त्वबोधिनी से लिया है।

काल का अनुमान—नारायण ने अष्टाध्यायी अ० ३ के द्वितीय पाद के पश्चात् उणादिपाठ की व्याख्या की है। और अ० ६ के द्वितीय पाद के अन्त में फिट्सूत्रों को। यह व्याख्यानशैली भट्टोजि दीक्षित विरचित सिद्धान्तकौमुदी और शब्दकौस्तुभ में देखी जाती है। नारायण भट्ट विरचित प्रक्रियासर्वस्व में भी यही शैली है। इससे विदित होता है कि नारायण का शब्दभूषण सिद्धान्तकौमुदी तथा प्रक्रियाकौमुदी के पश्चात् लिखा गया है। सिद्धान्तकौमुदी के अत्यधिक प्रचार होने पर अष्टाध्यायी पर लिखने का क्रम प्रायः समाप्त हो गया था। अतः इस नारायण का काल वि० सं० १८०० के पूर्व माना जा सकता है, इससे उत्तरवर्ती तो नहीं हो सकता।

यद्यपि नारायण की व्याख्या उणादि के किस पाठ पर थी, यह निश्चित रूप से हम नहीं कह सकते, तथापि इस काल में पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा पञ्चपादी पर ही वृत्ति ग्रन्थ लिखने की परम्परा होने से यह वृत्ति भी पञ्चपादी पर ही हो सकती है, दशपादी पर नहीं।

१६—शिवराम (वि० सं० १८५० के समीप)

शिवराम नाम के विद्वान् ने उणादिपाठ पर एक वृत्ति लिखी थी। इसका उल्लेख शिवराम ने अपने काव्य 'लक्ष्मीविलास' (लक्ष्मी प्रकाश) में किया है। वह लिखता है—

> **'काव्यानि पञ्च नुतयोऽपि पञ्चसंख्याः**
> **टीकाश्च सप्तदश चैक उणादिकोशः।'[1]**

आफ्रेक्ट ने भी अपनी बृहत् हस्तलेखसूची में इस टीका का उल्लेख किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि यह वृत्ति सन् १८७४ में बनारस में छप चुकी है।[2] यह संस्करण हमारे देखने में नहीं आया।

---

१. द्र०—अलवर राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय का सूचीपत्र, उत्तरार्ध (आद्यन्त पाठ निर्देशक भाग) पृष्ठ ८५।

२. श्री पं० रामअवध पाण्डेय (वाराणसी) की सूचनानुसार सन् १८७३ में यह वृत्ति 'षट्कोशसंग्रह' में छप चुकी है।

परिचय—अलवर राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र के निर्माता ने पृष्ठ ४६ ग्रन्थसंख्या १०६४ के विवरण में शिवराम के पिता का नाम कृष्णराम तथा शिवराम के ज्येष्ठ भ्राताओं के नाम गोविन्दराम, मुकन्दराम और केशवराम लिखे हैं।

काल—अलवर के सूचीपत्र के सम्पादक ने शिवराम का काल ईसा की १८वीं शती लिखा है।

उणादिवृत्ति का नाम—उणादिवृत्ति, जिसका ग्रन्थकार ने उणादिकोश नाम से व्यवहार किया है, का नाम '**लक्ष्मीनिवासाभिधान**' भी है। इसी नाम से यह काशी से प्रकाशित षट्-कोश-संग्रह में छपी है।

अन्य ग्रन्थ—ऊपर जो श्लोकांश उद्धृत किया है, उसमें पांच काव्य ग्रन्थ, ५ स्तुतिग्रन्थ (स्तोत्र), १७ टीकाग्रन्थ, १ उणादिकोश का निर्देश है। उक्त श्लोक के उत्तरार्ध में भूपालभूषण, रसरत्नहार और विद्याविलास ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त काव्य **लक्ष्मीविलास** (जिसमें उक्त वर्णन हैं,) तथा परिभाषेन्दु शेखर की '**लक्ष्मीविलास टीका**' भी इसने लिखी है।[1]

१७—रामशर्मा (वि० सं० १९४० से पूर्व)

रामशर्मा नाम के किसी व्यक्ति ने उणादिसूत्रों की एक व्याख्या लिखी है।

हमारे मित्र पं० राम अवध पाण्डेय (वाराणसी) की सूचनानुसार यह वृत्ति 'उणादिकोश' नाम से काशी से प्रकाशित होनेवाले 'पण्डित' पत्र के द्वितीय भाग में छप चुकी है। हमारी दृष्टि में यह संस्करण नहीं आया।

इस वृत्ति के पण्डितपत्र में प्रकाशित होने से इसका रचना काल वि० सं० १९४० से पूर्व है।

---

१. अलवर राजकीय ह० सं० सूची, पृष्ठ ४६।

१८—स्वामी दयानन्द सरस्वती (वि० सं० १९३९)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादिपाठ पर एक व्याख्या लिखी है। यह 'उणादिकोष' के नाम से वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित हुई है।

परिचय—स्वामी दयानन्द सरस्वती के वंश, देश, काल आदि के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'अष्टाध्यायी के वृत्तिकार' नामक १४ वें अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं।

वृत्ति-निर्माणकाल वा स्थान—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस उणादिवृत्ति की रचना महाराणा सज्जनसिंह के राज्यकाल में मेवाड़ की राजधानी उदयपुर नगर में वि० सं० १९३९ में की थी। इसकी भूमिका के अन्त में ग्रन्थ-रचना का समय वि० सं० १९३९, माघ कृष्णा प्रतिपद् अङ्कित है।

वृत्ति का वैशिष्टय—यद्यपि यह वृत्ति स्वल्पाक्षरा है, पुनरपि उणादि वाङ्मय में यह सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

महत्ता का कारण—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **उणादयो बहुलम्** (अष्टा० ३।३।१) सूत्रस्थ बहुल पद का प्रयोजन बताते हुए लिखा है—

'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु। नैगमाश्च रूढिभवाश्चौणादिकाः सुसाधवः कथं स्युः।

अर्थात्—नैगम और रूढ औणादिक शब्दों के भले प्रकार साधुत्व-ज्ञापन के लिए पाणिनि ने 'बहुल' शब्द का निर्देश किया है।

इस कथन से स्पष्ट है कि भाष्यकार के मत में वेद में रूढ शब्द नहीं हैं। दूसरे शब्दों में पतञ्जलि वैदिक शब्दों को यौगिक तथा योगरूढ मानते हैं।

इसी प्रसङ्ग में पतञ्जलि ने शाकटायन के मत में सम्पूर्ण शब्दों को धातुज कहा है। नैरुक्त आचार्यों का भी यही मत है।

महाभाष्यकार के इन निर्देशों के अनुसार सभी औणादिक शब्द यौगिक अथवा योगरूढ भी है। इतना ही नहीं, उणादिपाठ में स्थान स्थान पर **संज्ञायाम्**[1] पद का निर्देश होने से अन्तःसाक्ष्य से भी यही

---

१. उणादिकोश २।३२, ८२, १११ इत्यादि।

विदित होता है कि सम्पूर्ण औणादिक पद रूढ नहीं है। अन्यथा स्थान-स्थान पर **संज्ञायाम्** पद का निर्देश न करके **उणादयो बहुलम्** (३। ३। १) सूत्र में ही **संज्ञायाम्** पद पढ़ दिया जाता। इसलिए उणादिवृत्तिकार का कर्त्तव्य है कि वह दोनों पक्षों का समन्वय करता हुआ प्रत्येक औणादिक पद का यौगिक, योगरूढ तथा रूढ अर्थों का निर्देश करे। इस समय उणादिसूत्रों की जितनी भी वृत्तियां उपलब्ध हैं। उन सभी में औणादिक शब्दों को रूढ मान कर ही अर्थ निर्देश किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का साहस—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैयाकरणों की उत्तरकालीन उक्त परम्परा का सर्वथा परित्याग करके अपनी वृत्ति में प्रत्येक औणादिक शब्द के यौगिक और रूढ दोनों प्रकार के अर्थों का निर्देश किया है। यथा—

करोतीति कारुः—कर्त्ता, शिल्पी वा।[1]

वाति गच्छति जानाति वेति वायुः—पवनः, परमेश्वरो वा।[1]

पाति रक्षति स पायुः—रक्षकः, गुदेन्द्रियं वा।[1]

इन उद्धरणों के प्रथम और तृतीय पाठ में **कर्ता** और **रक्षक** ये यौगिक अर्थ हैं। तथा शिल्पी और **गुदेन्द्रिय** योगरूढ वा रूढ अर्थ हैं।

भगवान् पतञ्जलि तथा नैरुक्त आचार्यों के मतानुसार वेद में प्रयुक्त **कारु** और **पायु** शब्द के यौगिक अर्थ कर्ता और रक्षक ही सामान्य रूप से हैं, केवल शिल्पी और गुदेन्द्रिय नहीं हैं। यही अभिप्राय वृत्तिकार ने यौगिक अर्थों का निर्देश करके दर्शाया है।

द्वितीय पाठ में भी **सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः**[2] इस प्राचीन मत के अनुसार **वाति** के **जानाति** अर्थ का भी निर्देश किया हैं। इस अर्थ के अनुसार सर्वज्ञ भगवान् परमेश्वर का भी वायु पद से ग्रहण होता है, यह दर्शाया है।[3] इसी अर्थ को यजुर्वेद का—

---

१. उणादिकोष १। १ व्याख्या में।

२. द्र०—हेमहंसगणि विरचित न्यायसंग्रह, बृहद्वृत्तिसहित, पृष्ठ ६३। स्कन्द निरुक्त-टीका, भाग २, पृष्ठ ६२। तैत्तिरीय आरण्यक भट्टभास्कर भाष्य, भाग १, पृष्ठ २७६; इसी प्रकार अन्यत्र भी।

३. अग्नि वायु आदित्य प्रभृति वैदिक शब्द धात्वर्थ को निमित्त मानकर

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ ३२।१॥

यह मन्त्र भी व्यक्त कर रहा है। इस मन्त्र में ब्रह्म प्रजापति आदि का वायु पद से भी संकीर्तन किया है।

इतना ही नहीं, निघण्टु, निरुक्त तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में वैदिक अग्नि-वायु-आदित्य आदि शब्दों के जितने अर्थ दर्शाए हैं, वे सब मूलभूत एक धात्वर्थ को स्वीकार करके ही उत्पन्न हो सकते हैं। यदि उन सब अर्थों को धात्वर्थ-मूलक न मानकर रूढ माना जाए, तो एक शब्द की विभिन्न अर्थों में वाचकशक्ति अथवा संकेत स्वीकार करना होगा। इस प्रकार बहुत गौरव होगा।[1]

अन्य वैशिष्ट्य—प्रतिशब्द यौगिक अर्थों के निर्देश के अतिरिक्त इस वृत्ति में एक और विशेषता है। वह है—स्थान-स्थान पर निरुक्त निघण्टु ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में निर्दिष्ट वैदिक अर्थों का उल्लेख करना। यथा—

वर्तते सदैवासौ वृत्रः—मेघः, शत्रुः, तमः पर्वतः, चक्रं वा।[2]

इसीलिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादिव्याख्या के प्रत्येक पाद के अन्त में **उणादिव्याख्यायां वैदिकलौकिककोषे** विशिष्ट पद का निर्देश किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूर्ववर्ती कतिपय वृत्तिकारों ने केवल **उणादिकोश** शब्द का व्यवहार किया है। परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी व्याख्या के लिए **वैदिक लौकिक-कोष** पद का उल्लेख किया है।

ईश्वर के भी वाचक होते हैं। इसके लिए स्वामी शंकराचार्य का 'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति' (वेदान्तभाष्य १।२।२८) वचन द्रष्टव्य है।

१. तुलना करो—आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः, व्यक्तीनामानन्त्यात् संबन्धग्रहणानुपपत्तेः। वेदान्त शांकरभाष्य १।३।२८॥ 'व्यक्तीनां त्वानन्त्यात् तासु न शक्तिग्रहः……'। सरूप सूत्रभाष्य (१।२।६४) में नागेशोक्ति, बम्बई सं० पृष्ठ ६१। यही दोष अनेक रूढ अर्थों में संकेत मानने पर उपस्थित होता है।

२. उणादिकोष १।१३ व्याख्या में।

इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती की यह स्वल्पाक्षरावृत्ति संपूर्ण उणादि वाङ्मय में मूर्धाभिषिक्त है।

वृत्ति का आधारभूत मूल सूत्रपाठ—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उणादि के जिस पाठ पर वृत्ति लिखी है, वह उज्ज्वलदत्त पाठ से बहुत भिन्नता रखता है। इस वृत्ति का आधारभूत सूत्रपाठ एक हस्तलेख पर आश्रित है। यह हस्तलेख स्वामी दयानन्द सरस्वती के हस्तलेख संग्रह में विद्यमान था। हमने इसे वि० सं० १९९२ में श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में देखा था। इस हस्तलेख में सूत्रपाठ के साथ-साथ सूत्रों के उदाहरण भी निर्दिष्ट हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो उणादिकोष छपवाया है, उसमें इस हस्तलेख के पाठ को सर्वथा उसी रूप में सुरक्षित रखा है। अर्थात् ऊपर हस्तलेखानुसार सूत्रपाठ और उदाहरण दिए हैं, तथा नीचे अपना वृत्ति ग्रन्थ पृथक् छापा है।

इस हस्तलेख तथा उस पर आश्रित मुद्रित सूत्रपाठ में अनेक स्थानों पर सूत्रपाठ के स्थान पर किसी वृत्ति ग्रन्थ का संक्षिप्त पाठ निर्दिष्ट है। यथा—

क—उणादिकोष ३।९७ पर सूत्रपाठ है—**दधातेर्द्वित्वमित्वं षुक च**। यह स्पष्ट किसी वृत्ति का पाठ है। वहां मूल सूत्रपाठ **दधिषाय्यः** होना चाहिए।

ख—उणादिकोष ४।२३७ पर सूत्रपाठ है—**सर्त्तेरप्पूर्वादसिः**। यह भी किसी वृत्ति का पाठ है। यहां पर मूल सूत्रपाठ **अप्सरा** होना चाहिए।

ग—इसी प्रकार उणादिकोष ४।२३८ पर सूत्रपाठ है—**विदिभुजिभ्यां विश्वेऽसिः**। यह पाठ भी किसी वृत्ति का संक्षेप है।

सूत्र २३७ में तथा २३८ दोनों में 'असि' प्रत्यय का समान रूप से निर्देश होना इस बात का ज्ञापक है कि ये दोनों सूत्र रूप से स्वीकृत पाठ भी किसी वृत्ति के अंश हैं। इनमें **सर्त्तेरप्पूर्वादसि** पाठ इसी रूप में उज्ज्वलदत्त की उणादिवृत्ति ४।२३६ में उपलब्ध होता है।

वृत्ति में पाठभ्रंश—स्वामी दयानन्द की वृत्ति का जो पाठ वैदिक यन्त्रालय अजमेर का छपा मिलता है, उसमें पाठभ्रंश अत्यधिक हैं।

कई स्थानों पर पाठ त्रुटित हैं, कई स्थानों पर पाठ आगे पीछे अस्थान में हो गये हैं। कई स्थानों में संशोधकों ने उत्तरवर्ती संस्करणों में ग्रन्थकार-सम्मत पाठ में परिवर्तन भी कर दिया है। इस प्रकार यह अत्यन्त उपयोगी और श्रेष्ठतम वृत्ति भी पाठभ्रंश आदि दोषों के कारण सर्वथा अनुपयोगी सी बनी हुई है। इसकी श्रेष्ठता और उपयोगिता को देखते हुए इसके शुद्ध संस्करण की आवश्यकता हम चिरकाल से अनुभव कर रहे थे।

वृत्ति का सम्पादन—हमने इस वृत्ति के वैशिष्टय को ध्यान में रखकर इस वृत्ति का संवत् २००२ में सम्पादन किया था, परन्तु अर्थाभाव के कारण चिरकाल तक प्रकाशित नहीं कर सके। अन्त में सं० २०३१ में श्री चौधरी प्रतापसिंह जी ने अपने श्री चौधरी नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट (करनाल) द्वारा इसे प्रकाशित किया। इस संस्करण में पाठ शुद्धि के अतिरिक्त ८-१० प्रकार की विविध सूचियां भी दी हैं।

अज्ञातनाम वृत्तिकार

१९—अज्ञातनाम

तञ्जौर हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग १० में संख्या ५६७७ पर पञ्चपादी उणादिपाठ पर एक अज्ञातनाम वैयाकरण की वृत्ति का निर्देश है।

२०—अज्ञातनाम

किसी अज्ञातनाम वैयाकरण की पञ्चपादी उणादिवृत्ति का "उणादिकोश" नाम से तञ्जौर के पुस्तकालय में एक हस्तलेख विद्यमान है। देखो—सूचीपत्र भाग १०, संख्या ५६७८।

२१—अज्ञातनाम

मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ३ (सन्

१९०६ का छपा) में पृष्ठ ६१६ पर एक 'उणादिसूत्रवृत्ति' का निर्देश है। इसकी संख्या १२६६ है। यह पञ्चपादी पर है, और इसका लेखक कोई जैन विद्वान् है।

२२—अज्ञातनाम

मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में एक उणादिसूत्र का हस्तलेख विद्यमान हैं। द्र०—सूचीपत्र भाग १०, पृष्ठ ६१६ (सन् १९०६) संख्या ६१३। इसके अन्त में पाठ है—

'इति पाणिनीये उणादिसूत्रे पञ्चमः पादः'

यह मूल सूत्रपाठ है अथवा वृत्ति ग्रन्थ, यह द्रष्टव्य है।

दशपादी-उणादिपाठ

पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा आश्रित उणादिसूत्रों का दूसरा पाठ 'दशपादी उणादिपाठ' के नाम से प्रसिद्ध है।

दशपादी का आधार पञ्चपादी

दशपादी उणादिपाठ का संकलन उणादि-सिद्ध शब्दों के अन्त्य-वर्णक्रम के अनुसार किया गया है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। यह संकलन भी पञ्चपादीय पाठ पर आश्रित है अर्थात् दशपादी में तत्तद् अन्त्यवर्णवाले शब्दों के साधक सूत्रों का संकलन करते समय पहले पञ्चपादी के प्रथम पाद के सूत्रों का संकलन किया गया है। तत्पश्चात् क्रमशः द्वितीय तृतीय चतुर्थ और पञ्चम पाद के सूत्रों का। हम इस बात को स्पष्ट करने के लिये दशपादी के प्रथम पादस्थ इवर्णान्त शब्दसाधक सूत्रों के संकलन का निर्देश करते हैं—

सूत्रसंख्या		१—९	तक	पञ्चपादी के		द्वितीय	पाद	के	सूत्र
,,	,,	१०—१२	,,	,,	,,	तृतीय	,,	,,	,,
,,	,,	१६—७५	,,	,,	,,	चतुर्थ	,,	,,	,,
,,	,,	७७—८१	,,	,,	,,	पञ्चम	,,	,,	,,

इसी प्रकार उवर्णान्त शब्दों में—

सूत्रसंख्या	८६—१३२ तक	पञ्चपादी के	प्रथम	पाद के सूत्र
„ „	१३३—	„ „	द्वितीय	„ „ „
„ „	१३४—१५४ „	„ „	तृतीय	„ „ „
„ „	१५५—१५६ „	„ „	चतुर्थ	„ „ „
„ „	१६०—१६२ „	„ „	पञ्चम	„ „ „

इसी प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में तत्तद् वर्णान्त शब्दों के साधक सूत्रों का संकलन पञ्चपादी के तत्तत् पादस्थ सूत्रों के क्रम से ही किया है। इससे स्पष्ट है कि दशपादी पाठ का मूल आधार पञ्चपादी पाठ है। इसमें निम्न हेतु भी द्रष्टव्य हैं—

क—पञ्चपादी पाठ में अनेक ऐसे सूत्र हैं, जिनमें नकारान्त शब्दों के साधुत्व प्रदर्शन के साथ-साथ उन णकारान्त शब्दों का निर्देश भी है, जिनमें रेफ आदि को निमित्त मान कर अन्त्य न वर्ण ण वर्ण में परिवर्तन हो जाता है। यथा—

पञ्चपादी २।४८ में 'इनच्' प्रत्ययान्त—**श्येन, स्तेन, हरिण,** और **श्रविन** शब्दों का साधुत्व दर्शाया है।

पञ्चपादी २।७६ में 'युच्' प्रत्ययान्त—**सवनः, यवनः, रवणः, वरणम्** शब्दों का निर्देश है।

इसी प्रकार पञ्चपादी के जिन सूत्रों में णकारान्त और नकारान्त शब्दों का एक साथ निदर्शन कराया है, उन सब सूत्रों को दशपादीकार ने **ढकारान्त** शब्दों के अनन्तर संगृहीत किया है। और इस प्रकरण के अन्त में (सूत्र-वृत्ति ५।६४) **णकारो नकारसहितः** कह कर उपसंहार किया है। इससे भी स्पष्ट है कि दशपादी उणादिसूत्रों का पाठ किसी अन्य पुराने पाठ पर आश्रित है। यदि दशपादी का अपना स्वतन्त्र पाठ होता, तो उसका प्रवक्ता णकारान्त और नकारान्त शब्दों के साधन के लिए पृथक्-पृथक् सूत्रों का ही प्रवचन करता, दोनों का सांकर्य न करता।

ख—दशपादी पाठ में नवम पाद के अन्त में हकारान्त शब्दों का संकलन पूरा हो जाता है। दशम पाद में उन सूत्रों का संकलन

है, जिनमें अनेक प्रत्ययों का पाठ उपलब्ध होता है, और उनसे विभिन्न वर्ण अन्त शब्दों का साधुत्व कहा गया है। यथा—

प्रथम सूत्र में—आल, वालज्, आलीयर् प्रत्यय।

पञ्चम सूत्र में—उन, उन्त, उन्ति, उनि प्रत्यय।

इसी प्रकार अन्यत्र भी।

यदि दशपादी पाठ का स्वतन्त्र प्रवचन होता, तो इसका प्रवक्ता इस पाद के सूत्रों में एक साथ कहे गये विभिन्न प्रत्ययों को तत्तत् वर्णान्त प्रत्ययों के प्रकरण में बड़ी सुगमता से संकलन कर सकता था। उसे व्यामिश्रित वर्णान्त प्रत्ययों के लिए प्रकीर्ण संग्रह करने की आवश्यकता न होती। इससे भी यही बात पुष्ट होती है कि दशपादी पाठ का मुख्य आधार पञ्चपादी पाठ है।

दशपादी पाठ का वैशिष्ट्य

यद्यपि दशपादी पाठ के प्रवक्ता ने अपना मुख्य आधार पञ्चपादी पाठ को ही बनाया है, पुनरपि इसमें दशपादी पाठ के प्रवक्ता का स्वोपज्ञात अंश भी अनेकत्र उपलब्ध होता है। यह उपज्ञात अंश दो प्रकार का है—

१—पञ्चपादी सूत्रों का तत्साधक शब्दों के अन्त्य वर्ण क्रम से संकलन करते समय अनेक स्थानों पर अनुवृत्ति दोष उत्पन्न होता है। उस दोष के परिमार्जन के लिए दशपादी-प्रवक्ता ने उन-उन सूत्रों में तत्तद् विशिष्ट अंश को जोड़कर अनुवृत्ति दोष को दूर किया है। यथा—

क—पञ्चपादी उणादि में क्रमशः स्रुवः कः, चिक् च दो सूत्र (२।६१, ६२) पढ़े हैं। दशपादी संकलन क्रम में प्रथम सूत्र कुछ पाठान्तर से ८।३० में रखा गया है, द्वितीय सूत्र से कान्त स्रुक् शब्द की निष्पत्ति होने से उसे कान्त प्रकरण (द्वितीयपाद) में रखना आवश्यक हुआ। इन दोनों सूत्रों को विभिन्न स्थानों में पढ़ने पर, स्रुक् शब्द साधक द्वितीय सूत्र में पञ्चपादी क्रम से पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति द्वारा प्राप्त होनेवाली स्रु धातु का दशपादी क्रम में अभाव प्राप्त होता है। इस दोष की निवृत्ति के लिये दशपादी के प्रवक्ता ने 'स्रु' धातु का निर्देश करते हुए स्रुवः चिक् ऐसा न्यासान्तर किया।

ख—पञ्चपादी का एक सूत्र है—**लङ्घेर्नलोपश्च** (१।१३५)। इसमें **अटि** प्रत्यय की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से आती है। दशपादीकार ने पञ्चपादी के **सर्त्तेरटिः** सूत्र सिद्ध **सरट्** शब्द को डकारान्त सरड् मान कर उसे डान्त प्रकरण में पढ़ा, और लघट् शब्द साधक सूत्र को टान्त प्रकरण में। इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर पढ़ने के कारण लघट् शब्द साधक **लङ्घेर्नलोपश्च** सूत्र में **अटि** प्रत्यय की अनुवृत्ति की अप्राप्ति होने पर दशपादी के प्रवक्ता ने **लङ्घेरटिर्नलोपश्च** (५।१) ऐसा न्यासान्तर करके अनुवृत्ति दोष का परिमाजन किया है।

इस प्रकार दशपादी के संकलन में जहां-जहां भी अनुवृत्ति दोष उपस्थित हो सकता था, वहां-वहां तत्तत् अंश जोड़ कर सर्वत्र अनुवृत्ति दोष का निराकरण किया है।

ख—दशपादी पाठ में कई ऐसे सूत्र हैं, जो पञ्चपादी पाठ में उपलब्ध नहीं होते। इन सूत्रों का संकलन या तो दशपादी के प्रवक्ता ने किन्हीं अन्य प्राचीन उणादिपाठों से किया है अथवा ये सूत्र उसके मौलिक वचनरूप हैं। इनमें निम्न सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

क—**जीवेरदानुक्** ॥१।१६३॥

इस सूत्र को महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **हयवरट्** सूत्र पर उद्धृत किया है। **लोपो व्योर्वलि** (६।१।६६) सूत्र के भाष्य में भी इसकी ओर संकेत किया है। काशिकाकार ने ६।१।६६ पर तथा न्यासकार ने भाग १, पृष्ठ २० पर इसे उद्धृत किया है।

इस सूत्र का माहात्म्य—यद्यपि भाष्यकार आदि ने इस सूत्र द्वारा 'रदानुक्' प्रत्ययान्त **जीरदानु** शब्द के साधुत्व का ही प्रतिपादन किया है[1], तथापि इस सूत्र के संहिता पाठ को प्रामाणिक मानकर **जीवेः+अदानुक्** विच्छेद करने पर **जीवदानु** पद के साधुत्व का भी बोध होता है। वैदिक ग्रन्थों में दोनों शब्द एकार्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। तुलना करो—

पृथिवीं जीवदानुम्। शु० यजुः १।२८॥
पृथिवीं जीरदानुम्। तै० सं० १।१।१॥

---

१. जीवेः+रदानुक्=जीव्+रदानु=लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) से वलोप=जीरदानु।

ख—हन्ते रन् घ च । ८।११४।।

इस सूत्र द्वारा 'हन्' धातु से 'रन्' और धातु को 'घ' आदेश होता है। घ आदेश अनेकाल् होने से पूरी 'हन्' धातु के स्थान पर होता है। इस प्रकार घर शब्द निष्पन्न होता है। वृत्तिकारों ने इसका अर्थ गृह बताया है।

भट्टोजि दीक्षित ने प्रौढमनोरमा पृष्ठ ८०८ में इस सूत्र को उद्धृत किया है। उसका अनुकरण करते हुए ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने भी तत्त्वबोधिनी (पृष्ठ ५६५) में इसका निर्देश किया है।

प्राकृत भाषा तथा हिन्दी भाषा में गृह वाचक जो 'घर' शब्द प्रयुक्त होता है, उसे साम्प्रतिक भाषाविज्ञानवादी 'गृह' का अपभ्रंश मानते हैं। जैन संस्कृत कथाग्रन्थों में बहुत्र घर शब्द का निर्देश मिलता है। यथा—**पुनर्नृपाहूतः स्वघरे गतः।**[1] इसे तथा एतत्सदृश अन्य शब्दों के प्रयोगों को प्राकृत प्रभावजन्य कहते हैं। ये दोनों ही कथन चिन्त्य हैं, यह इस औणादिक सूत्र से स्पष्ट है।

इतना ही नहीं क्षीरस्वामी ने क्षीरतरङ्गिणी १०।९८ पृष्ठ २९० में **घ स्रवणे** का पाठान्तर लिखा है—

घर स्रवणे इति दुर्गः।

इस पाठ से दुर्ग सम्मत **घर** धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर गृह वाचक 'घर' शब्द अञ्जसा सिद्ध हो जाता है। दुर्ग के 'घर' धातु-निर्देश से भी घर शब्द शुद्ध संस्कृत का है, गृह का अपभ्रंश नहीं है, यह स्पष्ट है।[2]

दशपादी उणादि १०।१५ में व्युत्पादित **मच्छ** शब्द भी इसी प्रकार का है जो शुद्ध संस्कृत का होते हुए भी 'मत्स्य' का अपभ्रष्ट रूप माना जाता है।[3]

---

१. पुरातन प्रबन्धकोष, पृष्ठ ३५। एवमन्यत्र भी।

२. इसी प्रकार का पवित्र वाचक 'पाक' शब्द और युद्धार्थक 'जङ्ग' शब्द जो फारसी के समझे जाते हैं शुद्ध संस्कृत के हैं। इनके लिए देखिये इस ग्रन्थ का प्रथम भाग पृष्ठ ५१ (च० सं०)।

३. क्षीरतरङ्गिणी ४।१०१ में इसे संस्कृत का साधु शब्द माना है।

इस प्रकार दशपादी उणादिपाठ में और भी अनेक प्रकार का वैशिष्ट्य उपलब्ध होता है।

दशपादी के वृत्तिकार

दशपादी पाठ पर भी पंचपादी पाठ के समान अनेक वैयाकरणों ने वृत्ति ग्रन्थ लिखे होंगे, परन्तु इस पाठ के पठन-पाठन में व्यवहृत न होने के कारण अनेक वृत्ति ग्रन्थ कालकवलित हो गये, ऐसी संभावना है। सम्प्रति दशपादी पाठ पर तीन ही वृत्तिग्रन्थ उपलब्ध हैं। उपलब्ध वृत्तियों के विषय में नीचे यथाज्ञान विवरण उपस्थित करते हैं।

१—माणिक्यदेव (७०० वि० सं० पूर्व)

दशपादी उणादिपाठ की यह एक अति प्राचीन वृत्ति है। इस वृत्ति के उद्धरण अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यह वृत्ति वि० सं० १९३२ (सन् १८७५) में काशी में लीथो प्रेस में छप चुकी है। इसके एक प्रामाणिक संस्करण का सम्पादन हमने किया है।[1]

वृत्तिकार का नाम—आफ्रेक्ट ने अपने बृहत् हस्तलेख सूची में इस वृत्ति के लेखक का नाम **माणिक्यदेव** लिखा है। पूना के डेक्कन कालेज के पुस्तकालय के सूचीपत्र में भी इसका नाम माणिक्यदेव ही निर्दिष्ट है। पत्र द्वारा पूछने पर पुस्तकाध्यक्ष ने उक्त नाम निर्देश का आधार आफ्रेक्ट के सूचीपत्र को ही बताया।[2] वाराणसी में लीथो प्रेस में प्रकाशित पुस्तक के आदि के सात पादों में ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख नहीं है, परन्तु अन्तिम तीन पादों में **उज्ज्वलदत्त** का नाम निर्दिष्ट है।[3] इस वृत्ति का एक हस्तलेख तञ्जौर के पुस्तकालय में भी है। उसके ग्रन्थ की समाप्ति के अनन्तर कुछ स्थान रिक्त छोड़कर उज्ज्वलदत्त का नाम अङ्कित है। उक्त पुस्तकालय के सूचीपत्र के सम्पादक ने आफ्रेक्ट के प्रमाण से ग्रन्थकार का माणिक्यदेव नाम लिखा है।

---

१. यह संस्करण राजकीय संस्कृत-कालेज वाराणसी की सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में सन् १९४२ में प्रकाशित हुआ है।

२. यह पत्र-व्यवहार वृत्ति के सम्पादन काल सन् १९३४ में हुआ था।

३. 'इत्युज्ज्वलदत्तविरचितायामुणादिवृत्तौ······' पाठ मुद्रित हैं।

इस वृत्ति के संस्कृत वाङ्मय के विविध ग्रन्थों से जितने भी उद्धरण संगृहीत किये, सर्वत्र या तो वे दशपादी वृत्तिकार के नाम से उद्धृत है अथवा विना नाम निर्देश के। हमें आज तक इस वृत्ति का एक भी उद्धरण ऐसा प्राप्त नहीं हुआ जो माणिक्यदेव के नाम से निर्दिष्ट हो।

काशी मुद्रित तथा तञ्जौर के हस्तलेख के अन्त में उज्ज्वलदत्त का नाम कैसे अङ्कित हुआ, यह भी विचारणीय है। क्योंकि इस वृत्ति का एक भी उद्धरण उज्ज्वलदत्त के नाम से क्वचित् भी निर्दिष्ट नहीं है। पञ्चपादी पाठ के एक वृत्तिकार का नाम उज्ज्वलदत्त अवश्य है, परन्तु उसने सर्वत्र स्वनाम के साथ **जाजलि** पद का निर्देश किया है। उक्त दोनों प्रतियों में **जाजलि** का उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं, दोनों वृत्तिग्रन्थों की रचना शैली में भूतल-आकाश का अन्तर हैं। इसलिये दशपादी की इस वृत्ति का रचयिता पञ्चपादी वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त नहीं हो सकता, यह निश्चित है। हमारा अनुमान है कि उणादि वाङ्मय में उज्ज्वलदत्त की अतिप्रसिद्धि के कारण लोथो प्रेस काशी की छपी तथा तञ्जौर के हस्तलेख में उज्ज्वलदत्त का नाम प्रविष्ट हो गया है।

आफेक्ट का लेख सत्य—आफेक्ट ने अपने हस्तलेखों के सूचीपत्र में प्रकृत दशपादी उणादिवृत्ति के लेखक का जो माणिक्यदेव नाम लिखा है वह ठीक है। भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, पूना के संग्रह में दशपादी उणादिवृत्ति के चार हस्तलेख हैं। द्र० सन् १९३८ का छपा व्याकरण विषयक सूचीपत्र, ग्रन्थ संख्या २६३; २७५/१८७३-७६; २६४; २७६/१८७५-७६। २६५, २७४/१८७५-७६। २६६; ५९/१८६५-६८।

इनमें से संख्या २६३ के हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ मिलता है—

इति उणादिवृत्तौ विप्रकीर्णको दशमः पादः। समाप्ता चेयमुणादिवृत्तिः। कृतिराचार्यमाणिक्यस्येति। शुभमस्तु।

संख्या २६४ के हस्तलेख के अन्त में पाठ है—

उणादिवृत्तौ दशमः पादः॥ समाप्ता चेयमुणादिवृत्तिः। कृतिराचार्यमाणिक्यस्येति।

ये दोनों हस्तलेख कश्मीर से संगृहीत किये गये हैं। शारदा लिपि में भूर्जपत्र पर लिखे हैं। हस्तलेख अति पुराने है। संख्या २६० के हस्तलेख के अन्त में **सं० ३० वैं शुद्धि ति च-वाम-एकादश्याम्।** सूचीपत्र में इसे सप्तर्षि संवत् माना है।

इन प्राचीन हस्तलेखों की उपस्थिति में इस वृत्तिकार के **माणिक्य[देव]** नाम में सन्देह का कोई स्थान नहीं है।

देश—दशपादीवृत्ति के सबसे प्राचीन हस्तलेखों के कश्मीर की शारदा लिपि में लिखित होने से इस वृत्ति का रचयिता माणिक्यदेव कश्मीर का ही है। ऐसा मानना युक्ति संगत प्रतीत होता है।

काल—इस वृत्तिकार का काल अज्ञात है। हमने इस वृत्ति के प्राचीन ग्रन्थों से जो उद्धरण संगृहीत किये हैं, उनके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि इस वृत्ति की रचना का काल ७०० विक्रम से पूर्व है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—भट्टोजि दीक्षित (वि० सं० १५१०—१५७५) ने सिद्धान्त-कौमुदी की प्रौढमनोरमा नाम की व्याख्या में दशपादीवृत्ति के अनेक पाठ उद्धृत किये हैं।[1] यथा—

प्रौढमनोरमा	दशपादीवृत्ति
क—खरुशब्दस्य क्रूरो मूर्खश्च इत्यर्थद्वयं दशपादीवृत्त्यनुसारेणोक्तम्। पृष्ठ ७५१	खनतीति खरुः—क्रूरो मूर्खश्च। पृष्ठ ७७।
ख—फर्फरादेश इत्युज्ज्वलदत्तरीत्योक्तम्। वस्तुतस्तु धातोर्द्वित्वमुकारस्याकारः सलोपो रुक् चाभ्यासस्येति दशपाद्योक्तमेव न्याय्यम्। पृष्ठ ७८७।	अस्य अभ्यासस्य फादेशोपधात्वसलोपा निपात्यन्ते। फर्फरीका। पृष्ठ १५३।

२—देवराज यज्वा (वि० सं० १३७० से पूर्व) ने अपनी निघण्टु-टीका में इस वृत्ति के अनेक पाठ नाम निर्देश के विना उद्धृत किये हैं। यथा—

१. इन सब पाठों का निर्देश हमने स्वसम्पादित ग्रन्थों में तत्तत् स्थानों की टिप्पणी में कर दिया है।

निघण्टुटीका	दशपादीवृत्ति
क—बाहुलकादभिधानलक्षणाद्वा क्वचिन्नकारस्येत् संज्ञा न भवतीत्युणादिवृत्तिः पृष्ठ १०६।	बाहुलकत्वादभिधानलक्षणाद् वा नकारस्येत्संज्ञा न भवति। पृष्ठ २७६।
ख—बाहुलकादभिधानलक्षणाद्वा नकारस्येत्संज्ञाया अभाव एवास्मिन् सूत्रे वृत्तिकारेणोक्तम्। पृष्ठ २१०।	„ „ „ „
ग—णिलोपे चोपधाया ह्रस्वत्वं निपात्यते। शीलयति शीलतीति वा शिल्पम् यत् कुम्भकारादीनां कर्म इत्युणादिवृत्तिः। पृष्ठ १७१।	अस्य णेर्लुगुपधाह्रस्वत्वं च शीलन्ति तद् शीलयन्ति तदिति शिल्पम्, क्रियाकौशलं कर्म यत् कुम्भकारादीनाम्। पृष्ठ २६३।

इनमें प्रथम उद्धरण दोनों में सर्वथा समान है, द्वितीय उद्धरण समान न होते हुए भी अर्थतः अनुवादरूप है। तृतीय उद्धरण दोनों पाठों में अर्थतः समान होने पर भी कुछ पाठ भेद रखता है। इस भेद का कारण हमारे विचार में देवराज द्वारा दशपादीवृत्ति पाठ का स्वशब्दों में निर्देश करना है। देवराज के उक्त पाठ का उणादि की अन्य वृत्तियों के साथ न शब्दतः साम्य है न अर्थतः। अतः देवराज ने दशपादीवृत्ति पाठ को ही स्वशब्दों में उद्धृत किया है, यह स्पष्ट है।

३—दैवग्रन्थ की पुरुषकार नाम्नी व्याख्या के लेखक कृष्ण लीलाशुक मुनि (वि० सं० १३००) ने भी दशपादीवृत्ति का पाठ विना नाम निर्देश के उद्धृत किया है। यथा—

पुरुषकार	दशपादीवृत्ति
करोति कृणोति करतीति वा कारुः इति च कस्याञ्चिदुणादिवृत्तौ दृश्यते। पृष्ठ ३८।	करोति कृणोति करति वा कारुः। पृष्ठ ५३।

४—आचार्य हेमचन्द्र (१२वीं शती उत्तरार्ध) ने स्वोपज्ञ उणादिवृत्ति में दशपादी के अनेक पाठों का नाम निर्देश के विना उल्लेख किया है। यथा—

हैमोणादिवृत्ति	दशपादीवृत्ति
केचित् ⋯⋯ प्रत्ययस्य दीर्घत्वमिच्छन्ति । सिमीकः—सूक्ष्मकृमिः । सूत्र ४४ ।	स्यमेर्घातोः किकन् प्रत्ययो भवति, सम्प्रसारणं च प्रत्ययस्य । सिमीकः सूक्ष्मा कृमिजातिः । पृष्ठ १३५ ।
ख—परिवत्सरादीन्यपि वर्ष-विशेषाभिधानानीत्येके । सूत्र ४३६, पृष्ठ ७८ ।	एवं परिवत्सरः विवत्सरः, इद्वत्सरः, इदावत्सरः । इद्वत्सरः अयनद्वयविषयः । पृष्ठ ३२५ ।

इसी प्रकार हैम धातुपारायण में भी दशपादीवृत्ति के पाठ बहुत्र निर्दिष्ट हैं ।

५—क्षीरस्वामी ने स्वकीय क्षीरतरङ्गिणी में बहुत्र दशपादी-वृत्ति से सहायता ली है । दोनों के पाठ बहुत्र एक समान हैं । कहीं-कहीं एके आदि द्वारा परोक्ष रूप से दशपादीवृत्ति की ओर संकेत भी किये हैं । यथा—

क्षीरतरङ्गिणी	दशपादीवृत्ति
जनिदाच्यु (उ० ४।१०४) इति मत्सः । मच्छ इत्येके ।	जनिदाच्यु⋯(द० उ० १०।१५) ⋯माद्यतीति मच्छः-मत्तः पुरुषः ।

६—काशिकावृत्ति का रचयिता वामन (वि० सं० ६९५) तृतीया कर्मणि (६।२।४८) सूत्र की व्याख्या में प्रसंगवश दशपादी-वृत्ति की ओर संकेत करता है—

काशिका	दशपादीवृत्ति
आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्चेति अहिरन्तोदात्तो व्युत्पादितः । केचित्त्वाद्युदात्तमिच्छन्ति । पृष्ठ ५५१ । द्रष्टव्य—ते समानेभ्यः स चोदात्त इत्युदात्तग्रहणमनुवर्तयन्ति । न्यास भाग २, पृष्ठ ३५३	आङ्युपपदे श्रि हनि इत्येताभ्यां धातुभ्यामिण् प्रत्ययो भवति डिच्च, ह्रस्वश्च, पूर्वपदस्य चोदात्तः । पृष्ठ ४१ ।[1]

१. यह पृष्ठ संख्या हमारे द्वारा सम्पादित दशपादी उणादिवृत्ति की है । आगे भी इसी प्रकार जोड़ें ।

दशपादीवृत्ति का वैशिष्टय—दशपादीवृत्ति में अनेक वैशिष्टय हैं। उसका निर्देश हमने यथास्थान स्वसम्पादित दशपादीवृत्ति में किया है। मुख्य वैशिष्टय इस प्रकार हैं—

१—यह वृत्ति उपलभ्यमान सभी उणादिवृत्तियों में प्राचीनतम है।

२—कौनसा शब्द किस धातु से किस कारक में व्युत्पाद्य है, यह इस वृत्ति में सर्वत्र स्पष्ट रूप से दर्शाया है। यथा—

'ऋच्छत्यर्यते वा ऋतुः कालः ग्रीष्मादिः, स्त्रीणां च पुष्पकालः। कर्त्ता कर्म च।' पृष्ठ ८२।

३—पाणिनीय धातुपाठ के साम्प्रतिक पाठ में अनुपलभ्यमान बहुत सी धातुओं का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

क—'कृ करणे भौ०। करोति कृणोति करति वा कारुः।' पृष्ठ २५३।

ख—'धूञ् कम्पने सौ० क्र्य०, धू विधूनने भौ०। धूनोति धुनाति धुवति वा धुवकः। पृष्ठ १२९, १३०।

इन पाठों में कृ और धू धातु का भ्वादिगण में पाठ दर्शाया है, परन्तु पाणिनीय धातुपाठ के साम्प्रतिक पाठ में ये भ्वादि में उपलब्ध नहीं होतीं।[1]

४—इस वृत्ति में **एके केचित् अन्ये** शब्दों द्वारा बहुत्र पूर्व वृत्तिकारों के मत उद्धृत हैं।[2]

५—इस वृत्ति में पृष्ठ २९, १२४, १९१, १९२, २३६ पर किसी ऐसे प्राचीन कोष के ६ श्लोक उद्धृत हैं, जिनमें वैदिक पदों का संग्रह भी था। पृष्ठ १९१, १९२ में जो श्लोक उद्धृत हैं वे **तरसान** और **मन्दसान** शब्द वेद विषयक हैं।

६—इसमें पृष्ठ १०४ पर **लुग्लोपे न प्रत्ययकृतम्** तथा पृष्ठ २३७

---

१. इनमें से 'कृञ्' का भ्वादिगण में पाठ क्षीरतरङ्गिणी (१। ६३९) में उपलब्ध होता है, परन्तु 'धू' का भ्वादिगण में दर्शन वहां भी नहीं होता।

२. एके पृष्ठ ५६, २६७, ३१८। केचित् २२२, २९३। अन्ये ३९७।

पर **धुटां तृतीयश्चतुर्थेषु** ये दो कातन्त्र व्याकरण के सूत्र उद्धृत हैं। कातन्त्र में ये सूत्र क्रमशः ३।८।२८, ८ पर हैं।

७--इसके पृष्ठ १३२ पर किसी काव्य का **धमः काञ्चनस्येव राशिः** वचन उद्धृत है।[1]

दशपादीवृत्ति के उद्धरण—दशपादीवृत्ति के उद्धरण साक्षात् नाम निर्देश द्वारा अथवा एके अपरे शब्दों द्वारा निम्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं—

१—सिद्धान्त चन्द्रिका-सुबोधिनी टीका
२—उणादि प्रकरण व्युत्पत्तिसार टीका
३—अज्ञातनामा दशपादीवृत्ति
४—औणादिक पदार्णव
५—सिद्धान्तकौमुदीटीका-तत्त्व-बोधिनी
६—सिद्धान्तकौमुदीटीका प्रौढ-मनोरमा
७—नरसिंहदेवकृत भाष्यटीका-विवरण (छलारी—टीका)
८—प्रक्रियाकौमुदीटीका
९—माधवीया धातुवृत्ति
१०—देवराजयज्वा कृत निघण्टु-टीका
११—दैवटीका-पुरुषकार
१२—हैम-उणादि वृत्ति
१३—हैम-धातुपारायण
१४—क्षीरस्वामी-क्षीरतरङ्गिणी
१५—न्यास-काशिकाविवरण-पञ्जिका
१६—काशिकावृत्ति

इनमें से संख्या ३, ४ और १४ के ग्रन्थों में उद्धृत पाठों के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थों में उद्धृत पाठों का निर्देश हमने स्व-सम्पादित दशपादीवृत्ति में यथास्थान कर दिया है। संख्या ३,४ तथा १४ के ग्रन्थ हमारे द्वारा सम्पादित संस्करण के पश्चात् उपलब्ध हुए वा छपे है।

२—अज्ञातनाम (वि० सं० १२०० से पूर्व)

दशपादी उणादिपाठ की किसी अज्ञातनाम लेखक की वृत्ति उपलब्ध होती है। इस वृत्ति का एक मात्र हस्तलेख काशी के

१. तुलना करो—'धान्तो धातुः पावकस्येव राशिः' क्षीरतरङ्गिणी द्वारा उद्धृत पाठ पृष्ठ १३६ तथा इसकी टिप्पणी ३, ४, ५।

सरस्वती भवन के संग्रह में सुरक्षित है। हमने इस वृत्ति का अव-लोकन सन् १९४० में किया था और उसी समय हमने इसकी प्रति-लिपि की थी। तात्कालिक पुस्तकालयाध्यक्ष श्री पं० नारायण शास्त्री खोस्ते के कथनानुसार उक्त हस्तलेख उन्होंने 'इन्दौर' से प्राप्त किया था।

यह हस्तलेख नवम पाद के १९वें सूत्र के अनन्तर खण्डित है और मध्य में भी बहुत जीर्ण होने से त्रुटित है। हस्तलेख के अक्षर-विन्यास तथा कागज की अवस्था से विदित होता है कि हस्तलेख किसी महाराष्ट्रीय लेखक द्वारा लिखित है और लगभग १५० वर्ष प्राचीन है।

काल—वृत्तिकार के नाम आदि का परिज्ञान न होने से इसका देश काल अज्ञात है। इस वृत्ति की उणादिसूत्रों की अन्य वृत्तियों से तुलना करने पर विदित होता है कि यह वृत्ति पूर्व निर्दिष्ट दशपादी वृत्ति के आधार पर लिखी गई है। इसके साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि यह वृत्ति हेमचन्द्र विरचित उणादिवृत्ति से पूर्ववर्ती है। हमारे इस अनुमान में निम्न प्रमाण है—

दशपादी उणादि का एक सूत्र है—**धेट ई च** (५।४३)। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए माणिक्यदेव ने **धेना** शब्द का व्युत्पादन इस सूत्र से माना है। परन्तु इस अज्ञातनामा वृत्तिकार ने **धयन्ति तामिति धीना सरस्वती माता च** निर्देश करके **धीना** शब्द का व्युत्पा-दन स्वीकार किया है। हेमचन्द्र ने स्वोपज्ञ उणादिवृत्ति में लिखा है—**ईत्वं चेत्येके; धीना**। सूत्र २६८, पृष्ठ ४६।

उणादिवाङ्मय में सम्प्रति ज्ञात वृत्तिग्रन्थों में अकेली यही वृत्ति है, जिसमें **धीना** शब्द का साधुत्व दर्शाया है। अन्य सब वृत्तियों में **धेना** शब्द का ही निर्देश किया है। इसलिए हेमचन्द्र ने **एके** शब्द द्वारा इस वृत्ति की ओर संकेत किया है, ऐसा हमारा अनुमान है। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो इस वृत्ति का काल वि० सं० १२०० से पूर्व होगा।

३. विट्ठलार्य (वि० सं० १५२०)

विट्ठल ने अपने पितामह रामचन्द्र विरचित **प्रक्रियाकौमुदी** पर

प्रसाद नाम की टीका लिखी है। इसी टीका में उणादि-प्रकरण में दशपादी उणादि पाठ पर एक अति संक्षिप्त व्याख्या लिखी है।

परिचय—विट्ठल के पिता का नाम नृसिंह और पितामह का नाम रामचन्द्र था। विट्ठल ने व्याकरण शास्त्र का अध्ययन शेषकृष्ण के पुत्र रामेश्वर अपर नाम वीरेश्वर से किया था।

काल—विट्ठल कृत प्रसाद टीका का वि० सं० १५३६ का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के संग्रहालय में सुरक्षित है। अतः विट्ठल ने यह टीका वि० सं० १५२०-१५३० के मध्य लिखी होगी।

विट्ठल तथा उसके पितामह के विषय में हम इस ग्रन्थ के १६वें अध्याय में 'प्रक्रिया कौमुदी' के प्रकरण में लिख चुके हैं।

इस प्रकार दशपादी उणादि पाठ के तीन ही वृत्ति ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं। भट्टोजि दीक्षित द्वारा पञ्चपादी का आश्रयण कर लेने से उत्तरकाल में पञ्चपादी पाठ का ही पठन-पाठन अधिक होने लगा। इस कारण दशपादी पाठ और उसके वृत्ति ग्रन्थ प्रायः उत्सन्न से हो गये।

५—कातन्त्रकार (वि० सं० २००० से पूर्व)

उणादिसूत्र प्रवक्ता—कात्यायन (विक्रम समकाल)

कातन्त्र व्याकरण के मूल प्रवक्ता ने कृदन्त शब्दों का अन्वाख्यान नहीं किया था। अतः कृदन्त भाग का प्रवचन कात्यायन गोत्रज वररुचि ने किया। यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में कातन्त्र के प्रकरण में लिख चुके हैं। कातन्त्र व्याकरण से सम्बद्ध एक उणादिपाठ उपलब्ध होता है। उणादिसूत्र कृदन्त भाग के परिशिष्ट रूप हैं। अतः कातन्त्र संबद्ध उणादिपाठ का प्रवचन भी कात्यायन वररुचि ने ही किया था, यह स्पष्ट है। यह कात्यायन वररुचि महाराज विक्रम के नवरत्नों में अन्यतम है।

उणादिसूत्र-पाठ पर विचार—कातन्त्र व्याकरण से संबद्ध उणादि पाठ के विषय में डा० बेल्वल्कर महोदय ने लिखा है कि 'कृत्सूत्रों'

में उणादिपाठ पीछे से प्रक्षिप्त हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि दुर्गसिंह की वृत्ति में उणादिसूत्र पठित नहीं हैं।[1] बेल्वल्कर के इस कथन का डा० जानकी प्रसाद द्विवेद ने अपने 'कातन्त्रव्याकरणविमर्श' नामक शोध प्रबन्ध में समुचित उत्तर दिया है।

काश्मीर-बंग-मद्रास-पाठ—डा० द्विवेद के लेखानुसार काश्मीर पाठ में **उणादयो भूतेऽपि दृश्यन्ते** सूत्र कृत्प्रकरण में पञ्चम पाद के आरम्भ में पठित है और उसी के आधार पर इस पाद को 'उणादि-पाद' संज्ञा है। बंगपाठ में यह सूत्र चतुर्थपाद के अन्त (४।४।६७) में उपलब्ध होता है।[2]

वृत्तिकार दुर्गसिंह (वि० सं० ६००–६८० के मध्य)

इस उणादिपाठ पर कातन्त्र के व्याख्याता दुर्गसिंह (दुर्गसिंह) की वृत्ति मिलती है। यह वृत्ति मद्रास विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुकी है।

कातन्त्र के दुर्गनामा दो व्याख्याकार प्रसिद्ध हैं—एक वृत्तिकार, दूसरा वृत्तिटीकाकार। यह दुर्गसिंह वृत्तिकार दुर्गसिंह है। वृत्तिकार दुर्गसिंह काशिका वृत्तिकार से पूर्ववर्ती है, यह हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग कातन्त्र वृत्तिकार दुर्गसिंह के प्रकरण में लिख चुके हैं।

बङ्गाक्षरों में प्रकाशित दुर्गसिंह वृत्ति सहित उणादिपाठ में पांच पाद हैं और सूत्र संख्या २६७ है। डा० चिन्तामणि द्वारा मद्रास से प्रकाशित उणादिपाठ में छः पाद हैं और सूत्र संख्या ३९९ है। बङ्गाक्षर संस्करण में दुर्गसिंह की व्याख्या संक्षिप्त है और मद्रास संस्करण में दुर्ग व्याख्या विस्तृत है।[3]

हमने इस ग्रन्थ में पहले (संस्क० १-३) मद्रास संस्करण को ही आधार मान कर विवेचना की थी। अन्य पाठों का उस समय हमें ज्ञान नहीं था।

---

१. सिस्टम्स् आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ८५। उद्धृत कातन्त्र व्याकरण विमर्श, पृष्ठ ३८।
२. कातन्त्र व्याकरण विमर्श, पृष्ठ ३८।
३. कातन्त्र व्याकरण विमर्श, पृष्ठ १३८, १३९।

सर्वधर उपाध्याय, रमानाथ

पं० गुरुपद हालदार ने लिखा है—दुर्गसिंह की दृष्टि लेकर सर्वधर उपाध्याय ने उपाध्याय सर्वस्व में उणादिपाठ के सकल सूत्रों की व्याख्या की है। रमानाथ चक्रवर्ती ने सार निर्णय में उपाध्याय सर्वस्व का अनुसरण किया है।[1]

इन दो वृत्तिकारों के विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं है।

प्राचीनतम हस्तलेख—कातन्त्र उणादिपाठ का वि० सं० १२३१ का एक हस्तलेख पाटन के ग्रन्थभण्डार में विद्यमान है। यह ज्ञात हस्तलेखों में सब से प्राचीन है।

६—चन्द्राचार्य (वि० सं० १००० से पूर्व)

आचार्य चन्द्र ने स्वोपज्ञ व्याकरण से संबद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया था। इस उणादिपाठ को लिबिश ने स्वसम्पादित चान्द्र व्याकरण में उदाहरण-निर्देश पूर्वक छपवाया है।

चन्द्रगोमी के परिचय तथा काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३६८-३७० (च० सं०) पर विस्तार से लिख चुके हैं।

संकलन प्रकार—चन्द्रगोमी ने अपने उणादिपाठ को तीन पादों में विभक्त किया है। इस पाठ का संकलन दशपादी के समान अन्त्य-वर्ण क्रम से किया है। तृतीय पाद के अन्त में कुछ प्रकीर्ण शब्दों का संग्रह मिलता है।

ब-व का अभेद—चन्द्रगोमी ने अन्तस्थ वकारान्त **गर्व शर्व अश्व लट्वा** प्रभृति शब्दों का निर्देश भी पवर्गीय बान्त प्रकरण में किया है। इससे विदित होता है कि चन्द्रगोमी बंगदेशवासी है। अतएव वह पवर्गीय ब तथा अन्तस्थ व में भेदबुद्धि न रख सका।

---

१. दुर्गसिंहेर दृष्टि लइया उपाध्याय सर्वस्वे सर्वधर उपाध्याय एइ सकल सूत्र व्याख्या करिया छेन। रमानाथ चक्रवर्तीर साररनिर्णये उपाध्याय सर्वस्व अनुसृत हइया छे। व्याकरणदर्शनेर इतिहास, पृष्ठ ५७०।

वृत्ति—लिबिश ने अपने संस्करण में सूत्रों के साथ तत्साध्य शब्दों का अर्थ-सहित निर्देश किया है। इससे विदित होता है कि उसने इस भाग का सम्पादन किसी वृत्ति के आधार पर किया है। यह वृत्ति संभवतः आचार्य चन्द्र की स्वोपज्ञ होगी। उज्ज्वलदत्त ने उणादिवृत्ति २।६६ (पृष्ठ ६३) में लिखा है—

'केचिदिह वृद्धिं नानुवर्तयन्ति इति चन्द्रः।

इससे चन्द्राचार्य विरचित वृत्ति का सद्भाव स्पष्ट बोधित होता है।

७—क्षपणक (वि० प्रथम शती का)

आचार्य क्षपणक प्रोक्त शब्दानुशासन तथा तत्संबद्ध वृत्ति तथा महान्यास का निर्देश हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में कर चुके हैं। वहीं क्षपणक के काल का निर्देश भी किया जा चुका है।

क्षपणक व्याकरण से संबद्ध कोई उणादिपाठ था और उस पर कोई वृत्ति भी थी इसका परिज्ञान उज्ज्वलदत्तीय उणादिवृत्ति से होता है। उज्ज्वलदत्त उणादि १।१५८ सूत्र की वृत्ति के अन्त में लिखता है—**क्षपणक वृत्तावत्रेतिशब्द आद्यर्थे व्याख्यातः।** (पृष्ठ २०)

यह उणादिपाठ और उसकी वृत्ति निश्चय ही आचार्य क्षपणक की है यह उणादिपाठ और वृत्तिग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य है।

८—देवनन्दी (वि० सं० ५०० से पूर्व)

आचार्य देवनन्दी ने स्वोपज्ञ व्याकरण से संबद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया था। इसकी स्वतन्त्र पुस्तक इस समय अप्राप्य है। अभयनन्दी की महावृत्ति में इसके अनेक सूत्र उद्धृत हैं।[1]

---

१. द्र०—पृष्ठ ३, १७, ११८, ११९ आदि। विशेष द्र०—जैनेन्द्र व्याकरण महावृत्ति के आरम्भ में 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिलपाठ' शीर्षक हमारा लेख।

काल—देवनन्दी के काल के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४९०-४९७ (च० सं०) पर लिख चुके हैं।

जैनेन्द्र-उणादि पाठ का आधार—जैनेन्द्र व्याकरण से पूर्व पञ्च-पादी और दशपादी उणादि पाठ विद्यमान थे। पञ्चपादी के प्राच्य औदीच्य तथा दाक्षिणात्य तीनों पाठ भी जैनेन्द्र से पूर्ववर्ती हैं। महावृत्ति में उद्धृत कतिपय सूत्रों की इन पूर्ववर्ती उणादिपाठों के सूत्रों से तुलना करने पर विदित होता है कि जैनेन्द्र उणादिपाठ पञ्चपादी के प्राच्यपाठ पर आश्रित है। इस अनुमान में निम्न हेतु है—

अभयनन्दी ने १।१।७५ सूत्र की वृत्ति में एक उणादि-सूत्र उद्धृत किया है—**अस् सर्वधुभ्यः**।

पञ्चपादी प्राच्यपाठ—**सर्वधातुभ्योऽसुन्** ।४।१८८।।
,, औदीच्यपाठ—**असुन्**। क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ ९३।
,, दाक्षिणात्यपाठ—**असुन्**। श्वेत० ४।१९४।
दशपादी पाठ —**असुन्**। ९।४९।

अभयनन्दी द्वारा उद्धृत पाठ पञ्चपादी के प्राच्य पाठ से प्राय: पूरी समानता रखता है। अन्य पाठों में **सर्वधातुभ्यः** अंश नहीं है।

वृत्ति—मूल सूत्रपाठ के ही अनुपलब्ध होने पर तत्संबन्धी वृत्ति के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं, पुनरपि आचार्य देवनन्दी द्वारा स्वीय धातुपाठ और लिङ्गानुशासन पर लिखे गये व्याख्या ग्रन्थों[1] के विषय में अनेक प्रमाण उपलब्ध होने से इस बात की पूरी संभावना है कि आचार्य ने स्वीय उणादिपाठ पर भी कोई व्याख्या लिखी हो।

---

१. धातुपाठ पर लिखे गए धातुपारायण ग्रन्थ के विषय में इसी भाग के पृष्ठ १२७-१२८ पर देखें। लिङ्गानुशासन की व्याख्या के लिए लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता और व्याख्याता अध्याय देखें।

९—वामन (वि० सं० ३५० अथवा ६०० से पूर्व)

वामन विरचित शब्दानुशासन के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में लिख चुके हैं। वामन ने स्वशास्त्र-संबद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया होगा, और उस पर स्वशब्दानुशासनवत् वृत्ति भी लिखी होगी, इसमें सन्देह की स्थिति नहीं। वामन का उणादिपाठ इस समय अज्ञात है।

१०—पाल्यकीर्ति (वि० सं० ८७१–९२४)

आचार्य पाल्यकीर्ति के व्याकरण और उसकी वृत्तियों का वर्णन हम 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७वें अध्याय में कर चुके हैं। पाल्यकीर्ति ने स्वोपज्ञ तन्त्र संबद्ध उणादिसूत्रों का भी प्रवचन किया था, यह उसके निम्न सूत्रों से स्पष्ट है—

संप्रदानाच्चोणादयः ।४।३।५७ ॥

उणादयः ।४।३।२८०

शाकटायनीय लिङ्गानुशासन की टीका में लिखा है—

उणादिषु थप्रत्ययान्तो निपात्यते। हर्षीय लिङ्गानुशासन परिशिष्ट, पृष्ठ १२५।

चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति के रचयिता यक्षवर्मा ने भी स्ववृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है—'**उणादिकान् उणादौ**...'(श्लोक ११)।

इन प्रमाणों से पाल्यकीर्ति-प्रोक्त उणादिपाठ की सत्ता स्पष्ट है। पाल्यकीर्ति प्रोक्त उणादिपाठ इस समय अप्राप्य है।

११—भोजदेव (वि० सं० १०७५–१११०)

भोजदेवप्रोक्त **सरस्वतीकण्ठाभरण** नामक शब्दानुशासन का वर्णन हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में कर चुके हैं।

भोजीय-उणादिपाठ—भोजदेव ने अपने व्याकरण से संबद्ध उणादि सूत्रों का प्रवचन किया है। यह उणादिपाठ उसके सरस्वती-कण्ठाभरण व्याकरण के द्वितीय अध्याय के १-२-३ पादों में पठित है।

भोज का साहस—प्राचीन आचार्यों ने धातुपाठ गणपाठ उणादि सूत्र आदि का शब्दानुशासन के खिलपाठों के रूप में प्रवचन किया था। इस पृथक् प्रवचन के कारण व्याकरणाध्येता प्रायः शब्दानुशासन मात्र का अध्ययन करके खिलपाठों की उपेक्षा करते थे। उससे उत्पन्न होनेवाली हानि का विचार करके महाराज भोजदेव ने अत्यधिक उपेक्ष्य गणपाठ और उणादिपाठ को अपने शब्दानुशासन के अन्तर्गत पढ़ने का सत्साहस किया। परन्तु भोजीय शब्दानुशासन के पठनपाठन में प्रचलित न होने से उसका विशेष लाभ न हुआ।

वृत्तिकार

१. **भोजदेव**—हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में लिखा है कि भोजदेव ने स्वीय शब्दानुशासन पर कोई व्याख्या ग्रन्थ लिखा था। यतः भोजीय उणादिसूत्र उसके शब्दानुशासन के अन्तर्गत है, अतः इन सूत्रों पर भी उक्त व्याख्या ग्रन्थ रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं।

२. **दण्डनाथ**—दण्डनाथ ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर हृदयहारिणी नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित होनेवाले सव्याख्य सरस्वतीकण्ठाभरण के तृतीय भाग में छप चुकी है। दण्डनाथकृत उणादि प्रकरण की व्याख्या मद्रास से पृथक् भी प्रकाशित हुई है।

३. **रामसिंह**—रामसिंह ने सरस्वतीकण्ठाभरण की रत्नदर्पण नाम्नी व्याख्या लिखी थी।

४ **पदसिन्धुसेतुकार**—किसी अज्ञातनामा वैयाकरण ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर पदसिन्धुसेतु नाम का प्रक्रियाग्रन्थ लिखा था।

इन व्याख्याकारों के विषय में हम प्रथम भाग में यथास्थान लिख चुके हैं।

१२—बुद्धिसागर सूरि (वि० सं० १०८०)

आचार्य बुद्धिसागर सूरि प्रोक्त **बुद्धिसागर** व्याकरण का उल्लेख प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक' १७वें अध्याय में कर चुके हैं। इस व्याकरण का नाम **पञ्चग्रन्थी** भी है। इस नाम से ही स्पष्ट है कि बुद्धिसागर सूरि ने शब्दानुशासन के साथ-साथ चार खिल पाठों का भी प्रवचन किया था। इन खिल-पाठों में एक उणादिपाठ भी अवश्य रहा होगा।

बुद्धिसागर सूरि ने अपने व्याकरण के सभी अङ्गों पर स्वयं व्याख्या ग्रन्थ भी लिखे थे।

१३—हेमचन्द्र सूरि (वि० सं० ११४५-१२२९)

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण से संबद्ध उणादिपाठ का प्रवचन किया था, और उस पर स्वयं **विवृति** लिखी थी।[1] हस्तलेखों के अन्त में विवरण शब्द से भी इसका निर्देश मिलता है।[2]

यह उणादिपाठ सबसे अधिक विस्तृत है। इसमें १००६ सूत्र हैं। इसकी व्याख्या भी पर्याप्त विस्तृत हैं। इसका परिमाण २८०० अट्ठाईस सौ श्लोक हैं।[3]

अन्य वृत्ति—हैमोणादिवृत्ति के सम्पादक जोहन किर्स्टे ने उपोद्घात पृष्ठ २ V. संकेतित एक हस्तलेख का वर्णन किया है।[4] उसकी मुद्रितपाठ से जो तुलना दर्शाई है,[4] उससे विदित होता है कि उक्त हस्तलेख हेमचन्द्र की बृहद्वृत्ति का संक्षेपरूप है।

इस वृत्ति का नाम **उणादिगणसूत्रावचूरि** है। लेखक का नाम अज्ञात है। हैम व्याकरण के धातुपाठ पर एक **अवचूरि** टीका विक्रम

---

१. आचार्यहेमचन्द्रः करोति विवृतिं प्रणम्यार्हम्। प्रारम्भिक श्लोक।

२. इत्याचार्यहेमचन्द्रकृतं स्वोपज्ञोणादिगणविवरणं समाप्तम्॥ छ॥ ग्रन्थमाने शत २८०० अष्टविंशति शतानि।········ हैमोणादिवृत्ति, जोहन किर्स्टे सम्पा०, उपोद्घात पृष्ठ १।

३. द्र०—उक्त टिप्पणी २।

४. हैमोणादिभूमिका पृष्ठ २।

विजयमुनि ने सम्पादित करके प्रकाशित की है। इस ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकर्त्ता का नाम अनुल्लिखित है। हस्तलेख के अन्त में **जयवीरगणिनाऽलेखि** निर्देश मिलता है। यह प्रतिलिपिकर्ता का नाम प्रतीत होता है। हैम लिङ्गानुशासन पर भी एक **अवचूरि** नाम्नी व्याख्या छपी हुई उपलब्ध होती है। इसके लेखक का नाम कनकप्रभ है।

हैम उणादिविवरण के सम्पादक ने उणादिगणसूत्रावचूरि के हस्तलेख के अन्त्य त्रुटितपाठ की पूर्ति इस प्रकार की है—**सम्पूर्णा [वजयशीलगणिनालेखि]** ॥ शुभं······।[1]

उणादिनाममाला—इस उणादिवृत्ति के लेखक का नाम शुभशील है। इसका काल वि० की १५वीं शती का उत्तरार्ध है।

१४—मलयगिरि

आचार्य मलयगिरि के व्याकरण का परिचय हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७वें अध्याय में दे चुके हैं। उसने उणादिसूत्रों का भी प्रवचन किया था, पर सम्प्रति वे उपलब्ध नहीं है।

१५—क्रमदीश्वर (वि० सं० १३०० से पूर्व)

क्रमदीश्वरप्रोक्त संक्षिप्तसार अपरनाम जौमर व्याकरण के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से उत्तरवर्त्ती वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में लिख चुके हैं। क्रमदीश्वर ने स्वतन्त्र स्वशास्त्र संबद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया था।

वृत्तिकार

१. **क्रमदीश्वर-जुमरनन्दी**—क्रमदीश्वर ने स्वीय शब्दानुशासन पर एक वृत्ति लिखी है, जिसका परिशोधन जुमरनन्दी ने किया है। उसी के अन्तर्गत उणादिसूत्रों पर भी वृत्ति है। इसका एक हस्तलेख

---

१. हैमोणादि भूमिका, पृष्ठ २।

लन्दन के इण्डिया आफिस पुस्तकालय के संग्रह में है। उसके अन्त का पाठ इस प्रकार है—

'इति श्रीक्रमदीश्वरकृतौ जुमरनन्दिपरिशोधितायां वृत्तौ उणादिपादः समाप्तः।'[1]

शिवदास—शिवदास चक्रवर्ती ने जौमर व्याकरण से सम्बद्ध उणादिपाठ पर एक वृत्ति लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र के पृष्ठ ७६०६ पर निर्दिष्ट है। इसका दूसरा हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग १, खण्ड २, संख्या ७७१ पर उल्लिखित है। तीसरा अडियार संग्रह के व्याकरण विभागीय सूचीसंख्या ७१६ पर निर्दिष्ट है।

उणादि परिशिष्ट तथा वृत्ति—अडियार संग्रह व्याकरण शास्त्रीय ग्रन्थसूची सं० ७१७ पर क्रमदीश्वरकृत **उणादिपरिशिष्ट** का निर्देश है, और संख्या ७१८ पर **उणादिपरिशिष्टवृत्ति** का निर्देश मिलता है।

१६—मुग्धबोध सम्बद्ध उणादि-पाठ

वोपदेव कृत मुग्धबोध व्याकरण का विवरण हम प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में प्रस्तुत कर चुके हैं। मुग्धबोध व्याकरण से सम्बद्ध एक उणादिपाठ भी है।

इस उणादिपाठ और उसकी वृत्ति के विषय में डा० शन्नोदेवी (देहली) ने 'वोपदेव का संस्कृत व्याकरण को योगदान' नामक अपने शोधप्रबन्ध में पृष्ठ ४३७-४३६ तक लिखा है। इसके विषय में हम प्रथम भाग में वोपदेवीय मुग्धबोध व्याकरण के प्रसंग में लिख चुके हैं।

---

१. इण्डिया आफिस पुस्तकालय, सूचीपत्र भाग १, खण्ड २, संख्या ८३६।

१७—सारस्वत-व्याकरणकार (वि० सं० १३०० के समीप)

सारस्वत व्याकरण से संबद्ध उणादिसूत्र उपलब्ध होते हैं। इन का प्रवक्ता अनुभूतिस्वरूपाचार्य है। इसमें केवल ३३ सूत्र हैं।

१८—रामाश्रम (वि० सं० १७४१ से पूर्व)

रामाश्रम ने सारस्वत का 'सिद्धान्त चन्द्रिका' नाम से जो रूपान्तर किया, उसके उणादिसूत्रों की ३७० संख्या है। तथा यह पांच पादों में विभक्त है।

व्याख्याकार

१. **रामाश्रम**—रामाश्रम ने सारस्वत सूत्रों पर **सिद्धान्तचन्द्रिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। उसमें उणादिसूत्रों की भी यथास्थान व्याख्या की है। यह रामाश्रम भट्टोजि दीक्षित का पुत्र भानुजि दीक्षित ही है, ऐसा ग्रन्थकारों का मत है।[1] यदि यह मत ठीक हो तो इसका काल वि० सं० १६५० के लगभग होगा।

२. **लोकेशकर**—लोकेशकर ने सिद्धान्तचन्द्रिका पर **तत्त्वदीपिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। उसमें यथाप्रकरण उणादिसूत्र व्याख्यात हैं।

लोकेशकर के पिता का नाम क्षेमकर और पितामह का नाम रामकर था।

३. **सदानन्द**—सदानन्द ने सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका का अनुसरण करके सिद्धान्तचन्द्रिका पर **सुबोधिनी** नाम्नी एक टीका लिखी है। यह टीका पूर्वनिर्दिष्ट तत्त्वदीपिका से अच्छी है।

सदानन्द ने सुबोधिनी की रचना वि० सं० १७९९ में की थी। लोकेशकर और सदानन्द की दोनों टीकाएं काशी से प्रकाशित हो चुकी हैं।

४. **व्युत्पत्तिसारकार**—किसी अज्ञातनामा लेखक की **व्युत्पत्तिसार** नाम की एक व्याख्या इस उणादि पर मिलती है। इसके लेखक

---

१. काशी मुद्रित सारस्वतचन्द्रिका भाग २ की भूमिका, पृष्ठ २।

ने सम्पूर्ण सिद्धान्तचन्द्रिका पर व्याख्या लिखी, अथवा उणादिभाग मात्र पर यह अज्ञात है।

देश—इस व्याख्या का लेखक पञ्जाब प्रान्त का निवासी है, यह इस वृत्ति में पञ्जाबी शब्दों के निर्देश से व्यक्त होता है यथा—

छज्ज इति भाषा पृष्ठ ७७, **अक्क** पृष्ठ ८०, **सरों** पृष्ठ ८८, **इट्टां** पृष्ठ ९०, **चिक्कड़** पृष्ठ १११, **छानणी** पृष्ठ १५२।[1]

काल—इस वृत्ति का एक हस्तलेख भूतपूर्व लालचन्द पुस्तकालय डी० ए० वी० कालेज लाहौर, वर्तमान में विश्वेश्वरानन्द अनुसन्धान विभाग होशियारपुर में विद्यमान है। उसके अन्त में निम्न पाठ है—

'१९३० मास ज्येष्ठशुदि चतुर्दश्यां तिथौ लिपि कृतं गणपतिशर्मणा।'

इस निर्देश से इतना स्पष्ट है कि इस व्याख्या की रचना वि० सं० १९३० से पूर्व हुई है। यह व्याख्या पूर्वनिर्दिष्ट, सुबोधिनी से प्राय: मिलती है।

अन्य हस्तलेख—इसके एक हस्तलेख का निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। उसकी हमने स्वयं एक प्रतिलिपि की थी। तदनन्तर इसका एक हस्तलेख बारहदरी-शाहदरा लाहौर के समीप विरजानन्द आश्रम में निवास करते हुए हमें रावी के जलप्रवाह से प्राप्त कतिपय पुस्तकों के मध्य उपलब्ध हुआ था। यह हस्तलेख अपूर्ण है, और हमारे संग्रह में सुरक्षित है।

१९—पद्मनाभदत्त (वि० सं० १४००)

पद्मनाभदत्त के **सुपद्म** व्याकरण का उल्लेख इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में कर चुके हैं। पद्मनाभदत्त ने स्वीय-तन्त्र संबद्ध उणादिपाठ का भी प्रवचन किया था।

---

१. यह पृष्ठ संख्या हमारे हस्तलेख की है।

वृत्तिकार

१. पद्मनाभदत्त—पद्मनाभदत्त ने अपने उणादिसूत्रों पर स्वयं एक वृत्ति लिखी है। उसका एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग १, खण्ड २, संख्या ८९१ पर निर्दिष्ट है। उसका प्रारम्भ का पाठ इस प्रकार है—

'प्रणम्य गोपीजनवल्लभं हरिं सुपद्मकारेण विधीयतेऽधुना।
अचोऽस्त्वकादिक्रमतोऽज्झलयोरुणादिवृत्तेरिति सारसंग्रहः॥
बुधरुणादेर्बहुधा कृतोऽस्ति यो मनोषिदामोदरदत्तसूनुना।
सुपद्मनाभेन सुपद्मसम्मतं विधिः समग्रः सुगमं समस्यते॥

······गोपीजनवल्लभं प्रणम्य इदानीं सुपद्मकारेण उणादिवृत्तिरिति सारसंग्रहो विधीयते।'

पद्मनाभदत्त ने इस उणादिवृत्ति की सूचना अपनी परिभाषावृत्ति में भी दी है।

———

इस प्रकार विज्ञातसम्बन्ध उणादिपाठों के प्रवक्ताओं और व्याख्याताओं का वर्णन करके अनिर्ज्ञात-सम्बन्ध उणादिसूत्रों के वृत्तिकारों का वर्णन करते हैं—

अनिर्ज्ञातसंबन्ध वृत्ति वा वृत्तिकार

१. उत्कलदत्त

उत्कलदत्त विरचित उणादिवृत्ति का एक हस्तलेख 'मध्य प्रान्त और बरार' (सेण्ट्रल प्रोविंस एण्ड बरार) के हस्तलेख सूचीपत्र (सन् १९२६) के संख्या ४८७ पर निर्दिष्ट है।

इस वृत्ति के सम्बन्ध में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते। यह संभावना है कि कहीं नामभ्रंश से उज्ज्वलदत्त का उत्कलदत्त न बन गया हो।

२. उणादिविवरणकार

अलवर राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र में संख्या ११२४

पर एक उणादिटीका निर्दिष्ट है। इसके कर्ता का नाम अज्ञात है। टीका के आरम्भ का श्लोक इस प्रकार है—

विधाय गुरुपादयोः प्रणतिमार्तदुःखोच्छिदो यथामति,
विरच्यते विवरणं ह्युनाद्यकृतिः (ह्यु णाद्याकृतेः)।
समस्तबुधसदृशा प्रथितिमेतदेतु त्वरा,
परोपकृतिहेतुकं यदि समस्तमोदप्रदम् ॥ १ ॥

इस आद्य श्लोक से विदित होता है कि इस टीका का नाम **विवरण** है।

३. उणादिवृत्तिकार

मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र के पृष्ठ ७६०६ पर अनिर्ज्ञातकर्तृक उणादिवृत्ति का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है।

हरदत्त

आफ्रेक्ट ने अपनी बृहद् हस्तलेख सूची में हरदत्त विरचित **उणादिसूत्रोद्घाटन** नाम की वृत्ति का उल्लेख किया है। इसका उल्लेख हमें अन्यत्र कहीं नहीं मिला।

हरदत्त नाम का एक प्रसिद्ध वैयाकरण काशिका की पदमञ्जरी नाम्नी व्याख्या का लेखक है। उणादिसूत्रोद्घाटन का लेखक यदि यही हरदत्त हो, तो यह वृत्ति सम्भवतः पञ्चपादी पाठ पर रही होगी, और इसका काल वि० सं० १११५ होगा।

पदमञ्जरीकार हरदत्त ने परिभाषा पाठ पर **परिभाषा-प्रकरण** नामक एक ग्रन्थ लिखा था[1]। इससे इस बात की अधिक सम्भावना है कि यह वृत्ति पदमञ्जरीकार हरदत्त विरचित हो।

५. गङ्गाधर ६. व्रजराज

इन दोनों वैयाकरणों द्वारा विरचित उणादिवृत्ति का उल्लेख आफ्रेक्ट ने अपनी बृहद् हस्तलेख सूची में किया है। इनके विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

---

१. एतच्चास्माभिः परिभाषाप्रकरणाख्ये··· । पद० भाग २ पृष्ठ ४३७।

७. संक्षिप्तसारकार

संक्षिप्तसार नामक उणादिवृत्ति शब्दकल्पद्रुमकोश में बहुधा उद्धृत हैं। यथा 'राहु' शब्द पर, पृष्ठ १६०, कालम १; 'सिन' शब्द पर, पृष्ठ ३५२, कालम ३। सम्भव है कि यह 'संक्षिप्तसार' अपरनाम 'जौमर' व्याकरण से संबद्ध हो।

इस प्रकार उणादिसूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करके अगले अध्याय में हम लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करेंगे।

पच्चीसवां अध्याय

लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता और व्याख्याता

स्त्रीत्व पुंस्त्व आदि लिङ्ग जैसे प्राणिजगत् के प्रत्येक व्यक्ति के संस्थान के साथ संबद्ध हैं, उसी प्रकार स्त्रीत्व पुंस्त्व आदि लिङ्ग प्रत्येक नाम शब्द के अविभाज्य अङ्ग हैं। इसलिए लिङ्गानुशासन शब्दानुशासन का एक अवयव है। उसके अनुशासन के बिना शब्द का अनुशासन अधूरा रहता है। इतना होने पर भी लिङ्गानुशासन, धातुपाठ, गणपाठ और उणादिपाठ के समान शब्दानुशासन के किसी विशिष्ट सूत्र अथवा सूत्रों के साथ संबद्ध नहीं है। उसे तो शब्दानुशासन का साक्षात् अवयव ही मानना होगा। इसीलिए प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासन के प्रवक्ता ने स्व-तन्त्र-संबद्ध लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया। कतिपय ऐसे भी ग्रन्थकार हैं, जिन्होंने शब्दशास्त्र का प्रवचन न करते हुए लिङ्गज्ञान की कठिनाई को दूर करने के लिए केवल लिङ्गानुशासनों का ही प्रवचन किया। यथा हर्षवर्धन तथा वामन आदि ने।

अज्ञात लिङ्गानुशासन प्रवक्ता वा लिङ्गानुशासन

लिङ्गानुशासन पर जितने ग्रन्थ सम्प्रति ज्ञात हैं, उनमें से कुछ प्रवक्ताओं के नाम ज्ञात हैं, कुछ के अज्ञात। हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के मद्रास संस्करण के सम्पादक वे० वेङ्कटराम शर्मा ने प्रीफेस पृष्ठ XXXIV,V पर २३ ग्रन्थकारों वा ग्रन्थों का उल्लेख किया है। डा० श्री राम अवध पाण्डेय ने सम्मेलन पत्रिका (प्रयाग) वर्ष ४६, संख्या ३ में छपे 'संस्कृत में लिङ्गानुशासन साहित्य' शीर्षक लेख में ४१ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें से कतिपय नामों पर लेखक ने स्वयं सन्देह प्रकट किया है। हम इस प्रकरण में २८ ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण और १६ ग्रन्थों का नामतः उल्लेख प्रस्तुत करेंगे।[1]

---

१. हमारे द्वारा प्रकाशित यह रा० क० क० ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत) से प्राप्य है। वामनीय लिङ्गानुशासन सम्पादकीय में ३६ नामों का उल्लेख किया गया है।

प्राक्पाणिनीय लिङ्गानुशासन-प्रवक्ता

पाणिनि से पूर्ववर्ती जितने शब्दानुशासन-प्रवक्ताओं का हमें परिज्ञान है, उनमें से केवल दो ही आचार्य ऐसे हैं, जिन्होंने स्व-तन्त्र-संबद्ध लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया था। वे हैं शन्तनु और व्याडि।

अब हम परिज्ञात लिङ्गानुशासन प्रवक्ता और व्याख्याताओं का क्रमशः वर्णन करते हैं—

१—शन्तनु (वि० से ३१०० पूर्व)

आचार्य शन्तनु ने किसी पञ्चाङ्ग व्याकरण का प्रवचन किया था, यह हम फिट्सूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता नामक अध्याय में लिखेंगे। शान्तनव उणादिपाठ का निर्देश हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। आचार्य शन्तनु ने स्व-तन्त्र-संबद्ध किसी लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया था। इस बात की पुष्टि हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के सम्पादक वे० वेङ्कटराम शर्मा के उपोद्घात (पृष्ठ ३४) से होती है।

२—व्याडि (वि० से २८५० पूर्व)

आचार्य व्याडि प्रोक्त शब्दानुशासन के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ १४३-१४५ (च० सं०) तक लिख चुके हैं। व्याडि के परिचय देशकाल आदि के विषय में हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग (च० सं०) में पृष्ठ (२९८-३०५) तक विस्तार से प्रतिपादन किया है पाठक इस विषय में वहीं देखें।

लिङ्गानुशासन

आचार्य व्याडि विरचित लिङ्गानुशासन का उल्लेख अनेक लिङ्गानुशासन के प्रवक्ताओं ने किया है। यथा—

१. हेमचन्द्राचार्य स्वोपज्ञ लिङ्गानुशासन-विवरण में लिखता है—

'[शङ्कु–]पुंसि व्याडिः, स्त्रियां वामनः, पुन्नपुंसकोऽयमिति बुद्धिसागरः।' पृष्ठ १०३, पं० १४, १५।

२. वामन स्वीय लिङ्गानुशासन के अन्त में लिखता है—

'व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रं ......।' श्लोक ३१।

३. हर्षवर्धन स्वप्रोक्त लिङ्गानुशासन के अन्त में पूर्वाचार्यों का निर्देश करता हुआ लिखता है—

'व्याडेः शङ्करचन्द्रयोर्वररुचेर्विद्यानिधेः पाणिनेः।' श्लोक ८७।

इन उल्लेखों से आचार्य व्याडि का लिङ्गानुशासन-प्रवक्तृत्व स्पष्ट है। व्याडिप्रोक्त लिङ्गानुशासन की इतनी प्रसिद्धि होने पर भी हमें अद्य यावत् उसका कोई ऐसा उद्धरण नहीं मिला, जिससे उसके स्वरूप की साक्षात् प्रतिपत्ति हो सके। वामन के निम्न वचन से व्याडि-प्रोक्त लिङ्गानुशासन के विषय में कुछ प्रकाश पड़ता है—

सूत्रबद्ध—वामन ने स्वीय लिङ्गानुशासन की वृत्ति में लिखा है—

'पूर्वाचार्यैर्व्याडिप्रमुखैर्लिङ्गानुशासनं सूत्रैरुक्तं, ग्रन्थविस्तरेण च।' पृष्ठ २।

विस्तृत—व्याडि का लिङ्गानुशासन अति विस्तृत था। इसका निर्देश वामन ने स्वोपज्ञ वृत्ति के आरम्भ में भी किया है—

'व्याडिप्रमुखैः प्रपञ्चबहुलम्......।' पृष्ठ १।

इससे अधिक व्याडि के लिङ्गानुशासन के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

३—पाणिनि (वि० से २८०० पूर्व)

पाणिनि ने स्वशब्दानुशासन से संबद्ध लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया था। यह लिङ्गानुशासन सम्प्रति उपलब्ध है, और एतद्विषयक प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में यही अवशिष्ट है। यह सूत्रात्मक है।

कीथ का निर्युक्तिक कथन—कीथ ने विना किसी प्रकार की युक्ति वा प्रमाण उपस्थित किए लिखा है—

'पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध लिङ्गानुशासन इतना प्राचीन नहीं हो

सकता।"[1]

प्राचीन परम्परा—पाणिनीय तथा उत्तरवर्ती वैयाकरण सम्प्रदाय के सभी लेखक इस बात में पूर्ण सहमत हैं कि वर्तमान में पाणिनीय रूप से स्वीकृत लिङ्गानुशासन का प्रवक्ता आचार्य पाणिनि ही है। निदर्शनार्थ हम यहां हरदत्त का एक पाठ उद्धृत करते हैं—

'अप्सुमनःसमासिकतावर्षाणां बहुत्वं चेति पाणिनीयं सूत्रम्।' पदमञ्जरी भाग १, पृष्ठ ४६४।

यह पाणिनीय लिङ्गानुशासन का २६ वां सूत्र है। इसी प्रकार पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ २२ भी द्रष्टव्य है।

कात्यायन तथा पतञ्जलि—महाभाष्यकार ने ७।१।३३ में कात्यायन के **न वा लिङ्गाभावात्** वार्तिक की व्याख्या करते हुए लिखा है—**अलिङ्गे युष्मदस्मदी।**

कात्यायन के वार्तिक और पतञ्जलि के व्याख्यान की पाणिनीय लिङ्गानुशासन के **अवशिष्टं लिङ्गम्, अव्ययं कतियुष्मदस्मदः** (अन्तिम प्रकरण) सूत्रों के साथ तुलना करने से स्पष्ट है कि कात्यायन और पतञ्जलि इस पाणिनीय लिङ्गानुशासन से परिचित थे।

इस प्रकार सम्पूर्ण परम्परा के विपरीत कीथ का निर्युक्तिक और प्रमाणरहित प्रतिज्ञामात्र लेख सर्वथा हेय है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का यह षड्यन्त्र है कि वे भारतीय प्रामाणिक ग्रन्थों को भी विना प्रमाण के अप्रामाणिक कहते रहे, जिससे भारतीय वाङ्मय की अप्रामाणिकता बद्धमूल हो जाये। क्योंकि ये लोग राजनीति के इस तत्त्व को जानते हैं कि एक असत्य बात को भी बराबर कहते रहने पर वह सत्यवत् समझ ली जाती है। आज भारतीय ऐतिहासिक विद्वान् प्रायः ऐसे ही असत्य रूप से प्रतिष्ठापित ऐतिह्य को सत्य समझ कर आंख मीच कर पाश्चात्य मतों को प्रमाण मान रहे हैं।

व्याख्याकार

१. भट्ट उत्पल

भट्ट उत्पल ने पाणिनीय लिङ्गानुशासन पर एक व्याख्या लिखी

१. हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ५१३।

थी। इसका साक्षात् उल्लेख हमें कहीं नहीं मिला। हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन के सम्पादक वे० वेङ्कटराम शर्मा ने इसका निर्देश किया है।[1] उसका देश कालादि अज्ञात है।

२. रामचन्द्र (वि० सं० १४८० के लगभग)

रामचन्द्राचार्य ने प्रक्रियाकौमुदी के अन्तर्गत पाणिनीय लिङ्गानुशासन की एक व्याख्या की है। रामचन्द्र के कालादि के विषय में हम पूर्व लिख चुके हैं।

३. भट्टोजि दीक्षित (वि० सं० १५१०-१५७५)

भट्टोजि दीक्षित ने पाणिनीय लिङ्गानुशासन पर दो वृत्तियां लिखी हैं। एक—शब्दकौस्तुभ-अन्तर्गत, द्वितीय—सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में।

शब्दकौस्तुभान्तर्गत—शब्दकौस्तुभ के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद के लिङ्गप्रकरण में प्रसंगात् लिङ्गानुशासन की टीका की है।

सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में—एक वृत्ति सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में लिखी है।

इन दोनों में सिद्धान्तकौमुदी की अपेक्षा शब्दकौस्तुभ-अन्तर्गत वृत्ति कुछ अधिक विस्तृत है।

टीकाकार—सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में वर्तमान लिङ्गानुशासन वृत्ति पर किस-किस टीकाकार ने टीकाएं लिखीं, यह अज्ञात है।

भैरव मिश्र—हां, भैरव मिश्र प्रणीत एक टीका प्रायः पठन-पाठन में व्यवहृत होती है। भैरव मिश्र के पिता का नाम भवदेव मिश्र था। यह अगस्त्य कुल का था। इसका काल वि० सं० १८५०-१९०० के मध्य है।

४. नारायण भट्ट (वि० सं० १६१७-१७३३)

नारायण भट्ट ने स्वीयप्रक्रियाकौमुदी के अन्तर्गत पाणिनीय लिङ्गानुशासन पर वृत्ति लिखी थी।

---

१. हर्ष कृत लिङ्गानुशासन, निवेदना, पृष्ठ ३५।

नारायण भट्ट के काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रिया ग्रन्थकार' नामक १६ वें अध्याय में लिख चुके हैं।

५. रामानन्द (वि० सं० १६८०–१७२०)

सिद्धान्तकौमुदी के टीकाकार काशीवासी रामानन्द सरयूपारीण ने लिङ्गानुशासन पर एक टीका लिखी थी। यह अपूर्ण उपलब्ध होती है। रामानन्द के सम्बन्ध में हम पूर्व भाग १ में 'सिद्धान्तकौमुदी के व्याख्याता' प्रकरण (अ० १६) में लिख चुके हैं।[1]

६. अज्ञातनामा (वि० सं० १८२५ से पूर्व)

पाणिनीय लिङ्गानुशासन की एक वृत्ति विश्वेश्वरानन्द संस्थान होशियारपुर के संग्रह में है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

इस हस्तलेख के अन्त में निम्न पाठ है—

'इति पाणिनीयलिङ्गानुशासनवृत्तौ अव्ययाधिकारः। इति लिङ्गानुशासनवृत्तिः समाप्ता। संवत् १८२५ श्रावणवदि १३ दिने सम्पूर्णं कृतं लिखितं पठनार्थम्। देवी सहाय। द्र०—हस्तलेख सूची भाग २, पृष्ठ ८६, ग्रन्थसंख्या ११६२।

इससे इतना अनुमान हो सकता है कि इस वृत्ति की रचना वि०सं० १८२५ से पूर्व हुई है। क्योंकि वि० सं० १८२५ में लेखक ने पठनार्थ इसे लिखा है। अतः वि० सं० १८२५ इसका प्रतिलिपि काल है।

७, ८. अज्ञातनामा

पाणिनीय लिङ्गानुशासन की किन्हीं अज्ञात नामा व्यक्तियों द्वारा लिखी गई दो वृत्तियों के हस्तलेख भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान पूना के संग्रह में हैं। द्र० व्याकरण विभागीय हस्तलेख (सन् १९३८) संख्या २७५; ४८८/१८८४।८७ तथा संख्या २७६; ३१२/१८७५-७६।

---

१. रामानन्द के लिये देखो—आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस १२ वां अधिवेशन, सन् १९४१, भाग ४, पृष्ठ ४७-४८।

९. नारायण सुधी (वि० सं० १८००)

नारायण सुधी ने अष्टाध्यायी पर **शब्दभूषण** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इसमें तृतीय अध्याय द्वितीय पाद के अन्त में उणादि और षष्ठाध्याय के द्वितीय पाद के अन्त में फिट् सूत्रों की व्याख्या की है, यह हम पञ्चपादी उणादि व्याख्याकार के प्रसङ्ग में लिख चुके हैं। इससे अनुमान होता है कि द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद के अन्तर्गत लिङ्गप्रकरण के पश्चात् पाणिनीय लिङ्गानुशासन की भी व्याख्या की होगी, जैसे भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में की है।

नारायण सुधी का देश-काल अज्ञात है।

१०. तारानाथ तर्कवाचस्पति (वि० सं० १९३०)

बंगाल के प्रसिद्ध वैयाकरण तारानाथ तर्कवाचस्पति ने पाणिनीय लिङ्गानुशासन की एक व्याख्या लिखी है। यह अन्य व्याख्याओं से कुछ विस्तृत है।

पाणिनीय लिङ्गानुशासन का पाठ

लिङ्गानुशासन की उपलब्ध वृत्तियों के अवलोकन से विदित होता है कि पाणिनीय लिङ्गानुशासन का सूत्रपाठ अत्यधिक भ्रष्ट हो गया है। इस के शुद्धपाठ के सम्पादन की महती आवश्यकता है।

---

४. चन्द्रगोमी (वि० सं० ११०० पूर्व)

चन्द्रगोमी-प्रोक्त लिङ्गानुशासन के पाठ हैम लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञविवरण तथा सर्वानन्द के अमरटीकासर्वस्व आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। सर्वानन्दोद्धृत पाठ—

'धारान्धकारशिखरसहस्राङ्गारतोरणाः' इति पुन्नपुंसकाधिकारे चन्द्रगोमी। भाग २, पृष्ठ ४७।

तथा च चन्द्रगोमी—'ईदूदन्ता य एकाच्च इवन्ताङ्गानि देहिनः' इति। भाग ४।१७४।

पाठों से विदित होता है कि यह लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था। यह इस समय अप्राप्य है।

चान्द्रवृत्ति—चन्द्राचार्य ने स्वीय शब्दानुशासन के समान अपने लिङ्गानुशासन पर भी एक वृत्ति लिखी थी।

चन्द्रगोमी के परिचय के लिये देखिये इस ग्रन्थ का प्रथम भाग 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वां अध्याय।

९—वररुचि (विक्रम समकालीन)

वररुचि नामक वैयाकरण ने आर्या छन्द में लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया है। यह लिङ्गानुशासन मूल और किसी वृत्ति के संक्षेप के साथ हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन के अन्त में छपा है।

वररुचि का काल—वररुचि के काल आदि की विवेचना हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४८५-४८७ (च० सं०) पर कर चुके हैं। वाररुच लिङ्गानुशासन के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

'इति श्रीमद्वाग्विलासमण्डितसरस्वतीकण्ठाभरणानेकविशरणश्रीनरपतिसेविताविक्रमादित्यकिरीटकोटिनिघृष्टचरणारविन्दाचार्यवररुचिविरचितो लिङ्गविशेषविधिः समाप्तः।'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यह वररुचि विक्रमादित्य का सभ्य था। अतः इसका काल वही है, जो संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का है

लिङ्गानुशासन का नाम—उक्त उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का नाम **लिङ्गविशेषविधि** है।

सब से प्राचीन उद्धरण—इस लिङ्गविशेषविधि का सबसे प्राचीन उद्धरण जिनेन्द्र विरचित **काशिकाविवरणपञ्जिका** ७।१।१= पृष्ठ ६३१ में मिलता है—

'तथा चाह लिङ्गकारिकाकारः—ईदूदन्तं यच्चैकाच् शरद्दरद्दृषत्प्रावृषश्चेति।'

यह लिङ्गविशेषविधि की द्वितीय आर्या का पूर्वार्ध है।

हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन की व्याख्या में—लिङ्गविशेषविधि का ८वां श्लोक हर्षवर्धन की पृथिवीश्वर की व्याख्या में उद्धृत है—

'यदुक्तम्—दीधितिमेकां मुक्त्वा रश्म्यभिधानं तु पुंस्येव।' पृष्ठ ६।

टीकाकार

वाररुच लिङ्गविशेषविधि की टीका का एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द संस्थान होशियारपुर के संग्रह में विद्यमान है। इस टीका के लेखक का नाम अज्ञात है। परन्तु इस ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका के पाठ से ध्वनित होता है कि यह टीका वररुचि की स्वोपज्ञ है। पाठ इस प्रकार है—

'इति श्रीमदखिलवाग्विलास······निघृष्टचरणारविन्दाचार्यवररुचिविरचिता लिङ्गविशेषविधिटीका सम्पूर्णा।'

द्रष्टव्य—हस्तलेख सूची, भाग २, पृष्ठ ४२१, ४२२, ग्रन्थ संख्या ५६०८।

अन्य हस्तलेख—इसी संस्थान के संग्रह में वाररुच लिङ्गानुशासन के तीन हस्तलेख और भी हैं। इनकी संख्या ३२७४, ३२७५, ३२८२ है (द्र०—भाग १, पृष्ठ ६७) इनके रचयिता का नाम अज्ञात है।

संख्या ३२७४ तथा ३२८२ के कोश वाररुच लिङ्गानुशासन की वृत्ति के हैं। इनमें संख्या ३२७४ का हस्तलेख संक्षिप्त वृत्ति का है। यह प्रायः शुद्ध है। इसका लेखनकाल शक सं० १७८० अर्थात् वि० सं० १८१५ है। दूसरा संख्या ३२८२ का हस्तलेख विस्तृत वृत्ति का है। यह प्रायः अशुद्ध है। इसका लेखनकाल वि० सं० १६१६ है। ये दोनों संक्षिप्त और विस्तृत वृत्ति एक ही व्यक्ति की प्रतीत होती हैं। इन्हें हमने लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में सन् १६३८ में देखा था।

भण्डारकर प्राच्यविद्या शोधप्रतिष्ठान पूना के संग्रह में तीन हस्तलेख वाररुच लिङ्गानुशासन की वृत्ति के हैं। द्र० व्याकरण विभागीय सूचीपत्र (सन् १६३८) संख्या २७७, २७८, २७६, (पृष्ठ २१६-२१८)।

यह वाररुच लिङ्गानुशासन मद्रास विश्वविद्यालय की संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के अन्त में पृष्ठ १२६–१३८ तक संक्षिप्त टिप्पणी सहित छप चुका है।

वाररुच कोश—इस लिङ्गानुशासन का वररुचि कोश के नाम से एक व्याख्या-सहित संस्करण काशी से प्रकाशित लीथो प्रेस में छपे

द्वादश कोश संग्रह में प्रकाशित हुआ था। इस संस्करण में वररुचि के यावान् कश्चित् भ्रान्तः श्लोक से पूर्व १० श्लोक और छपे हैं। ये श्लोक व्याख्याकार के हैं। भूल से लिङ्गानुशासन के श्लोकों के साथ श्लोक क्रमसंख्या छप गई है। ये श्लोक वररुचि के नहीं हैं, यह निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

> दृष्ट्वा जैमिनिकोशसूत्ररचनां कात्यायनीयं मतम्,
> व्यासीयं कविशङ्करप्रभृतिभिर्यद् भाषितं निश्चयात्।
> यच्चानन्दकविप्रवीररचितं बद्धं च यद्दण्डिना,
> यद्वात्स्यायनशाश्वतादिकथितं कुर्वेऽभिधानाद्भुतम् ॥७॥

ये श्लोक ऊपर निर्दिष्ट लिङ्गानुशासन वृत्ति के संख्या ३२८२ के हस्तलेख में भी निर्दिष्ट हैं। इससे भी स्पष्ट है कि ये श्लोक वृत्तिकार के हैं।

इस टीकाकार का नाम तथा देश काल आदि अज्ञात है।

६—अमरसिंह (विक्रमकालिक)

अमरसिंय ने स्वीय कोश के तृतीय काण्ड के पांचवें सर्ग में 'लिङ्गादि-संग्रह' किया है।

भारतीय परम्परा के अनुसार अमरसिंह महाराज विक्रम का सभ्य है। पाश्चात्य और उनके मतानुयायी विद्वान् अमरसिंह को वि० सं० ३००-४०० के लगभग मानते हैं।[1]

अमरकोश पर जितने व्याख्याताओं ने व्याख्या लिखी है, उन सब ने अमरकोश के इस भाग पर भी व्याख्या की है।

७—देवनन्दी (वि० सं० ५०० से पूर्व)

देवनन्दी आचार्य ने स्व-व्याकरण से संबद्ध लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया था। इसका साक्षात् उल्लेख वामन ने स्वलिङ्गानुशासन के अन्त में इस प्रकार किया है—

---

१. शाश्वत कोश की भूमिका, पृष्ठ २।

'व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रम्,
जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथाऽन्यत् । श्लोक ११ ।

जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन के नन्दी के नाम से अनेक उद्धरण हैम-लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ विवरण में मिलते हैं। यह लिङ्गानुशासन इस समय अप्राप्य है।

देवनन्दी के परिचय के लिए देखिए यही ग्रन्थ भाग १, पृष्ठ ४८९-४९७ (च० सं०)।

८—शंकर (वि० सं० ६५० से पूर्व)

हर्षवर्धन ने अपने लिङ्गानुशासन के अन्त में शंकर प्रोक्त लिङ्गानुशासन का निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

'व्याडेः शङ्करचन्द्रयोर्वररुचेर्विद्यानिधेः पाणिनेः ।
सूक्तांल्लिङ्गविधीन् विचार्य सुगमं श्रीवर्धनस्यात्मजः ॥९७॥

शंकर कृत लिङ्गानुशासन का उल्लेख वाररुच लिङ्गविशेषविधि की टीका के आरम्भ में भी मिलता है।[1]

अस्पष्ट संकेत—वि० सं० ६५० के लगभग शाश्वत ने '**अनेकार्थ-समुच्चय**' नामक कोश लिखा था। उसके आरम्भ में लिखा है—

'दृष्टशिष्टप्रयोगोऽहं दृष्टव्याकरणत्रयः ।
अधीति सदुपाध्यायाल्लिङ्गशास्त्रेषु पञ्चसु ॥ ६ ॥

इन पाच लिङ्गशास्त्रों में से व्याडि, पाणिनि, चन्द्र और वररुचि के चार लिङ्गानुशासन निश्चित ही शाश्वत से पूर्ववर्ती हैं। पांचवां लिङ्गशास्त्र यदि शंकर का अभिप्रेत हो (जिसकी अधिक सम्भावना है) तो शङ्कर का काल वि० सं० ६५० से पूर्व निश्चित हो जाता है।

अन्य शङ्कर—शङ्कर के नाम से प्रक्रियासर्वस्व में अनेक उद्धरण मिलते हैं। ये उद्धरण धर्मकीर्ति के रूपावतार के टीकाकार शंकरराम

---

१. व्यासीयं कविशंकर प्रभृतिभि''''''''। पूर्व पृष्ठ २८२ में उद्धृत श्लोक ।

की **नीवि** नाम्नी टीका के हैं। अतः लिङ्गशास्त्र प्रवक्ता शंकर रूपा-वतार टीकाकार शंकर से भिन्न अति प्राचीन ग्रन्थकार है।

शङ्कर और उसके लिङ्गानुशासन के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

९—हर्षवर्धन (वि० सं० ६५०-७०४)

हर्षवर्धन प्रोक्त लिङ्गानुशासन जर्मन भाषा अनुवाद सहित जर्मनी से सन् १८९० में छप चुका है। इसका सम्पादन डा० फ्राङ्के (FRANKE) ने किया है। तत्पश्चात् इसकी व्याख्या तथा अनेक परिशिष्टों सहित पं० वे० वेंकटराम शर्मा द्वारा सम्पादित उत्तम संस्करण मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो चुका है।

काल—हर्षवर्धन ने अपना विशेष परिचय नहीं दिया केवल **श्रीवर्धनस्यात्मजः** इतना ही कहा है। अनेक विद्वानों के मत में यह हर्षवर्धन बाण आदि का आश्रयदाता प्रसिद्ध महाराज श्रीहर्ष है[1]। श्रीहर्ष का राज्यकाल वि० सं० ६५७-७०४ तक माना जाता है। श्रीहर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन का 'वधन' बीरुत् हो सकता है।

आफ्रेक्ट इस मत को स्वीकार नहीं करता। हर्षवर्धन के लिङ्गा-नुशासन के सम्पादक का भी मत भिन्न है। उनका कथन है कि टीकाकार ने 'ग्रन्थकार द्वारा पादग्रहण पूर्वक व्याख्या लिखने का आग्रह किया'[2] ऐसा लिखा है। महाराज हर्षवर्धन जैसे सम्राट् का टीकाकार से पादग्रहणपूर्वक निवेदन करना असम्भव है। अतः इस का लेखक कोई अन्य हर्षवधन है।[3]

हमारे विचार में सम्पादक के कथन में कोई गुरुत्व नहीं है। भारतीय इतिहास में बड़े-बड़े सम्राट् विद्वानों के चरणों में नतमस्तक होते रहे हैं। वररुचि के लिङ्गानुशासन का जो अन्तिम पाठ वररुचि के प्रकरण में उद्धृत किया है, उसमें भी **विक्रमादित्यकिरीटिकोटि-**

---

१. निवेदना, पृष्ठ ३७।

२. प्रार्थितः शास्त्रकारेण पादग्रहणपूर्वकम्। लिङ्गानुशासनव्याख्यां करोति पृथ्वीश्वरः। पृष्ठ २।

३. निवेदना, पृष्ठ ३७।

निघृष्टचरणारविन्दाचार्यवररुचिविरचितो० का उल्लेख है। अतः **पादग्रहणपूर्वकम्** निर्देशमात्र से अन्य हर्ष की कल्पना अन्याय्य है।

कुछ भी हो, इसमें प्रसिद्ध वामनीय लिङ्गानुशासन का निर्देश न होने से उससे यह प्राचीन है, इतना स्पष्ट है।

टीकाकार

हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन की जो टीका छपी है, उसके रचयिता के नाम के सम्बन्ध में कुछ विवाद है। और वह विवाद हस्तलेखों के द्विविध पाठ पर आश्रित है।

पं० वेङ्कटराम शर्मा को इस टीका के जो तीन हस्तलेख मिले हैं, उनके अन्त में **भट्टभरद्वाजसूनोः पृथिवीश्वरस्य कृतौ** पाठ मिलता है। तदनुसार व्याख्याकार का नाम पृथिवीश्वर और उसके पिता का नाम भट्ट भरद्वाज विदित होता है।

जर्मन संस्करण के सम्पादक के पास जो हस्तलेख था, उसमें उक्त पाठ के स्थान पर '**भट्टदीप्तस्वामिसूनोः बलवागीश्वरस्य शबरस्वामिनः**' पाठ था।

हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन का **सर्वार्थलक्षणा** टीका सहित एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथ मन्दिर में है। उसके सूचीपत्र में टीकाकार का नाम **शबरस्वामी दीप्तिस्वामिपुत्रः** लिखा है (पृष्ठ ४६)।

भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान पूना के संग्रह में हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के दो हस्तलेख हैं। द्र० व्याकरण विभागीय सूचीपत्र (सन् १९३८) संख्या २८१, २८२ (पृष्ठ २३८-२४१)। ये दोनों शारदाक्षरों में भूर्जपत्र पर लिखे हुए हैं। इन में से संख्या २८० के हस्तलेख के आरम्भ में टीकाकार के प्रारम्भिक श्लोक नहीं हैं। हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासनीय प्रारम्भिक तीन श्लोकों की व्याख्या नहीं है। संख्या २८१ के हस्तलेख के आरम्भ में मंगलाचरणादि के ५ श्लोक मिलते हैं। मद्रास संस्करण में छपे हुए प्रारम्भिक ९ श्लोकों में से १, २, ३, तथा ६ठा श्लोक नहीं है। पांचवें श्लोक के उत्तरार्ध में पाठभेद है। मद्रास मुद्रित पाठ है—

लिङ्गानुशासनव्याख्यां करोति पृथिवीश्वरः।

सं० २८१ के हस्तलेख का पाठ है—

करोति स (श)बरस्वामी षड्वर्षः पञ्चिकामिमाम् ।

इससे विदित होता कि यह व्याख्या शबरस्वामी ने ६ वर्ष की वयः में रची थी और इसका नाम **पञ्चिका** है। इन दोनों हस्तलेखों के अन्त में यह दीप्र (दीप्त) **स्वामिसूनो बालवागीश्वरस्य शबर-स्वामिनः कृतौ**·········पाठ मिलता है। बालवागीश्वर का अर्थ है बालक ही जो वाणी का स्वामी है उस शबरस्वामी की कृति में। इस स्थिति में **प्रथितः शास्त्रकारेण पदग्रहण पूर्वकम्** की संगति लगाना कठिन हो जाता है।

पूना के सूचीपत्र में इन हस्तलेखों के जो आद्यन्त के पाठ उद्धृत हैं, उससे प्रतीत होता है कि शबर स्वामी की टीका का पाठ मद्रास संस्करण की टीका से कुछ संक्षिप्त है।

पूना के संख्या २८१ के हस्तलेख के अन्त में सं० २६ लिखा है। इसे सूचीपत्र के सम्पादक ने सप्तर्षि संवत् माना है। सप्तर्षि संवत् में २७ सौ वर्ष के प्रत्येक चक्र में १०० वर्ष के अनन्तर पुनः १-२ से वर्ष गणना का व्यवहार कश्मीरादि प्रदेशों में होता है। अतः सं० २६ से काल विशेष का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। हम पूर्व दशपादी उणादि की माणिक्यदेव की व्याख्या के प्रसंग में शारदा लिपि में लिखे गये हस्तलेख की निर्दिष्ट सं० ३० का उल्लेख कर चुके हैं। (द्र० पृष्ठ २५२)

अन्य ग्रन्थों में शबर स्वामी के नाम से उद्धरण

१. वन्द्यघटीय सर्वानन्द ने अमरकोश २।६।९१ के सृक्कणी पद पर लिखा है—

'सक्थ्यस्थ्यदधि सृक्थ्यक्षि इत्यादिना इवन्तमपि शबरस्वामी पठति।' भाग २, पृष्ठ ३५२।

यह पाठ लिङ्गानुशासन के मुद्रित पाठ में ५वीं कारिका में मिलता है। टीका में इदं सृक्वि—**ओष्ठ पर्यन्तः** रूप में व्याख्यात है।

२. उज्ज्वलदत्त ने उणादि ४।११७ की टीका में शबर का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

'वितर्दिवेदिनन्दय इति शबरस्वामी।' पृष्ठ १७४।

इस पाठ के लिए लिङ्गानुशासन के सम्पादक ने लिखा है—

'तत्तु वाक्यं प्रकृतटीकायां नोपलभ्यते।' निवेदना पृष्ठ ४१।

अर्थात् उज्ज्वलदत्त उद्धृत वाक्य टीका में नहीं मिलता।

सम्पादक का उक्त लेख ठीक नहीं है। इस लिङ्गानुशासन के पृष्ठ ८ की व्याख्या में निम्न पाठ है—

'वेदिः वितर्दिः। नान्दिः पूर्वरङ्गः।'

उज्ज्वलवृत्ति के मुद्रित पाठ जितने भ्रष्ट हैं, उनको देखते हुए कहा जा सकता है कि उज्ज्वलदत्त द्वारा शबर के नाम से उद्धृत पाठ इस टीका का ही है।

३. केशव के नानार्थार्णवसंक्षेप भाग १, पृष्ठ १४९ में शबर स्वामी उद्धृत है। वह सम्भवतः हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन का टीकाकार ही है। हमारे पास यह कोश इस समय नहीं है। इसलिए निर्णय करने में असमर्थ हैं।

इस प्रकार नामद्वैध के कारण टीकाकार के नाम का निश्चय करना अत्यन्त कठिन है। पुनरपि बहुमत शबर स्वामी के पक्ष में है। इस ग्रन्थ का पुनः सम्पादन होना चाहिये। अधिक से अधिक हस्तलेखों का संग्रह आवश्यक है। सम्भव है इस से व्याख्याकार के नाम का विवाद भी समाप्त हो जाये।

सम्पादक की भ्रान्ति—हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के सम्पादक ने निवेदना, पृष्ठ XL (४०) में घर्मशब्द की नपुंसक लिङ्गता दर्शाने के लिये व्याख्याकार द्वारा वैदिक वचन को उद्धृत करने का अति साहस कहा है। इस पर विशेष विचार हमने आगे वामन के लिङ्गानुशासन के प्रकरण में (पृष्ठ २८९) किया है। पाठक उक्त प्रकरण देखें।

१०—दुर्गसिंह (वि० सं० ७०० से पूर्व)

दुर्गसिंह विरचित एक लिङ्गानुशासन डेक्कन कालेज पूना से प्रकाशित हुआ है। इसकी व्याख्या भी दुर्गसिंह कृत ही है।

तन्त्र-संबन्ध—इस लिङ्गानुशासन का संबन्ध कातन्त्र व्याकरण के

साथ है। यह इसकी व्याख्या में कातन्त्र सूत्रों के उद्धरणों से स्पष्ट है।

एक अनिर्दिष्ट मूल सूत्र—लिङ्गानुशासन कारिका ५२ की व्याख्या में **ङणना ह्रस्वोपधाः स्वरे द्विः** सूत्र उद्धृत है। सम्पादक ने इसके मूलस्थान का निर्देश नहीं किया है। यह कातन्त्र १।५।७ का सन्धिप्रकरण का सूत्र है।

परिचय—दुर्गसिंह के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में १७ वें अध्याय में कातन्त्र व्याकरण के प्रकरण में लिख चुके हैं।

अनेक नाम—दुर्गसिंह ने इस ग्रन्थ के अन्त में अपने **दुर्गात्मा दुर्ग दुर्गप** नाम दर्शाए है।

'दुर्गसिंहोऽथ दुर्गात्मा दुर्गो दुर्गप इत्यपि।
यस्य नामानि तेनैव लिङ्गवृत्तिरियं कृता॥'८८॥

काल—हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में कातन्त्र व्याकरण के प्रकरण में दुर्गसिंह के काल विषय में चिन्तन करते हुए लिखा है कि—कातन्त्र सम्प्रदाय में दो दुर्ग हैं। एक वृत्तिकार, दूसरा वृत्ति-टीकाकार। वृत्तिकार का काल वि० सं० ७०० से पूर्व है, और टीकाकार का काल सम्भवतः ९ वीं शताब्दी है। लिङ्गानुशासन के सम्पादक दत्तात्रेय गङ्गाधर कोपरकर एम. ए. ने लिङ्गानुशासन दुर्ग का काल ई० सन् ८००–८५० माना है (द्र० भूमिका पृष्ठ १२)। हमारे विचार में लिङ्गानुशासन का प्रवक्ता वृत्तिकार दुर्ग है, न कि टीकाकार दुर्ग। अतः इसका काल वि० सं० ७०० से पूर्व ही मानना उचित है। गुरुपद हालदार के लेखानुसार **रामनाथ चक्रवर्ती** ने त्रिकाण्डशेष और उसके पुत्र **रत्नेश्वर चक्रवर्ती** ने 'रत्नमाला' नाम से कातन्त्र व्याकरण से संबद्ध लिङ्गनुशासन रचा था।[1]

११—वामन (वि० सं० ८५१–८७०)

वामन ने एक लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया है, और इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी है। लिङ्गानुशासन में केवल ३३ कारिकाएं हैं

---

१. व्याकरणदर्शनेर इतिहास, पृष्ठ ४२२।

इस दृष्टि से यह लिङ्गानुशासन सब से संक्षिप्त है। ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है—

'लिङ्गानुशासनमहं वच्म्यार्याभिः समासेन' ॥१॥

इसकी व्याख्या में लिखा है—

'पूर्वाचार्यैर्व्याडिप्रमुखैर्लिङ्गानुशासनं सूत्रैरुक्तम् ग्रन्थविस्तरेण च। अहं पुनरार्याभिर्वच्मि सुखग्रहणार्थम्। वररुचिप्रभृतिभिरप्याचार्यैरार्याभिरभिहितमेव, तदतिबहुना ग्रन्थेन, इत्यहं तु समासेन संक्षेपेण वच्मि।' पृष्ठ २॥

अर्थात्—व्याडि आदि पूर्वाचार्यों ने लिङ्गानुशासन का प्रवचन सूत्रों में किया था, और विस्तार से। मैं आर्या छन्दों में कहता हूं, सुख से ग्रहण करने के लिए। वररुचि प्रभृति आचार्यों ने भी आर्या से ही लिङ्गानुशासन का कथन किया है, पर वह विस्तार से है। इसलिए मैं संक्षेप से कहता हूं।

परिचय—वामन ने अपना कोई परिचय नहीं दिया। अतः इसका वृत्त अन्धकारमय है।

काल—वामन ने अपनी छठी आर्या की वृत्ति में **जगत्तुङ्गसभा** का निर्देश किया है। अनेक ऐतिहासिक विद्वान् इस निर्देश में कश्मीर-अधिपति जयापीड, जिसका राज्यकाल वि० सं० ८५९-८७९ तक था, का संकेत मानते हैं। इस प्रकार वामनीय लिङ्गानुशासन के प्रथम सम्पादक चिम्मनलाल डी० दलाल अलंकारशास्त्रप्रणेता वामन और लिङ्गानुशासनकार वामन को एक मानते हैं।

यद्यपि दोनों वामनों का ऐक्य अभी सन्देहास्पद है, तथापि इतना स्पष्टरूप से कहा जा सकता है कि लिङ्गानुशासनकार वामन वि०सं० ९०० से उत्तरवर्ती किसी भी प्रकार नहीं है। वामन ने अपने ग्रन्थ में ८वीं शती से उत्तरकालीन किसी भी ग्रन्थ का उद्धरण अपनी वृत्ति में नहीं दिया है। हां, पृष्ठ ८ पर ८वीं कारिका की वृत्ति में घर्म शब्द के विषय में लिखा है—

'घर्मशब्दः घर्मसाधने योगादौ वाच्ये। इदं घर्मम्। तानि घर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋग्वेद १।१६४।४३)।'

इसी अभिप्राय की एक पंक्ति हर्षवर्धन के लिङ्गानुशासन की व्याख्या में मिलती है—

'क्रतौ धर्मम्—क्रतौ धर्मक्रतौ यज्ञे तत्साधने वर्तमानं धर्मं नपुंसकम् । यथा—तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।' पृष्ठ ३४ ।

निश्चय ही इन दोनों पंक्तियों में कोई किसी की आधारभूत है । हमारे विचार में वामन की पंक्ति का आधार हर्षलिङ्गानुशासन वृत्ति की पंक्ति है । अतः वामन हर्ष से उत्तरवर्ती है । यह हमारा विचारमात्र है । स्थिति इससे विपरीत भी हो सकती है । उस अवस्था में वामन का काल वि० सं० ७०० से पूर्व होगा ।

हर्ष लिङ्गानुशासन के सम्पादक का साहस—हर्ष लिङ्गानुशासन के सम्पादक वे० वेङ्कटराम शर्मा ने उक्त पंक्ति के विषय में लिखा है—

"परन्तु लौकिकसंस्कृतभाषायाः पदानां लिङ्गान्यनुशासितुमारब्धस्य ग्रन्थस्य व्याख्यानाय प्रवृत्तः एकत्र धर्मशब्दस्य नपुंसकतां दर्शयितुं 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' लौकिकसंस्कृतातिगं वाक्यमुदाजहार इतीदं मन्यामहे व्याख्याकारस्यैकमतिसाहसमिति ।" भूमिका, पृष्ठ ४० ।

अर्थात्—लौकिक संस्कृतभाषा के पदों के लिङ्गों के अनुशासन के लिए आरब्ध ग्रन्थ के व्याख्यान में प्रवृत्त व्याख्याकार ने धर्म शब्द की नपुंसकलिङ्गता को दर्शाने के लिए **'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'** यह वैदिक वाक्य उद्धृत किया है । हम समझते हैं यह व्याख्याकार का एक अति साहस है ।

हमारे विचार में व्याख्याकार का अतिसाहस नहीं है, अपितु सम्पादक महोदय का व्याख्याकार का अतिसाहस दिखाना ही अतिसाहस है ।

हर्षवर्धन ने अपने ग्रन्थ में कहीं नहीं कहा कि 'मैं केवल लौकिक संस्कृत के पदों के लिङ्गों का ही अनुशासन करूंगा ।' पाणिनीय व्याकरण को प्रमाण मानकर चलनेवाले लिङ्गानुशासनों में पाणिनीय शब्दानुशासनवत् लौकिकों की प्रधानता तो कही जा सकती है, परन्तु वैदिक पदों के अन्वाख्यान का परित्याग नहीं कहा जा सकता । हर्ष

और वामन दोनों ही पाणिनीय शब्दानुशासन के अनुयायी हैं। इसलिए उनके द्वारा धर्म शब्द की नपुंसकता दर्शाने के लिए वैदिक मन्त्र का निर्देश करना किसी प्रकार अति साहस नहीं कहा जा सकता, अपितु उसे उचित ही कहना होगा। इतना ही नहीं, केवल लौकिक शब्दों के लिङ्गानुशासन में प्रवृत्त शाकटायन के लिङ्गानुशासन की व्याख्या में भी धर्मशब्द के अपूर्व साधन अर्थ में नपुंसकत्व दर्शाने के लिए यही मन्त्र उद्धृत है।[1]

वामन ने तो १६वीं आर्या की वृत्ति में **मासविशेषाणां नाम—शुचिः शुक्रः नभस्य** आदि अन्य छान्दस पदों का भी निर्देश किया है। मासवाची **शुचिः शुक्रः नभस्य** शब्द छान्दस हैं। इसमें पाणिनीय अष्टाध्यायी ४।४।१२८ सूत्र और उसके वार्तिक प्रमाण हैं। काशिकाकार आदि सभी **छन्दसि** पद की अनुवृत्ति उक्त सूत्र में मानते हैं।

शब्दप्रयोग में वैदिक वचन का प्रामाण्य

शब्दप्रयोग के विषय में वैदिक वचन का प्रामाण्य हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के टीकाकार, लिङ्गानुशासनकार वामन और शाकटायनीय लिङ्गानुशासन के व्याख्याकार ने दिये हैं। यह ऊपर दर्शा चुके हैं। यह वैयाकरणों का अतिसाहस नहीं है, अपितु महाभाष्यकार पतञ्जलि जैसे प्रमाणभूत आचार्य से अनुमोदित मार्ग है। पतञ्जलि ने शब्दप्रयोग के विषय में दो स्थानों पर वैदिक वचन उद्धृत किये है। यथा—

१ **उभयं खल्वपि दृश्यते। विरूपाणाम्प्येकेनानेकस्याभिधानं भवति। तद्यथा—द्यावा ह क्षामा** (ऋ० १०।१२।१)। **द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते** (ऋ० २।१२।१३)। महाभाष्य १।२।६४॥

यहां महाभाष्यकार ने विरूपों के एकशेष में ऋङ्मन्त्रों को उद्धृत किया है।

२ '**उभयं खल्वपि दृश्यते स्वस्ति सोमसखा, पुनरेहि गवांसखः**। महा० १।२।२३ (द्वितीया श्रिता०)।

---

१. 'धर्ममपूर्वनिमित्ते' (श्लोक २०) की व्याख्या में। द्रष्टव्य—मद्रासीय हर्षलिङ्गानुशासन, परिशिष्ट, पृष्ठ १२६।

यहां भाष्यकार ने षष्ठी तत्पुरुष और बहुव्रीहि दोनों ही समास होते हैं, यह दर्शाने के लिए वैदिक वचन उदाहृत किये हैं।

३—निरुक्त समुच्चयकार वररुचि ने योनि शब्द की उभयलिङ्गता में पाणिनीय लिङ्गसूत्र 'श्रोणियोन्यूर्मयः पुंसि च' का प्रमाण देकर वैदिक वचन उद्धृत किया है—'समुद्रं वः प्रहिणोमि' (शांखा० श्रौत ४।११।६) इति च प्रयोगदर्शनात्। पृष्ठ २३, संस्क० २।

उक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि शब्दप्रयोग के विषय में वैदिक ग्रन्थों का प्रमाण देना किसी प्रकार दोषावह नहीं है। मीमांसकों के मत में तो वैदिक और लौकिक शब्द समान हैं।[1] अतः उनके मत में शब्द-प्रयोग के विषय में वैदिक वचनों का प्रामाण्य उसी प्रकार आदरणीय है, जैसे शब्दशास्त्रों का।

वामन और उसके लिङ्गानुशासन के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

नया संस्करण—इसका एक संस्करण गायकवाड ओरियण्टल सीरीज बड़ोदा से सन् १९१८ में छपा था। वह चिरकाल से अप्राप्य था। इसका एक सुन्दर संस्करण हमने वि० सं० २०२१ में प्रकाशित किया है। पुराने संस्करण में किसी प्रकार की कोई सूची नहीं थी। हमने इस संस्करण में चार परिशिष्ट छापे हैं, जिनमें अनेकविध सूचियां दी हैं।

१२—पाल्यकीर्ति (वि० सं० ८७१-९२४)

पाल्यकीर्ति ने स्व-तन्त्र संबद्ध लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया था। यह पद्यबद्ध है। हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के मद्रास संस्करण के अन्त में शाकटायन लिङ्गानुशासन किसी वृत्ति के संक्षेप के साथ मुद्रित है। इसमें ७० श्लोक छपे हैं। परन्तु अन्तिम **वाग्विषयस्य तु महतः** श्लोक शाकटायन-लिङ्गानुशासन का नहीं है। यह वररुचि के लिङ्गानुशासन का अन्तिम श्लोक है (केवल श्लोक के अन्त्यपद में भेद

---

१. द्र० लोकवेदाधिकरण। अ० १, पा० ३।

है)। काशी मुद्रित शाकटायन लघुवृत्ति के अन्त में मुद्रित लिङ्गानुशासन में यह श्लोक नहीं है।

शाकटायन के विषय में विस्तार से प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में लिखा जा चुका है।

शाकटायनीय लिङ्गानुशासन में कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों की संज्ञाओं का भी निर्देश है। यथा—

क—४६ वें श्लोक में—'**ङ्र्थसोगुणिवत्** ।' इस पर टीकाकार ने लिखा है—'**स इति पूर्वाचार्याणां समासस्याख्या** ।'[1]

ख—६७ वें श्लोक में—'**प्रकृतिलिङ्गवचनानि** ।' इस पर टीकाकार लिखता है—'**वचनमिति संख्यायाः पूर्वाचार्यसंज्ञा** ।'[2]

वृत्तिकार

इस लिङ्गानुशासन पर किसी वैयाकरण ने व्याख्या लिखी थी। उस व्याख्या का संक्षेप हर्षवर्धन लिङ्गानुशासन के मद्रास संस्करण के अन्त में छपा है। यह व्याख्या किसकी है, यह अज्ञात है। पर हमारा विचार है कि यह व्याख्या मूलग्रन्थकार की अपनी है, अथवा यक्षवर्मा की हो सकती है।

इससे अधिक इस लिङ्गानुशासन और इसकी वृत्ति के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

यक्षवर्मा

शाकटायन लिङ्गानुशासन पर यक्षवर्मा की टीका का उल्लेख हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासन के सम्पादक ने निवेदना के पृष्ठ ३४ में संख्या ६ पर किया है।

---

१. द्रष्टव्य—हर्षलिङ्गानुशासन, मद्रास संस्क०, पृष्ठ १२७। तुलना करो—राजासे (पा० गण ५।१।१२८), पुरुषासे (पा० गण ५।१।१३०), हृदयासे (पा० गण ५।१।१३०), वाजासे (पा० गण ४।१।१०५)।

२. द्र०—हर्षलिङ्गानुशासन, मद्रास सं० पृष्ठ १२८।

१३—भोजदेव (वि० सं० १०७५-१११०)

श्री भोजदेव ने स्व-तन्त्र संबद्ध लिङ्गानुशासन का भी प्रवचन किया था। इसका निर्देश हर्षलिङ्गानुशासन के सम्पादक श्री वेंकटशर्मा ने निवेदना पृष्ठ ३४ पर किया है। यह लिङ्गानुशासन हमारे देखने में नहीं आया।

१४—बुद्धिसागर (वि० सं० १०८०)

बुद्धिसागर सूरि के पञ्चग्रन्थी शब्दानुशासन का उल्लेख इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७वें अध्याय में कर चुके हैं। उन पञ्च ग्रन्थों में लिङ्गानुशासन भी अन्यतम है।

बुद्धिसागर का लिङ्गानुशासन हमारी दृष्टि में नहीं आया। हां, आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय लिङ्गानुशासन के स्वोपज्ञ-विवरण, और अभिधानचिन्तामणि कोश के स्वोपज्ञ विवरण में इसे अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है। यथा—

१. मन्थः गण्डः। पुन्नपुंसकोऽयमिति बुद्धिसागरः। पृष्ठ ४, पं० ५।

२. जठरं त्रिलिङ्गोऽयमिति बुद्धिसागरः। पृष्ठ १०० पं० १७, १८।

३. शंकु—पुंसि व्याडिः, स्त्रियां वामनः, पुन्नपुंसकोऽयमिति बुद्धिसागरः। पृष्ठ १०३ पं० २५।

४. खलः खलम्—पिण्याकः दुर्जनश्च। दुर्गबुद्धिसागरौ। पृष्ठ १३३ पं० २२।

५. त्रिलिङ्गोऽयमिति बुद्धिसागरः। ३ मर्त्यकाण्ड, श्लोक २६८, पृष्ठ २४५।

इससे अधिक बुद्धिसागर प्रोक्त लिङ्गानुशासन के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

१५—अरुणदेव=अरुण (वि० सं० ११९० से पूर्व)

अरुण अथवा अरुणदेव अथवा अरुणदत्त नामा वैयाकरण ने एक लिङ्गानुशासन लिखा था। इसका उल्लेख हेमचन्द्र ने स्वीय लिङ्गानुशासन के विवरण में अनेक स्थानों पर किया है। यथा—

'वल्कः वल्कम्—तरुत्वक् । पुंस्यपीति कश्चित् । क्लीबे हर्षारुणौ।' पृष्ठ ११७, पं० २४।

अरुणदत्त के नाम से अरुण के लिङ्गानुशासन का एक उद्धरण सर्वानन्द की टीकासर्वस्व (भाग १, पृष्ठ १६४) में उद्धृत है।

व्याख्याकार—अरुणदेव ने स्वीय लिङ्गानुशासन पर कोई वृत्ति भी लिखी थी। उसके पाठ को आचार्य हेमचन्द्र असकृत् उद्धृत करता है। यथा—

'यवरुण—अक्षी रोगविशेषः।' पृष्ठ ६८, पं० ११।

अरुणदत्त के गणपाठ का निर्देश हम 'गणपाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता' प्रकरण में (भाग २, पृष्ठ १९८) कर चुके हैं।

अरुण के लिङ्गानुशासन के विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते।

१६—हेमचन्द्र सूरि (वि० सं० ११४५–१२२९)

आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय पञ्चाङ्ग शब्दानुशासन से संबद्ध लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया है। यह लिङ्गानुशासन अन्य सभी लिङ्गानुशासनों की अपेक्षा विस्तृत है। इसमें विविध छन्दोयुक्त १३८ श्लोक हैं।

व्याख्याकार

१. **हेमचन्द्र**—आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय शब्दानुशासन के समान इस लिङ्गानुशासन पर भी एक बृहत् स्वोपज्ञ **विवरण** लिखा है। इसकी दुर्गपदप्रबोध टीका में इसका वृत्ति नाम से उल्लेख किया है। इस विवरण का ग्रन्थमान ३६८४ श्लोक है।

२. **कनकप्रभ**—कनकप्रभ ने हैम बृहद्वृत्ति पर न्यासोद्धार अपर

नाम लघुन्यास नाम्नी टीका लिखी है। इसी ने हैम लिङ्गानुशासन पर अवचूरि नाम से व्याख्या की है।

काल—कनकप्रभ के गुरु देवेन्द्र, देवेन्द्र के उदयचन्द्र, और उदयचन्द्र के हेमचन्द्र सूरि थे। अतः कनकप्रभ का काल विक्रम की १३ वीं शती है।

३. जयानन्द सूरि—जयानन्द सूरि विरचित हैम लिङ्गानुशासन की वृत्ति का निर्देश 'जैन सत्य-प्रकाश' वर्ष ७ दीपोत्सवी अङ्क पृष्ठ ८८ पर मिलता है। हर्ष लिङ्गानुशासन के सम्पादक ने इस ग्रन्थ का नाम लिङ्गानुशासनवृत्त्युद्धार लिखा है।(निवेदना पृष्ठ ३४)। इस नाम से यह हैम व्याख्यारूप प्रतीत होता है। हम इसके विषय में अधिक नहीं जानते।

४. केसरविजय—केसरविजय महाराज ने भी हैमलिङ्गानुशासन पर एक वृत्ति लिखी है। यह मुद्रित हो चुकी है। इसका उल्लेख विजयक्षमाभद्र सूरि सम्पादित हैम लिङ्गानुशासन-विवरण के निवेदन पृष्ठ ११ पर मिलता है।

विवरणव्याख्याकार—वल्लभगणि

हैम लिङ्गानुशासन-विवरण पर आचार्य वल्लभगणि ने एक सुन्दर संक्षिप्त व्याख्या लिखी है।

परिचय—वल्लभगणि ने अपने आचार्य का नाम ज्ञानविमल उपाध्याय मिश्र लिखा है, और अपना वचनाचार्य विशेषण दिया है।

काल—ग्रन्थ के अन्त में निर्दिष्ट ४-५-६ श्लोकों से विदित होता है कि यह व्याख्या अकबर के राज्यकाल में जोधपुर में सूरसिंह राजा के शासनसमय में, जब खरतरगच्छ में जिनसिंह आचार्य रूप से सुशोभित थे, तब सं० १६६१ वि० कार्तिक मास में पूर्ण हुई थी। अतः यही काल वल्लभगणि का है।

व्याख्या-नाम—वल्लभगणि ने अपनी व्याख्या का नाम दुर्गपदप्रबोधा लिखा है।

परिमाण—अन्तिम श्लोक में दुर्गपदप्रबोधा का ग्रन्थमान दो सहस्र श्लोक कहा है।

———

१७—मलयगिरि (सं० ११८८–१२५० वि०)

मलयगिरि ने साङ्गोपाङ्ग व्याकरण का प्रवचन किया था। इस का वर्णन हम प्रथमभाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में कर चुके हैं। अतः उसके अवयवरूप लिङ्गानुशासन का प्रवचन भी उसने अवश्य किया होगा।

---

१८. मुग्धबोध-संबद्ध लिङ्गानुशासन

'वोपदेव का संस्कृत व्याकरण को योगदान' नामक शोधप्रबन्ध की लेखिका डा० शन्नोदेवी ने मुग्धबोध से सम्बद्ध लिङ्गानुशासन पर विस्तार से विचार किया है (द्र० शोध प्रबन्ध, पृष्ठ ४४०-४४२)। उनके लेखानुसार इन सूत्रों का संकलन गिरीशचन्द्र विद्यारत्न ने किया था।

१९—हेलाराज (वि० १४ वीं से पूर्व)

हेलाराजकृत लिङ्गानुशासन का निर्देश सायण ने अपनी माधवीय धातुवृत्ति[1] में, तथा भट्टोजि दीक्षित ने प्रौढमनोरमा[2] में किया है। हेलाराज ने धातुवृत्ति की रचना भी की थी। द्र०—माधवीय धातुवृत्ति, पृष्ठ ३९७।

इसके विषय में इससे अधिक हमें कुछ ज्ञात नहीं।

२०—रामसूरि

रामसूरि-विरचित लिङ्गनिर्णयभूषण नाम का एक ग्रन्थ मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह, तथा अडियार के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

---

१. प्रसिष्णुरिति हेलाराजीये लिङ्गनिर्देश प्रयुज्यते। पृष्ठ ११६, ग्रसु धातु पर।

२. 'प्रयुज्यते' के स्थान पर 'प्रयुक्तम्' पाठ भेद से। भाग १, पृष्ठ ५७९

ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—

'वाणीं प्रणम्य शिरसा बालानां ज्ञानसिद्धये।
स्त्रीपुन्नपुंसकं स्वल्पं वक्ष्यते शास्त्रनिश्चितम् ॥
तोरूरिविष्णुविदुषः सूनुना रामसूरिणा।
विरच्यते बुधश्लाघ्यं लिङ्गनिर्णयभूषणम् ॥'

अन्त में पाठ है—

'इति रामसूरिविरचितायां बालकौमुद्यां लिङ्गनिर्णयः समाप्तः।'

इन पाठों से ज्ञात होता है कि रामसूरि ने कोई 'बालकौमुदी' ग्रन्थ बनाया था। उसी का एकदेश यह लिङ्गनिर्णयभूषण है।

अडियार हस्तलेख के उपरिनिर्दिष्ट पाठानुसार रामसूरि के पिता का नाम 'तोरूरि विष्णु' था। मद्रास के सूचीपत्रानुसार तोनोरि विष्णु' है। अन्यत्र 'तोपुरी विष्णु' नाम मिलता है। यह ग्रन्थ सुदर्शन प्रेस काञ्ची से प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन सन् १६०६ में अनन्ताचार्य ने किया था।

२१—वेङ्कटरङ्ग

वेङ्कटरङ्ग विरचित **लिङ्गप्रबोध** नाम के ग्रन्थ के दो हस्तलेख अडियार के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। द्र०—सूचीपत्र-व्याकरण-विभाग, संख्या ४१०,४११।

२२-२३—अज्ञातनामा

लिङ्गकारिका—हर्षीय लिङ्गानुशासन के सम्पादक वे० वेङ्कट राम शर्मा ने अपनी निवेदना पृष्ठ ३४ में किसी अज्ञातनामा लेखक के **लिङ्गकारिका** नामक ग्रन्थ का निर्देश किया है। और लिखा है कि इसे वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में उद्धृत किया है। यदि यह निर्देश ठीक हो, तो इस लिङ्गकारिका का काल सं० ११९७ वि० से पूर्व होगा। ऐसी अवस्था में यह भी सम्भव है कि यह कारिका वररुचि प्रभृति प्राचीन आचार्यों में से किसी की हो।

लिङ्गनिर्णय—अडियार के पुस्तकालय में किसी अज्ञातनामा लेखक का **लिङ्गनिर्णय** ग्रन्थ विद्यमान है। देखो—सूचीपत्र, व्याकरणविभाग, सं० ४१२।

२४—नवकिशोर शास्त्री (सं० १९८८ वि०)

सारस्वत व्याकरण में लिङ्गानुशासन नहीं है। चौखम्बा ग्रन्थमाला काशी से सं० १९८८ में प्रकाशित सारस्वतचन्द्रिका के सम्पादक पं० नवकिशोर शास्त्री ने सारस्वत-व्याकरण की इस न्यूनता की पूर्ति के लिये पाणिनीय लिङ्गानुशासन के आधार पर लिङ्गानुशासन सूत्रों की रचना की। और उन पर स्वयं वृत्ति तथा 'चक्रधर' नाम्नी टिप्पणी लिखी। इसका संकेत सम्पादक ने स्वयं चन्द्रिका के उत्तरार्ध में अपनी भूमिका के अन्त में किया है।

२५—सरयू प्रसाद व्याकरणाचार्य

इनके विषय में डा० रामअवध पाण्डेय ने यह परिचय दिया है—'ये संस्कृत कालेज बलिया के अध्यापक हैं। इन्होंने लिङ्गानुशासन पर एक पुस्तक लिखी है,जो अभी अप्रकाशित है। इस पर पण्डित जी की स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। इसकी विशेषता यह है कि १८-२० श्लोकों में पूरा पाणिनीय लिङ्गानुशासन आ गया है।'[1]

निर्णीतरूप से ज्ञात लिङ्गानुशासन के प्रवक्ताओं और उपलब्ध लिङ्गानुशासनों का संक्षिप्त निर्देश करके अब हम उन आचार्यों वा लिङ्गबोधक ग्रन्थों का निर्देश करते हैं, जिनके सम्बन्ध में साधारण सूचनामात्र प्राप्त होती है—

अनिर्णीत लिङ्गप्रवक्ता वा अविज्ञात लिङ्गानुशासन

१-जैमिनिकोश-कार

२-कात्यायन

३-व्यास

---

१. सम्मेलन-पत्रिका, वर्ष ४६ अंक ३।

४-आनन्द कवि
५-दण्डी
६-वात्स्यायन
७-शाश्वत

इनका निर्देश वाररुच लिङ्गानुशासन के अज्ञातनामा टीकाकार की टीका के ७ वें श्लोक में मिलता है। यह श्लोक हम पूर्व (भाग २, पृष्ठ २८२) लिख चुके हैं। यह वररुचि के लिङ्गानुशासन की उक्त वृत्ति में कात्यायन का निर्देश होने से स्पष्ट है कि यह कात्यायन वररुचि कात्यायन से भिन्न है।

८—**रामनाथ विद्यावाचस्पति**—इसका उल्लेख लिङ्गादि सह टिप्पणी के नाम से मिलता है। हर्षीय लिङ्गानुशासन के सम्पादक वे० वेङ्कटराम शर्मा ने इसे स्वतन्त्र पुस्तक माना है। पं० गुरुपद हालदार का मत है कि यह अमर कोष की टीका है।[1]

९—**लिङ्गकारिका**—इसका उद्धरण वर्धमान ने गणरत्न महोदधि में दिया है।[2]

१०—**जयानन्द सूरि**—इसके ग्रन्थ का नाम लिङ्गानुशासन-वृत्त्युद्धार है। ग्रन्थ नाम से यह स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रतीत नहीं होता। यह अप्राप्य भी है।

११—**नन्दी**—नन्दीकृत लिङ्गानुशासन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

१२—**लिङ्गप्रबोध**—क्या लिङ्गबोध व्याकरण इसका नामान्तर हो सकता है? लिङ्गबोध व्याकरण लक्ष्मी वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से सं० १९८० वि० में छपा था।

१३—**विद्यानिधि**—डा० ओटो फ्रैंक ने एक तुलनात्मक पट्टिका बनाई थी। उसमें उसने लिखा था कि हर्षवर्धन हेमचन्द्र, यक्षवर्मा एवं श्री वल्लभ पर विद्यानिधि का प्रभाव था।

---

१. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४२१।
२. वही, पृष्ठ ४२१।

१४—जयसिंह—इसके ग्रन्थ का नाम 'लिङ्गवार्तिक' कहा जाता है।[1]

१५—पद्मनाभ—इसके लिङ्गानुशासन का निर्देश हालदार जी ने किया है।[2]

इस प्रकार हमने इस अध्याय में निर्णीत रूप से परिज्ञात २५ लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता आचार्यों, उनके अनेक व्याख्याताओं तथा १५ अनिर्णीत लिङ्ग-प्रवक्ता आचार्यों वा अज्ञात लिङ्गानुशासनों का निर्देश किया है, अगले अध्याय में परिभाषा-पाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता आचार्यों का वर्णन करेंगे।

---

१. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, भाग १ पृष्ठ ४२८।
२. वही, पृष्ठ ४२२।

छब्बीसवां अध्याय

परिभाषा-पाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता

पाणिनीय तथा उसके उत्तरवर्ती शब्दानुशासनों से संबद्ध **परिभाषा-पाठ** नामक एक संग्रह मिलता है। इन परिभाषा-पाठों में परिभाषाओं की संख्या में कुछ न्यूनाधिक्य, स्व-स्वतन्त्रानुकूल कुछ पाठ-भेद और क्रम-भेद दिखाई पड़ता है, अन्यथा सब कुछ प्रायः एक जैसा है।

परिभाषा का लक्षण—वैयाकरण परिभाषा का लक्षण '**अनियम-प्रसंगे नियमकारिणी परिभाषा**'[1] ऐसा करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने पारिभाषिक की भूमिका में '**परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते**'[2] ऐसा लक्षण किया है।

पहले लक्षण के अनुसार अनियम की प्राप्ति होने पर नियम करनेवाले सूत्र वा नियम 'परिभाषा' कहाते हैं। द्वितीय लक्षण के अनुसार जो सूत्र अथवा नियम सारे शास्त्र में आगे-पीछे सर्वत्र अपने नियमों का पालन करावें, वे 'परिभाषा' कहाते है।

महाभाष्यकार ने परिभाषा को भी एक विशिष्ट प्रकार का अधिकार माना है। **षष्ठी स्थानेयोगा** (१।१।४८) सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

'**अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्म अभिज्वलयति।**'

अर्थात् अधिकार तीन प्रकार का होता है। उनमें कोई एक देश

---

१. द्र०—परिभाषेयं स्थानिनियमार्था अनियमप्रसङ्गे नियमो विधीयते। काशिका १।१।३।।

२. तुलना करो—परितो व्यापृता भाषा परिभाषा। सा ह्येकदेशस्था सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा वेश्म प्रदीप इति। पुरुषोत्तम-परिभाषावृत्ति के 'क' संज्ञक हस्तलेख का पाठ टिप्पणी में द्रष्टव्य, राजशाही (बंगाल) संस्करण।

में स्थित होकर सारे शास्त्र को प्रकाशित करता है। जैसे अच्छे प्रकार से प्रज्वलित दीप सारे घर को (कमरे को) प्रकाशित करता है।

कैयट ने भाष्य के उक्त पाठ की व्याख्या करते हुये लिखा है—'**कश्चिदिति परिभाषारूप इत्यर्थः।**'

वस्तुतः दोनों लक्षणों में शब्दमात्र का भेद है, तात्त्विक भेद नहीं है।

परिभाषा का द्वैविध्य—उक्त प्रकार के नियम-वचन दो प्रकार के हैं। एक पाणिनीय आदि शास्त्रों में सूत्ररूप से पठित, दूसरे सूत्र आदि से ज्ञापित अथवा न्यायसिद्ध आदि।

परिभाषाओं का अन्य द्वैविध्य—कातन्त्र व्याकरणीय परिभाषाओं के व्याख्याता परिभाषाओं को **लिङ्गवती** और **विध्यङ्ग-शेषभूत** इन दो भागों में विभक्त करते हैं। लिङ्गवती परिभाषा शास्त्र के एकदेश में स्थित हुई सम्पूर्ण शास्त्र को प्रकाशित करती है। कहा भी है—

एकस्थः सविता देवो यथा विश्व प्रकाशकः।
तथा लिङ्गवती शास्त्रमेकस्थाऽपि प्रदीपयेत्॥

विध्यङ्ग शेषभूत परिभाषा जहां-जहां आवश्यकता होती है वहां-वहां पहुंच कर उन-उन विधियों का अवयव बनती है। यथा—

एकापि पुंश्चली पुंसां यथैकैकं प्रयाति च।
विध्यङ्ग शेषभूता तद्विधि प्रत्यनुगच्छति॥

पाणिनीय वैयाकरण परिभाषाओं के इन स्वरूपों का निर्देश **यथोद्देशं संज्ञा परिभाषम्** (=जहां पढ़ी गई हैं अथवा ज्ञापित हैं, उन्हीं स्थान में बैठकर कार्य करनेवाली संज्ञा और परिभाषाएं होती है) तथा **कार्यकालं संज्ञा परिभाषम्** (=जहां कार्य का समय होता है वहां पहुंचने वाली संज्ञा और परिभाषाएं होती हैं) के रूप में करते हैं।[1]

'**परिभाषा-पाठ**' शब्द से वैयाकरण-निकाय में दूसरे प्रकार के नियामक वचनों का ही ग्रहण होता है। अतः इस अध्याय में उन्हीं परिभाषाओं के ही प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन किया जाएगा।

---

१. व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृष्ठ १९३

परिभाषाओं का प्रामाण्य—द्वितीय प्रकार की परिभाषाएं सूत्र-पाठ से बहिर्भूत होती हुई भी सूत्र द्वारा ज्ञापित होने से, दूसरे शब्दों में सूत्रकार द्वारा उन नियमों के स्वीकृत होने से, तथा न्यायसिद्ध परिभाषाएं लोकविदित होने से वे सूत्रवत् प्रमाण मानी जाती हैं, और उनमें सूत्रवत् असिद्धादि कार्य होते हैं।

परिभाषाओं का चातुर्विध्य—ये परिभाषाएं चार प्रकार की हैं—

१—**ज्ञापित**—जो परिभाषाएं किसी सूत्र से ज्ञापित होती हैं, वे 'ज्ञापित' परिभाषाएं कहाती हैं। यथा—**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः**।

२—**न्यायसिद्ध**—जो परिभाषाएं लौकिक न्यायानुकूल होती हैं, वे 'न्यायसिद्ध' कहाती हैं। यथा—**गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः**।

३—**वाचनिक**—जो परिभाषाएं न तो सूत्र द्वारा ज्ञापित हैं, और न ही न्यायसिद्ध हैं, किन्तु आचार्यविशेष के वचन हैं, वे 'वाचनिक' मानी जाती हैं।

वाचनिक के दो भेद—वाचनिक परिभाषाएं दो प्रकार की हैं। एक तो वे—जो वार्तिककार के वचन ही परिभाषारूप से स्वीकृत कर लिए गये हैं। और दूसरी वे—जो भाष्यकार के वचन हैं।

कात्यायनवचन-परिभाषावृत्तिकार सीरदेव ने बहुत्र लिखा है—

'**अनिनस्मिन् ग्रहणान्यर्थ०**.................। **इदं च कात्यायनवचनं परिभाषारूपेण पठ्यते**।' परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १२१, परिभाषा संग्रह (पूना) पृष्ठ २३०।

'**पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने** ....। **सर्वस्य द्वे** (८।१।१) **इत्यत्रसूत्रे कात्यायनवाक्यमिदं परिभाषारूपेण पठ्यते**।' परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १६१, परिभाषा संग्रह (पूना) पृष्ठ २५४।

पुरुषोत्तम देव ने भी इन दोनों परिभाषाओं के सम्बन्ध में ऐसा ही लिखा है।[1]

पतञ्जलिवचन—पुरुषोत्तमदेव लिखता है—'अन्तरङ्गबहिरङ्ग-

---

१. कात्यायनवचनमेतत् परिभाषारूपेण पठ्यते। क्रमशः—परिभाषावृत्ति पृष्ठ ३१,५१ (राजशाही सं०), परिभाषा संग्रह (पुना) क्रमशः पृष्ठ १४६, १५७।

योरन्तरङ्गं बलवत्—विप्रतिषेधसूत्रे (१।४।२) इयं परिभाषा भाष्यकारेण पठिता।' परिभाषावृत्ति, पृष्ठ २१ (राजशाही सं०), परिभाषा संग्रह (पूना) पृष्ठ १३०।

सीरदेव भी इसी का अनुमोदन करता है।[1]

४—**मिश्रित**—कतिपय परिभाषाएं ऐसी भी हैं, जिनका एकदेश सूत्रकार द्वारा ज्ञापित होता है, और एकदेश न्यायसिद्ध है। यथा—

'सति शिष्टस्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः।' इस परिभाषा का पूर्वभाग न्यायसिद्ध है, और **अन्यत्र विकरणेभ्यः** अंश **तास्यनुदात्तेन्ङिद०** (६।१।१८६) सूत्र द्वारा ज्ञापित है।

कतिपय मिश्रित परिभाषाएं ऐसी भी हैं, जिनका एकदेश सूत्रकार द्वारा ज्ञापित होता है, और शेष अंश पूर्वाचार्यों द्वारा वचनरूप में पठित होता है। यथा—

'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः' परिभाषा का 'उपपदांश' तथा 'सुबुत्पत्ति से पूर्व समासविधान' भाग **उपपदमतिङ्** सूत्र के अतिङ् ग्रहण से ज्ञापित होता है, शेष अंश पूर्वाचार्यों का वाचनिक था, यह स्वीकार कर लिया है।[2]

परिभाषाओं का मूल

पाणिनीय तथा इतर वैयाकरणों द्वारा आश्रीयमाण परिभाषाओं का मूल क्या है? यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते। सामान्यतया इतना ही कह सकते हैं कि इन परिभाषाओं का मूल प्राचीन वैयाकरणों के सूत्रपाठों के विशिष्ट सूत्र हैं।

---

१. इयं परिभाषा विप्रतिषेधसूत्रे (१।४।२) भाष्ये न्यासे च पठिता। परिभाषावृत्ति, पृष्ठ ४५, परिभाषासंग्रह (पूना) पृष्ठ १८६।

२. द्रष्टव्य—गतिकारकोपपदानामिति परिभाषा पूर्वाचार्यैः पठिता, सूत्रकारेणाप्यतिङ्ग्रहणेन तद्देश आश्रिता। पद० भाग १, पृष्ठ ४०३। तुलना करो—'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणं भवति' के विषय में कैयट लिखता है—'पूर्वाचार्यैस्तावदेषा परिभाषा पठिता, इह त्वनन्तरग्रहणेन सैवाभ्यनुज्ञायते। प्रदीप ६।२।४९। इस पर नागेश कहता है—एकदेशानुमितिद्वारा कृत्स्ना परिभाषा ज्ञाप्यते।

सीरदेव लिखता है—'**परिभाषा हि नाम न साक्षात् पाणिनीय-वचनानि। किं तर्हि ? नानाचार्याणाम्।**' परिभाषावृत्ति, पृष्ठ १८६, परिभाषा संग्रह (पूना) पृष्ठ २६८।

सीरदेव से पूर्वभावी पुरुषोत्तमदेव का भी यही मत है।[1]

इसी प्रकार कैयट (प्रदीप ६।२।४९); हरदत्त (पद० भाग १, पृष्ठ ४०३), तथा सायण (भू धातु पर) ने परिभाषाओं को पूर्वाचार्यों के वचन कहा है।

ऐन्द्रादि तन्त्र मूल—नागेश भट्ट के शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्ड ने परिभाषेन्दु शेखर की 'गदा' नाम्नी टीका में परिभाषाओं का मूल ऐन्द्र आदि तन्त्रों को माना है।[2]

ये परिभाषाएं प्राचीन वैयाकरणों के शब्दानुशासनों में सूत्र अथवा उनके व्याख्यारूप वचन हैं। सम्भवतः इसी पक्ष को स्वीकार करके श्रीभोज ने परिभाषाओं को अपने सरस्वतीकण्ठाभरणरूप शब्दानुशासन में पुनः अन्तर्निहित कर लिया।[3]

परिभाषाओं के आश्रयण और अनाश्रयण की सीमा—सभी वैयाकरणों का इन परिभाषाओं के सम्बन्ध में सामान्य मत यह है कि जहां इनके आश्रयण के विना शास्त्रीय कार्य-निर्वाह नहीं होता, वहां इन का आश्रयण किया जाता है। और जहां इनके आश्रयण से दोष प्राप्त होता है, वहां इनका आश्रयण नहीं किया जाता।[4]

---

१. परिभाषा हि न पाणिनीयानि वचनानि। किं तर्हि, नानाचार्याणाम्। परिभाषावृत्ति, पृष्ठ ५५, परिभाषासंग्रह (पूना) पृष्ठ १६०।

२. द्र०—प्राचीनवैयाकरणतन्त्रे वाचनिकानि (परिभाषेन्दुशेखर के आरम्भ में)। इसकी व्याख्या में वैद्यनाथ ने लिखा है—'प्राचीनेति इन्द्रादीत्यर्थः।

३. प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में मध्य-मध्य में परिभाषाओं का संग्रह किया है।

४. तत्र पाणिनीये शब्दानुशासने यत्रैव विशिष्टविषये मुख्यलक्षणेन सिद्धिस्तत्रैवैता गत्यन्तरमपश्यद्भिराश्रीयन्ते। न तु यत्रैतासां समाश्रयणे दोष एव प्रत्युपपद्यते तत्रैताः समाश्रीयन्ते। पुरुषोत्तम देव, परिभाषावृत्ति, पृष्ठ ५५, परिभाषा-संग्रह (पूना) पृष्ठ १६०। यही लेख अत्यल्प शब्दभेद से सीरदेवीय परिभाषावृत्ति में भी मिलता है। द्र०—पृष्ठ १८६, परिभाषासंग्रह, पूना पृष्ठ २६९।

परिभाषापाठ के विषय में इतना सामान्य निर्देश करने के पश्चात् परिभाषापाठ के विशिष्ट प्रवक्ताओं और व्याख्याताओं का वर्णन करते हैं—

१. काशकृत्स्न (३१०० वि० पूर्व)

काशकृत्स्न आचार्यप्रोक्त व्याकरणशास्त्र का वर्णन हम पूर्व (भाग १, पृष्ठ ११५-१३३; च० सं०) कर चुके हैं। काशकृत्स्न-प्रोक्त धातुपाठ के व्याख्याता चन्नवीर कवि ने अन्य काशकृत्स्नीय सूत्रों के समान तुद (५।१) धातु के व्याख्यान में **'सकृद बाधितो विधिर्बाधित एव'**[1] एक वचन पढ़ा है। अन्य आचार्यों के व्याकरणों में कुछ भेद से यह वचन परिभाषापाठ में मिलता है। अतः विचारणीय है कि यह वचन व्याकरणशास्त्र का सूत्र है, अथवा काशकृत्स्न ने भी स्वशास्त्रसंबद्ध किसी परिभाषा पाठ का प्रवचन किया था? काश-कृत्स्नीय धातुपाठ और उणादिपाठों की उपस्थिति में यह सम्भावना अधिक युक्तिसिद्धि प्रतीत होती है कि उसने किसी परिभाषा पाठ का भी प्रवचन किया था।

२—व्याडि (२९५० वि० पूर्व)

पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा आश्रित परिभाषा-वचन यद्यपि पूर्वाचार्यों के सूत्ररूप हैं, तथापि इनको एक व्यवस्थित रूप के संगृहीत करने, और पाणिनीय तन्त्र के अनुरूप इनके स्वरूप को अभिव्यक्त करनेवाला कौन आचार्य है? इस पर विचार करने से विदित होता है कि सम्भवतः आचार्य व्याडि ने परिभाषापाठ को प्रथमतः व्यवस्थित रूप दिया हो। हमारी इस सम्भावना में निम्न हेतु हैं—

१–डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय (वर्तमान में विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर) में परिभाषापाठ के दो हस्तलेख विद्यमान हैं। इनके अन्त में लिखा है—

'केचित्तु व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरित्यादयः सर्वाः परिभाषा

---

१. काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम् पृष्ठ १५६।

व्याडिमुनिना विरचिता इत्याहुः।"[1]

२—भास्कर अग्निहोत्री अपरनाम हरिभास्करकृत परिभाषा-भास्कर के अन्त में लिखा है—

केचित्तु व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरित्यादि सर्वाः परिभाषा व्याडिमुनिना विरचिता इत्याहुः।[2]

३—इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में भास्कर भट्ट के किसी अन्तेवासी विरचित परिभाषावृत्ति का एक हस्तलेख है[3]। उसके आरम्भ में लिखा है—

'केचित् व्याख्यानत इति परिभाषा व्याडिमुनिविरचिता इत्याहुः।

४—ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित नीलकण्ठ दीक्षित की परिभाषापाठ की लघुवृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

'केचित्तु व्याख्यानत इत्यादिपरिभाषा व्याडिविरचिता इत्याहुः।'

५—जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के हस्तलेख-संग्रह में **व्याडीय परिभाषा-वृत्ति** नाम का एक ग्रन्थ विद्यमान है। द्रष्टव्य—सूचीपत्र पृष्ठ ३७।

६—महामहोपाध्याय काशीनाथ अभ्यंकर ने उपलभ्यमान समस्त परिभाषापाठों, तथा उनकी वृत्तियों का **परिभाषा संग्रह** नाम से एक संग्रह प्रकाशित किया है।[4] उनके इस संग्रह में प्रथम ग्रन्थ है—**व्याडिकृतं परिभाषासूचनम्,** और दूसरा **व्याडिपरिभाषा-पाठ।**

इनमें प्रथम ग्रन्थ सव्याख्या है। द्वितीय ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

'इति व्याडिविरचिताः पाणिनीयपरिभाषाः समाप्ताः।' पृष्ठ ४३।

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि व्याडि ने किसी परिभाषा का संग्रह अथवा प्रवचन किया था।

व्याडि के परिभाषा पाठ का सम्बन्ध साक्षात् पाणिनीय तन्त्र से

---

१. संग्रह संख्या ३२७७, ३२७२।

२. परिभाषा संग्रह (पूना), पृष्ठ ३७४।

३. सूचीपत्र, भाग १, खण्ड २, ग्रन्थ सं० ६७३।

४. भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, सन् १९६७।

था, अथवा उसके स्वीय तन्त्र से, यह कहना कठिन है (व्याडिप्रोक्त शब्दानुशासन का वर्णन हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ १४३–१४५ च० सं० पर कर चुके हैं), पुनरपि व्याडीय परिभाषा के जो दोनों ग्रन्थ महामहोपाध्याय काशीनाथ जी ने परिभाषासंग्रह में प्रकाशित किये हैं। उनमें **अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः**[1] परिभाषा का निर्देश होने से उक्त मुद्रित पाठों का सम्बन्ध पाणिनीय तन्त्र मे ही हैं, यह स्पष्ट है। इसकी पुष्टि द्वितीय पाठ के अन्त में विद्यमान **इति व्याडिविरचिताः पाणिनीयपरिभाषाः समाप्ताः** पाठ से, तथा रायल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के संग्रह (संख्या १०२०४) में विद्यमान परिभाषापाठ के '**व्याडिविरचिता पाणिनीयपरिभाषा**' पाठ से भी होती हैं।[2]

व्याडीय परिभाषापाठ का नाम—परिभाषा संग्रह के आरम्भ में मुद्रित व्याडीय परिभाषापाठ पर **परिभाषा-सूचनम्** नाम निर्दिष्ट है इसकी व्याख्या में भी—

'**अथ परिभाषासूचनम् व्याख्यास्यामः । अथेत्ययमधिकारार्थः। परिभाषासूचनं शास्त्रमधिकृतम् वेदितव्यम्।**' पृष्ठ १।

इस शास्त्र का नाम **परिभाषासूचन** लिखा है—

महामहोपाध्यायजी की भूल—परिभाषासूचन की व्याख्या का जो पाठ उद्धृत किया है, उससे स्पष्ट है कि **अथ परिभाषासूचनं व्याख्यास्यामः** यह इस ग्रन्थ का प्रथम सूत्र है। महामहोपाध्यायजी ने इसे व्याख्याकार का वचन समझ कर इसे सूत्ररूप में नहीं छापा है। सम्भवतः उन्हें यह भ्रम पाणिनीय तन्त्र के **शब्दानुशासनम्** की आधुनिक व्याख्याओं के आधार पर हुआ होगा, जिन में **अथ शब्दानुशासनम्** को भाष्यकारीय वचन कहा है।[3]

---

१. द्रष्टव्य—प्रथम पाठ (परिभाषासूचनम्) संख्या ६५, दूसरा पाठ संख्या ८४।

२. राजशाही (बंगाल) मुद्रित पुरुषोत्तमदेवीय परिभाषावृत्ति की भूमिका पृष्ठ २६।

३. यह पाणिनीयाष्टक का आदिम सूत्र है। इसके लिए देखिए यही ग्रन्थ

व्याडीय परिभाषापाठ के दो पाठ—महामहोपाध्यायजी द्वारा प्रकाशित व्याडीय परिभाषापाठ के जो दो ग्रन्थ छपे हैं, उन दोनों का पाठ भिन्न-भिन्न है। प्रथम पाठ में केवल ९३ परिभाषाएं हैं, दूसरे पाठ में १४० हैं। इनमें केवल संख्या का ही भेद नहीं है, परिभाषाओं का पौर्वापर्य तथा पाठभेद भी बहुत है।

पुनः द्विविध पाठ—पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा आश्रीयमाण परिभाषा-पाठ के सम्प्रति दो पाठ उपलब्ध होते हैं। एक पाठ है सीरदेव विरचित परिभाषावृत्ति में आश्रित, और दूसरा है परिभाषेन्दुशेखर आदि में आश्रित।

अब हम परिभाषाओं के विभिन्न पाठों के विषय में संक्षेप से लिखते हैं—

प्रथम पाठ—इस पाठ में ९३ परिभाषा-सूत्र हैं। प्रथम **अथ परिभाषासूचनं व्याख्यास्यामः** सूत्र को मिलाने पर ९४ सूत्र हो जाते हैं। इस पाठ की प्रथम परिभाषा **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य**, और अन्तिम **कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्** है।

इस पाठ पर एक टीका भी छपी है। व्याख्याकार का नाम अज्ञात है।

द्वितीय पाठ—द्वितीय पाठ में १४० परिभाषाएं हैं। इसमें भी प्रथम परिभाषा तो **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्** ही (पाठभेद से) है, परन्तु अन्तिम परिभाषा **ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र** है। इस पाठ के अन्त में पुष्पिका है—**इति व्याडिविरचिताः पाणिनीयपरिभाषाः समाप्ताः**।

तृतीय पाठ—यह पाठ पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति में उपलब्ध होता है। इसमें प्रथम परिभाषा तो **अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य** ही है, परन्तु अन्तिम परिभाषा **भवति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्** है। इसमें १२० परिभाषाएं हैं। इस परिभाषापाठ के किन्हीं हस्तलेखों के अन्त में इस प्रकार पाठ है—

प्रथम भाग, पृष्ठ २२६-२३० (च० सं०), तथा प्रत्याहारसूत्रों के लिए पृष्ठ २३०-२३२ (च० सं०)।

'इति पाणिनीयाचार्यविरचितानां परिभाषाणां लघुवृत्तिः सम्पूर्णा'।

इन तीनों पाठों का मूल एक है, क्योंकि आरम्भ की परिभाषा तीनों में समान है। हां, परिभाषाओं के पाठ, पौर्वापर्य क्रम और संख्या में अन्तर है।

चतुर्थ पाठ—यह पाठ सीरदेव की परिभाषावृत्ति में उपलब्ध होता है। इसमें १३३ परिभाषाएं हैं। इनमें १०२ परिभाषाएं ज्ञापकसिद्ध अथवा कात्यायनादि के वार्तिक रूप हैं। इनके अनन्तर ३१ परिभाषाएं न्यायसिद्ध हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है—'**अतः परं न्यायमूलाः परिभाषाः**।' पृष्ठ १६४, काशी सं०, परिभाषासंग्रह, पृष्ठ २५६।

वैशिष्टय—इस पाठ का वैशिष्टय यह है कि इसमें अष्टाध्यायी के क्रम से ज्ञापित अथवा वार्तिकरूप परिभाषाओं का संग्रह है। इसलिए सर्वत्र इति "**प्रथमः पादः, भूपादः, कारकपादः, इति प्रथमोऽध्यायः** आदि पाठ उपलब्ध होते हैं।

पञ्चम पाठ—यह पाठ नागेश भट्ट के परिभाषेन्दुशेखर में उपलब्ध होता है। इसमें १३३ परिभाषाएं हैं। इस पाठ में परिभाषाओं का संग्रह भी कौमुदी आदि के अन्तर्गत सूत्रपाठ के समान लक्ष्यसिद्धि क्रम से किया है। सम्प्रति पाणिनीय वैयाकरणों में यही पाठ अध्ययनाध्यापन में प्रचलित है। आधुनिक लेखकों ने इसी पाठ पर अपनी व्याख्याएं लिखी हैं। इस पाठ को प्राधान्येन आश्रय करके लिखे गए व्याख्या-ग्रन्थों में परिभाषाओं की संख्या सर्वत्र समान नहीं है। यथा शेषाद्रिनाथ सुधी-विरचित परिभाषाभास्कर में ११० ही परिभाषाएं हैं।

व्याडीय परिभाषावृत्तिकार

व्याडिप्रोक्त परिभाषापाठ पर किसी अज्ञातनामा वैयाकरण ने एक वृत्ति लिखी है। इसके कई हस्तलेखों के आधार पर महामहोपाध्याय काशीनाथ अभ्यङ्कर **परिभाषासंग्रह** के आरम्भ में इस वृत्ति को प्रकाशित किया है।

परिभाषावृत्तिकार ने अपने देश काल, यहां तक कि स्वनाम का भी ग्रन्थ में निर्देश नहीं किया। अतः इसका देश काल आदि सर्वथा अज्ञात है।

३—पाणिनि (२६०० वि० पूर्व)

परिभाषापाठ के कई हस्तलेख तथा वृत्तिग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके अन्त में परिभाषाओं को **पाणिनीय, पाणिनि-प्रोक्त** वा **पाणिनि-विरचित** कहा है। यथा—

१. अडियार (मद्रास) के हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग २ (सन् १९२८) पृष्ठ ७२ पर परिभाषासूत्रों का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। उसमें लिखा है—'**परिभाषासूत्राणि पाणिनिकृतानि**।'

२. पूर्व (पृष्ठ ३१०, भाग २) परिभाषाओं के विविध-पाठनिर्देश प्रकरणान्तर्गत तृतीय पाठ में पुरुषोत्तमदेव की परिभाषा-वृत्ति के अन्त का जो पाठ उद्धृत किया है, उससे भी यही ध्वनित होता है कि कोई परिभाषासूत्र वा पाठ पाणिनिप्रोक्त है।

निष्कर्ष—पूर्वापर सभी पक्षों पर विचार करके हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पाणिनि ने स्व-तन्त्र सम्बद्ध किसी परिभाषापाठ का प्रवचन किया था। हमारे विचार की पुष्टि महाभाष्य १।४।२ के—

'**पठिष्यति ह्याचार्यः सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव इति**।'

वचन से भी होती है। क्योंकि महाभाष्य में आचार्य पद का निर्देश पाणिनि और कात्यायन के लिए ही किया जाता है। नागेश ने इस पर लिखा है कि आचार्य से यहां वार्तिककार अभिप्रेत है।[1] परन्तु सम्पूर्ण महाभाष्य में कहीं पर भी यह परिभाषा वार्तिक रूप में पठित नहीं है। अतः यहां पाणिनि के लिए प्रयुक्त हुआ आचार्य पद परिभाषापाठ के पाणिनीय-प्रवचन को ही स्पष्ट कर रहा है। अत एव उसी के अनुकरण पर पाणिनि से उत्तरवर्ती वैयाकरण भी बराबर स्व-तन्त्र-संबद्ध परिभाषा-पाठों का प्रायः प्रवचन करते आ रहे हैं।

हां, यह हो सकता है कि पाणिनीय परिभाषाओं का मूल आधार व्याडि की अपने तन्त्र से संबद्ध परिभाषाएं हों। ऐसा होने पर परिभाषापाठ के पूर्वनिर्दिष्ट द्वितीय पाठ के अन्त की पंक्ति **इति व्याडिविरचिताः पाणिनीयपरिभाषाः समाप्ताः** का अभिप्राय अधिक

---

१. भाष्य आचार्यो वार्तिककारः।

स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार पूर्व-निर्दिष्ट परिभाषापाठ के पांचों पाठों का संबन्ध पाणिनीय परिभाषापाठ से उपपन्न हो जाता है।

अब हम परिभाषापाठ के व्याख्याकारों का कालक्रम से वर्णन करते हैं—

परिभाषा-पाठ के व्याख्याता

१. हरदत्त (सं० १११५ वि०)

काशिकावृत्ति के व्याख्याता हरदत्त ने परिभाषापाठ पर परिभाषाप्रकरण नामक एक ग्रन्थ लिखा था। वह ६।१।३७ की व्याख्या में लिखता है—

'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य' नैषास्ति परिभाषा, प्रयोजनाभावात्। एतच्चास्माभिः परिभाषाप्रकरणाख्ये ग्रन्थे उपपादितम्।' पदमञ्जरी ६।१।३७; भाग २, पृष्ठ ४३७।

इससे अधिक इस विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

---

२. अज्ञातनाम (सं० १२०० वि० से पूर्व)

अमरटीकासर्वस्व के रचयिता सर्वानन्द वन्द्यघटीय (सं० १२१६) ने अमरकोश २।८।६८ की टीका में किसी परिभाषावृत्तिकार का निम्न पाठ उद्धृत किया है—

'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः कृतमपि शास्त्रं निवर्तयन्ति। अत्र हि अकृतव्यूहा अगृहीतशास्त्रा इति परिभाषावृत्तिकारैरुक्तम्।' भाग ३ पृष्ठ १०६।

यह पाठ पुरुषोत्तमदेव की वृत्ति में उपलब्ध नहीं होता।

सर्वानन्द का काल सं० १२१६ वि० है। अतः यह वृत्ति उससे पूर्ववर्ती होने से सं० १२०० वि० अथवा उससे पूर्व की है।

---

३. पुरुषोत्तमदेव (सं० १२०० वि०)

पुरुषोत्तमदेव ने परिभाषापाठ पर एक अनतिविस्तर वृत्ति लिखी

है। यह **लघुवृत्ति** और **ललितावृत्ति** के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

पुरुषोत्तमदेव के देश-काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४२८-४२९ (च० सं०) पर लिख चुके हैं।

परिभाषावृत्ति का वैशिष्टय—यह वृत्ति पूर्वनिर्दिष्ट व्याडीय परिभाषापाठ पर है। पुरुषोत्तमदेव ने अपने ज्ञापकसमुच्चय के आरम्भ में इस वृत्ति को **वृद्ध-सम्मता** कहा है।[2]

परिभाषाविवरण—गोंडल (सौराष्ट्र) की रसशाला औषधाश्रम के हस्तलेख-संग्रह में **परिभाषा-विवरण** नामक एक ग्रन्थ है (द्र०—सूचीपत्र, व्याकरणविभाग, सं० ३३)। इस ग्रन्थ के अन्त में लेखन-काल सं० **१५८४ चैत्रशुद्धेकादश्यां** निर्दिष्ट है।[3] इस विवरण के रचयिता का नाम अज्ञात है। इसमें भी परिभाषाओं का वही क्रम है, जो पुरुषोत्तमदेव की वृत्ति में है। केवल इतना अन्तर है कि पुरुषोत्तमदेव की वृत्ति में १२० परिभाषाएं व्याख्यात हैं, इसमें ११५ हैं। इस हस्तलेख के पत्रा ४ पर **यदाह मिहिरः-मुनिवचनविरोधे युक्तिता केन चिन्त्या**[4] इति पाठ उपलब्ध होता है। यह पाठ इसी रूप में पुरुषोत्तमदेव की परिभाषा वृत्ति में ७वीं परिभाषा की व्याख्या में मिलता है।[5] अतः सन्देह होता है कि उक्त परिभाषाविवरण का हस्तलेख कदाचित् पुरुषोत्तमीय परिभाषावृत्ति का हो। दोनों की तुलना आवश्यक है। हमने जब गोण्डल का उक्त हस्तलेख देखा था, उस समय हमारे पास पुरुषोतमदेव की परिभाषावृत्ति नहीं थी।

ज्ञापक-समुच्चय—पुरुषोत्तमदेव ने **ज्ञापक-समुच्चय** नाम का एक

---

१. इति श्रीपाणिन्याचार्यविरचितानां परिभाषाणां लघुवृत्तिः सम्पूर्णा। काशीनाथ अभ्यङ्कर, परिभाषा-संग्रह, पृष्ठ १६। इति वैयाकरणगजपञ्चानन-श्रीपुरुषोत्तमदेवविरचिता ललिताख्या परिभाषावृत्तिः समाप्ता। राजशाही (बंगाल), पृष्ठ ५६।

२. यश्चक्रे परिभाषाणां वृत्तिं वृद्धसम्मताम्। ज्ञापकसमुच्चय, पृष्ठ ५७।

३. परिभाषाविवरणश्चायं समाप्तः। सं० १५८४ चैत्रशुद्धयेकादश्यां रामानुजेन परिभाषाविवरणमलेखि।

४. बृहत्संहिता, अ० १।

५. परिभाषावृत्ति, पृष्ठ ६, परिभाषासंग्रह, पृष्ठ ११६।

ग्रन्थ और लिखा है। इसमें अष्टाध्यायी के क्रम से तत्तत् सूत्रों से ज्ञापित होनेवाले विविध नियमों का विस्तार से विवरण लिखा है। ज्ञापकसमुच्चय की रचना परिभाषावृत्ति के अनन्तर हुई, यह इसके प्रथम श्लोक तथा अनेक स्थानों पर परिभाषावृत्ति के उल्लेख से स्पष्ट है।

---

४. सीरदेव (सं० १२००–१४०० वि०)

सीरदेव विरचित परिभाषावृत्ति बहुत वर्ष पूर्व काशी से प्रकाशित हो चुकी है। इसका नवीन संस्करण पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने परिभाषा संग्रह के अन्तर्गत प्रकाशित किया है।

परिचय—सीरदेव ने परिभाषावृत्ति में अपना कोई परिचय नहीं दिया। अतः इसका देश काल आदि अज्ञात है।

काल—सीरदेव ने परिभाषावृत्ति में जितने ग्रन्थकारों का स्मरण किया है, उनमें सब से अर्वाचीन पुरुषोत्तमदेव है (द्र०-पृष्ठ १६,१५०, १७५ काशी सं०[1])। यह सीरदेव के समय की पूर्व सीमा है। सीरदेव को उद्धृत करनेवालों में सायण सब से प्राचीन है। वह धातुवृत्ति में अनेकत्र सीरदेव की परिभाषावृत्ति को उद्धृत करता है। यथा—

क-**यदुक्तं सीरदेवेन व्यधिकपरिभाषायाः""""तदपि वृत्तिवार्तिकविरोधादेव प्रत्युक्तम्**। द्युत धातु ७२८, पृष्ठ १२६, चौखम्बा सं०।

ख-**अचिकीर्तत् इतिसिद्ध्यर्थमनित्यत्वं चास्या वदन् सीरदेवोऽपि प्रत्युक्तः**। कृत धातु १०।११६, पृष्ठ ३८६, चौखम्बा सं०।

यह सीरदेव के काल की उत्तर सीमा है। इस प्रकार सीरदेव का काल स्थूलतया सं० १२००-१४०० वि० के मध्य है। महामहोपाध्याय अभ्यङ्कर ने सीरदेव का काल ईसा की १२वीं शती माना है।

परिभाषावृत्ति का वैशिष्ट्य—यह परिभाषापाठ अष्टाध्यायी के क्रम से तत्तत् सूत्रों से ज्ञापित अथवा तत्सम्बन्धी वार्तिक आदिरूप वचनों का संग्रहरूप है। हमारे विचार में यदि पाणिनि ने किसी परिभाषापाठ का प्रवचन किया होगा, तो वह यही अष्टाध्यायीक्रमानु-

---

१. परिभाषा संग्रह में क्रमशः पृष्ठ १७१,२४७,२६३।

सारी पाठ रहा होगा। परन्तु इस पाठ में जो वार्तिक अथवा भाष्य-वचन परिभाषारूपेण सम्मिलित हैं, वे निश्चय ही पाणिनीय प्रवचन में नहीं थे।

दूसरा वैशिष्ट्य इस वृत्ति की प्रौढ़ता तथा विचार-गहनता है। यह वृत्ति सम्पूर्ण वृत्तियों से सब से अधिक विस्तृत है, अतः यह बृहद् वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

परिभाषासंख्या में भेद—सीरदेवीय परिभाषावृत्ति के काशी संस्करण में परिभाषाओं की संख्या १३३ है। काशीनाथ अभ्यङ्कर द्वारा प्रकाशित परिभाषा संग्रह में १३० संख्या है।

व्याख्याकार

१—श्रीमानशर्मा (सं० १५००-१५५० वि०)

श्रीमानशर्मा नामक विद्वान् ने सीरदेवीय परिभाषापाठ पर **विजया** नाम्नी टिप्पणी लिखी है। इसका हस्तलेख भण्डारकर प्राच्य-विद्याप्रतिष्ठान पूना में है।

परिचय—श्रीमानशर्मा ने अपनी **विजया टिप्पणी** के अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है।

'अनुन्यासादिसारस्य कर्त्रा श्रीमानशर्मणा।
श्रीलक्ष्मीपतिपुत्रेण विजयेयं विनिर्मिता॥

इति वारेन्द्रचम्पाहट्टीय श्रीश्रीमानशर्मनिर्म्मिता सीरदेवबृहत्-परिभाषावृत्तिटिप्पणी विजयाख्या समाप्ता।'

इस निर्देश के अनुसार श्रीमानशर्मा के पिता का नाम लक्ष्मीपति था, और वह वारेन्द्र चम्पाहट्टि कुल का था।

श्रीमानशर्मा ने अपने वर्षकृत्य ग्रन्थ के अन्त में अपने को व्याकरण तर्क सुकृत (=कर्मकाण्ड) आगम और काव्यशास्त्र का इन्दु कहा है। यह पद्मनाभ मिश्र का गुरु था।

काल—श्रीमानशर्मा का काल सं० १५००-१५५० वि० के मध्य है।

श्रीमानशर्मा के विशेष परिचय के लिए देखिए दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य सम्पादित परिभाषावृत्ति-ज्ञापकसमुच्चय (राजशाही-बङ्गाल)

की भूमिका पृष्ठ १६-१७। हमने उसी के आधार पर संक्षिप्त परिचय दिया है।

श्रीमान शर्मा कृत विजया टिप्पणी म० म० काशीनाथ अभ्यङ्कर द्वारा सम्पादित परिभाषा संग्रह में पृष्ठ २७३–२६२ तक छप चुकी है।

२—रामभद्र दीक्षित (सं० १७४४ वि०)

सीरदेवीय परिभाषावृत्ति पर रामभद्र दीक्षित ने एक व्याख्या लिखी है। इसके अनेक हस्तलेख विभिन्न हस्तलेख-संग्राहक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

परिचय तथा काल—रामभद्र दीक्षित के काल के आदि के विषय उणादिप्रकरण (पृष्ठ २३४-२३५) में लिख चुके हैं, अतः वहीं देखें।

३—अज्ञातनाम

अडियार (मद्रास) के हस्तलेख संग्रह में अज्ञातकर्तृक **परिभाषा-वृत्ति-संग्रह** नामक एक हस्तलेख है। द्र०—व्याकरणविभाग, संख्या ५०१। यह वृत्तिसंग्रह सीरदेवीय परिभाषावृत्ति का संक्षेपरूप है। परन्तु इसके अन्त में लिखित **इति महामहोपाध्याय सीरदेवकृतौ परिभाषावृत्तिः समाप्ता** पाठ सन्देह उत्पन्न करता है।

इसी प्रसंग में आगे संख्या १० पर निर्दिष्ट वैद्यनाथ शास्त्रीकृत परिभाषार्थ-संग्रह भी द्रष्टव्य है।

---

५. विष्णु शेष [शेष विष्णु] (सं० १५००-१५५० वि०)

विष्णु शेष (शेष विष्णु) ने पाणिनीय सम्प्रदाय के सम्बद्ध परिभाषा पाठ पर 'परिभाषाप्रकाश' नाम की एक वृत्ति लिखी है। इसका एक हस्तलेख भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान पूना के संग्रह में है। द्र० सूचीपत्र (सन् १९३८) संख्या ३००(पृष्ठ २३३)। परिभाषा-प्रकाश के आरम्भ में विष्णु शेष ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

शेषावतंसं शेषांशं जगत्त्रयपूजितम्।
चक्रपाणिं तथा नत्वा पितरं कृष्णपण्डितम् ॥२॥
भ्रातरं च जगन्नाथं विष्णुशेषेण धीमता।
परिभाषाप्रकाशोऽयं क्रियते धीमतां मुदे ॥३॥

अन्त में—इति श्रीमच्छेषकृष्णपण्डितात्मजविष्णुपण्डितविरचिते परिभाषाप्रकाशे प्रथमः; पादः ।

शेष वंश का चित्र हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के पृष्ठ ४३६ (च०सं०) पर दिया है। आरम्भ में (तृतीय संस्करण पयन्त) हमें इस शेषवंशावतंस विष्णु पण्डित का परिचय नहीं था। अतः उसमें इसका उल्लेख नहीं किया था। शेष विष्णु ने अपना जो परिचय दिया है, तदनुसार यह विष्णु किसी कृष्ण पण्डित का पुत्र है। विष्णु ने अपने भ्राता जगन्नाथ का उल्लेख किया है। विट्ठल ने भी प्रक्रियाकौमुदी के अन्त में १४वें श्लोक में किसी जगन्नाथाश्रम को स्मरण किया है, यह सम्भवतः शेषविष्णु का भ्राता जगन्नाथ होगा। विट्ठल के समय संन्यस्त हो जाने से जगन्नाथाश्रम के नाम से स्मरण किया गया है।

शेषविष्णु को प्रक्रिया-कौमुदी के व्याख्याता शेषकृष्ण का पुत्र मानने में एक कठिनाई यह प्रतीत होती है कि उसने केवल जगन्नाथ को ही क्यों स्मरण किया? शेषकृष्ण के अन्य दो प्रसिद्ध पुत्र रामेश्वर और नागनाथ या नागोजी का उल्लेख क्यों नहीं किया? इसी प्रकार शेष विष्णु द्वारा स्मृत चक्रपाणि क्या प्रौढमनोरमा का खण्डनकार हो सकता है? चक्रपाणि के साथ विष्णु ने अपना कोई सम्बन्ध नहीं दर्शाया। क्या चक्रपाणि उसका गुरु हो सकता है? इन कठिनाइयों के कारण हम नवीन संस्करण में भी शेष विष्णु का स्थान शेषवंश के चित्र में निर्दिष्ट नहीं कर सके। शेषविष्णु का काल स्थूलरूप में सं० १५००-१६०० के मध्य माना जा सकता है।

---

६. परिभाषाविवरणकार (सं० १५८४ वि०)

गोण्डल के रसशाला औषधाश्रम के हस्तलेख-संग्रह में **परिभाषा-विवरण** नामक एक हस्तलेख है। इसका लेखनकाल सं० १५८४ वि० चैत्र सुदी एकादशी है।

इस हस्तलेख के सम्बन्ध में पूर्व पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति के प्रसंग में (पृष्ठ ३१४) लिख चुके हैं।

---

७. परिभाषावृत्तिकार

एक अज्ञातकर्तृक परिभाषावृत्ति का हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। द्र०-सूचीपत्र भाग ५, खण्ड १ए, पृष्ठ ६२७१, नं० ४२५८।

लेखक का नाम अज्ञात होने से इसके देश कालादि का परिज्ञान भी नहीं हो सका। इस परिभाषावृत्ति में परिभाषाओं का पाठक्रम, सीरदेव की परिभाषावृत्ति के समान अष्टाध्यायी के अध्याय-क्रम के अनुसार है। अष्टमाध्याय के अन्त में **अथ प्रायेण न्यायमूला परिभाषा उच्यन्ते** कह कर सीरदेव के समान ही न्यायमूलक परिभाषाएं पढ़ी हैं। इससे इस परिभाषावृत्ति के पर्याप्त प्राचीन होने की संभावना है। इसीलिए हमने इसका यहां निर्देश किया है।

---

८. नीलकण्ठ वाजपेयी (सं० १६००–१६७५ वि०)

नीलकण्ठ वाजयेयी ने परिभाषापाठ पर एक संक्षिप्त वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति ट्रिवेण्ड्रम से प्रकाशित हो चुकी है। अब यह पूना से प्रकाशित 'परिभाषासंग्रह' में भी पृष्ठ २९३-३१६ तक पुनः प्रकाशित हो गई है।

परिचय—नीलकण्ठ वाजपेयी के देश काल आदि का परिचय हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४४१–४४२ (च० सं०) पर भली प्रकार दे चुके हैं। अतः इस संबन्ध में वहीं देखें।

इस परिभाषावृत्ति में १३० परिभाषाओं का व्याख्यान है। उसके अनन्तर १० प्रक्षिप्त और निर्मूल परिभाषाओं का निर्देश हैं।

पृष्ठ १० पर—**अस्मद्गुरुचरणकृततत्त्वबोधिनीव्याख्याने गूढार्थदीपकाख्याने प्रपञ्चितम्।**[1]

पृष्ठ १६ पर—**भाष्यतत्त्वविवेके प्रपञ्चितमस्माभिः।**[2]

पृष्ठ २६ पर—**विस्तरतु वैयाकरणसिद्धान्तरहस्याख्यास्मत्कृत-**

---

१. परिभाषा-संग्रह (पूना) पृष्ठ २९७।

२. परिभाषा-संग्रह (पूना) पृष्ठ २९९।

सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यानेऽनुसन्धेयः ।[1]

पृष्ठ २६ पर—**अस्मत्कृतपाणिनीयदीपिकायां स्पष्टम्** ।[2]

नीलकण्ठ-विरचित इन ग्रन्थों का यथास्थान निर्देश हम प्रथम भाग में कर चुके हैं।

---

९. भीम

भीम नामक वैयाकरण द्वारा लिखित परिभाषावृत्ति का एक हस्तलेख जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में विद्यमान है। इस वृत्ति का नाम **परिभाषार्थमञ्जरी** है। द्र०—जम्मू सूचीपत्र पृष्ठ ४२।

भीमकृत परिभाषार्थमञ्जरी के तीन हस्तलेख भण्डारकर प्राच्य-विद्या शोधप्रतिष्ठान पूना के संग्रह में हैं। द्र० व्याकरणविभागीय सूचीपत्र (सन् १९३८) संख्या ३१५,३१६,३१७ (पृष्ठ २४५–२४७।

इस के संख्या ३१५ के हस्तलेख के अन्त में पाठ है—

इति श्रीमद्गलगलेकरोपनामकमाधवाचार्यतनयभीमप्रणीता परिभाषार्थमञ्जरी समाप्ता । संवत् १८५२.........।

भीम के पिता का नाम माधवाचार्य था। इसका 'मद्गलगलेकर' उपनाम था। इस उपनाम से विदित होता है कि ग्रन्थकार महाराष्ट्र का निवासी था। इससे अधिक हम भीम के विषय में कुछ नहीं जानते।

---

१०. वैद्यनाथ शास्त्री (सं० १७५० वि० के समीप)

वैद्यनाथ विरचित **परिभाषार्थसंग्रह** के अनेक हस्तलेख विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं।

परिचय—वैद्यनाथ शास्त्री ने स्वयं परिभाषार्थ-संग्रह के अन्त में

---

१. परिभाषा-संग्रह (पूना) पृष्ठ ३०३।

२. परिभाषा-संग्रह (पूना) पृष्ठ ३०४।

अपने पिता का नाम रत्नगिरि दीक्षित लिखा है।[1] परिभाषार्थ संग्रह के प्रारम्भ के द्वितीय श्लोक में मातुल रामभद्र मख को नमस्कार किया है। रामभद्र मख का वर्णन वैद्यनाथ शास्त्री ने इस प्रकार किया है—

मूर्तिर्यस्य हि पाणिनिः पदमहाभाष्यप्रबन्धा तथा
वाक्यानां कृदपि स्वयं वितनुते वाग्यस्य दास्यं सदा।
शिष्या यस्य विरोधिवादिमकुटीकुट्टाकवाधाटिकास् (?)
तस्मै मातुलरामभद्रमखिने भूयो नमो मे भवेत्।[2]

इससे स्पष्ट है कि वैद्यनाथ शास्त्री रामभद्र दीक्षित की बहिन का पुत्र है। रामभद्र मखी का पूरा वंश चित्र प्रथम भाग के ४६४ पृष्ठ पर देखें।

काल—उपर्युक्त वंशक्रम के अनुसार वैद्यनाथ शास्त्री का काल सं० १७५० वि० के लगभग होना चाहिए।

एक कठिनाई—'उणादिसूत्रों के प्रवक्ता और व्याख्याता' अध्याय में हम लिख चुके हैं कि महादेव वेदान्ती ने सं० १७५० वि० में विष्णु-सहस्रनाम की व्याख्या लिखी है।[3] महादेव वेदान्ती के गुरु का नाम स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती है।[4] इस स्वयंप्रकाशानन्द ने वैद्यनाथ शास्त्री कृत परिभाषासंग्रह पर चन्द्रिका नाम्नी टीका लिखी है। इस दृष्टि से वैद्यनाथ शास्त्री का काल सं० १७५० वि० से कुछ पूर्व होना चाहिए।

परिभाषावृत्ति—वैद्यनाथ शास्त्री कृत परिभाषावृत्ति हमने साक्षात् नहीं देखी। अतः इसके विषय में आधिकारिक रूप से तो कुछ नहीं कह सकते, तथापि इस वृत्ति की अन्तिम पुष्पिका[5] से ज्ञात

---

१. इति रत्नगिरिदीक्षितपुत्रवैद्यनाथशास्त्रिणः कृतिषु परिभाषार्थसंग्रहे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः। अडियार का हस्तलेख, संख्या ४८३।

२. अडियार-हस्तलेख संग्रह, व्याकरणविभागीय सूचीपत्र, हस्तलेख संख्या ४८३ के विवरण में उद्धृत पाठ।

३. यही भाग, पृष्ठ २३२। ४. यही भाग, पृष्ठ २३२।

५. इति श्रीमद्रत्नगिरिदीक्षितपुत्रवैद्यनाथशास्त्रिणः कृतिषु परिभाषार्थ-संग्रह न्यायमूलाः परिभाषाः समाप्ताः। मद्रास द्र०-सूचीपत्र भाग ३ (व्याकरण विभाग) सन् १९०६, पृष्ठ १०१७।

होता है कि यह परिभाषावृत्ति सीरदेव की परिभाषावृत्ति के अनुकूल है। क्योंकि दोनों वृत्तियों में अष्टाध्यायी के अध्याय[1] क्रम से परिभाषाओं का संग्रह है, और दोनों में न्यायमूला परिभाषाएं अन्त में व्याख्यात हैं। इस परिभाषावृत्ति के परिभाषार्थसंग्रह नाम से ध्वनित होता है कि यह सीरदेवीय बृहत्परिभाषावृत्ति का संग्रहरूप ग्रन्थ है।

सीरदेवीय परिभाषावृत्ति के अज्ञातकर्तृक **परिभाषावृत्ति-संग्रह** का उल्लेख हम पूर्व पृष्ठ ३१८ पर कर चुके हैं।

व्याख्याकार

१—स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती—वैद्यनाथ शास्त्री के गुरु स्वयं प्रकाशानन्द सरस्वती ने इस परिभाषार्थसंग्रह पर **चन्द्रिका** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इसके हस्तलेख मद्रास तथा तञ्जौर के पुस्तकालयों में विद्यमान हैं।

परिचय—स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती के गुरु का नाम अद्वैतानन्द सरस्वती है।[2] स्वयंप्रकाशानन्द सरस्वती के शिष्य महादेव वेदान्ती ने उणादिकोश पर **निजविनोदा** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका वर्णन हम पूर्व उणादिव्याख्याकार प्रकरण में कर चुके हैं।[3]

काल—महादेव वेदान्ती ने सं० १७५० वि० में विष्णुसहस्रनाम की व्याख्या लिखी थी। यह हम उणादि प्रकरण में लिख चुके हैं।[4] अतः स्वयंप्रकाशानन्द का काल भी सं० १७१०–१७६० वि० के लगभग मानना उचित होगा।

२—अप्पा दीक्षित—अप्पा दीक्षित ने परिभाषार्थसंग्रह पर **सारबोधिनी** नाम्नी व्याख्या लिखी है।

परिचय—अप्पा दीक्षित ने अपना परिचय निम्न शब्दों में दिया है—

---

१. द्र० यही भाग —३२१ पृष्ठ की टि० १।

२. इति श्रीमत्परहंसपरिव्राजकसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमदद्वैतानन्दसरस्वतीचरणारविन्दभृङ्गायमाणस्य श्रीमत्स्वयंप्रकाशानन्दस्य कृतौ परिभाषार्थसंग्रहव्याख्यायां चन्द्रिकायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः। द्र०—मद्रास सूचीपत्र (पूर्वनिर्दिष्ट) पृष्ठ १०१८।

३. यही भाग, पृष्ठ २३३।   ४. यही भाग, पृष्ठ २३२।

'अप्पयदीक्षितवरान्वयसंभवेन
स्वात्मावबोधफलमात्रकृतश्रमेण ।
अप्पाभिधेन मखिना रचिता समीयात् ......।'[1]

इससे केवल इतना ही विदित होता है कि अप्पा दीक्षित का जन्म अप्पयदीक्षित के वंश में हुआ था ।

अप्पा दीक्षित ने **सूत्रप्रकाश** तथा **पाणिनि सूत्रप्रकाश** नाम से अष्टाध्यायी की एक वृत्ति लिखी है[2] । उसमें दिये गये परिचय के अनुसार पिता का नाम धर्मराज वेङ्कटेश्वर और पितामह का नाम वेङ्कट सुब्रह्मण्य लिखा है । शाब्दिक-चिन्तामणि का लेखक गोपाल कृष्ण शास्त्री इसका गुरु है । गोपाल कृष्ण शास्त्री कृत शाब्दिक-चिन्तामणि का उल्लेख प्रथम भाग में पृष्ठ ४४४ (च० सं०) पर कर चुके हैं ।

दोनों व्याख्याकारों के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते ।

एक आपाजी 'परिभाषाभास्कर' के लेखक भास्कर अथवा हरि-भास्कर के पिता हैं । यह काश्यपगोत्रीय हैं । अप्पय दीक्षित भारद्वाज-गोत्रीय थे । अतः यह आपाजी **सारबोधिनी** का लेखक नहीं हो सकता । दूसरे अप्पा सुधी हैं । इन्होंने **परिभाषारत्न** नाम्नी परिभाषावृत्ति की रचना की थी । ये भी अन्य व्यक्ति प्रतीत होते हैं । इन दोनों परिभाषावृत्तियों का वर्णन अनुपद ही किया जाएगा ।

---

११. हरि भास्कर अग्निहोत्री

भास्कर अपरनाम हरिभास्कर अग्निहोत्री ने परिभाषापाठ पर **परिभाषाभास्कर** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है । इसके दो हस्तलेख मद्रास राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान हैं । जम्मू के रघुनाथमन्दिर के पुस्तकालय में भी इसका एक हस्तलेख सुरक्षित है । उसके सूचीपत्र

---

१. अडियार सूचीपत्र, व्याकरण विभाग, ग्रन्थ संख्या ४६४ ।

२. इस सूत्र वृत्ति का वर्णन अष्टाध्यायी के वृत्तिकार, नामक अध्याय में प्रथम भाग में देखें ।

में ग्रन्थकर्ता का नाम हरिभास्कर लिखा है।[1]

परिचय—भास्कर ने परिभाषाभास्कर में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

आदि में—**श्रीगुरून् पितरौ नत्वाऽग्निहोत्री भास्कराभिधः।**
भास्करं परिभाषाणां तनुते बालबुद्धये ॥२॥

अन्त में—**काशीक्षेत्रवासी हृतकठिनतरारातिषड्वर्गदम्भः।**
श्रीमानापाजिभट्टः सुरयजनतत्परः शुद्धधीराविरासीत् ॥

इति काश्यपान्वयसंभवाग्निहोत्रिकुलतिलकायमानहरिभट्टसूनु-श्रीमद्आपाजिभट्टसूनुना[2] भास्करविरचितः परिभाषा-भास्करः समाप्तिमगात्।[3]

भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान में भी इस व्याख्या के तीन हस्तलेख हैं। द्र० व्याकरण विभागीय सूचीपत्र (सन् १९३८) संख्या ३०१, ३०२, ३०३ (पृष्ठ २३४-२३६)। इनके अन्त में निम्न पाठ है—

इति श्रीमदग्निहोतृवंशावतंसहरिभट्टात्मजापाजिभट्टसुतापराभिधान हरिभास्कर कृतः परिभाषाभास्करः समाप्तिमगात्।

इन निर्देशों के अनुसार भास्कर के पिता का नाम आपाजि, पितामह का नाम हरिभट्ट और हरिभट्ट के पिता का नाम उत्तमभट्ट था।[4] इसका गोत्र कश्यप था, और यह अग्निहोत्री कुल का था।

---

१. जम्मू के सूचीपत्र पृष्ठ ४२ पर हरिभास्कर के पिता का नाम 'आयाजि' छपा है। सम्भवतः यह 'आपाजि' का भ्रष्ट पाठ हो।

२. हरिभास्करकृतः परिभाषाभास्कर—………। पाठान्तर पूना सं० पृष्ठ ३७४।

३. मद्रास राजकीय पुस्तकालय सूचीपत्र, भाग २, खण्ड १ C, पृष्ठ २४२५; संख्या १७१३। तथा भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान पूना, व्याकरण विभागीय सूचीपत्र (१९३८), संख्या ३०३; ६५३/१८८३-८४।

४. द्र०—तञ्जौर पुस्तकालय के सूचीपत्र, भाग १०, ग्रन्थ संख्या ५७१७ का विवरण।

आपाजिभट्ट काशी निवासी थे। काशीनाथ अभ्यङ्कर ने हरिभास्कर अग्निहोत्री का काल सन् १६७७ के लगभग माना है।

हरिभास्कर के एक अज्ञातनामा शिष्य ने **लघुपरिभाषावृत्ति** लिखी है।

इससे अधिक हम इस ग्रन्थकार के विषय में कुछ नहीं जानते। हरिभास्कर कृत परिभाषाभास्कर पूना से प्रकाशित परिभाषासंग्रह में छप चुका है।

---

१२. हरिभास्कर अग्निहोत्री का शिष्य

हरिभास्कर अग्निहोत्री के किसी अज्ञातनाम शिष्य ने **लघुपरिभाषावृत्ति** नाम्नी वृत्ति लिखी है। इस ग्रन्थकार का नाम अज्ञात है। इसका एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में विद्यमान है। (द्र०—सूचीपत्र भाग १, खण्ड २, संख्या ६७३)। सम्भवतः इसी वृत्ति का एक हस्तलेख भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध-प्रतिष्ठान पूना के संग्रह में है। द्र० सूचीपत्र व्याकरणशास्त्रीय (सन् १९३८) संख्या ३०४, पृष्ठ २३७। हस्तलेख के अन्त में निम्न लेख है—

'इति भास्करभट्टाग्निहोत्रिकुलतिलकायमानान्तेवासिना निर्मिता लघुपरिभाषावृत्तिरगाच्चरमवर्णध्वंसम्।'

इससे अधिक हम इसके विषय में कुछ नहीं जानते।

---

१३. धर्मसूरि

धर्मसूरि ने **परिभाषार्थप्रकाशिका** नाम से परिभाषा पाठ की एक व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख अडियार के ग्रन्थसंग्रह में विद्यमान है। द्र० सूचीपत्र, व्याकरण विभाग, ग्रन्थांक ४८१।

इस वृत्ति के अन्त में निम्न पाठ उपलब्ध होता है—

'इति पन्विल्लान्वयवायदुग्धपाथोनिधिशरत्प्रकाशनिशाब्दिकचक्रवर्तिपद्मनाभसनयेन' धर्मसूरिणा विरचिता परिभाषार्थप्रकाशिका समाप्ता।'

गुरु—इसके प्रथम श्लोक के अनुसार धर्मसूरि के गुरु का नाम उपेन्द्रपाद यति है।

काल—इसका काल अज्ञात है, परन्तु सूचीपत्र के अनुसार जिन ग्रन्थकारों के नाम उद्धृत हैं उनमें प्रौढ़-मनोरमा की शब्दरत्न व्याख्या के रचयिता हरिदीक्षित का नाम भी है। अतः इसकी रचना विक्रम की १८ वीं शती में हुई होगी।

---

१४. अप्पा सुधी

परिभाषापाठ पर अप्पा सुधी विरचित **परिभाषारत्न** नामक ग्रन्थ अडियार के पुस्तक-संग्रह में विद्यमान है। इसकी संख्या ४८० है (व्याकरणविभाग)।

यह परिभषारत्न श्लोकबद्ध है। इसके अन्त में निम्न लेख है—

'इति परिभाषारत्ने श्लोकाः (१६३), पञ्चाधिकविंशतिप्रयुक्त-शतं १२५ परिभाषा गृहीता।

इस अप्पा सुधी के देश काल आदि के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है।

---

१५. उदयंकर भट्ट

उदयङ्कर भट्ट विरचित **परिभाषाप्रदीपार्चि** का एक हस्तलेख काशी के सरस्वती भवन के संग्रह में, और दूसरा अडियार के हस्त-लेख संग्रह में विद्यमान है। द्रष्टव्य—काशी का पुराना सूचीपत्र, संग्रह सं० १३, वेष्टन संख्या १३, तथा अडियार संग्रह का व्याकरणविभाग का सूचीपत्र संख्या ४७६। अडियार के हस्तलेख के—

आदि में—**कृत्वा पाणिनिसूत्राणां मितवृत्त्यर्थसंग्रहम्।**
परिभाषाप्रदीपार्चिस्तत्रोपायो निरूप्यते॥

अन्त में—**परिभाषाप्रदीपार्चिष्युदयंकरदर्शिते।**
प्रथमो व्याकृतोऽध्यायः संगतः संयतः सताम्॥

ये श्लोक उपलब्ध होते हैं। इन से इतना ही विदित होता है कि

उदयंकर ने पाणिनीय अष्टाध्यायी पर भी मितवृत्त्यर्थ-संग्रह ग्रन्थ लिखा है ।

जम्मू के पुस्तकालय में उदयन विरचित मितवृत्त्यर्थ-संग्रह नामक एक ग्रन्थ विद्यमान है । वह भी अष्टाध्यायी की व्याख्या रूप है ।[1] उसके आरम्भ में लिखा है—

'मुनित्रयमतं ज्ञात्वा वृत्तीरालोक्य यत्नतः ।
करोत्युदयनः साधु मितवृत्त्यर्थसंग्रहम् ।।'[2]

यहां दोनों ग्रन्थों के नाम समान हैं, परन्तु ग्रन्थकार के नामों में कुछ समानता होते हुए भी वैषम्य है । हमारा विचार है कि समान नामवाली पाणिनीय सूत्रवृत्ति के कर्त्ता ये दोनों भिन्न-भिन्न ग्रन्थकार हैं । परिभाषावृत्तियों में भी परिभाषाभास्कर एक ऐसा नाम मिलता है, जिसके कर्ता विभिन्न व्यक्ति हैं । हरिभास्कर अग्निहोत्री विरचित परिभाषाभास्कर का पहले वर्णन कर चुके हैं । शेषाद्रि विरचित का आगे उल्लेख करेंगे ।

एक उदयङ्कर पाठक ने लगभग सं० १८५० वि० में लघुशब्देन्दु-शेखर की टीका लिखी थी । यदि यही उदयङ्कर पाठक उदयङ्कर भट्ट हो, तो इसका काल नागेश से परवर्ती होगा ।

इससे अधिक इस वृत्ति के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है ।

उपरिनिर्दिष्ट परिभाषा-वृत्तियां प्रायः सीरदेवीय परिभाषापाठ के सदृश अष्टाध्यायी क्रम से संगृहीत परिभाषापाठ पर लिखी गई हैं । यह इनके अन्तिम पाठों से प्रायः व्यक्त है ।

अब हम उन परिभाषावृत्तियों का वर्णन करते हैं । जो परिभाषा के पूर्व निर्दिष्ट पञ्चम पाठ पर लिखी गई हैं—

१६. नागेशभट्ट (सं० १७३०–१८१० वि०)

नागेश भट्ट विरचित परिभाषेन्दुशेखर ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

---

१. इसके लिए देखिए—इसी ग्रन्थ का प्रथम भाग, पृष्ठ ५४८ (च० सं०) ।
२. जम्मू सूचीपत्र, पृष्ठ २६१ ।

सम्प्रति परिभाषा के ज्ञान के लिए यही ग्रन्थ पठन-पाठन में व्यवहृत होता है।

परिचय—नागेश भट्ट का विस्तृत परिचय हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग, पृष्ठ ४६७-४६९(च०सं०)पर लिख चुके हैं। पाठक वहीं देखें।

नागेश ने परिभाषेन्दुशेखर की रचना मञ्जूषा और शब्देन्दुशेखर के अनन्तर की है। शब्देन्दुशेखर का निर्देश परिभाषा १६,२३,११४ तथा मञ्जूषा का निर्देश परिभाषा ४३,८४ की व्याख्या में मिलता है।

परिभाषेन्दुशेखर में व्याख्यात परिभाषाओं का क्रम लक्ष्यसिद्धि के अनुसार है, यह हम पूर्व कह चुके हैं। यह क्रम नागेश भट्ट के द्वारा सम्पन्न किया गया, अथवा उससे पूर्ववर्ती किसी वैयाकरण ने तैयार किया, यह अज्ञात है।

टीकाकार

परिभाषेन्दुशेखर पर कई लेखकों ने टीकाएं लिखी हैं। उनमें से कतिपय प्राचीन टीकाएं इस प्रकार हैं—

वैद्यनाथ पायगुण्ड—गदा
शिवराम (१८५०)—लक्ष्मीविलास
विश्वनाथभट्ट—चन्द्रिका
ब्रह्मानन्द सरस्वती—चित्प्रभा
राघवेन्द्राचार्य—त्रिपथगा
वेङ्कटेशपुत्र—त्रिपथगा
भैरवमिश्र—भैरवी
शेषशर्मा—सर्वमंगला
शंकरभट्ट—शंकरी

इनमें से वैद्यनाथ पायगुण्ड कृत छाया नाम्नी प्रदीपोद्योत व्याख्या तथा प्रभा नाम्नी शब्दकौस्तुभ टीका, और राघवेन्द्राचार्यकृत प्रभा नाम्नी शब्दकौस्तुभ टीका का वर्णन हम प्रथम भाग में यथास्थान कर चुके हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य भी कुछ टीकाएं प्राचीन तथा नवीन लेखकों की उपलब्ध होती हैं।

———

१७. शेषाद्रि सुधी

शेषाद्रि सुधी नामक वैयाकरण ने **परिभाषाभास्कर** नाम्नी परिभाषावृत्ति लिखी है। इसे कृष्णमाचार्य ने सन् १९०२ में प्रकाशित किया है। ग्रन्थकार ने इसमें अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। म० म० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने 'परिभाषा संग्रह' में इसे पृष्ठ ३७८-४६५ तक छपवाया है।

शेषाद्रि ने इस व्याख्या में स्थान-स्थान पर नागेश भट्ट कृत परिभाषेन्दुशेखर का नाम-निर्देश के विना खण्डन किया है। यथा—

परिभाषा २३ की व्याख्या में—**यत्तु नव्योक्तम्-विशेष्यान्तरासत्त्वे शब्दरूपं विशेष्यमादाय येन विधिसूत्रेण तदन्तविधिः सिद्ध इति, तदयुक्तम्।**'

यह नव्योक्त वचन शब्दवैपरीत्य से परिभाषेन्दुशेखर में २३ वीं[1] परिभाषा की व्याख्या में उपलब्ध होता है।

इसी प्रकार परिभाषा-भास्कर परिभाषा ८८ में—**एतेन नमःशब्दस्य क्रिया वाचित्वम्, इयं च वाचनिक्येव इत्यादि नव्योक्तमपास्तम्** यह नव्योक्त मत परिभाषेन्दुशेखर परिभाषा १०३[2] में निर्दिष्ट है।

यदि शेषाद्रिकृत परिभाषा-भास्कर का अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक ने यह ग्रन्थ परिभाषेन्दुशेखर के खण्डन के लिये ही रचा है।

शेषाद्रि सुधी का देश काल अज्ञात है। हां, इसके परिभाषा-भास्कर में परिभाषेन्दुशेखर का खण्डन होने से स्पष्ट है कि शेषाद्रि सुधी नागेशभट्ट से उत्तरवर्ती है।

१८. रामप्रसाद द्विवेदी (सं० १९७३ वि०)

रामप्रसाद द्विवेदी नामक व्यक्ति ने **सार्थपरिभाषापाठ** नाम से

---

१. म० म० अभ्यङ्कर जी ने इस पाठ पर परिभाषेन्दुशेखर की परिभाषा की संख्या नहीं दी है।

२. इस पर अभ्यङ्कर जी ने (प० भा० शे० ९४) निर्देश किया है। द्र० परिभाषा संग्रह, पृष्ठ ४५१।

स्वकृत परिभाषा की लघुवृत्ति प्रकाशित की है। यह काशी से सं० १९७३ में छपी है। इसमें पहिली १२७ परिभाषाएं परिभाषेन्दुशेखर के अनुसार हैं।[1] अन्त में २५ परिभाषाएं ऐसी व्याख्यात हैं, जो परिभाषेन्दुशेखर में नहीं हैं।

१९. गोविन्दाचार्य

गोविन्दाचार्य नामक किसी वैयाकरण द्वारा विरचित **परिभाषार्थप्रदीप** संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के सरस्वती भवन के संग्रह में विद्यमान है। हमने इसे सन् १९३४ में देखा था। उस समय यह संग्रह संख्या १३ वेष्टन संख्या ६ में रखा हुआ था।

अब हम अज्ञातनामा लेखकों द्वारा विरचित परिभाषावृत्तियों का उल्लेख करेंगे।

२०. परिभाषाविवृतिकार

२१. परिभाषाविवृत्ति-व्याख्याकार (सं०१८६९ वि०)

परिभाषाविवृत्ति ग्रन्थ के लेखक का नाम अज्ञात है, और यह ग्रन्थ भी हमारे देखने में नहीं आया। परन्तु गोण्डल के रसशाला औषधाश्रम के हस्तलेख संग्रह में इसकी व्याख्या का एक हस्तलेख विद्यमान है। द्र०-व्याकरणविभाग संख्या ३४। इस परिभाषाविवृतिव्याख्या के लेखक का नाम भी अज्ञात है।

ग्रन्थकार ने आरम्भ में जो परिचय दिया है, तदनुसार उसके पिता का नाम भवदेव, और माता का नाम सीता था।[2]

इस हस्तलेख के अन्त में सं० १८६९ निर्दिष्ट है। इससे इतना व्यक्त है कि इसका काल सं० १८६९ वि० अथवा उससे पूर्ववर्ती है।

---

१. इति परिभाषेन्दुशेखरपाठः।

२. नत्वा तातं गुरुं देवं भवदेवाभिधं विभुम्।
यद्यशोभिर्धवलिताः ककुभो जननीं पराम्॥
सीतां पतिव्रतां देवीं भरद्वाजकुलोद्वहाम्।
विवृतेः परिभाषाणां व्याख्यां कुर्वे यथामति॥

इस व्याख्या में परिभाषेन्दुशेखर के विरोधों का बहुधा परिहार उपलब्ध होता है।

२२-२३ परिभाषावृत्तिकार

अडियार के हस्तलेख-संग्रह के सूचीपत्र 'व्याकरण विभाग' में संख्या ४६५,४६६ पर पाणिनीय परिभाषा की दो वृत्तियों का उल्लेख मिलता है। दोनों के ही लेखकों का नाम अज्ञात है।

इनमें संख्या ४६५ की श्लोक-बद्ध वृत्ति है, और संख्या ४६६ की गद्यरूप।

इस प्रकार पाणिनीय सम्प्रदाय से सम्बद्ध ज्ञात परिभाषाव्याख्याताओं का वर्णन करके अब अर्वाचीन व्याकरण से सम्बद्ध परिभाषा-प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करते हैं—

४—कातन्त्रीय परिभाषा-प्रवक्ता

कातन्त्र व्याकरण से सम्बद्ध जो परिभाषापाठ सम्प्रति उपलब्ध होता है, वह अनेक प्रकार का है। परिभाषासंग्रह में पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने चार प्रकार का पाठ प्रकाशित किया है। दो पाठ वृत्ति सहित हैं, और दो मूलमात्र। इनमें अन्तिम पाठ **कालाप परिभाषासूत्र** के नाम से छपा है। कलाप कातन्त्र का ही नामान्तर है, यह हम प्रथमभाग में कातन्त्र प्रकरण में लिख चुके हैं।

इन पाठों में प्रथम दुर्गसिंह के वृत्तियुक्त पाठ में ६५ परिभाषाएं हैं, द्वितीय भावमिश्रकृत वृत्ति में ६२, तृतीय कातन्त्र परिभाषासूत्र में ६७ परिभाषासूत्र और २९ बलाबल सूत्र=९६ सूत्र, और चतुर्थ कालाप परिभाषा सूत्र ११८ परिभाषाएं हैं।

प्रवक्ता—कातन्त्र परिभाषापाठ का आदि प्रवक्ता अथवा संग्रहीता कौन व्यक्ति है, यह कहना अत्यन्त कठिन है। दुर्गसिंहकृत वृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

'तत्र सूत्रकारयोः शर्ववर्मकात्यायनयोः सूत्राणां चतुःशत्यां पञ्चा-

शवधिकायां[1] परिभाषा नोक्ताः । अथ च वृत्तिटीकयोस्तत्र तत्र प्रयुक्ताः कार्येषु दृश्यन्ते । अतस्तासां युक्तितः संसिद्धिरुच्यते । परिभाषा-संग्रह पृष्ठ ४९ ।

अर्थात्—सूत्रकार शर्ववर्मा और कात्यायन ने ४५० सूत्रों में परिभाषाएं नहीं पढ़ीं, परन्तु वृत्ति और टीका में जहां-तहां कार्यों में प्रयुक्त देखी जाती हैं । इसलिए उनकी युक्ति से संसिद्धि कहते हैं ।

इस लेख से इतना स्पष्ट है कि इनका प्रवक्ता शर्ववर्मा अथवा कात्यायन नहीं है । वृत्ति और टीकाकारों ने पूर्व व्याकरण-ग्रन्थों के अनुसार इनका जहां-तहां प्रयोग किया था । उसे देखकर किसी कातन्त्र अनुयायी ने पूर्वतः विद्यमान परिभाषाओं को अपने शब्दानुशासन के अनुकूल रूप देकर ग्रथित कर दिया । यथा हैम शब्दानुशासन से संबद्ध परिभाषाओं को हेमहंसगणि ने ग्रथित किया है ।

यह ग्रन्थनकार्य मुद्रित वृत्ति के कर्त्ता दुर्गसिंह से पूर्व ही सम्पन्न हो गया था, ऐसा उसकी वृत्ति से द्योतित होता है । वह लिखता है—

क—केचिद 'वोऽह्वेर्मे' (का० २।३।३१) **इति वचनं ज्ञापकं मन्यन्ते इति ।** परिभाषासंग्रह, पृष्ठ ६१ ।

ख—कश्चिदत्र 'न वर्णाश्रये प्रत्ययलोपलक्षणम्' इति पठति । परिभाषासंग्रह, पृष्ठ ६४ ।

इन दोनों में दुर्गसिंह अपने से पूर्व वृत्तिकारों को स्मरण करता है । प्रथमपाठ में पूर्ववृत्तिकार द्वारा निर्दिष्ट ज्ञापकसूत्र का उल्लेख है । दूसरे में परिभाषा के पाठभेद का उल्लेख किया है । अतः स्पष्ट है कि इस वृत्तिकार दुर्ग से पूर्व न केवल कातन्त्र-सम्बद्ध परिभाषा-पाठ ही व्यवस्थित हो चुका था, अपितु उस पर कई व्याख्याएं में लिखी जा चुकी थीं ।

वृत्तिकार

१. अज्ञातनामा (दुर्गसिंह से पूर्ववर्ती)

दुर्गसिंह की वृत्ति के जो दो पाठ ऊपर उद्धृत किये हैं, उनमें

---

१. यहां पाठ में कुछ भ्रंश हुआ है । कातन्त्र में केवल ४५० ही सूत्र

प्रथम पाठ से यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट है कि इस दुर्गसिंह से पूर्व कातन्त्र परिभाषा-पाठ पर कोई वृत्ति लिखी जा चुकी थी। उसी की ओर संकेत करके दुर्गसिंह लिख रहा है कि कोई व्याख्याकार **अन्त्याभावे**..........इस परिभाषा का ज्ञापन '**वोऽद्धेर्मः**' (का० २।३।३१) सूत्र से मानता है।

इस अज्ञातनाम वृत्तिकार तथा उसकी व्याख्या के विषय में इससे अधिक कोई संकेत नहीं मिलता।

२. दुर्गसिंह (सं० ६७३–७०० वि०)

कातन्त्र परिभाषा पर दुर्गसिंह की वृत्ति पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर परिभाषासंग्रह में प्रकाशित कर रहे हैं। इस वृत्ति के जो हस्तलेख उन्हें मिले हैं, उनमें से B. संकेतित में ही **इति दुर्गसिंहोक्ता परिभाषावृत्तिः समाप्ता** पाठ उपलब्ध होता है। इसका एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में भी विद्यमान है (द्र०–सूचीपत्र भाग १, खण्ड २ सं० ७७२)। उसके अन्त में भी **दुर्गसिंहोक्ता** पाठ है। अतः यह वृत्ति दुर्गसिंह कृत है, यह स्पष्ट है।

कौनसा दुर्गसिंह?—कातन्त्र सम्प्रदाय में दुर्गसिंह नाम के दो व्याख्याकार प्रसिद्ध हैं। एक वृत्तिकार, दूसरा वृत्तिटीकाकार। इन दोनों में से किस दुर्गसिंह ने यह परिभाषावृत्ति लिखी, यह विचारणीय है।

दुर्गसिंह की इस परिभाषावृत्ति में १२ वीं, परिभाषा की वृत्ति में भट्टि काव्य १८।४१ का श्लोक उद्धृत है। अतः यह स्पष्ट है कि यह दुर्ग भट्टिकार से परवर्ती है। भट्टि काव्य की रचना वलभी के श्रीधरसेन राजा के काल में हुई थी। श्रीधरसेन नामक चार राजाओं का काल सं० ५५७–७०७ वि० तक माना जाता है। भट्टि काव्य की रचना सम्भवतः प्रथम श्रीधरसेन के काल (सं० ५५७) में हुई, ऐसा आगे लिखेंगे। हमारे विचार में इस वृत्ति का लेखक वृत्तिकार प्रथम दुर्गसिंह है, जिसका काल सं० ६७३–७०० वि० के मध्य है। म० म०

नहीं है। सम्भवतः यहां मूल पाठ 'चतुर्दशशत्यां' हो। दो शकारों के एकत्र लेख से यह पाठभ्रंश हुआ प्रतीत होता है।

काशीनाथ अभ्यङ्कर ने इस वृत्ति का काल ९ वीं शती ई० लिखा है। तदनुसार यह दुर्गसिंह कातन्त्र वृत्ति का टीकाकार होना चाहिये। परन्तु लिङ्गानुशासन का प्रवक्ता और व्याख्याता भी प्रथम दुर्गसिंह है, यह हम 'लिङ्गानुशासन के प्रवक्ता और व्याख्याता' प्रकरण में लिख चुके हैं। अतः हमारे विचारानुसार वृत्तिकार दुर्गसिंह होना चाहिये।

टीकाकार—मदन

मदन नाम के किसी व्यक्ति ने दुर्गसिंह की वृत्ति पर टीका लिखी है। वह लिखता है—

श्रीमता मदनेनेयं कातन्त्राम्बुजभास्वता।
बोधाय परिभाषाणां वृत्तौ टीका विरच्यते॥[1]

इसने भावमिश्र व्याख्यात ६२ परिभाषाओं की चर्चा की है अतः सम्भव है यह टीकाकार भावमिश्र से उत्तर कालीन होवे।

इससे अधिक हम इसके विषय में नहीं जानते।

३. कवीन्द्र जयदेव

कवीन्द्र जयदेव ने भी कातन्त्रीय परिभाषापाठ की व्याख्या लिखी है। इसका हस्तलेख भुवनेश्वर में है। उसने यह ग्रन्थ प्रताप रुद्र नगर की यात्रा के प्रसङ्ग में लिखा थी। वह ग्रन्थ के अन्त में लिखता है—

प्रताप रुद्रीयपुरं गच्छता कार्यहेतवे।
कवीन्द्रजयदेवेन परिभाषाः समापिताः॥[2]

कवीन्द्र जयदेव का काल अज्ञात है। इसने ५५ परिभाषाओं पर ही व्याख्या लिखी है। अतः यह भाव मिश्र से प्राचीन है ऐसा हमारा विचार है।

४. भावमिश्र

भावमिश्र कृत कातन्त्र-परिभाषावृत्ति परिभाषा-संग्रह में प्रका-

---

१. कातन्त्र व्याकरण विमर्श, पृष्ठ १९६।

२. कातन्त्र व्याकरणः विमर्श, पृष्ठ १९५।

शित हुई है। भावमिश्र ने अपना कोई परिचय इस वृत्ति में नहीं दिया। भावमिश्र ने वृत्ति के आरम्भ में प्रकीर्णकार विद्यानन्द नामक किसी कातन्त्रीय वैयाकरण का उल्लेख किया है—**प्रकीर्णके विद्यानन्देन कारिकयोक्तम्**...... परिभाषा संग्रह, पृष्ठ ६७।

यदि प्रकीर्ण से कातन्त्रोत्तर का अभिप्राय होवे तो यह विद्यानन्द विजयानन्द जिसका दूसरा नाम विद्यानन्द भी है, वह हो सकता है। यह कल्पनामात्र है।

५. माधवदास कविचन्द्र भिषक्

किसी माधवदास कविचन्द्रभिषक् ने कातन्त्रीय परिभाषाओं पर एक वृत्ति लिखी थी। इसका निर्देश कविकण्ठहार ने 'चर्करीतरहस्य' के द्वितीय श्लोक में इस प्रकार किया है—

परिभाषाटीकायां माधवदास कविचन्द्र भिषजा यत्।' इसके कालादि के सम्बन्ध में भी हम नहीं जानते।

कातन्त्र परिभाषाओं के व्याख्याकारों के विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते।

---

५. चन्द्रगोमी (१००० वि० पूर्व)

चन्द्रगोमी प्रोक्त परिभाषापाठ पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने परिभाषासंग्रह में प्रकाशित किया है। इस पाठ में ८३ परिभाषाएं हैं।

चन्द्रगोमी के काल आदि के विषय में हम प्रथम भाग (पृष्ठ ३६८-३७१, च० सं०) में लिख चुके हैं।

प्रवक्ता—इस परिभाषापाठ का प्रवक्ता **चन्द्रगोमी** ही है, अन्य कोई चान्द्र सम्प्रदाय का वैयाकरण नहीं है। यह इस परिभाषापाठ की ८६ वीं परिभाषा—**स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्** से स्पष्ट है। क्योंकि चान्द्र व्याकरण के विषय में वैयाकरणों में चिरकाल से यह प्रवाद दृढमूल है कि चान्द्र-व्याकरण केवल लौकिक भाषा का व्याकरण है। इसमें स्वर वैदिक प्रकरण नहीं था। हमने इस ग्रन्थ के

---

१. कातन्त्र व्याकरण विमर्श, पृष्ठ ४४,४५।

प्रथम भाग में प्रथम वार यह प्रमाणित किया है कि चान्द्र व्याकरण में स्वर प्रकरण था। इसकी पुष्टि में हमने चान्द्रवृत्ति से सात प्रमाण उद्धृत किए हैं।[1] छठे प्रमाण से स्पष्ट व्यक्त होता है कि स्वर-प्रकरण चान्द्र-व्याकरण के आठवें अध्याय में था। इस समय इसके छः अध्याय ही उपलब्ध हैं। अतः यदि ये परिभाषासूत्र स्वयं चन्द्रगोमी के न होकर किसी उत्तरवर्ती वैयाकरण के होते, तो चान्द्र-व्याकरण की स्वरसंबन्धी अप्रसिद्धि के कारण स्वरशास्त्र से संबन्ध रखनेवाली ८६ वीं परिभाषा का निर्देश इस परिभाषा में न मिलता।

इस परिभाषापाठ पर कोई वृत्ति उपलब्ध वा ज्ञात नहीं है।

६—जैनेन्द्र संबद्ध

देवनन्दी प्रोक्त शब्दानुशासन से संबद्ध जैनेन्द्र-परिभाषा का न कोई स्वतन्त्रपाठ उपलब्ध है, और न कोई वृत्तिग्रन्थ। हां, अभयनन्दी विरचित महावृत्ति में अनेक परिभाषाएं यत्र-तत्र उद्धृत हैं। परिभाषासंग्रह के सम्पादक पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने लिखा है—

'ग्रन्थं नागेशभट्टानां परिभाषेन्दुशेखरम्।
सम्पादयितुकामेन नानाव्याकरणस्थिताः ॥१॥
वृत्तयः परिभाषाणां तथा पाठा विलोकिताः।
तासां च संग्रहं कुर्वन् जैनेन्द्रे नोपलब्धवान् ॥२॥
पाठं परिभाषाणां वृत्तिं वा संग्रहं तथा।
काश्चित्तत्र मया दृष्टा वृत्तावभयनन्दिनाम् ॥३॥
उपयुक्तास्तत्र तत्र सूत्रार्थप्रतिपादने।
तासां तु संग्रहं कृत्वाऽलेखि पाठः सवृत्तिकः ॥४॥
खदिग्दिग्भू (१८८०) मिते शाके वत्सरे रचितो मया।
माघे कृष्णे पुण्यपुर्यां प्रारब्धः प्रतिपत्तिथौ ॥५॥
दशम्यां सुसमाप्तोऽयं ग्रन्थः प्रत्यर्पितो मया।
गुरुभ्यः ख्यातनामभ्यः प्रणतिप्रतिपूर्वकम् ॥६॥'

---

१. द्र०—संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास भाग १, १७ वें अध्याय में चान्द्र व्याकरण प्रकरण

इससे स्पष्ट है कि पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने महावृत्ति आदि में उद्धृत जैनेन्द्र तन्त्र-संबद्ध परिभाषाओं को संगृहीत करके उन पर शक १८८० (सं० २०१५) में वृत्ति लिखी है।

इस परिभाषा पाठ का मूल प्रवक्ता कौन था, यह अज्ञात है।

७—शाकटायन तन्त्र-संबद्ध

पाल्यकीर्ति विरचित शाकटायन व्याकरण से संबद्ध एक परिभाषापाठ का प्रकाशन भी पं० काशीनाथ अभ्यंकर ने परिभाषासंग्रह में किया है। इसके लिए उन्होंने दो हस्तलेख वर्ते हैं। इस परिभाषा-पाठ का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के संग्रह में भी है। द्र०-सूची० भाग १, खण्ड २, सं० ५०३५।

प्रवक्ता—इस परिभाषापाठ का प्रवक्ता पाल्यकीर्ति ही है, क्योंकि उसकी अमोघा वृत्ति में ये परिभाषाएं बहुत्र उद्धृत हैं।

विशेष विचारणीय—इस परिभाषापाठ की ३७ वीं परिभाषा है—**स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्**। यह परिभाषा पं० अभ्यङ्कर द्वारा समासादित दोनों हस्तलेखों में है। पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण में स्वर-शास्त्र का विधान ही नहीं किया। विधान करना तो दूर रहा, उसने पाणिनि द्वारा स्वरविशेष के ज्ञापन के लिए विभिन्न अनुबन्धों से युक्त प्रत्ययों का एकीकरण करके अपने स्वरनैरपेक्ष्य को स्थान-स्थान पर द्योतित किया है। ऐसी अवस्था में उसके परिभाषा-पाठ में स्वरविषयक परिभाषा का होना एक आश्चर्यजनक घटना है।

व्याख्या—इस परिभाषापाठ पर कोई व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता।

८—श्रीभोजदेव (सं० १०७५–१११० वि०)

श्रीभोजदेव ने स्वीय व्याकरण से संबद्ध परिभाषापाठ को गणपाठ और उणादिपाठ के समान ही शब्दानुशासन में पढ़ दिया है। यह सरस्वतीकण्ठाभरण में १।२।१८ से १३५ तक पठित है।

व्याख्याकार

इस परिभाषापाठ के वे ही व्याख्याकार हैं, जो सरस्वतीकण्ठाभरण के हैं।

भोज और सरस्वतीकण्ठाभरण के व्याख्याकारों का निर्देश हम प्रथम भाग में १७वें अध्याय में कर चुके हैं।

परिभाषासंग्रह के सम्पादक पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने भोजीय परिभाषासूत्रों को परिभाषासंग्रह में प्रकाशित किया है।

९—हेमचन्द्राचार्य (सं० ११४५–१२२९ वि०)

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन से संबद्ध परिभाषापाठ का निर्धारण किया था। वह अत्यन्त संक्षिप्त था। इसमें अत्युपयोगी केवल ५७ परिभाषाएं ही पठित हैं। हैम व्याकरण में परिभाषाएं न्यायसूत्र नाम से व्यवहृत होती हैं।

हैम-न्यायों के व्याख्याता हेमहंसगणि ने अपने मूल न्यायसंग्रह में ५७ न्यायों के निर्देश के अनन्तर लिखा है—

'एते न्यायाः प्रभुश्रीहेमचन्द्राचार्यैः स्वोपज्ञसंस्कृतशब्दानुशासनबृहद्वृत्तिप्रान्ते' समुच्चिताः। न्यायसंग्रह पृष्ठ ३।

न्यायसमुच्चय के अर्वाचीन व्याख्याता विजयलावण्य सूरि कृत व्याख्या के आरम्भ में [ ] कोष्ठक में लिखा है—

समर्थः पदविधिः ७।४।१२२ इति सूत्रस्य बृहद्वृत्तिप्रान्ते हेमचन्द्रसूरिभगवद्भिरुक्ताः। सिद्धहेमशब्दानुशासन, भाग २, के अन्तर्गत न्यायसमुच्चय पृष्ठ १।

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि हेमचन्द्राचार्य प्रोक्त ५७ ही परिभाषाएं अथवा न्याय हैं।

---

१. 'प्रान्ते' का अर्थ है 'सवन्ति'। अर्थात् बृहद्वृत्ति के पूर्ण होने के अनन्तर।

परिचय—आचार्य हेमचन्द्र का परिचय इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण' नामक १७ वें अध्याय में लिख चुके हैं।

परिभाषापाठ का पूरक—हेमहंसगणि (सं० १५१५ वि०)

हैम व्याकरण से सम्बद्ध ५७ परिभाषाओं के अतिरिक्त जो परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं, उनका संग्रह हेमहंसगणि ने किया है। वह न्यायसंग्रह में पूर्वनिर्दिष्ट ५७ हैम परिभाषाओं के अनन्तर लिखता है—**तैरसमुच्चितास्त्वेते**। इस प्रकार हेमहंसगणि ने ८४ अन्य परिभाषाओं का संग्रह किया है। इन ८४ परिभाषाओं के भी दो भाग हैं। पहली ६५ परिभाषाएं व्यापक और ज्ञापकादि से युक्त हैं। इन से आगे जो १९ परिभाषाएं हैं, उनमें कुछ अव्यापक है, और प्राय सभी ज्ञापकरहित हैं। इन १९ परिभाषाओं के भी दो भाग हैं। पहली १८ परिभाषाएं ऐसी हैं, जिन पर अल्प व्याख्या की ही आवश्यकता है। अन्तिम एक परिभाषा ऐसी है, जिस पर विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा है। हेमहंसगणि के शब्द इस प्रकार हैं—

'**इत्येते पञ्चषष्टिः, पूर्वैः** (५७) **सह द्वाविंशं शतं** न्याया व्यापका **ज्ञापकादियुताश्च**।' न्यायसंग्रह पृष्ठ ५।

'**अतः परं तु वक्ष्यन्ते ते केचिदव्यापकाः** प्रायः सर्वे ज्ञापकादि**रहिताश्च**।' न्यायसंग्रह पृष्ठ ५।

'**एते अष्टादश** न्यायाः'''स्तोकस्तोकवक्तव्याः।' न्यायसंग्रह पृष्ठ ६।

'**एकस्त्वयं बहुवक्तव्यः**।' न्यायसंग्रह पृष्ठ ६।

परिचय—हेमहंसगणि ने स्वोपज्ञ **न्यायार्थमञ्जूषा** नाम्नी बृहद्वृत्ति में अपना जो परिचय दिया है, तदनुसार श्री सोमसुन्दर सूरि हेमहंसगणि के दीक्षागुरु थे। और श्री मुनिसुन्दर सूरि, श्रीजयचन्द्र सूरि, श्री रत्नशेखर सूरि तथा श्री चारित्ररत्नगणि से विविध विषयों का अध्ययन किया था।

काल—ग्रन्थकार ने स्वयं ग्रन्थ के अन्त में लेखनकाल सं० १५१५ ज्येष्ठ सुदी २ लिखा है। हेमहंसगणि विरचित षडावश्यक बाला-

वबोध का लेखनकाल सं० १५१० है। अतः हेमहंसगणि का काल सामान्यतया सं० १४७५-१५५० वि० स्वीकार किया जा सकता है।

व्याख्याकार

१. अनिर्ज्ञातनाम (सं० १५१५ से पूर्व)

हेमहंसगणि ने अपनी न्यायमञ्जूषा बृहद्वृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

'…तेषां चानित्यत्वमुपेक्ष्य व्याख्योदाहरणज्ञापकानामेव प्रज्ञापना-कनीयसी टीका कैश्चित् प्रचीनानूचानैश्चक्रे।' पृष्ठ १।

पुनः प्राथमिक ५७ परिभाषाओं की व्याख्या के अनन्तर लिखा है–

'इति प्राक्तनीं न्यायवृत्तिं क्वचित् क्वचिदुपजीव्य कृता।' पृष्ठ ५०

इन वचनों से स्पष्ट है कि हेमहंसगणि से पूर्व किसी आचार्य ने हेमचन्द्राचार्य द्वारा साक्षात् निर्दिष्ट ५७ परिभाषाओं की व्याख्या की थी।

इस व्याख्याकार के नाम तथा ग्रन्थ से हम सर्वथा अपरिचित हैं।

२. हेमहंसगणि (सं० १५१५ वि०)

आचार्य हेमहंसगणि ने स्वसंकलित न्यायसंग्रह पर स्वयं कई टीकाएं लिखी हैं। काशी से प्रकाशित न्यायसंग्रह में हेमहंसगणि की **न्यायार्थमञ्जूषा** नाम्नी बृहद्वृत्ति और उस पर स्वोपज्ञ न्यास छपा है।

सम्पादक ने जिन आदर्श पुस्तकों का उल्लेख प्रस्तावना के अन्त में किया है, उनमें लघुन्यास और बृहन्न्यास दो पृथक्-पृथक् न्यासों का निर्देश है। मुद्रित न्यास लघुन्यास है, अथवा बृहन्न्यास, यह मुद्रित पुस्तक से कथमपि सूचित नहीं होता। सम्पादक को न्यूनातिन्यून इसकी तो सूचना देनी ही चाहिये थी।

न्यायार्थमञ्जूषा नाम्नी बृहद्वृत्ति में बृहद् शब्द का निर्देश होने से सम्भावना होती है कि ग्रन्थकार ने इस पर कोई लघुवृत्ति भी लिखी थी। इसकी पुष्टि लघु और बृहद् दो प्रकार के न्यासग्रन्थों के निर्देश से भी होती है।

परिमाण—ग्रन्थकार ने न्यायसंग्रह ग्रन्थ का परिमाण ६८ श्लोक १० अक्षर, न्यायार्थमञ्जूषा बृहद्वृत्ति का ३०८५ श्लोक, और न्यास का १२०० श्लोक लिखा है। इसमें न्यायसंग्रह और बृहद्वृत्ति का परिमाण प्रत्यक्षर गणनानुसार है, और न्यास का परिमाण आनुमानिक गणना पर आश्रित है।[1]

वैशिष्ट्य—परिभाषावृत्तियों में सीरदेवीय परिभाषावृत्ति के पश्चात् एकमात्र यही वृत्ति है, जो परिभाषाओं के विषय में पाण्डित्यपूर्ण और सविस्तर विवरण उपस्थित करती है।

३. विजयलावण्य सूरि (सं० २०१०)

हैमबृहद्वृत्ति पर आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शब्दमहार्णवन्यास अपर नाम बृहन्न्यास के समुद्धारक श्री विजयलावण्य मुनि ने हेमहंस गणि विरचित न्यायसंग्रह पर न्यायार्थसिन्धु नाम्नी व्याख्या और तरङ्ग नाम्नी टीका लिखी है। तरङ्ग टीका के अन्त में लेखन काल सं० २०१० निर्दिष्ट है। यह व्याख्या और टीका उनके द्वारा सम्पादित सिद्धहैमशब्दानुशासन के दूसरे भाग में प्रकाशित हुई है।

ये दोनों ही व्याख्या अति प्रौढ़ हैं। सूरि महोदय को पाणिनीय तन्त्र का अच्छा ज्ञान है, यह इन व्याख्याओं से सुस्पष्ट है।

१०—मुग्धबोध-संबद्ध

वोपदेव-विरचित मुग्धबोध व्याकरण से सम्बद्ध एक परिभाषावृत्ति उपलब्ध होती है। इसमें व्याख्यायमान परिभाषाओं का संग्राहक कौन व्यक्ति है, यह अज्ञात है।

---

१. प्रत्यक्षरं गणनया ग्रन्थेऽस्मिन् न्यायसंग्रहे। श्लोकानामष्टषष्टिः स्यादधिका च दशाक्षरी॥ पृष्ठ ६॥ प्रत्यक्षरं गणनया ग्रन्थेऽस्मिन् मानमगमन्। सहस्रत्रितयी पञ्चाशीतिः श्लोकाश्च साधिकाः। पृष्ठ १५५। अनुमानाद् गणनया न्यासस्यास्य विनिश्चितम्। सहस्री द्विशतीयुक्त; श्लोकानामत्र वर्तते। पृष्ठ १९७।

वृत्तिकार—रामचन्द्र विद्याभूषण

मुग्धबोध से सम्बद्ध परिभाषाओं की एक वृत्ति रामचन्द्र विद्याभूषण ने लिखी थी। डा० बेल्वाल्कर ने व्याख्याकार का नाम रामचन्द्र तर्कवागीश लिखा है।[1] इस वृत्ति का रचनाकाल सं० १७४५ वि. (शक १६१०) है। इस वृत्ति का निर्देश म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित 'गवर्नमेण्ट आफ बंगाल' द्वारा प्रकाशित हस्तलेख सूचीपत्र भाग १, पृष्ठ २१६, ग्रन्थाङ्क २२२ पर निर्दिष्ट है। उक्त लेखनकाल इस सूचीपत्र में उल्लिखित है। डा० बेल्वालकर ने भी यही काल स्वीकार किया है।[1]

११—पद्मनाभदत्त (सं० १४०० वि०)

पद्मनाभदत्त ने स्वीय सुपद्म व्याकरण से सम्बद्ध परिभाषापाठ का ग्रन्थन किया था, और उस पर स्वयं वृत्ति भी लिखी थी। पद्मनाभदत्त ने इस वृत्ति के अन्त में स्वविरचित प्रायः सभी ग्रन्थों का उल्लेख किया है। अतः हम उन श्लोकों को यहां उद्धृत करते हैं—

'दिङ्मात्रं दर्शितं किन्तु सकलार्थविकशनम्।
धैर्याविधेयं धीराः श्रीपद्मनाभनिवेदितम्॥
उक्तो व्याकरणादर्शः सुपद्मस्तस्य पञ्जिका।
ततो हि बालबोधाय प्रयोगाणां च दीपिका॥
उणादिवृत्ति रचिता तथा च धातुकौमुदी।
तथैव यङ्लुको वृत्तिः परिभाषाः ततः परम्॥
गोपालचरितं नाम साहित्ये ग्रन्थरत्नकम्।
आनन्दलहरीटीका माघे काव्ये विनिर्मिता॥
छन्दोरत्नं छन्दसि च स्मृतावाचारचन्द्रिका।
कोशे भूरिप्रयोगाख्यो रचितातततयत्नतः॥
इति श्रीमत्पद्मनाभदत्तकृता परिभाषावृत्तिः सम्पूर्णा।

इस परिभाषावृत्ति का एक हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस के संग्रह में विद्यमान है। द्र०-सूचीपत्र भाग १, खण्ड २, ग्रन्थाङ्क ८९०।

---

१. द्र०—हिस्ट्री आफ संस्कृत ग्रामर, सन्दर्भ ८५।

टीकाकार—पद्मनाभ-विरचित परिभाषावृत्ति पर रामनाथ सिद्धान्त वागीश रचित टीका है। इसका हस्तलेख म० म० हर-प्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित 'गवर्नमेण्ट आफ बंगाल' द्वारा प्रकाशित हस्तलेख सूची भाग १, पृष्ठ २२० ग्रन्थाङ्क २२३ पर निर्दिष्ट है।

इस टीका तथा टीकाकार के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

इस प्रकार इस अध्याय में परिभाषापाठ के प्रवक्ता और व्याख्याता वैयाकरणों का निर्देश करके अगले अध्याय में फिट्-सूत्र के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करेंगे।

सत्ताईसवां अध्याय

फिट्-सूत्र के प्रवक्ता और व्याख्याता

पाणिनीय वैयाकरण सम्प्रदाय में आश्रीयमाण स्वरविषयक एक छोटा सा ग्रन्थ है, जो फिट्सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है।

फिट्-सूत्रों के अध्ययन की आवश्यकता—हम पूर्व (भाग २, पृष्ठ ११-१६) सप्रमाण लिख चुके हैं कि अतिप्राचीन काल में संस्कृतभाषा के सभी शब्द यौगिक माने जाते थे। उस समय सभी शब्दों के स्वरों का परिज्ञान प्रकृति-प्रत्यय विभाग के अनुसार यथासम्भव आञ्जस्येन सम्पन्न हो जाता था। उत्तरकाल में शब्दों की एक बड़ी राशि जब रूढ मानी जाने लगी, तब भी जो आचार्य नामों को रूढ नहीं मानते थे, उनके मत में उन शब्दों के स्वरों की व्यवस्था औणादिक प्रकृति प्रत्यय द्वारा उपपन्न हो जाती थी। परन्तु जिनके मत में औणादिक शब्द रूढ हैं अर्थात् अव्युत्पन्न हैं, उनके मत में अखण्ड शब्दों के स्वरज्ञान के लिए किसी ऐसे शास्त्र की आवश्यकता होती है, जो प्रकृति-प्रत्यय विभाग के विना ही स्वरपरिज्ञान कराता हो। यथा—

श्वेतवनवासी उणादिवृत्ति में लिखता है—

'अव्युत्पत्तिपक्षे तु लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' इति मध्योदात्तः। अस्य फिट्सूत्रस्य अयमर्थ ....' (१।६७, पृष्ठ ३१।

नागेश भट्ट भी महाभाष्यप्रदीपोद्योत में लिखता है—**'प्रकृतिप्रत्ययविभागशून्येष्वेव फिट्सूत्रप्रवृत्तेश्च।'** १।२।४५, पृष्ठ ४२ निर्णयसागर सं०।

दोनों का भाव यही है कि फिट्सूत्रों की प्रवृत्ति अव्युत्पत्ति पक्ष में, जहां प्रकृति-प्रत्यय का विभाग नहीं स्वीकार किया जाता है, वहीं होती है।

नागेश का स्ववचोविरोध—नागेश प्रदीपोद्योत (१।२।२) में पात्रवाची कुण्ड शब्द को प्रदीप के अनुसार नब्विषयस्यानिसन्तस्य फिट्सूत्रानुसार आद्युदात्त मानता है, परन्तु जारजवाची कुण्ड शब्द में

वृषादीनां च (अ० ६।१।१९७) पाणिनीय सूत्र की प्रवृत्ति दर्शाता है। यह लेख जहां पात्रवाची कुण्ड विषयक लेख से विरुद्ध है, वहां एक ही शब्द में स्वरभेद में फिट्-सूत्र और पाणिनीय सूत्र दोनों की प्रवृत्ति दर्शाना अर्धजरतीय न्याय-युक्त भी है।

वस्तुत: फिट्सूत्र ऐसा ही संक्षिप्त स्वरविधायक शास्त्र है, जो शब्दों के रूढ अर्थात् अव्युत्पन्न पक्ष के लिये आवश्यक है।

पाणिनीय मत—पाणिनीय शास्त्र के '**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्; कृत्तद्धितसमासाश्च** (१।२।४५,४६) सूत्रों से इतना तो प्रतीत होता है कि वे रूढ शब्दों को अव्युत्पन्न भी मानते थे।[1] परन्तु जहां तक स्वरप्रक्रिया का सम्बन्ध है, वे उन्हें व्युत्पन्न ही मानते थे। यदि आचार्य का ऐसा पक्ष न होता, तो वे शब्दों के स्वरपरिज्ञान के लिए महान् प्रयासपूर्वक लगभग ५०० सूत्रों का प्रवचन करते हुए अव्युत्पन्न पक्ष में प्रातिपदिक-स्वर के परिज्ञान के लिये भी फिट्सूत्रों जैसे कतिपय सूत्रों का प्रवचन अवश्य करते। यतः पाणिनि ने ऐसा प्रयास नहीं किया, अतः हमारा स्पष्ट मत है कि पाणिनि स्वरप्रक्रिया की दृष्टि से शाकटायन और नैरुक्त सम्प्रदाय के अनुसार सम्पूर्ण नाम शब्दों को यौगिक मानता है इसीलिए उसके मतानुसार सभी शब्दों का स्वरपरिज्ञान भी प्रकृतिप्रत्यय-विभाग द्वारा उपपन्न हो जाता है।

पाणिनीय-व्याख्याकार—पाणिनि का स्वमत क्या है, इस विषय में उसके शास्त्र से जो संकेत प्राप्त होता है, उसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। परन्तु पाणिनीय शास्त्र के व्याख्याता आचार्य कात्यायन और पतञ्जलि का मत भिन्न था। वे रूढ शब्दों को अव्युत्पन्न मानते थे। इसलिए उन्हें स्वरनिर्देश के लिए ऐसे शास्त्र की आवश्यकता पड़ी, जो शब्दों को अखण्ड मान कर ही स्वरनिर्देश करता हो। इसी कारण उन्होंने यत्र-तत्र अगत्या फिट्सूत्रों का साक्षात् अथवा परोक्षरूप से आश्रयण किया।[2] उन्हें इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ,

---

१. अव्युत्पत्तिपक्षस्य चेदमेव सूत्रे ज्ञापकमित्याहुः। महाभाष्य-प्रदीप (१।२।४५, नि० सं०)।

२. कात्यायन और पतञ्जलि ने फिट् सूत्रों का निर्देश कहां-कहां किया है, यह हम अनुपद लिखेंगे।

उन्होंने स्वमत को पाणिनि-सम्मत भी दर्शाने का प्रयास किया। अष्टाध्यायी ७।१।२ की व्याख्या में कात्यायन का वार्तिक है—

'प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्।'

इस पर पतञ्जलि ने लिखा है—

'प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि।'

अर्थात्—पाणिनि के मत में औणादिक शब्द अव्युत्पन्न=अखण्ड प्रातिपदिक हैं।

महाभाष्य में ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं, जहां पर पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या पाणिनीय मन्तव्य से भिन्न की है। कहीं-कहीं तो भिन्नता इतनी अधिक और महत्त्वपूर्ण है कि उसे देखते ही आचार्य चाणक्य का एक वचन अनायास स्मरण आ जाता है—

दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च॥[1]

हो सकता है कि चाणक्य का संकेत पतञ्जलि की ओर ही हो। क्योंकि इतना सूत्रभाष्यकारों का मतभेद अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। ऐसा ही मतभेद औणादिक शब्दों में फिट्सूत्रों वा अष्टाध्यायी के सूत्रों की प्रवृत्ति से सम्बद्ध है।

अर्वाचीन पाणिनीय वैयाकरण—अर्वाचीन पाणिनीय वैयाकरण जिस प्रकार आंख मींचकर महाभाष्यकार प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुसरण करते हैं, उसी के अनुरूप उन्होंने पतञ्जलि के मतानुसार अव्युत्पन्न प्रातिपादिकों के स्वरपरिज्ञान के लिए फिट्सूत्रों का भी आश्रय लिया है। **वस्तुतः पाणिनीय मतानुसार औणादिक रूढ शब्दों के स्वरपरिज्ञान के लिए भी प्रकृति-प्रत्यय का ही आश्रयण उचित है।**

फिट्-सूत्रों का प्रवक्ता—पाणिनीय सम्प्रदाय में फिट्-सूत्रों के प्रवक्ता के विषय में मतभेद है। इन्हें कुछ व्याख्याकार आचार्य शन्तनु प्रोक्त मानते हैं तो कतिपय शान्तनवाचार्य प्रोक्त कहते हैं। कहीं कहीं इन्हें पाणिनि प्रोक्त भी स्वीकार किया है। यथा—

---

१. अर्थशास्त्र के अन्त में।

शन्तनु—हरदत्त पदमञ्जरी में काशिका ७।३।४ के **सौवरोऽध्याय** की व्याख्या में लिखता है—

स पुनः शन्तनुप्रणीतः फिष् इत्यादिकम्। पृष्ठ ८०४।

श्री निवास यज्वा स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका में फिट् सूत्रों की व्याख्या के आरम्भ में लिखता है—

अथ यत् फिट् सूत्राभिधमुदितं शन्तनु महर्षिणा शास्त्रम्।
पृष्ठ २५९।

इन उद्धरणों में फिट् सूत्रों का प्रवक्ता शन्तनु आचार्य माना गया है।

शान्तनव—हरदत्त पदमञ्जरी ६।२।१४ में लिखता है—

फिष् इत्यादिमेन योगेनैव शान्तनवीयं चतुष्कं सूत्रमुपलक्षयति।
पृष्ठ ५३२।

हरदत्त का यह लेख उसके पदमञ्जरी ७।३।४ के लेख से विपरीत है। शन्तनु का अपत्य शान्तनव होगा। 'उसका सूत्रपाठ' इस अर्थ में **तस्येदम्** (४।३।१२०) से छ प्रत्यय होकर शान्तनवीय प्रयोग निष्पन्न होगा। अतः इस लेख के अनुसार फिट् सूत्रों का प्रवक्ता शान्तनव आचार्य होना चाहिए।

फिट् सूत्रों की जो प्राचीन वृत्ति जर्मनी में छपी है। उस में प्रथम सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

किं चेदं फिडिति? फिडिति प्रातिपदिकप्रदर्शनार्थम्। शान्तनवाचार्य फिडिति प्रातिपदिकसंज्ञां कृतवान्—अर्थवदधातुरप्रत्ययः फिष्, कृत्तद्धितसमासाश्च।

इससे इस वृत्तिकार के मत में भी फिट् सूत्रों का प्रवक्ता शान्तनवाचार्य प्रतीत होता है।

भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ १।१।३७ (पृष्ठ २२३) पर लिखा है—

निपात संज्ञा विरहे तु शान्तनवाचार्यप्रणीतस्य निपाता आद्युदात्ता इति फिट्सूत्रस्य विषयविभागो न लभ्येत।

ऐसा ही सिद्धान्त कौमुदी में प्रातिपदिक स्वर के अन्तर्गत फिट् सूत्रों की व्याख्या के अन्त में लिखा है—

इति शान्तनवाचार्यप्रणीतानि फिट्सूत्राणि। फिट्सूत्रेषु तुरीयः पादः ॥

इसकी व्याख्या में नागेश बृहच्छब्देन्दुशेखर में लिखता है—

इति शान्तनवेति। इदं च 'मात्रोपज्ञ' इति हरदत्त ग्रन्थे (पद० ६।२।१४) स्पष्टम्। शन्तनुराचार्यः प्रणेतेति द्वारादीनां च (७।३।४) इति सूत्रे हरदत्तः। भाग ३, पृष्ठ २२५१।

ऐसा ही नागेश ने लघुशब्देन्दुशेखर (भाग ३, पृष्ठ ६८४-६८५) में लिखा है।

यहां नागेश ने हरदत्त के दोनों पाठों का निर्देश कर दिया है, जिनमें फिट् सूत्रों का प्रवक्ता 'शान्तनव' और 'शन्तनु' का निर्देश है। परन्तु स्वमत का प्रतिपादन नहीं किया।

इस पर लघुशब्देन्दुशेखर के टीकाकार भैरव मिश्र ने लिखा है—

शान्तनवाचार्यप्रणीतेषु सूत्रेष्विति दर्शनेन शन्तनोराचार्यस्य यदपत्यं प्रणेतृत्वमिति भ्रमनिवारणाय आह—इदं मात्र इति। तथा च शन्तनुशब्दात् तेन प्रोक्तम् (४।३।१०१) इत्यण्। तदन्तस्य आचार्यप्रणीतशब्देन कर्मधारयः। आचार्यश्च शन्तनुरेवेत्यर्थाल्लभ्यते। भाग २, पृष्ठ ६८४-६८५।

इसका भाव यह है कि—'**शान्तनवाचार्यप्रणीतेषु**' इस दर्शन से शन्तनु आचार्य का जो पुत्र उसके द्वारा प्रणीत, इस भ्रम के निवारण के लिए कहा है—**इदं मात्र इति**। इस प्रकार शन्तनु शब्द से **तेन प्रोक्तम्** अर्थ में अण् शान्तनव। उस अणन्त का आचार्य प्रणीत शब्द से कमधारय समास [**शान्तनवं चाचार्यप्रणीतं च**]। इस प्रकार शन्तनु ही अर्थ से प्राप्त होता है।

भैरव मिश्र की भूल—भैरव मिश्र ने शन्तनु से प्रोक्त शान्तनव (सूत्र) का आचार्यप्रणीत शब्द से कर्मधारय समास कहा है। आचार्य प्रणीत शब्द में तृतीया तत्पुरुष समास होगा। आचार्य शब्द सम्बन्ध वाचक है उसे सम्बन्धी की आकांक्षा होने से **सापेक्षमसमर्थं भवति** नियम से असमर्थ आचार्य पद का प्रणीत शब्द के साथ समास ही नहीं होगा। अतः भैरव मिश्र का व्याख्यान अशुद्ध है।

भैरव मिश्र ने हरदत्त के दोनों स्थलों के पाठ नहीं देखे। अन्यथा

उसे हरदत्त का परस्पर विरोध स्पष्ट हो जाता। नागेश भी यहां किंकर्तव्यमूढ़ ही बना रहा।

पाणिनि—शेषकुलावतंस रामचन्द्र पण्डित ने **स्वरप्रक्रिया** नाम का एक ग्रन्थ लिखा है उसकी व्याख्या भी रामचन्द्र ने स्वयं की है। यह ग्रन्थ आनन्दाश्रम ग्रन्थावली में पूना से सन् १९७४ में छपा है।

इसमें प्रातिपदिक स्वर प्रकरण में फिट् सूत्रों के विवरण में रामचन्द्र स्वीय व्याख्या में लिखता है—

वस्तुतस्तु फिट्सूत्राणां पाणिनीयत्वमेव पूर्वोदाहृतभाष्यस्वरसात्, पूर्वकालत्वं च।.........शान्तनवाचार्यस्तु वृत्तिकारः, न तु सूत्रकार इति न कापि अनुपपत्तिः। पृष्ठ ४३।

इस लेख के अनुसार रामचन्द्र पण्डित के मत में फिट् सूत्रों का प्रवक्ता पाणिनि है और शान्तनव आचार्य उसका वृत्तिकार है।

फिट् सूत्रों के कतिपय हस्तलेखों के अन्त में भी पाणिनि का नाम मिलता है।

इन तीन मतों में से रामचन्द्र पण्डित का मत 'फिट् सूत्र पाणिनि प्रणीत हैं और वृत्तिकार शान्तनवाचार्य है' **मुरारेस्तृतीयः पन्थाः** न्यायानुसार उपेक्षणीय है। इसमें अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

फिट् सूत्र शन्तनु आचार्य प्रोक्त हैं वा शान्तनव आचार्य प्रोक्त यह मत विमर्श योग्य है। फिट् सूत्र शन्तनु प्रोक्त हैं यह हरदत्त (पद० ७।३।४) का लेख उसके पद० ६।२।१४ के लेख से ही विरुद्ध है। अतः बहुमत से फिट् सूत्रों का प्रणेता शान्तनव आचार्य है यही मानना उचित प्रतीत होता है। ऐसा स्वीकार करने पर भी वह शन्तनु कौन है जिस के पुत्र ने फिट् सूत्रों का प्रवचन किया और उसका मुख्य नाम क्या था। इस विषय में इतिहास से कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

शन्तनु और शान्तनव दोनों निर्देशों का समाधान कथंचित् पिता पुत्र अभेदोपचार मानकर किया जा सकता है।

हमने इस ग्रन्थ के पूर्व संस्करणों में फिट् सूत्रों का प्रवक्ता शन्तनु

को माना था। अब अनेक प्रमाणों की उपस्थिति में हमारा विचार बदल गया है।

फिट्-सूत्रों का प्रवचनकाल—अब हम फिट्सूत्रों के प्रवचनकाल पर उपलब्ध सामग्री के आधार पर विचार करते हैं—

१. पतञ्जलि से पूर्ववर्ती—महाभाष्य में अनेक ऐसे स्थल हैं, जिनसे विदित होता है कि फिट्सूत्र पतञ्जलि से पूर्ववर्ती हैं। यथा—

क—प्रत्ययस्वरस्यावकाशो यत्रानुदात्ता प्रकृतिः—समत्वं सिमत्वम्। ६।१।१५८॥

यहां भाष्यकार ने **सम सिम** प्रातिपदिकों के सर्वानुदात्तत्व का निर्देश किया है। यह सर्वानुदात्तत्व **त्वसमसिमेत्यनुच्चानि** फिट्सूत्र से ही सम्भव है। पाणिनीय शास्त्र में इनके सर्वानुदात्तत्व का विधायक कोई लक्षण नहीं है।

ख—यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं समासान्तोदात्तत्वं बाधते—चप्रियः वाप्रियः इत्यत्रापि बाधेत। ६।२।१॥

यहां भाष्यकार ने **च वा** शब्दों के अनुदात्तत्व की ओर संकेत किया है। च वा का अनुदात्तत्व **चादयोऽनुदात्ताः** इस फिट्सूत्र से ही सम्भव है।[1]

ग—प्रातिपदिकस्वरस्यावकाशः—आम्रः, शाला। ६।१।६१॥

यहां पतञ्जलि ने फिट्सूत्रों के प्रथम सामान्य अन्तोदात्तत्व-विधायक **फिषः**[2] सूत्र की ओर संकेत किया है।

घ—इदं पुनरस्ति प्रातिपदिकस्यान्तोदात्तो भवतीति। सोऽसौ लक्षणेनान्तोदात्तः.........। ६।१।१२३॥

यहां भाष्यकार ने स्पष्ट ही **फिषोऽन्तोदात्तः** का अर्थतः अनुवाद किया है। ऐसा ही अर्थतः अनुवाद इसी सूत्र के भाष्य में पाणिनीय

---

१. द्र०—महाभाष्य-प्रदीप—'चादयोऽनुदात्ताः' इति च वा शब्दावनुदात्तौ। ६।२।१॥

२. फिट्-सूत्रों में सम्प्रति प्रथम सूत्र 'फिषोऽन्तोदात्तः' इस प्रकार पढ़ा जाता है। परन्तु इसमें 'अन्तोदात्तः' अनुवर्त्यमान पद है। मूल सूत्र केवल 'फिषः' इतना ही है। इसकी विवेचना आगे की जायगी।

आद्युदात्तश्च (३ । १ । ३) सूत्र का इदं पुनरस्ति प्रत्ययस्याद्युदात्तो भवतीति रूप में किया है।

ङ—स्वरितकरणसामर्थ्यान्न भविष्यति—न्यङ्स्वरौ स्वरितौ इति।'[1] १ । २ । ३ ॥

इस उद्धरण में पतञ्जलि ने साक्षात् न्यङ्स्वरौ स्वरितौ इस फिट्सूत्र का निर्देश किया है।

इन उद्धरणों से इतना स्पष्ट है कि ये शान्तनव फिट्सूत्र महाभाष्यकार पतञ्जलि से पूर्ववर्ती हैं, और पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा आदृत हैं।

२. कात्यायन से पूर्वभावी—वार्तिककार कात्यायन ने ६ । १ । १५८ पर वार्तिक पढ़ा है—

'प्रकृतिप्रत्यययोः स्वरस्य सावकाशत्वाद् असिद्धिः।'

इस वार्तिक की व्याख्या में वार्तिककार द्वारा संकेतित प्रत्यय-स्वर की सावकाशता दर्शाने के लिए भाष्यकार ने लिखा है—

'प्रत्ययस्वरस्य अवकाशो यत्रानुदात्ता प्रकृतिः—समत्वम्, सिमत्वम्।'

यहां सम सिम शब्दों को सर्वानुदात्त मानकर ही वार्तिककार ने प्रत्ययस्वर को सावकाश कहा है। यह सम सिम का सर्वानुदात्तत्व **त्वसमसिमेत्यनुच्चानि** फिट्सूत्र से ही सम्भव है। अतः स्पष्ट है कि उक्त वार्तिक का प्रवचन करते समय वार्तिककार के हृदय में **त्वसमसिमेत्यनुच्चानि** सूत्र अवश्य विद्यमान था। इसलिए ये फिट्सूत्र वार्तिककार कात्यायन से भी पूर्ववर्ती हैं, यह सर्वथा व्यक्त है।

३. पाणिनि से पौर्वकालिक—नागेश ने ६।१।१५८ के प्रदीपोद्योत में पक्षान्तर के रूप में लिखा है—

'यद्वा फिट्सूत्राणि पाणिन्यपेक्षया आधुनिककर्तृकाणीति।'

अर्थात्—फिट्सूत्र पाणिनि से अर्वाचीन हैं।

---

१. इस उल्लेख से यह भी स्पष्ट है कि जहां पर व्युत्पत्ति पक्ष में पाणिनीय सामान्य सूत्र से अन्यथा स्वर प्राप्त हो और फिट्सूत्र से अन्य, वहां फिट्सूत्रों में कण्ठतः पठित शब्दस्वर बलवान् होता है।

वस्तुतः यह मत चिन्त्य है। फिट्सूत्र पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं, इस विषय में आचार्य चन्द्रगोमी का निम्न वचन द्रष्टव्य है—

'एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेष्वपि स्थितः एव। अयं तु विशेषः-ऐऔष् यदासीत् तद ऐऔच् इति कृतम्। तथाहि—लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः (फिट् २।१९) तृणधान्यानां च द्वयषाम् (फिट् २।४) इति पठ्यते।' प्रत्याहारसूत्रों की व्याख्या के अन्त में।

अर्थात्—यह प्रत्याहार पूर्व व्याकरणों में विद्यमान था। केवल इतना विशेष है कि पहले **ऐऔष्** सूत्र था, उसे **ऐऔच्** कर दिया। इसीलिए **लघावन्ते** और **तृणधान्यानां** फिट्सूत्रों में **अच्** के स्थान में **अष्** का निर्देश उपलब्ध होता है।

चन्द्रगोमी के इस निर्देश से स्पष्ट है कि पाणिनीय **अच्** प्रत्याहार के स्थान में **अष्** प्रत्याहार का प्रयोग करनेवाला फिट्सूत्रप्रवक्ता पाणिनि से पूर्ववर्ती है।[1]

४. **आपिशलि से पूर्वतन**—आपिशल व्याकरण में भी पाणिनि के समान **ऐऔच्** सूत्र और **अच्** प्रत्याहार का निर्देश था। अतः **अष्** प्रत्याहार का निर्देश करनेवाले फिट्सूत्र आपिशलि से पूर्ववर्ती ही हो सकते हैं, उत्तरवर्ती कथमपि सम्भव नहीं।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि फिट्सूत्रों का प्रवचनकाल विक्रम से निश्चय ही ३१०० वर्ष पूर्वतन है।

कीथ की भूल—कीथ ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में फिट्सूत्रों के सम्बन्ध में लिखा है—

'वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के संबन्ध में स्वरों के नियमों का निरूपण शान्तनव ने, जो पतञ्जलि से परवर्ती हैं, फिट्सूत्र में किया है'।

---

१. हमारे मित्र प्रो० कपिलदेव साहित्याचार्य ने भी चान्द्रवृत्ति के उक्त पाठ को उद्धृत करके फिट्सूत्रों को पाणिनि से पूर्ववर्ती माना है। द्र०—'संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि' पृष्ठ २९। इस ग्रन्थ को हमने 'भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान' की ओर से प्रकाशित किया है।

इसकी टिप्पणी में एफ. कीलहार्न का प्रमाण दिया है। द्रष्टव्य-'संस्कृत साहित्य का इतिहास' भाषानुवाद, पृष्ठ ५१०।

कीथ ने यहां जो भूल की है वह है। फिट्सूत्रों को पतञ्जलि से परवर्ती मानना है। हम ऊपर स्पष्ट बता चुके हैं कि पतञ्जलि फिट्-सूत्रों से केवल परिचित ही नहीं है, अपितु वह उनको अर्थतः तथा साक्षात् पाठरूप में उद्धृत भी करता है। इसलिए कीथ का फिट्सूत्रों को पतञ्जलि से परवर्ती मानना महती भूल है। यदि उसने उक्त निर्देश कीलहार्न के लेख के आधार पर किया है, तो यह कीलहार्न की भी भूल है।

हमने ऊपर जो प्रमाण दर्शाए हैं उनके अनुसार तो फिट्सूत्र न केवल पतञ्जलि से पूर्ववर्ती हैं, अपितु पाणिनि और आपिशलि से भी पूर्ववर्ती हैं।

नामकरण का कारण—इन चतुःपादात्मक शान्तनव सूत्रों के फिट्सूत्र नाम का कारण, इनका प्रथम **फिष्** सूत्र है। पाणिनीय शास्त्र में जिन अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है, उन्हीं की शान्तनव तन्त्र में **फिष्** संज्ञा थी। फिष् का ही प्रथमैकवचन तथा पूर्वपद में **फिट्** रूप है। इसी फिष् संज्ञा के कारण ये सूत्र फिट्सूत्र नाम से व्यवहृत होते हैं।

फिट्सूत्र बृहत्तन्त्र के एकदेश—सम्प्रति उपलभ्यमान चतुःपादात्मक फिट्सूत्र स्वतन्त्र तन्त्र नहीं है। यह किसी बृहत्तन्त्र का बचा हुआ एकदेश है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१. फिट्सूत्रों में कई ऐसी संज्ञाएं प्रयुक्त हैं, जिनका सांकेतिक अर्थ बतानेवाले संज्ञासूत्र इन उपलब्ध सूत्रों में नहीं हैं। अप्रसिद्ध एवं कृत्रिम संज्ञाओं का प्रयोग करने से पूर्व उनसे संबद्ध निर्देशक सूत्रों की आवश्यकता होती है। ऐसी अप्रसिद्धार्थ निम्न संज्ञाएं इन सूत्रों में प्रयुक्त हैं यथा—

क—फिष् (सूत्र १)=प्रातिपदिक।
ख—नप् (सूत्र २६, ६१)=नपुंसक।
ग—यमन्वा (सूत्र ४१)=वृद्ध (पाणिनीयानुसार)।

घ—शिट् (सूत्र २९) = सर्वनाम ।

ङ—स्फिग् (सूत्र पाठान्तर में) = लुप् = प्रत्यय-अदर्शन ।

२. फिट्सूत्रों में कतिपय प्रत्याहारों का प्रयोग मिलता है। प्रत्याहारों से गृहीत अर्थ के परिज्ञान के लिए आपिशलि तथा पाणिनीय शास्त्रवत् प्रत्याहारसूत्रों का निर्देश आवश्यक है। उनके विना तत्तत् प्रत्याहार से गृह्यमाण वर्णों का परिज्ञान कथमपि नहीं हो सकता है। यथा—

क—**अष्** (सूत्र २७, ४२, ४९) = अच् पाणिनीय = स्वर ।

ख—**खय्** (सूत्र ३१) = खय् पाणिनीय = वर्ग के प्रथम द्वितीय ।

ग—**हय्** (सूत्र ४६, ६६) = हल् पाणिनीय = व्यञ्जन ('हय् इति हलां संज्ञा' लघुशब्देन्दुशेखर)।

३. फिट्सूत्रों की एक वृत्ति का हस्तलेख अडियार (मद्रास) के हस्तलेख-संग्रह में विद्यमान है (द्र०—सूचीपत्र, व्याकरणविभाग, ग्रन्थाङ्क ४००)। इसमें प्रथम सूत्र '**फिष्**' इतना ही है। और इस सूत्र की वृत्ति के अन्त में लिखा है—**स्वरविधौ अन्त उदात्त इति प्रक्रान्तम्**। लगभग ऐसा ही पाठ जर्मन-मुद्रित फिट्सूत्रवृत्ति में भी है। इन पाठों से विदित होता है कि यह सूत्रपाठ किसी बृहत्तन्त्र का अवयव है। उस बृहत्तन्त्र में इन सूत्रों से पूर्व **अन्त उदात्तः** का प्रकरण विद्यमान था। अतः यहां भी **अन्त उदात्तः** पदों की अनुवृत्ति आती है। इसलिए इन फिट्सूत्रों का प्रथम सूत्र केवल **फिष्** इतना ही है।

४. हरदत्त ने भी पदमञ्जरी ६।२।१४ में आदि सूत्र '**फिष्**' इतना ही माना है। वह लिखता है—

'फिष् इत्यादिमेन योगेनैव शान्तनवीयं चतुष्कं सूत्रमुपलक्षयति।

इस विषय में पदमञ्जरी ७।३।४ भी देखनी चाहिये।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि **फिषोऽन्त उदात्तः** ऐसा वर्तमान पाठ अशास्त्रीय है, अनुवृत्त्यंश जोड़कर बनाया गया है। तथा **फिष्** का **फिषः** षष्ठयन्त रूप भी पाणिनीय शास्त्रानुसार घड़ा गया है। पाणिनीय तन्त्र में कार्यी (जिसको कार्य का विधान किया जाए) का षष्ठी विभक्ति से निर्देश होता है। परन्तु पूर्वपाणिनीय तन्त्रों में कार्यी का प्रथमा से निर्देश होता था, यह पतञ्जलि के **पूर्वसूत्रनिर्देशश्च**

चित्वान् चित इति वचन और इसकी **पूर्वव्याकरणे प्रथमया कार्यी निर्दिश्यते'** (महाभाष्य ६।१।१५३)व्याख्या तथा महाभाष्य ८।४।७ की **पूर्वाचार्याः कार्यभाजः षष्ठ्या न निरदिक्षन्** व्याख्या से ध्वनित होता है।

५. पूर्वनिर्दिष्ट हस्तलिखित वृत्ति में शान्तनव-तन्त्र के फिष् संज्ञा विधायक दो सूत्र उद्धृत हैं। यथा—

'शान्तनवाचार्यः फिष् इति प्रातिपदिकसंज्ञां कृतवान्–अर्थवद-धातुरप्रत्ययः फिष्, कृत्तद्धितसमासाश्च इति।'

लगभग ऐसा ही पाठ जर्मनमुद्रित वृत्ति में भी है।

६. आचार्य चन्द्रगोमी ने अपनी वृत्ति में शान्तनव-तन्त्र का एक प्रत्याहारसूत्र उद्धृत किया है। और उस प्रत्याहार का प्रयोग दिखाने के लिए दो फिट्सूत्रों का निर्देश किया है—

'एष प्रत्याहारः पूर्वव्याकरणेष्वपि स्थित एव। अयं तु विशेषः— ऐऔष् इति यदासीत् तद् ऐऔच् इति कृतम्। तथाहि लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः, तृणधान्यानां च द्व्यषाम् (फिट्सूत्र) **इति पठ्यते।'** पृष्ठ ९-१०, नागराक्षर सं०।

७. न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि ने काशिका १।२।३० के विवरण में लिखा है—

'त्वसमसिमेत्यनुच्चानि इति सर्वादिष्वेव पठ्यन्ते।' भाग १, पृष्ठ १७०।

इसमें **'त्वसमसिमेत्यनुच्चानि'** सूत्र का पाठ सर्वादिगण में माना है। पाणिनि के सर्वादि गण में उक्त सूत्र पठित नहीं है। उक्त सूत्र शान्तनवीय फिट्सूत्रों में उपलब्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि यह सूत्र शान्तनवीय सर्वादिगण में भी पठित था, और फिट् स्वर-प्रकरण में भी। पाणिनीय गणपाठ के सर्वादिगण में भी तीन सूत्र ऐसे पठित हैं, जो उसकी अष्टाध्यायी में भी हैं (अन्य गणों में भी ऐसे कई सूत्र हैं, जो उभयत्र पढ़े हैं)। इससे स्पष्ट है कि आचार्य शान्तनव ने अपने शब्दानुशासन में **सर्वादीनि शिट्** एतदर्थ सूत्र पढ़ा था, और तत्संबद्ध सर्वादिगण तथा अन्य गणों का प्रवचन गणपाठ में किया था।

न्यासकार के उक्त उदाहरण से एक बात और स्पष्ट होती है कि पूर्वाचार्य गणपाठ में शब्दों के स्वर-विशेष का भी विधान करते थे। काशिका में सर्वादिगण में **त्व त्वत्** तथा स्वरादिगण में **स्वर् पुनर् सनुतर्** आदि शब्दों के स्वरों का निर्देश मिलता है। वह या तो किसी प्राचीन गणपाठ के स्वर-निर्देश के अनुसार है, अथवा पाणिनि के गणपाठ में भी इनके स्वरनिर्देशक गणसूत्र रहे हों, और उनका व्याख्याग्रन्थों के हस्तलेखों में लोप हो गया हो। हमारे विचार में द्वितीय पक्ष अधिक युक्त है। अर्थात् पाणिनि ने भी पूर्वाचार्यों के सदृश अपने गणपाठ में विशिष्ट शब्दों के स्वर-निर्देशक सूत्रों का प्रवचन किया था, सम्प्रति जो लुप्त हो गया है।

८. आचार्य शान्तनव[1]-प्रोक्त उणादि और लिङ्गानुशासनसूत्रों का उल्लेख हम पूर्व प्रकरणों में यथास्थान कर चुके हैं। जिस आचार्य ने उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन का प्रवचन किया हो, उसने व्याकरण के नाम पर इतना छोटा सा ही ग्रन्थ रचा हो, यह बुद्धिगम्य नहीं हो सकता।

इन सब हेतुओं से यह अति स्पष्ट है कि आचार्य शान्तनव ने किसी साङ्गोपाङ्ग बृहत् शब्दानुशासन का प्रवचन किया था। और उसी में व्युत्पन्न-पक्षानुसार प्रातिपदिकों का स्वर-निर्देश करके अव्युत्पन्न पक्ष का आश्रय करके अखण्ड प्रातिपदिकों के स्वर-परिज्ञान के लिए इन सूत्रों की रचना की थी।

फिट्सूत्रों का पाठ—सम्प्रति फिट्सूत्रों की जितनी भी वृत्तियां उपलब्ध हैं,उनमें अनेक सूत्रों में पाठभेद उपलब्ध होता है। नागेश ने लघु और बृहत् शब्देन्दुशेखरों में अनेक पाठान्तरों का निर्देश किया है।

वृत्तिकार

अब हम फिट्सूत्रों की उपलब्ध अथवा ज्ञात वृत्तियों के रचयिताओं का वर्णन करते हैं—

---

१. इसी भाग में पूर्व पृष्ठ १४८, २०७, २७४ पर शान्तनु प्रोक्त गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन का निर्देश किया है। वहां भी शन्तनु के स्थान में शान्तनव पाठ होना चाहिये।

१—अज्ञातनाम

एक अज्ञातनाम वैयाकरण की वृत्ति अडियार के हस्तलेख-संग्रह में विद्यमान है। इसका उल्लेख हम पूर्व (पृष्ठ ३५४, यही भाग) कर चुके हैं।

इस वृत्ति का जो अंश अडियार पुस्तकालय के सूचीपत्र में निदर्शनार्थ छपा है। उसका पाठ जर्मनमुद्रित वृत्ति के पाठ से प्रायः समानता रखता है इस समानता के कारण दोनों वृत्तियों के पूरे पाठ की तुलना किये विना यह कहना कठिन है कि ये दोनों वृत्तियां एक हैं, अथवा भिन्न-भिन्न।

२—अज्ञातनाम

एक अज्ञातनाम वैयाकरण की वृत्ति चिरकाल पूर्व जर्मन से प्रकाशित हुई थी। इसके लेखक का नाम काल और देश अज्ञात है।

पाठभेद—इस वृत्ति में सिद्धान्तकौमुदी में आश्रीयमाण फिट्सूत्र पाठ से अनेक स्थानों पर पाठभेद तथा सूत्रभेद उपलब्ध होता है। सूत्रभेद यथा—

क—**पृष्ठस्य च** (१५) सूत्र के आगे **वा भाषायाम्** सूत्र अधिक उपलब्ध होता है। परन्तु यह सिद्धान्तकौमुदी (लाहौर संस्करण) का मुद्रण दोष है। उसमें यह सूत्र १५ वें सूत्र की वृत्ति के साथ ही छप गया है।

ख—सिद्धान्तकौमुदी में **यथेति पादान्ते** सूत्र के आगे उपलभ्यमान **प्रकारादिद्विरुक्तौ परस्यान्त उदात्तः, शेषं सर्वमनुदात्तम्** ये दो सूत्र इस वृत्ति में नहीं हैं। हो सकता है कि जिस हस्तलेख के आधार पर जर्मन संस्करण छपा हो, उसमें ये दो सूत्र त्रुटित हों।

ग—सिद्धान्तकौमुदी में **वावादीनामुभावुदात्तौ** पाठ को एकसूत्र माना है। नागेश ने **वावादीनामुभौ** इतना ही सूत्र माना है। और **उदात्तौ** अंश को अनुवृत्त्यंश कहा है। जर्मन संस्करण में पाठ इस प्रकार है—

'**वावदादीनाम्। वावदादीनामन्त उदात्तो भवति। वावत्। वावादीनामुभावुदात्तौ। वावादीनामुभावुदात्तौ भवतः। वाव।**'

इस पाठ से प्रतीत होता है कि इस वृत्तिकार के मत में **वाव-**

दादीनाम् एक सूत्र है, और **वावादीनामुभावुदात्तौ** दूसरा पाठ है। प्रतीत होता है कि दोनों सूत्रों के आरम्भ में सादृश्य होने से लेखक प्रमाद से **वावादीनाम्** प्रथम सूत्र नष्ट हो गया।

३—अज्ञातनाम

संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के सरस्वती भवन के संग्रह में फिट्सूत्रवृत्ति का हस्तलेख विद्यमान है। इसे हमने सन् १९३४ में देखा था। यह उस समय संग्रह संख्या ६ के वेष्टन संख्या २५ में रखा हुआ था।

४—विठ्ठल (सं० १५२० वि०)

विठ्ठल ने प्रक्रियाकमुदी की टीका के स्वरप्रकरण में फिट्सूत्रों की भी संक्षिप्त व्याख्या की है।

विठ्ठल के परिचय के लिए देखिए इस ग्रन्थ का प्रथम भाग, पृष्ठ ५९२ (च० सं०)।

५—भट्टोजि दीक्षित (सं० १५७०-१६५० वि०)

भट्टोजि दीक्षित ने फिट्सूत्रों पर दो व्याख्याएं लिखी हैं। एक शब्दकौस्तुभ के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद के स्वरप्रकरण में, और दूसरी सिद्धान्तकौमुदी की स्वरप्रक्रिया में। दोनों में साधारण ही भेद है।

व्याख्याकार

१. **भट्टोजि दीक्षित**—भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदीस्थ फिट्सूत्रवृत्ति की स्वयं व्याख्या प्रौढ मनोरमा में की है। परन्तु वहां केवल ७-८ सूत्रों पर ही विचार किया है।

२. **जयकृष्ण**—जयकृष्ण ने सिद्धान्तकौमुदी के स्वर वैदिक भाग की सुन्दर व्याख्या लिखी है। इसी के अन्तर्गत उसने फिट्सूत्रों की भट्टोजि दीक्षित विरचित वृति की व्याख्या की है।

परिचय—जयकृष्ण ने स्वरवैदिकप्रक्रिया के आदि और अन्त में जो परिचय दिया है, उससे इतना जाना जाता है कि इसके पितामह का नाम गोवर्धन, और पिता का नाम रघुनाथ था। रघुनाथ के चार

पुत्र थे—महादेव, रामकृष्ण, जयकृष्ण, चतुर्थ अज्ञातनाम। महादेव महाभाष्य का अच्छा विद्वान् था।

३. **नागेश भट्ट**—नागेश भट्ट ने सिद्धान्तकौमुदी पर लघु और बृहत् दो प्रकार के शब्देन्दुशेखर लिखे हैं। उन दोनों में सिद्धान्तकौमुदीस्थ फिट्-सूत्र-वृत्ति पर व्याख्या लिखी है। नागोजि भट्ट ने संख्या २ पर निर्दिष्ट अज्ञातकर्तृक व्याख्या को अपने ग्रन्थ में कई स्थानों पर उद्धृत किया है। लघु शब्देन्दुशेखर के व्याख्याकार भैरव मिश्र ने प्रकरण प्राप्त फिट् सूत्रों की व्याख्या की है।

तत्त्वबोधिनी और बालमनोरमा जैसी प्रसिद्ध टीकाओं के लिखनेवाले ग्रन्थकारों ने सिद्धान्तकौमुदी के स्वरवैदिकप्रकरण की व्याख्या नहीं की। स्वरवैदिक प्रकरण के साथ चिरकाल से की जानेवाली उपेक्षा का ही यह परिणाम प्रतीत होता है।

६—श्रीनिवास यज्वा (सं० १७५० वि० के समीप)

श्रीनिवास यज्वा ने पाणिनीय शब्दानुशासन के अन्तर्गत स्वर-सूत्रों पर **स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका** नाम्नी एक सुन्दर विशद व्याख्या लिखी है। इसी के अन्तर्गत श्रीनिवास ने फिट्सूत्रों की भी व्याख्या की है। यह व्याख्या पूर्वनिर्दिष्ट सभी व्याख्यानों से अधिक विस्तृत तथा उपयोगी है।

परिचय—श्रीनिवास यज्वा ने स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका के आरम्भ में अपना जो परिचय दिया है,तदनुसार इसकी माता का नाम अनन्ता, पिता का कृष्ण, और गुरु का नाम 'रामभद्र यज्वा' था। और इसका गोत्र संकृत्य था।

काल—श्रीनिवास यज्वा के गुरु रामभद्र दीक्षित ने सीरदेवीय परिभाषावृत्ति पर एक व्याख्या लिखी है, और उणादिसूत्रों की टीका की है। रामभद्र दीक्षित का काल सं० १७४४ वि० के लगभग है(द्र०- उणादिव्याख्याकार प्रकरण भाग २, पृष्ठ २३४-२३५ तृ० सं०)। अतः श्रीनिवास यज्वा का भी यही काल होगा।

इस प्रकार इस अध्याय में फिट्सूत्र के प्रवक्ता और व्याख्याताओं का वर्णन करके अगले अध्याय में प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता और व्याख्याता आचार्यों का वर्णन करेंगे।

अट्ठाईसवां अध्याय

प्रातिशाख्य आदि के प्रवक्ता और व्याख्याता

वैदिक-लौकिक उभयविध तथा केवल लौकिक संस्कृतभाषा के साथ साक्षात् सम्बद्ध शब्दानुशासनों और उनके परिशिष्टों (=खिल-पाठों) के प्रवक्ता और व्याख्याता आचार्यों का यथास्थान वर्णन करके अब हम उन प्रातिशाख्य आदि लक्षण-ग्रन्थों का वर्णन करते हैं, जिनका संबन्ध केवल वैदिक संहिताओं के साथ है। इन ग्रन्थों में व्याकरण-शास्त्र के मुख्य उद्देश्यभूत प्रकृतिप्रत्ययरूप व्याकृति का निर्देश न होने से यद्यपि इन्हें वैदिक व्याकरण नहीं कह सकते, और ना ही किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने इन्हें व्याकरण नाम से स्मरण किया है, तथापि इनमें व्याकरण के एकदेश सन्धि आदि का निर्देश होने से इनकी लोक में सामान्यरूप से वैदिक व्याकरणरूप में प्रसिद्धि है। इसलिए व्याकरण-शास्त्र के इतिहास में इन ग्रन्थों का भी संक्षेप से हम वर्णन करते हैं।

पुरा काल में प्रातिशाख्य सदृश अनेक वैदिक लक्षण-ग्रन्थ विद्यमान थे। सम्प्रति उपलभ्यमान प्रातिशाख्यों में लगभग ५६ वैदिक लक्षण-शास्त्रों के प्रवक्ता आचार्यों के नाम उपलब्ध होते हैं। उनके नाम हम इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय (भाग १) में पृष्ठ ७४–७७ (च० सं०) तक उद्धृत कर चुके हैं। इस नाम-सूची से भी इस बात की पुष्टि होती है कि पुराकाल में प्रातिशाख्य सदृश अनेक लक्षणग्रन्थ विद्यमान थे। परन्तु वे सब प्रायः काल-कवलित हो गए। उनके नाम भी विस्मृत के गर्त में दब गए। इस समय निम्न प्रातिशाख्य ग्रन्थ ही ज्ञात तथा उपलब्ध है—

प्रातिशाख्य	प्रातिशाख्य
१–ऋक्प्रातिशाख्य	६–तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
२–आश्वलायन प्रातिशाख्य	७–मैत्रायणीय प्रातिशाख्य
३–बाष्कल प्रातिशाख्य	८–चारायणीय प्रातिशाख्य
४–शांखायन प्रातिशाख्य	९–सामप्राति० (पुष्प वा फुल्लसूत्र)
५–वाजसनेय जातिशाख्य	१०–अथर्व प्रातिशाख्य

अन्य लक्षण-ग्रन्थ—प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी प्रातिशाख्यसदृश लक्षण-ग्रन्थ मिलते हैं। यथा—

११–अथर्व चतुरध्यायी	१५-लघुऋक्तन्त्र
१२–प्रतिज्ञासूत्र	१६–सामतन्त्र
१३–भाषिकसूत्र	१७–अक्षरतन्त्र
१४–ऋक्तन्त्र	१८–छन्दोग व्याकरण

इनमें संख्या १–१० तक के ग्रन्थ साक्षात् प्रातिशाख्य हैं। इनमें भी २, ३, ४, ८ ये चार प्रातिशाख्य ही सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। अगले आठ ग्रन्थ साक्षात् प्रातिशाख्य नहीं हैं, और ना ही प्रातिशाख्य नाम से व्यवहृत होते हैं। इनमें संख्या ११, १४, १५ में प्रातिशाख्य सदृश ही वैदिक संहिताओं के स्वर सन्धि आदि विशिष्ट कार्यों का विधान है। संख्या १२, १३ के ग्रन्थ वाजसनेय प्रातिशाख्य के परिशिष्ट ग्रन्थ हैं। संख्या १६, १७ में सामगान संबन्धी स्तोम आदि का निर्देश मिलता है। संख्या १८ का ग्रन्थ विचारणीय है। इस नाम से इस ग्रन्थ का उल्लेख काशी के सरस्वती भवन संग्रह के सूचीपत्र में संख्या २०८५ पर मिलता है।

प्रातिशाख्य के पर्याय—प्रातिशाख्य के लिए प्राचीन ग्रन्थों में पार्षद शब्द का व्यवहार होता है।[1] महाभाष्य ६।३।१४ में पारिषद शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[2]

प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ—प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ है—

शाखां शाखां प्रति प्रतिशाखम्, प्रतिशाखेषु भवं प्रातिशाख्यम्।

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस ग्रन्थ में वेद की एक-एक शाखा के नियमों का वर्णन हो, वह 'प्रातिशाख्य' कहाता है।[3] परन्तु प्राति-

१. पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। निरु० १।१७।

२. सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्।

३. यह पाठ मैक्समूलर ने 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ ६३ (इलाहाबाद संस्क०, सन् १९२६) पर तन्त्रवार्तिक के नाम से उद्धृत किया है, और पता ५।१।३ दिया है। पांचवें अध्याय पर तन्त्रवार्तिक नहीं है (तृतीय अध्याय पर समाप्त हो जाता है। और न ही इस पते पर कुमारिल कृत टीका में यह लेख मिलता है। यहां पते की संख्या के लेखन वा मुद्रण में अशुद्धि प्रतीत होती है।

शाख्यों के अध्ययन से विदित होता है कि इनमें किसी एक शाखा के ही नियमों का निर्देश नहीं है, अपितु इनमें एक-एक चरण की सभी शाखाओं के नियमों का सामान्यरूप से उल्लेख मिलता है। आचार्य यास्क ने भी कहा है—

पदप्रकृतिः संहिता[1]**, पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि'** ।१।१७॥

अर्थात्—पद जिनकी प्रकृति हैं वह संहिता होती है। सभी चरणों के पार्षद पदप्रकृतिवाले हैं।

यहां यास्क ने भी पार्षदों का सम्बन्ध चरण के साथ दर्शाया है, न कि पृथक्-पृथक् शाखा के साथ।

भट्ट कुमारिल भी प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध चरणों के साथ मानता है। वह लिखता है—

'धर्मशास्त्राणां गृह्यग्रन्थानां च प्रातिशाख्यलक्षणवत् प्रतिचरणं पाठव्यवस्थोपलभ्यते' । तन्त्र वार्तिक १।३।१५ पृष्ठ २४४ (पूना सं०)।

अर्थात्—धर्मशास्त्र और गृह्यग्रन्थों की भी प्रातिशाख्य के समान प्रति चरण व्यवस्था देखी जाती है।

प्रतिज्ञापरिशिष्ट की टीका में अनन्तदेव लिखता है—

'प्रतिपञ्चदशशाखायां भिन्नानि प्रातिशाख्यानि नोपदिष्टानि, किन्तु श्रौतस्मार्तसूत्रवत् प्रातिशाख्यसूत्रमपि पञ्चदशशाखासाधारणं समाम्नातम्' । प्रतिज्ञा परि० **(प्रातिशाख्यसंबद्ध)** २।१॥

अर्थात्—शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाओं में प्रतिशाखा भिन्न-भिन्न प्रातिशाख्य नहीं उपदिष्ट किये गये, किन्तु श्रौत और स्मार्त सूत्रों के समान प्रातिशाख्य भी पन्द्रह शाखाओं का सामान्यरूप से है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्रातिशाख्यों का संबन्ध तत्तत् चरणों के साथ है, शाखाओं के साथ नहीं। अतः मैक्समूलर[2] एवं पं०

---

१. 'पदप्रकृतिः संहिता' लक्षण के विषय में जो भ्रान्त धारणा 'मन्त्र पहले पद रूप थे, संहिता पाठ पीछे निष्पन्न हुआ' की निवृत्ति के लिए इस ग्रन्थ के तृतीय भाग में पदप्रकृतिः संहिता शीर्षक आठवां परिशिष्ट देखें।

२. 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' (मैक्स०) पृष्ठ ६२, इलाहाबाद सं०।

विश्वबन्धु[1] प्रभृति का 'प्रतिशाखा प्रातिशाख्यों की प्रवृत्ति हुई है' मत भ्रान्तिपूर्ण है।[2]

चरण और शाखाओं में भेद—चरण शब्द से उन सभी शाखाओं का बोध होता है, जो किसी एक संहिता के विभिन्न आचार्यों के प्रवचन द्वारा पाठभेद होने के कारण अवान्तर विभागों में विभक्त हुई हैं। यथा वाजसनेय याज्ञवल्क्य प्रोक्त एक मूल वाजसनेयी संहिता के माध्यन्दिनि, कण्व, गालव आदि १५ आचार्यों द्वारा विभिन्न रूप से प्रोक्त सभी संहिताएं एक वाजसनेय सामान्य नाम से व्यवहृत होती हैं।[3] यह वाजसनेय नाम उन सभी के चरण रूप प्रतिष्ठा=स्थिति का स्थान है। इस नाम से ज्ञात होता है कि माध्यन्दिनी काण्व गालवी आदि शाखाओं को मूल स्थिति वाजसनेय याज्ञवल्क्य के प्रवचन पर आधृत है।

प्रतिशाखा का मूल अर्थ—प्राचीन काल में **चरण के अर्थ** में प्रतिशाखा शब्द का व्यवहार होता था। और जिन्हें सम्प्रति शाखा के नाम से पुकारते हैं, उनके लिए **अवान्तरशाखा** शब्द प्रयुक्त होता था। विष्णुपुराण अंश ३, अ० ४ में ऋग्वेद की चरणरूप संहिताओं का वर्णन करके उसकी शाखाओं के वर्णन के अनन्तर कहा है—

'इत्येताः प्रतिशाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम' ॥२५॥

अर्थात्—शाकल्यशिष्य प्रोक्त पांच अनुशाखाओं को प्रतिशाखा से निसृत जानो।

---

१. अथर्व प्रातिशाख्य भूमिका, पृष्ठ १३।

२. डा० ब्रजविहारी चौबे ने अपने 'वैदिक स्वरबोध' ग्रन्थ के प्राक्कथन में लिखा है—वेदों की जितनी शाखाएं होंगी, उतने ही प्रातिशाख्य ग्रन्थों की रचना हुई होगी, ऐसा हम अनुमान कर सकते हैं (पृष्ठ 'ज')। सम्भवतः ब्रजविहारी चौबे की यह भ्रान्ति मैक्समूलर प्रभृति के लेखों को ही पढ़ कर हुई होगी।

३. तुलना करो—भोज वर्मा (१२ वीं शती) का ताम्रपत्र—'…… …… जमदग्निप्रवराय वाजसनेयचरणाय यजुर्वेदकण्वशाखाध्यायिने ……………'। इन्सक्रिप्शन्ज्, आफ बंगाल, भाग ३, पृष्ठ २१। वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी राजशाही प्रकाशन, सन् १९२९।

विष्णुपुराण के व्याख्याता श्रीधर ने अनुशाखा का अर्थ इस प्रकार लिखा है—**अनुशाखा अवान्तरशाखाः** ।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्रतिशाखा पद का प्रयोग चरणरूप मूल संहिता के लिए, और अनुशाखा का प्रयोग उसकी अवान्तर शाखाओं के लिए होता है। इस दृष्टि से प्रतिशाखा का अर्थ होगा—

शाखां प्रतिगता शाखा प्रतिशाखा ।

अर्थात्—जो शाखा पुनः शाखा भाव को प्राप्त हुई, वह प्रतिशाखा कहाती है।

वेदों के जितने चरण अथवा अवान्तर शाखाओं की मूल संहिताएं हैं, वे भी अपने-अपने मूल वेद की शाखारूप हैं। एक ही मूल ऋक्संहिता को पहले व्यास ने शाकल्य आदि पांच शिष्यों को पढ़ाया। पुनः उन्होंने स्वगुरु से प्राप्त संहिता को अपने-अपने शिष्यों को विभिन्न रूपों में पढ़ाया। ये शाकल्य आदि के द्वारा प्रोक्त संहिताएं मूल संहिता की शाखारूप हुईं। शाकल्य आदि के शिष्यों ने पुनः उनको विभिन्न प्रकार से अपने शिष्यों को पढाया। वे शाखाओं की अवान्तर शाखाएं हुईं। इसी प्रकार अन्य वेदों की मूल संहिता भी शाखा-शाखान्तर रूप में प्रसृत हुईं। इसी इतिहास को ध्यान में रखकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने चरण और शाखाओं के लिए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ २९४ (तृ० सं०) पर 'शाखा शाखान्तर व्याख्या सहित चार वेद' वाक्य में **शाखा-शाखान्तर** शब्दों का व्यवहार किया है। यह व्यवहार अति प्राचीन व्यवहार के अनुरूप है।

प्रतिज्ञासूत्र का व्याख्याता अनन्तदेव याज्ञिक कात्यायन प्रातिशाख्य को वाजसनेय चरण की १५ शाखाओं का प्रातिशाख्य मानता हुआ प्रतिशाखा शब्द के उक्त अर्थ को न समझ कर लिखता है—

'प्रतिशाखासु भवं प्रातिशाख्यमिति सम्भवाभिप्रायेण बहुवचनान्तयोगेनापि निर्वाह इत्यास्तां तावत् ।२।१। काशी सं० पृष्ठ ४१५।

यतः अवान्तर शाखाओं की मूल शाखा ही शाखान्तर भाव को प्राप्त होने से प्रतिशाखा शब्द से व्यवहृत होती है, इसलिए प्रातिशाख्य का संबन्ध भी इसी प्रतिशाखा शब्द के साथ है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध प्रतिशाखाओं अर्थात् चरणों की समस्त अवान्तर शाखाओं के साथ है।

आधुनिक विद्वानों की भूल—प्रत्येक प्रातिशाख्य अपने-अपने चरणों की समस्त शाखाओं के संधि आदि नियमों का सामान्यरूप से उल्लेख करते हैं। इस तथ्य को न जान कर अनेक आधुनिक विद्वान् तत्तत् प्रातिशाख्यों को उन-उन विशिष्ट शाखाओं के नियमबोधक समझते हैं। इस अज्ञान के कारण अनेक लेखकों ने भूलें की हैं। हम यहां निदर्शनार्थ एक ग्रन्थकार द्वारा की गई भूलों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं—

पूर्व नियम के अनुसार वर्तमान शौनक प्रोक्त ऋक्प्रातिशाख्य शाकल-चरण की सभी शाखाओं के नियमों का बोधक है, परन्तु ऋग्वेदकल्पद्रुम के लेखक केशव ने उक्त तात्पर्य को न जान कर ऋक्प्रातिशाख्य को ऋग्वेद की वर्तमान संहिता का ही नियम-बोधक मानकर ऋग्वेदकल्पद्रुम की भूमिका के अन्त में ऋक्संहिता में अनेक प्रमादपाठ=अपपाठ दर्शाए हैं।[1] और अन्त में लिखा है—

'एवमन्येऽपि प्रमादाः प्रातिशाख्यादिपर्यालोचनेन ज्ञेयाः।'

इसी प्रकार माध्यन्दिन शाखी अध्येता एक संशोधक ने निर्णय-सागर प्रेस से सं० २००९ के आस पास प्रकाशित संहिता के उन पाठों को जो वाजसनेय प्रातिशाख्य के अनुगुण नहीं थे, प्रातिशाख्य के अनुकूल बना दिया। इन संशोधक महानुभाव ने स्वयं हमें बम्बई में सेठ प्रतापजी शूरजी के चतुर्वेद पारायण यज्ञ के अवसर पर कहा था। हमें उक्त महानुभाव का नाम स्मरण नहीं है, और ना ही उनके द्वारा परिवर्तित संस्करण हमारे पास है।

इसलिए वैदिक संहिताओं के शोधकार्य में प्रवृत्त विद्वानों को प्रातिशाख्य ग्रन्थों से पाठ-संशोधन में सहायता लेते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रातिशाख्य-निर्दिष्ट नियम इसी शाखा के लिए (जिसका वे सम्पादन कर रहे हैं) हैं अथवा अन्य शाखा के लिए। जो वैदिक संहिताओं के सम्पादन में इस बात का विशेष रूप से ध्यान नहीं रखेगा, वह उन संहिताओं के परम्परा-प्राप्त पाठों को व्याकुलित कर देगा।

पार्षद पारिषद शब्द का अर्थ—पर्षत् और परिषत् दोनों शब्द

१. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ १७१-१८२।

समानार्थक हैं। दोनों का लोक प्रसिद्ध अर्थ 'सभा' है। परन्तु पार्षद और पारिषद प्रयोगों की मूल प्रकृतियां सभा-सामान्य की वाचक नहीं हैं। इनसे 'एक चरणवाले विभिन्न शाखाध्येताओं की सभा' का ही बोध होता है।[1] इसलिए समान चरण की विभिन्न शाखाएं भी लक्षणा से पषद् अथवा परिषद् कही जाती हैं, और उनके व्याख्या ग्रन्थ पार्षद अथवा पारिषद कहे जाते हैं।

अथर्वपार्षदोक्त अर्थ—अथर्व प्रातिशाख्य के अन्त में परिषत् शब्द का अर्थ इस प्रकार दर्शाया है—

'आम्नातं परिषत् तस्य शास्त्रम्।'

इस लक्षण के अनुसार परिषत् शब्द से आम्नात संहिता-पठित शब्दों का निर्देश है, उसका यह शास्त्र है।

यही अर्थ अगले सूत्र से भी द्योतित होता है—

'आम्नातव्यमनाम्नातं प्रपाठेऽस्मिन् क्वचित् पदम्।
छन्दसोऽपरिमेयत्वात् परिषत्तस्य लक्षणम्,
परिषत्तस्य लक्षणम्।

अर्थात्—पढ़ने योग्य शब्दों को नहीं पढ़ा इस प्रपाठ (प्रातिशाख्य) में कहीं पदों को, छन्दों के अपरिमेय होने से परिषत् संहिता पठित शब्द ही उसका लक्षण है, अर्थात् संहिता के पाठ-सामर्थ्य से उसको वैसा ही समझें।

अर्थ विशेष का कारण—अथर्व प्रातिशाख्य में किए गये इस अर्थ-विशेष का एक विशिष्ट कारण है। अथर्वपार्षद किसी शाखाविशेष का है, और अन्य आर्च याजुष आदि प्रातिशाख्य चरणों के हैं। एक-एक चरण में कई-कई शाखाएं होने से चरण समूहावलम्बेन शाखाओं की सभा रूप होता है। अतः वहां लौकिक अर्थ से समानता बन जाती है। अथर्वशाखाओं में आर्च और याजुष शाखाओं के समान चरण विभाग नहीं है। इसलिए उसे **परिषत्** का भिन्न अर्थ बताना पड़ा।

---

१. समानं तुल्यकालं ब्रह्मचारित्वं येषां त इमेऽन्यशाखाध्यायिनोऽपि सब्रह्मचारिणः सत्रसोऽभिधीयन्ते। द्र०—'अष्टाध्यायी-शुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मत-विमर्शः' श्री पं० विजयपाल आचार्य कृत पृष्ठ १०, पं० १३-१४; तथा द्र०—हि० सं० लिटरेचर, मैक्समूलर, पृष्ठ ६८।

प्रातिशाख्यों का स्वरूप

प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध तत्तत् वेद के तत्तत् चरणों के साथ है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। यहां हम प्रातिशाख्यों के स्वरूप का वर्णन उनके प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से करते हैं।

यास्क का कथन है कि प्रातिशाख्य पदप्रकृतिक हैं, अर्थात् पदों को प्रकृति मानकर संहिता में होने वाले विपर्ययों का वर्णन करते हैं।[1] प्रातिशाख्यों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि यास्क का निर्देश सामान्यरूप से युक्त है। परन्तु प्रातिशाख्यों में पदों में संहिता के कारण होनेवाले विकारों के अतिरिक्त शिक्षा (वर्णोच्चारणविद्या) का भी सूक्ष्म विवेचन मिलता है। ऋक्प्रातिशाख्य में वर्णोच्चारण में होनेवाले दोषों का पर्याप्त सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध होता है (यह भी शिक्षा का ही अङ्ग है)। सम्भवतः इसी दृष्टि से महाभाष्य १।२।३२ में पतञ्जलि ने लिखा है—

'यद्येव सुहृत् किमन्यान्यप्येवंजातीयकानि नोपदिशति? कानि पुनस्तानि? स्थानकरणानुप्रदानानि। व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या। सोऽसौ छन्दःशास्त्रेष्वभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते।

अर्थात्—यदि पाणिनि इतना सुहृत् है, तो इस प्रकार के अन्य विषयों का उपदेश क्यों नहीं करता? वे क्या विषय हैं? स्थान करण अनुप्रदान आदि। व्याकरण नामवाली उत्तरा (अगली) विद्या है। जो छन्दःशास्त्रों में शिक्षित हैं, वह उनकी उपलब्धि (ज्ञान) से जानने में समर्थ हैं।

नागेश ने महाभाष्यप्रदीपोद्योत में छन्दःशास्त्र का अर्थ प्रातिशाख्य किया है।

ऋक्प्रातिशाख्य में शिक्षा का विषय अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। साथ ही इसमें अन्य प्रातिशाख्यों से विलक्षण वैदिक छन्दशास्त्र का भी सविस्तार वर्णन मिलता है।

प्रातिशाख्यों में जहां संहिता के प्रभाव से होनेवाले वर्ण वा स्वर-विपर्यय का वर्णन है, वहां पदपाठ-सम्बन्धी नियमों का भी उल्लेख

१. पदप्रकृतिः संहिता, पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि। निरु० १।१७॥

मिलता है। पदपाठ के पश्चात् पढ़े जाने वाले[1] क्रमपाठ के नियमों का भी सामान्यरूप से उल्लेख मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में वेद के जटापाठ का भी विवेचन उपलब्ध होता है।[2]

साम का प्रातिशाख्य फुल्लसूत्र अथवा पुष्पसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रातिशाख्य अन्य प्रातिशाख्यों से विलक्षण है। इसमें सामगान में होनेवाले वर्णविकारों वा स्तोभों का निर्देश है। सम्भवतः इसका कारण साम से सम्बद्ध होना ही है।

सामवेद के ऋक्पाठ में होनेवाले सांहितिक वर्णविकार आदि का निर्देश 'ऋक्तन्त्र' नामक ग्रन्थ में मिलता है। अन्य प्रातिशाख्यों की वैषयिक तुलना से यह प्रातिशाख्य कहा जा सकता है, पर प्राचीन आचार्यों ने इसको प्रातिशाख्य नाम से स्मरण नहीं किया है। साम प्रातिशाख्य के रूप में फुल्लसूत्र वा पुष्पसूत्र ही समादृत है।

इसी दृष्टि से हमने इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में प्रातिशाख्यों का उल्लेख करके पृष्ठ ७३-७४ (च० सं०) पर 'अन्य वैदिक व्याकरण' इस उपशीर्षक के अन्तर्गत ऋक्तन्त्र का तथा एतत्सदृश कतिपय अन्य ग्रन्थों का निर्देश किया है।

डा० सत्यकाम भारद्वाज, जिन्हें भारतीय परम्परा का गहरा ज्ञान नहीं, और हवाई घोड़े पर चढ़कर अपने नूतन अनुसन्धान को प्रकट करने में विशेष रुचि है अनेक असम्बद्ध कल्पनाएं करते हैं। उन्होंने अपने 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' ग्रन्थ (पृष्ठ ६३) में लिखा है—

'मीमांसक ने इन पूर्वोक्त ऋक्तन्त्र, अक्षरतन्त्र, सामतन्त्र, अथर्व चतुरध्यायी (शौनकीय), और प्रतिज्ञासूत्रादि को 'अन्य वैदिक व्याकरण' नाम से एक पृथक् शीर्षक के आधीन रखा है। उनकी दृष्टि में प्रातिशाख्यों और इन तन्त्रग्रन्थों में रचनागत दृष्टि से कुछ अन्तर

---

१. द्र०—अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्। अष्टाध्यायी २।४।५ का प्रसिद्ध उदाहरण 'पदक्रमकम्' (काशिका)।

२. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य मैसूर सं० की कस्तूरिरङ्गाचार्य लिखित भूमिका पृष्ठ ६-१३।

है। सच यह है कि ऊपर निकाले गये निष्कर्षों के अनुसार ये ग्रन्थ भी मूलतः प्रातिशाख्य ही हैं।'

वर्माजी ने सम्भवतः मेरा ग्रन्थ मनोयोग से नहीं पढ़ा। यदि पढ़ा होता, तो मेरे नाम का निर्देश करके ऐसा अशुद्ध लेख कभी नहीं लिखते। मैंने तो स्पष्ट लिखा है—

'प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त तत्सदृश अन्य निम्न निर्दिष्ट वैदिक व्याकरण उपलब्ध हैं।' पृष्ठ ७३ (च० सं०)।

यहां मैंने तत्सदृश शब्द द्वारा ऋक्तन्त्र आदि को प्रातिशाख्य सदृश ग्रन्थ ही ध्वनित किया है। परन्तु प्रातिशाख्यों के अन्तर्गत इनका निर्देश न करने का प्रधान कारण यही है कि वैदिक-सम्प्रदाय में इन्हें प्रातिशाख्य नाम से कहीं स्मरण नहीं किया गया। यदि वर्मा जी को ऐसा कहीं उल्लेख मिला होता, तो वे उसका निर्देश करके मेरे मत का खण्डन विस्फोटक रीति से करते।

इनका प्रातिशाख्यों में अन्तर्भाव न करने का एक कारण यह भी है कि प्रातिशाख्य पृथक्-पृथक् शाखाओं पर न लिखे जाकर स्व-स्व-चरणगत सभी शाखाओं को दृष्टि में रखकर लिखे गये हैं। तब एक चरण के अनेक प्रातिशाख्य भला कैसे हो सकते हैं?

प्रातिशाख्य और ऐन्द्र सम्प्रदाय

कतिपय पाश्चात्त्य एवं पौरस्त्य विद्वानों का मत है कि प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध ऐन्द्र सम्प्रदाय से है। वे यह भी मानते हैं कि ऐन्द्र सम्प्रदाय प्राच्य सम्प्रदाय है। ये दोनों मत प्रायः कल्पना पर आश्रित है क्योंकि ऐन्द्र तन्त्र के उपलब्ध न होने से तुलनात्मक रीति से निश्चित सिद्धान्त की कल्पना नहीं की जा सकती। काशकृत्स्न तन्त्र ऐन्द्र सम्प्रदाय का है, यह हमारा विचार भी कल्पना पर ही आश्रित है।

प्रातिशाख्यों को ऐन्द्र सम्प्रदाय का मानने का प्रधान हेतु यह दिया जाता है कि ऐन्द्र सम्प्रदाय के कातन्त्र में अक्षर समाम्नाय का पाठ नहीं है, और प्रातिशाख्यों में भी अक्षर समाम्नाय का पाठ उपदिष्ट नहीं है।

हमारे विचार में यह हेतु उस समय दिया जा सकता था, जब ऐन्द्र व्याकरण का कोई भी सूत्र प्रकाश में नहीं आया था। पर हमने ऐन्द्र तन्त्र के दो सूत्र बड़े परिश्रम से ढूंढ़ कर प्रकाशित किये हैं (द्र०—यही ग्रन्थ भाग १, पृष्ठ ९३-९४ च०सं०)। उनमें ऐन्द्र तन्त्र का आदि सूत्र है—**अथ वर्णसमूहः**। इस सूत्र के उपलब्ध हो जाने पर यह कल्पना स्वतः समाप्त हो जाती है कि ऐन्द्र तन्त्र में अक्षर-समाम्नाय पठित नहीं था। साथ ही यह भी विवेचनीय है कि प्रातिशाख्यों में से ऋक्प्रातिशाख्य के आरम्भ में दो वर्गों में अक्षर-समाम्नाय उपदिष्ट है। इस अक्षर-समाम्नाय को मूल ग्रन्थ का अवयव न मानने पर **अष्टौ समानाक्षराण्यादितः** (१।१) सूत्ररचना सम्भव ही नहीं है। इतना ही नहीं, वर्गद्वयवृत्तिनिर्दिष्ट अक्षर समाम्नाय क्रम न मानने पर ऋक्प्रातिशाख्य में उक्त अनेक सूत्र समझ में ही नहीं आ सकते। यथा—**दुस्पृष्टं तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम्** (१३।१०)। इस सूत्र में हकार से पूर्व चार वर्ण यरलव विवक्षित हैं, उनका इसमें ईषत्-स्पृष्ट प्रयत्न कहा है। लोक में श ष स ह इस क्रम से ह सब के अन्त में पठित है।

ऋक्प्रातिशाख्य के टीकाकार उव्वट को वर्गद्वयवृत्ति या तो उपलब्ध नहीं हुई, अथवा वह उसे प्रातिशाख्य का भाग नहीं मानता था। अत एव उसने ऋक्प्रातिशाख्य में आश्रित अक्षरसमाम्नाय की उपपत्ति के लिए १।३ की वृत्ति में बड़ी क्लिष्ट कल्पना की है। हमारा विचार है कि उव्वट को देवमित्र सुत विष्णुमित्र कृत ऋक्प्रातिशाख्य की व्याख्या, जिसका यह वर्गद्वयवृत्ति भाग है, उपलब्ध नहीं हुई। क्योंकि उसने अपनी टीका में विष्णुमित्र का कहीं उल्लेख नहीं किया। परन्तु यह भी एक आश्चर्य की बात है कि विष्णुमित्र कृत ऋक्प्रातिशाख्य व्याख्या के कई हस्तलेख आज भी विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं।

जब प्रातिशाख्यों में ऋक्प्रातिशाख्य में अक्षरसमाम्नाय उपदिष्ट है तब यह सामान्यरूप से कहना कि प्रातिशाख्यों में अक्षरसमाम्नाय का निर्देश नहीं है, चिन्त्य है। डा० वर्मा प्रभृति ऋक्तन्त्र को प्रातिशाख्य ही मानते हैं, उस ऋक्तन्त्र में भी अक्षरसमाम्नाय आदि में उपदिष्ट है।

ऐन्द्र सम्प्रदाय की कातन्त्रीय कतिपय संज्ञाएं प्रातिशाख्यों में उपलब्ध हो जाती हैं एतावता प्रातिशाख्यों को ऐन्द्र सम्प्रदाय का मानना भी हमारे विचार से उचित नहीं है। हां, यदि कभी ऐन्द्र तन्त्र उपलब्ध हो जावे, वा उसके दो चार सौ सूत्र वा मत उद्धृत मिल जावें, तब इस समस्या का अन्तिम रूप से निर्णय हो सकता है।

अब हम वेद क्रम से प्रातिशाख्यों के सम्बन्ध में लिखते हैं—

ऋग्वेद के प्रातिशाख्य

ऋग्वेद के पांच चरणों के पांच प्रातिशाख्यों में से सम्प्रति एक प्रातिशाख्य ही उपलब्ध है। इसका संबन्ध शाकल चरण की संहिताओं के साथ है। अन्य आश्वलायन, बाष्कल, शाङ्खायन प्रातिशाख्य केवल नाम मात्र से विज्ञात हैं। यतः सम्प्रति ऋग्वेद-सम्बन्धी एक ही प्रातिशाख्य उपलब्ध है, अतः इसके लिये लोक में सामान्यरूप से ऋक्प्रातिशाख्य शब्द का ही व्यवहार होता है।

१—शौनक (३००० वि० पूर्व)

आचार्य शौनक ने ऋग्वेद के शाकल चरण की शाखाओं से संबद्ध एक प्रातिशाख्य का प्रवचन किया है। यह सम्प्रति ऋक्पार्षद अथवा ऋक्प्रातिशाख्य नाम से प्रसिद्ध है।

प्रवक्ता—सम्प्रति उपलब्ध ऋक्प्रातिशाख्य का प्रवक्ता कुलपति=गृहपति[1] आचार्य शौनक है। इन्हें बह्वृचसिंह भी कहा जाता है। इस प्रातिशाख्य का शौनक प्रवक्तृत्व इसकी अन्तरङ्ग परीक्षा से भी स्पष्ट है। इस पार्षद के प्राचीन वृत्तिकार विष्णुमित्र ने अपनी वृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

'तस्मादादौ तावच्छास्त्रावतार उच्यते—

शौनको गृहपतिर्वै नैमिषीयैस्तु दीक्षितः।
दीक्षासु चोदितः प्राह सत्रे तु द्वादशाहिके।

इति शास्त्रावतारं स्मरन्ति।'

---

१. प्राचीन परिभाषा के अनुसार जो आचार्य १० सहस्र विद्यार्थियों का अन्न वस्त्र से भरण पोषण करता है, वह कुलपति अथवा गृहपति कहाता है।

अर्थात्—गृहपति शौनक ने सत्र में दीक्षित नैमिषारण्यस्थ मुनियों की प्रेरणा से द्वादशाह नामक सत्र में इस शास्त्र का प्रवचन किया। इस प्रकार शास्त्र का अवतरण पूर्वाचार्यों द्वारा स्मरण किया जाता है।

विष्णुमित्र के उपर्युक्त शास्त्रावतार निर्देश से स्पष्ट है कि इस पार्षद के प्रवचन का इतिहास पूर्व व्याख्याकार परम्परा से स्मरण करते चले आ रहे हैं। अतः यह इतिहास परम प्रामाणिक है। इसमें किसी प्रकार की आशंका को कोई स्थान नहीं है।

काल—कुलपति शौनक के काल के सम्बन्ध में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में आचार्य पाणिनि के प्रकरण में (पृष्ठ २१८, २१९ च० सं०) विस्तार से लिख चुके हैं। तदनुसार पार्षद-प्रवक्ता शौनक का काल सामान्यतया भारत-युद्ध (३१०० वि० पूर्व) से लेकर महाराज अधिसीम के काल (भारतयुद्धोत्तर २५० वर्ष ३८५० वि० पूर्व) तक है। परन्तु यास्क ने अपनी तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी में शौनक के प्रातिशाख्य-निर्दिष्ट छन्दोमत का नामपुरःसर निर्देश किया है।[1] अतः स्पष्ट है कि शौनक ने इस पार्षद का प्रवचन यास्क के सर्वानुक्रमणी प्रवचन से पूर्व किया था। उधर शौनक ने भी इस प्रातिशाख्य में यास्क के किसी ऋक्सम्बन्धी ग्रन्थ से यास्कीय मत को उद्धृत किया है।[2] महाभारत से ज्ञात होता है कि यास्क ने निरुक्त का प्रवचन महाभारत के प्रवचन से पूर्व किया था।[3] इसलिए शौनक के पार्षद-प्रवचन का काल भारतयुद्ध से लगभग १०० वर्ष से अधिक उत्तर नहीं

---

१. द्वादशिनस्त्रयोऽष्टाक्षराश्च जगती ज्योतिष्मती। साऽपि त्रिष्टुबिति शौनकः। छन्दोविचितिभाष्यकार पेत्ता शास्त्री (हृषीकेश) द्वारा उद्धृत। द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वेदों के भाष्यकार भाग, पृष्ठ २०५ पर निर्दिष्ट। शौनक का उक्त मत ऋक्प्राति० १६।७० में निर्दिष्ट है।

२. न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः। ऋक्प्राति० १७।४२।

३. स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः। मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्॥ शान्ति० ३४२।७३॥

माना जा सकता। इस प्रकार पार्षद-प्रवचन का काल विक्रम से ३००० तीन सहस्र वर्ष पूर्व रहा होगा।

ऋक्प्रातिशाख्य का सामान्य परिचय—इस प्रातिशाख्य में १८ पटल में छन्दोबद्ध सूत्र हैं।

यह पार्षद अन्य पार्षदों से कुछ वैशिष्टय रखता है। अन्य पार्षदों में प्रायः सन्धि आदि के नियमों, पद-पाठ तथा क्रम-पाठ के नियमों का ही उल्लेख रहता है। यदि शिक्षा का किसी में वर्णन मिलता भी है, तो बहुत साधारण। इस पार्षद में १३ वें १४ वें पटलों में विस्तार से शिक्षा का विषय वर्णित है। १६-१८ तक तीन पटलों में छन्दःशास्त्र का विस्तार से विधान है।

काशिका ४।३।१०६ में शौनकीया शिक्षा का उल्लेख है। यह शौनकीया शिक्षा ऋक्प्रातिशाख्य अन्तर्गत १३-१४ पटल ही है, अथवा शौनक ने किसी स्वतन्त्र शिक्षा-ग्रन्थ का भी प्रवचन किया था, यह अज्ञात है।

ऋक्प्रातिशाख्य का आरम्भ—ऋक्प्रातिशाख्य का आरम्भ कहां से होता है, इस विषय में वृत्तिकार विष्णुमित्र और भाष्यकार उव्वट का मत-भेद है। डा० मंगलदेव शास्त्री के संस्करण के आरम्भ में विष्णुमित्रकृत वर्गद्वय-वृत्ति छपी है। इस वृत्ति के अनुसार ये दोनों वर्ग प्रातिशाख्य के आद्य अवयव हैं। **इति वर्णराशिक्रमश्च** (सूत्र १०) की व्याख्या में विष्णुमित्र ने वर्गद्वय अन्तर्गत वर्णसमाम्नाय अथवा वर्णक्रम निर्देश का प्रयोजन देते हुए लिखा है—

'**वर्णक्रमश्चायमेव वेदितव्य उक्तप्रकारेण। वक्ष्यत्ति-ऋकारादयो दश नामिनः स्वराः** (१।६५) **इति, तथा परेष्वैकारमोजयोः**(२।१८) **ओकारं युग्मयोः** (२।१९) **इति। अन्यथाः सप्त तेषामघोषाः**(१।११) **तथा प्रथमपञ्चमौ च द्वा ऊष्मणाम्** (१।३९) **इति एवमादिष्वयं क्रमो वेदितव्यः।**' (पृष्ठ २०)।

इसमें **वक्ष्यति** क्रिया के निर्देश और वर्णक्रम का प्रयोजन बतलानेवाले सूत्रों के निर्देश से स्पष्ट है कि वृत्तिकार वर्गद्वय तथा उत्तर भाग का एक ही कर्ता मानता है। इतना ही नहीं, वह पुनः लिखता है—

'एवं वर्णसमाम्नायमुक्त्वा तत्र लघुनोपायेन संज्ञापरिभाषाभ्यां शास्त्रे संव्यवहारसिद्धिं मन्यमानः संज्ञासंज्ञिसंबन्धार्थमाह'--(पृष्ठ २०)

इससे भी यही ध्वनित होता है कि जिसने वर्गद्वय में समाम्नाय पढ़ा, वही संज्ञासंज्ञि-संबन्ध बताने के लिए अगले सूत्रों को पढ़ता है।

उव्वट ने शास्त्र का आरम्भ—

'शिक्षाछन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम् ।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम् ।।

श्लोक से माना है। तदनन्तर **अष्टौ समानाक्षराण्यादितः** आदि संज्ञानिदर्शक सूत्र का पाठ स्वीकार किया है।

डा० मङ्गलदेव जी की भूल--डा० मङ्गलदेव जी ने इस श्लोक को पार्षद का वचन न समझकर उव्वट का वचन स्वीकार कर छोटे अक्षरों में छापा है। परन्तु यह उनकी भूल है। हो सकता है, उन्हें यह भूल पूर्व संस्करणों से विरासत में मिली हो। अस्तु,

उव्वट उक्त श्लोक को पार्षद का अङ्ग मानता है। वह इसके आरम्भ में लिखता है—**किमर्थमिदमारभ्यते** अर्थात् यह पार्षद किस लिए बनाया जा रहा है? इसके उत्तर में उक्त श्लोक पढ़कर लिखता है—

'प्रातिशाख्यप्रयोजनमनेन श्लोकेन उच्यते।'

अर्थात्—इस श्लोक से प्रातिशाख्य की रचना का प्रयोजन बताया है—

इससे भी यही ध्वनित होता है कि रचनाप्रयोजन का निर्देशक वचन प्रातिशाख्य का अंग है। इतना ही नहीं, **अष्टौ समानाक्षराण्यादितः** सूत्र से पूर्व वह लिखता है—

'उक्तं शास्त्रप्रयोजनम्। प्रथमपटले तु संज्ञाः परिभाषाश्चोच्यन्ते। तदर्थमिदमारभ्यते--अष्टौ ......।'

इस वाक्य में **उक्तम्** और **उच्यन्ते** दोनों क्रियाओं का एक ही कर्ता होने पर वाक्य का सामञ्जस्य बनता है। अन्यथा **मया भाष्यकृता प्रयोजनमुक्तम्, तदर्थमिदमारभ्यते पार्षदकृता** ऐसी कल्पना में

महान् गौरव होता है, और दोनों वाक्यों का परस्पर संबन्ध नहीं बनता।

और भी—उव्वट ने उक्त श्लोक की विस्तृत व्याख्या करके शास्त्रप्रयोजन बताते हुए लिखा है—

'तथा चाथर्वणप्रातिशाख्य इदमेव प्रयोजनमुक्तम्—एवमिहेति च विभाषा प्राप्तं सामान्येन' (१।२) पृष्ठ २३।

यहां उव्वट ने उक्त श्लोक-निर्दिष्ट प्रयोजन ही शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है, इसकी पुष्टि के लिए अथर्व प्रातिशाख्य का वचन उद्धृत किया है। इससे भी यही विदित होता है कि जैसे अथर्व प्रातिशाख्य का प्रयोजन-निर्देशक वचन उसका अवयव है, वैसे ही ऋक्पार्षद का प्रयोजन-निर्देशक उक्त श्लोक भी ऋक्पार्षद का अवयव है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि उव्वट के मत में प्रातिशाख्य का आरम्भ उक्त श्लोक से होता है।

विष्णुमित्रवृत्ति में उक्त श्लोक है अथवा नहीं, हम नहीं कह सकते। क्योंकि इस समय हमारे पास विष्णुमित्र कृत पार्षदवृत्ति का हस्तलेख नहीं है। परन्तु विष्णुमित्र की वर्गद्वयवृति से हमें सन्देह होता है कि उसके ग्रन्थ में यह श्लोक नहीं रहा होगा। इसमें निम्न हेतु हैं—

(१) विष्णुमित्र वर्गद्वय के द्वितीय श्लोक की अवतरणिका में लिखता है—

'एवं शास्त्रादौ नमस्कारं प्रतिज्ञां च कृत्वा शास्त्रप्रयोजनमाह—माण्डूकेय संहितां वायुमाह तथाकाश चारय माक्षव्य एव।' इत्यादि।

इससे स्पष्ट है कि विष्णुमित्र के पार्षद ग्रन्थ में उव्वट स्वीकृत प्रयोजन-बोधक श्लोक नहीं था।

(२) आगे वर्गद्वयवृत्ति के अन्त में पुनः लिखता है—

'एवं वर्णसमाम्नायमुक्त्वा तत्र लघुनोपायेन संज्ञापरिभाषाभ्यां शास्त्रे संव्यवहारसिद्धिं मन्यमानः संज्ञासंज्ञिसंबन्धार्थमाह'—(पृष्ठ २०)।

इस लेख से स्पष्ट है कि उसके पार्षद में **इति वर्णराशिक्रमश्च** (वर्गद्वय १०), और **अष्टौ समानाक्षराण्यादितः** सूत्रों के मध्य में कोई व्यवधायक वचन नहीं था।

विष्णुमित्र-व्याख्यात वर्गद्वय पार्षद के अङ्ग—विष्णुमित्र द्वारा व्याख्यात वर्गद्वय ऋक्प्रातिशाख्य के अवयव हैं। इनमें निर्दिष्ट वर्ण सामाम्नाय अथवा वर्ग-क्रम का उपदेश किये विना ऋक्प्रातिशाख्य के उत्तरवर्ती कई सूत्रों का प्रवचन ही नहीं हो सकता। उव्वट, जो कि इस **वर्गद्वय** को प्रातिशाख्य का अवयव नहीं मानता। उसके सम्मुख यह भयङ्कर बाधा उपस्थित हुई कि **अष्टौ समानाक्षराण्यादितः** आदि सूत्रों में किस क्रम से वर्णों की गिनती की जाए ? वह स्वयं लिखता है—

'ननु कथं वर्णसमाम्नायमनुपदिश्यैव अष्टौ समानाक्षराण्यादित (१।१) इति। उपदिष्टस्य हि व्यपदेश एवमुपपद्यते आदित इति, नानुपदिष्टस्य। तथा—चत्वारि संध्यक्षराण्युत्तराणि (१।२) इत्युत्तर-व्यपदेशो नैव घटते, पृष्ठ २५।

अर्थात्—अक्षर समाम्य का उपदेश किए विना सूत्रों में **आदितः** तथा **उत्तराणि** निर्देश उपपन्न नहीं हो सकता।

इस शंका को उपस्थित करके उसने अत्यन्त क्लिष्ट कल्पनाएं की हैं। यथा—

१—**आचार्यप्रवृत्त्या क्रमोऽन्यथाऽनुमीयते**। पृष्ठ २५।

२—**सोऽयमाचार्यप्रवृत्त्या पाठक्रमोऽनुमीयमानो लौकिकवर्ण-समाम्नायस्य द्विधापाठं गमयति**। पृष्ठ २६।

अर्थात्—आचार्य की प्रवृत्ति से लौकिक क्रम से भिन्न वर्णसमाम्नाय क्रम का अनुमान होता है। आचार्य की प्रवृत्ति से अनुमीयमान पाठक्रम बतलाता है कि लौकिक वर्णसमाम्नाय का दो प्रकार का क्रम था।

उव्वट को ये क्लिष्ट कल्पनाएं इसलिये करनी पड़ीं कि उसे विष्णुमित्र विरचित वर्गद्वयवृत्ति का ज्ञान नहीं था।

शौनक के अन्य ग्रन्थ—आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों का प्रवचन किया था। वैदिक वाङ्मय में—

अथर्व की **शौनक संहिता**, **अथर्व प्रातिशाख्य बृहद्देवता**, ऋग्वेद के ऋषि-देवता-छन्द- अनुवाक आदि से सम्बद्ध **दश अनुक्रमणिआं** और **शौनकी शिक्षा** प्रसिद्ध हैं। वैदिकेतर वाङ्मय में **ज्योतिष शास्त्र** और **चिकित्सा शास्त्र** आदि का प्रवचन किया था।

ज्योतिष सम्बन्धी शौनक संहिता का उल्लेख शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने 'भारतीय ज्योतिष शास्त्राचा इतिहास' के पृष्ठ ४७५ में किया है और पृष्ठ १८६, ४८२ टि०, ४८७ में शौनक-मत का निर्देश मिलता है। चिकित्साशास्त्र सम्बन्धी शौनक संहिता का उल्लेख वाग्भट्ट ने **अधीते शौनकः पुनः** (अष्टाङ्ग-हृदय कल्पस्थान ६।१५) में किया है। इस पर सर्वाङ्गसुन्दरा टीका में **शौनकस्तु तन्त्रकृदधीते-एवं पठति**............। लिखकर शौनक का पाठ उद्धृत किया है।

शौनकपुत्र शौनकि किसी व्याकरणशास्त्र का प्रवक्ता था। इसके विषय में इस ग्रन्थ के अ० ३, भाग १, पृष्ठ १४१-१४२ (च० सं०) पर लिख चुके हैं।

व्याख्याकार

(१) भाष्यकार

ऋक्पार्षद के वृत्तिकार विष्णुमित्र ने स्ववृत्ति के आरम्भ में लिखा है—

'सूत्रभाष्यकृतः सर्वान् प्रणम्य शिरसा शुचिः ।'

दक्खन कालेज के संग्रह में वर्तमान हस्तलेख (सं० ५५) का पाठ इस प्रकार है—

'तन्त्रभाष्यविदः सर्वान् प्रणम्य प्रयतः शुचिः ।'

दोनों पाठों में से मूलपाठ कोई भी हो, दोनों से एक ही बात स्पष्ट है कि ऋक्पार्षद पर किसी आचार्य ने कोई भाष्य-ग्रन्थ लिखा था।

इस भाष्य के विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते।

(२) आत्रेय

विष्णुमित्र की पार्षद-वृत्ति के आरम्भ के द्वितीय श्लोक का दक्खन कालेज के हस्तलेख का पाठ इस प्रकार है—

तस्य वृत्तिः कृता येन तम् आत्रेयं प्रणम्य च ।
तेषां प्रसादेनास्याहं स्वशक्त्या वृत्तिमारभे ।।[1]

इस पाठ के अनुसार किसी आत्रेय ने ऋक्पार्षद की वृत्ति लिखी थी। यह वृत्तिकार आत्रेय कौन है, यह अज्ञात है। एक आत्रेय तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।३०; १७।८, तथा मैत्रायणीय प्रातिशाख्य ५।३३; २।५; ६।८ में स्मृत है। एक आत्रेय तैत्तिरीय संहिता का पदकार है।[2] प्रातिशाख्यों में स्मृत और तैत्तिरीयसंहिता का पदकार दोनों निश्चित रूप से एक हैं। ऋक्पार्षद वृत्तिकार यदि यही आत्रेय हो, तो यह आर्षयुगीन व्यक्ति होगा। परन्तु इस विषय में निश्चित रूप से अभी कुछ नहीं कह सकते।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।१ की व्याख्या में त्रिभाष्यरत्न व्याख्याकार सोमार्य ने आत्रेय का एक पाठ उद्धृत किया है।[3] उससे विदित होता है कि आत्रेय ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की व्याख्या की थी। ऋक्प्रातिशाख्य और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के व्याख्याकार आत्रेयों के एकत्व की सम्भावना अधिक है।

आत्रेय की एक शिक्षा भी है। इसका एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोध-संस्थान होशियारपुर के संग्रह में है। द्र०—संख्या ४३७१, पृष्ठ ३००।

(३) विष्णुमित्र

विष्णुमित्र ने ऋक्प्रातिशाख्य पर एक उत्तम वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति अभी तक केवल दो वर्गों पर ही मुद्रित हुई है। इसके हस्तलेख अनेक स्थानों पर विद्यमान हैं। इसका कुछ अंश श्री पं० भगवद्दत्त जी देहली के संग्रह में भी है।

परिचय—विष्णुमित्र ने अपनी वृत्ति के आरम्भ में जो परिचय दिया है, वह इस प्रकार है—

---

१. दक्खन कालेज का हस्तलेख, संख्या ५५।

२. यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुंडिनः। तैत्तिरीय काण्डानुक्रमणी।

३. एकसमुत्थः प्राणः एकप्राणः, तस्य भावस्तद्भावः, तस्मिन् इत्यात्रेयमतम्। पृ० १६२, मैसूर संस्क०।

'चम्पायां न्यवसत् पूर्वं वत्सानां कुलमृद्धिमत् ॥५॥
देवमित्र इति ख्यातस्तस्मिञ्जातो महामतिः।
स वै पारिषदे जेष्ठः सुतस्तस्य महात्मनः ॥६॥
नाम्ना विष्णुमित्रः स कुमार इति शस्यते ॥७॥

इस परिचय के अनुसार विष्णुमित्र का अपर नाम 'कुमार' था। इसके पिता का नाम देवमित्र था। देवमित्र पार्षद=प्रातिशाख्य ज्ञाताओं में श्रेष्ठ था। विष्णुमित्र वत्सकुल का था। यह कुछ पहले चम्पा में निवास करता था।

पाठान्तर—डा० मङ्गलदेव के संस्करण में देवमित्र का वेदमित्र और विष्णुमित्र का विष्णुपुत्र पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। परन्तु इस ग्रन्थ के जो अन्य हस्तलेख हैं, उनकी अन्तिम पुष्पिका के अनुसार देवमित्र और विष्णुमित्र नाम ही प्रामाणिक हैं।

काल—विष्णुमित्र का काल अज्ञात है।

वृत्ति का नाम—विष्णुमित्र कृत पार्षदवृत्ति का नाम **ऋज्वर्था** है। दक्खन कालेज के हस्तलेख संख्या ५६ का अन्त का पाठ इस प्रकार है—

'इति देवमित्राचार्यपुत्रश्रीकुमारविष्णुमित्राचार्यविरचितायाम् ऋज्वर्थायां पार्षदव्याख्यायाम् अष्टादशपटलं समाप्तम्।'

इस हस्तलेख का लेखन-काल शक सं० १५६२=वि० संवत् १६९७ है।

विशेष—इस हस्तलेख के पत्रा ८६ ख तथा कुछ अन्य पटलों के अन्त में व्याख्याकार वज्रट पुत्र उव्वट का नाम मिलता है। सम्भव है लिपिकार को जिन अंशों पर विष्णुमित्र का ग्रन्थ न मिला होगा, वहां उसने उव्वट व्याख्या को लिखकर ग्रन्थ को पूरा किया होगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने की महती आवश्यकता है। इस वृत्ति से अनेक रहस्यों के प्रकट होने की सम्भावना है।

(४) उव्वट (सं० ११०० वि० के समीप)

उव्वट ने ऋक्प्रातिशाख्य का **भाष्य** नाम से व्याख्यान किया है। इसका भाष्य अनेक स्थानों से प्रकाशित हो चुका है। इसमें डा०

मङ्गलदेव का संस्करण यद्यपि उत्तम है, पुनरपि इसमें अभी पाठ-संशोधन की महती स्थिति है।

परिचय—उव्वट ने प्रातिशाख्यभाष्य में अपने को आनन्दपुर का रहनेवाला और वज्रट का पुत्र कहा है।

काल—उव्वट ने अपने यजुर्वेद भाष्य के अन्त में भोजराज के काल में मन्त्रभाष्य लिखने का उल्लेख किया है।[1] भोज का राज्यकाल सामान्यतया सं० १०७५-१११० तक माना जाता है।

देश—वज्रट उव्वट आदि नामों से विदित होता है कि यह कश्मीरी ब्राह्मण था। काशी के सरस्वती भवन के हस्तलेख के अनुसार काशी से मुद्रित यजुर्भाष्य के १३ वें अध्याय के अन्त में लिखा है कि यजुर्वेद-भाष्य उज्जयिनी में लिखा गया है।[2] यही भाव अन्य हस्तलेखों के पाठों का भी है। उनमें 'अवन्ती' का निर्देश है।

अन्य ग्रन्थ—उव्वट ने ऋक्प्रातिशाख्य के अतिरिक्त माध्यन्दिनी संहिता, शुक्लयजुःप्रातिशाख्य और ऋक्सर्वानुक्रमणी पर भी अपने भाष्य लिखे हैं।

(५) सत्ययशाः

ऋक्प्रातिशाख्य पर सत्ययशाः नाम के किसी व्यक्ति ने एक व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर के संग्रह में विद्यमान है। द्रष्टव्य-संख्या ४१३१, सूचीपत्र पृष्ठ ५०।

यह हस्तलेख पूर्ण है। इसमें २०४ पत्रे हैं। इसका ग्रन्थमान ३५०० श्लोक है। यह केरल लिपि में लिखा हुआ है।

इससे अधिक हम इसके विषय में कुछ नहीं जानते।

(६) अज्ञातनाम

मद्रास राजकीय हस्तलेख-संग्रह के सूचीपत्र भाग ५, खण्ड १वी के पृष्ठ ६३२७, संख्या ४३०१ पर **वाक्यदीपिका** नाम्नी ऋक्प्राति-

---

१. ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवन्त्यामुव्वटो वसन्। मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति॥ २. उवटेन कृतं भाष्यमुज्जयिन्यां स्थितेन तु।

शाख्य व्याख्या का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है।

इसके लेखक का नाम अज्ञात है। हस्तलेख पूर्ण है।

(७) अज्ञातनाम

मद्रास राजकीय हस्तलेख-संग्रह के सूचीपत्र भाग ६, खण्ड १ के पृष्ठ ७३८१, संख्या ५३४६ पर एक ऋक्प्रातिशाख्य-व्याख्या निर्दिष्ट है। इसका **उदाहरण-मण्डिका** नाम से संकेत है। इसी ग्रन्थ के तीन हस्तलेख ट्रिवेण्ड्रम के संग्रह में भी हैं। द्र०—सूचीपत्र भाग ५ संख्या ७, ८, ६। यहां इनका निर्देश 'पार्षद-व्याख्या उदाहरण-मण्डिता' नाम से है।

इस ग्रन्थ के लेखक का नाम तथा देश काल अज्ञात है।

(८) पशुपतिनाथ-शास्त्री

पशुपतिनाथ शास्त्री ने चिन्ताहरण शर्मा के साहाय्य से उव्वट-भाष्य के आधार पर ऋक्पार्षद की एक व्याख्या लिखी है।[1] यह 'संस्कृत साहित्य परिषद् ग्रन्थमाला कलकत्ता' से सन् १९२९ में प्रकाशित हुई है।

यह व्याख्या संक्षिप्त है। इसमें उव्वट द्वारा अस्वीकृत आद्य वर्गद्वय को (जिन पर विष्णुमित्र की टीका छपी है) ग्रन्थ के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है। यह उचित ही किया है।

२—आश्वलायन (३००० विक्रम पूर्व)

ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा का एक प्रातिशाख्य अनन्त की वाजसनेय प्रातिशाख्य की टीका में निर्दिष्ट है। अनन्त का पाठ इस प्रकार है—

'नाप्याश्वलायनाचार्यादिकृतप्रातिशाख्यसिद्धत्वम्।' १।१॥

अनन्त के इस पाठ से विदित होता है कि इस प्रातिशाख्य का प्रवक्ता आश्वलायन आचार्य है।

१. उव्वटकृतभाष्यानुसारिण्या व्याख्यया समलंकृत्य······। मुखपृष्ठ।

यह प्रातिशाख्य इस समय प्राप्त नहीं है, और इसका अन्यत्र कहीं उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता।

अन्य काल—आचार्य आश्वलायन-प्रोक्त निम्न ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

संहिता-ब्राह्मण—इस संहिता और ब्राह्मण के लिए पं० भगवद्दत्त जी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग' पृष्ठ २०३-२०६ (द्वि० सं०) तक देखना चाहिए।

पदपाठ—आश्वलायन पदपाठ का एक हस्तलेख दयानन्द कालेज लाहौर के संग्रह में संख्या ४१३६ पर निर्दिष्ट है। द्र० वै० वा० का इतिहास भाग १, पृष्ठ २०६ (द्वि० सं०)।

श्रौत-गृह्य—आश्वलायन श्रौत और गृह्य सूत्र प्रसिद्ध हैं।

अनुक्रमणी—आश्वलायन अनुक्रमणी का निर्देश अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी के ११ वें पटल के आरम्भ में उपलब्ध होता है—

ॐ अथाथर्वणे विंशतितमकाण्डस्य सूक्तसंख्या सम्प्रदायाद् ऋषिदैवतछन्दांस्याश्वलायनानुक्रमानुसारेणानुक्रमिष्यामः।

सामवेद की नैगेयानुक्रमणी में **कोऽद्य** (साम पूर्वार्चिक मन्त्र सं० ३४१) के विषय में लिखा है—

'कायीत्यब्रहाश्वलायनः'। नैगेयानुक्रमणी पृष्ठ १४।[1]

अर्थात्—आश्वलायन ने **कोऽद्य** ऋचा को कायी=क-देवतावाली कहा है। यह ऋचा ऋग्वेद १।८४।१६ में भी है। अतः नैगेय अनुक्रमणी के प्रवक्ता ने इस ऋचा का देवता संबन्धी आश्वलायन-मत उसकी ऋगनुक्रमणी से ही संगृहीत किया होगा।

काल—संहिता ब्राह्मण आदि के प्रवक्ता आचार्य आश्वलायन का काल वि० पूर्व ३१००–३००० तक है। भगवान वेदव्यास ने भारत युद्ध से पूर्व शाखाओं का प्रवचन किया था। उसके कुछ काल पश्चात् ही उनके शिष्यों ने स्व-स्व शाखा का प्रवचन किया। इस प्रकार २८ वें व्यास कृष्णद्वैपायन तथा उसके शिष्य-प्रशिष्यों का शाखाप्रवचनकाल वि० पूर्व ३२००-३००० तक है।

पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्ति—बौद्ध त्रिपिटकों में आश्वलायन

---

१. श्री डा० सीताराम सहगल सम्पादित, सन् १९६६।

आदि के नाम अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। उन्हें देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय आर्ष वाङ्मय को अर्वाक्कालिक सिद्ध करने के लिए यह मत प्रसारित किया है कि बौद्ध ग्रन्थों में स्मृत आश्वलायन आदि ब्राह्मण ही आश्वलायन आदि श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों के प्रवक्ता हैं। परन्तु यह मत सर्वथा भ्रान्त है। बौद्धों के ग्रन्थों में उल्लिखित आश्वलायन आदि को श्रौतगृह्य आदि का प्रवक्ता कहीं नहीं लिखा। वस्तुतः बौद्ध ग्रन्थों में प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार उस काल में विद्यमान विशिष्ट विद्वानों का, जो महात्मा बुद्ध के सम्पर्क में आए, उनका गोत्रनामों से उल्लेख किया है। अतः त्रिपिटकों में प्रयुक्त आश्वलायन आदि नाम गोत्र-नाम हैं, आद्य व्यक्ति के नहीं हैं।

३—बाष्कल-पार्षद का प्रवक्ता

बाष्कल चरण के प्रातिशाख्य का यद्यपि प्रत्यक्ष निर्देश नहीं मिलता, तथापि शाखांयन श्रौत १२।१३।५ के वरदत्त सुत आनर्तीय के भाष्य के एक वचन से उसकी अतिशय सम्भावना होती है। वह वचन इस प्रकार है—

'उपद्रुतो नाम सन्धिर्बाष्कलादीनां प्रसिद्धः। तस्योदाहरणम्।'

इसमें बाष्कल चरण की शाखाओं में निर्दिष्ट उपद्रुत नाम की सन्धि का उल्लेख है। निश्चय ही इस सन्धि का विधान उसके प्राति-शाख्य में रहा होगा।

इसी प्रकार शांखायन श्रौत १।२।५ के भाष्य में निम्न वचन द्रष्टव्य है—

'किन्तु बाष्कलानामप्रगृह्यः, तदर्थं वचनम्।'

बाष्कल पार्षद के सम्बन्ध में इससे अधिक हमें कुछ ज्ञात नहीं है।

४—शाङ्खायन पार्षद का प्रवक्ता

अलवर के राजकीय संग्रह में प्रातिशाख्य का एक हस्तलेख विद्यमान है। उसके अन्त में पाठ है—

'इति प्रातिशाख्येऽष्टादश पटलम् । तृतीयोऽध्यायः समाप्तः । सांखायनशाखायां प्रातिशाख्यं समाप्तम् ।' ....

द्र०—सूचीपत्र, ग्रन्थाङ्क १७। पाठनिर्देशक खण्ड पृष्ठ ३ संख्या ४।

इस प्रातिशाख्य के आद्यन्त के पाठ से तो प्रतीत होता है कि यह शाकल पार्षद है। परन्तु अन्तिम श्लोक के अन्त्यचरण **'स्वर्गं जयत्येभिरथामृतत्वम् ॥३८॥७॥'** के साथ ३८॥७ संख्याविशेष का निर्देश होने से सन्देह होता है कि यह पार्षद शाकल पार्षद से कुछ भिन्नता रखता हो, और इसका प्रवचन भी शौनक ने ही किया हो। वस्तुतः इस हस्तलेख का पूरा पाठ मिलाने पर ही किसी निर्णय पर पहुंचा जा सकता है।

५—कात्यायन (३००० विक्रम पूर्व)

शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय प्रातिशाख्य के प्रवक्ता वेदविद्याविचक्षण आचार्य कात्यायन हैं। यह प्रातिशाख्य अनेक व्याख्याओं सहित उपलब्ध है।

परिचय—इस प्रातिशाख्य के प्रवक्ता आचार्य कात्यायन वाजसनेय याज्ञवल्क्य के पुत्र हैं। इस कात्यायन का वर्णन हमने इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ३२२ (च० सं०) पर वार्तिककार के प्रसंग में किया है। पाठक वहीं देखें।

काल—याज्ञवल्क्य के साक्षात् पुत्र होने के कारण इस कात्यायन का काल लगभग ३०००-२९०० वि० पूर्व है।

अन्य ग्रन्थ—आचार्य कात्यायन के नाम से अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। कात्यायन नाम के आचार्य भी अनेक हैं। अतः कौनसा ग्रन्थ किस कात्यायन का है, यह कहना कठिन है। परन्तु निम्न ग्रन्थ तो अवश्य ही इसी कात्यायन के हैं—

संहिता ब्राह्मण—इस कात्यायन ने पञ्चदश वाजसनेय शाखाओं में अन्यतम कात्यायनी शाखा और उसके कात्यायन शतपथ का प्रवचन किया था। कात्यायन शतपथ के प्रथम तीन काण्डों का एक हस्तलेख हमने लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय के संग्रह में देखा था।

श्रौत—कात्यायन श्रौत प्रसिद्ध ही है।

गृह्य—कात्यायन गृह्य का एक हस्तलेख 'सेण्ट्रल प्रवंसी आफ बरार' के हस्तलेख सूची-पत्र में निर्दिष्ट है। इस गृह्य के तीन हस्तलेख 'इतिहास संशोधन मण्डल पूना' के संग्रह में विद्यमान हैं। भण्डारकर प्राच्यविद्या संस्थान में पारस्कर गृह्य के नाम से कई हस्तलेख ऐसे हैं जो कात्यायन गृह्य के प्रतीत होते हैं। इस गृह्य का पाठ पं० जेष्ठाराम बम्बई द्वारा प्रकाशित पारस्करगृह्य के साथ छपा था, ऐसा हमें ज्ञात हुआ है। यह सस्करण हमारे देखने में नहीं आया। हमने कात्यायन गृह्य का अनेक कोशों के आधार पर सम्पादन करके सं० २०४० में रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत) द्वारा छपवाया है।

स्वामी दयानन्द द्वारा उद्धृत—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि के सं० १९३२ के संस्करण में इस गृह्य के अनेक लम्बे-लम्बे पाठ उद्धृत किए हैं। द्वितीयवार संशोधित सं० १९४० की संस्कारविधि में भी क्वचित् इस गृह्य का नामतः उल्लेख मिलता है।

कात्यायन और पारस्कर गृह्य की समानता—ऋग्वेद के जैसे शांखायन और कौषीतकि गृह्यसूत्रों के पाठ प्रायः समान हैं, उसी प्रकार कात्यायन और पारस्कर गृह्यसूत्रों के पाठ भी परस्पर बहुत समानता रखते हैं। पुनरपि इन दोनों में पर्याप्त वैलक्षण्य है।

धर्मसूत्र—कल्प शास्त्र के तीन अवयव होते हैं—श्रौत, गृह्य और धर्म। कात्यायन के श्रौत और गृह्य तो उपलब्ध हैं, परन्तु धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। कात्यायन के नाम से एक स्मृति अवश्य मिलती है, परन्तु वह इस कात्यायन कृत प्रतीत नहीं होती। सम्भवतः उसे कात्यायन के धर्मसूत्र के आधार पर किसी ने बनाया हो।

इनके अतिरिक्त और कौन-कौन से ग्रन्थ इस कात्यायन के हैं, यह कहना कठिन है। **श्रौतपरिशिष्ट** तथा **प्रातिशाख्य-परिशिष्ट** इसी कात्यायन के प्रवचन हैं, अथवा अन्य व्यक्ति के यह निर्णय करना कठिन है, परन्तु हैं ये अवश्य प्राचीन। इसी प्रकार **भ्राज** नाम के श्लोक जिनका पतञ्जलि ने महाभाष्य के आरम्भ में उल्लेख किया है, वे इसी कात्यायन के हैं, अथवा वार्तिककार कात्यायन के, यह भी अज्ञात है।

पाणिनीय अष्टाध्यायी पर लिखे गए वार्तिक इस कात्यायन के पुत्र वररुचि कात्यायन के हैं। यह हम इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ३२४-३२७ (च० सं०) पर लिख चुके हैं।

प्रातिशाख्य-परिशिष्ट– कात्यायन प्रातिशाख्य के परिशिष्ट रूप में **प्रतिज्ञासूत्र** और **भाषिकसूत्र** प्रसिद्ध हैं। इनके विषय में हम स्वतन्त्र रूप से आगे लिखेंगे।

व्याख्याकार

कात्यायन प्रातिशाख्य पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएं लिखी हैं। हम नीचे उनका निर्देश करते हैं—

(१) उव्वट (सं० ११०० वि०)

उव्वट कृत वाजसनेय प्रातिशाख्य की **भाष्य** नाम्नी व्याख्या कई स्थानों से प्रकाशित हो चुकी है।

परिचय– उव्वट के देशकाल आदि का परिचय हम ऋक्प्राति-शाख्य के व्याख्याकारों के प्रकरण में पूर्व लिख चुके हैं।

इस टीका के संस्करण—इस टीका के तीन संस्करण हमारी दृष्टि में आए हैं। एक जीवानन्द विद्यासागर द्वारा प्रकाशित सं० १९५० (सन् १८८३) का है। दूसरा युगलकिशोर सम्पादित काशी का संस्करण है, जो सं० १९६४ में प्रकाशित हुआ है इस संस्करण में प्रतिज्ञासूत्र, भाषिकसूत्र, जटादिविकृतिलक्षण, ऋग्यजुःपरिशिष्ट तथा अनुवाकाध्याय परिशिष्ट भी अन्त में छपे हैं। तृतीय संस्करण वि० वेंकटराम शर्मा द्वारा सम्पादित मद्रास विश्वविद्यालय से सं० १९९१ (सन् १९३४) में प्रकाशित हुआ है। इसमें अनन्त भट्ट की व्याख्या भी साथ में छपी है।

तीनों भ्रष्ट—उव्वटभाष्य के तीनों संस्करण अत्यन्त भ्रष्ट हैं। वि० वेङ्कटराम शर्मा का संस्करण पराने संस्करणों से भी निकृष्ट है। पुराने संस्करणों में उव्वट भाष्य में उदाहरण रूप से दिये गए याजुष मन्त्रों के पते छपे थे, परन्तु इस संकरण में उन्हें भी हटाकर सम्पादक ने न जाने कौन सी प्रगति की है।

आदर्श संस्करण की आवश्यकता—उक्त संस्करणों को देखते हुए

इस ग्रन्थ के विशुद्ध आदर्श संस्करण की महती आवश्यकता है। इस संस्करण के लिए आगे निर्दिष्ट हस्तलेखों का उपयोग करना अत्यावश्यक है।

अति प्राचीन हस्तलेख—दक्खन कालेज पूना के संग्रह में उव्वट-भाष्य के दो अति प्राचीन हस्तलेख हैं। एक संख्या २७६ का सं० १५३८ का है और दूसरा सं० २८३ का संवत् १५६३ का है। इसी संग्रह में संख्या २८६ का एक हस्तलेख और है। यद्यपि इस पर लेखन-काल निर्दिष्ट नहीं है, तथापि इस में पृष्ठ-मात्राओं का प्रयोग होने से यह हस्तलेख भी पर्याप्त प्राचीन है। पृष्ठमात्राओं का प्रयोग लगभग ४०० वर्ष पूर्व नागराक्षरों में होता था।

(२) अनन्त भट्ट (सं० १६३०–१६८२ वि०)

अनन्त भट्ट विरचित प्रातिशाख्य व्याख्या मद्रास विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला से निस्सृत वाजसनेय प्रातिशाख्य में उव्वट टीका के साथ छपी है।

परिचय—अनन्त भट्ट ने अपनी व्याख्या के अन्त में स्वपरिचय इस प्रकार दिया है—

अम्बा भागीरथी यस्य नागदेवात्मजः सुधीः।
तेनानन्तेन रचितं प्रातिशाख्यस्य वर्णनम्॥

इस उल्लेख के अनुसार अनन्त की माता का नाम भागीरथी पिता का नाम नागदेव था। यह काण्वशाखा का अनुयायी था।

ऐसा ही परिचय अनन्त ने अपने काण्वसंहिता भाष्य में भी दिया है। अनन्त के पुत्र का नाम राम था। इसने पञ्चोपाख्यानसंग्रह नाम ग्रन्थ सं० १६६४ में लिखा था।[1]

देश—अनन्त ने अपने ग्रन्थ काशी में लिखे हैं। काण्वयाजुष भाष्य के पूना के कोश के अन्त में लेख है—

काश्यां वासः यदा यस्य चित्तं यस्य रमाप्रिये॥८॥

विधानपारिजात ग्रन्थ के अन्त में भी काशी में ग्रन्थ की पूर्ति का उल्लेख है।

---

१. द्र० —इण्डिया आफिस पुस्तकालय सूचीपत्र, पृष्ठ ६८५।

काल—श्री पं० भगवद्दत्त जी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' के वेदों के भाष्यकार नामक भाग में पृष्ठ १०० पर अनन्त का काल सं० १७०० के समीप लिखा है। पुनः पृष्ठ १०२ पर लिखा है—'काशीवासी महीधर भी अपने भाष्य को वेददीप कहता है। सम्भव है अनन्त और महीधर समकालिक हों।'

निश्चित काल—अनन्त देव विरचित **विधानपारिजात** ग्रन्थ का एक हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के संग्रह में है।[1] उसके अन्त में निम्न श्लोक पठित है—

चन्द्रश्चन्द्राकलेव शुद्धगुणभृच्छ्रीनागदेवाभिधः
तस्माच्छ्रीमदनन्तदेव आविरभवद् यद्यज्ज्ञानभक्त्यादिके-
ष्वन्तो नास्ति गुणेषु यस्य च हरिः प्रेष्ठो वरीवर्तते
तेनायं रचितो विधानविविषद्वृक्षो ऽर्थिसर्वप्रदः
काले द्व्यष्टषडेकलांककमिते (?) काश्यामगात् पूर्णताम् ॥

इसके अन्तिम चरण में **विधानविविशद् वृक्ष** अर्थात् विधानपारिजात का रचना काल सं० १६८२ लिखा है। प्रथम श्लोक में 'चन्द्रात्' पद श्लेष से नागदेव के पिता के नाम का निर्देशक है। ऐसा हमारा विचार है।

अनन्त ने प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट १।३ की व्याख्या में[2] महीधर का उल्लेख किया है—

'वाजमन्नं सनिर्दानमस्यास्तीति वाचसनिरिति महीधराचार्याः मन्त्रभाष्ये व्याख्यातवन्तः।'वाज० प्राति० काशी सं०, पृष्ठ ४०६।

यह पंक्ति महीधर के यजुर्वेदभाष्य के उपोद्घात में इस प्रकार पठित है—

'वाजस्यान्नस्य सनिर्दानं यस्य स वाजसनिः।'

प्रतिज्ञासूत्र-भाष्य का पाठ भ्रष्ट है।

---

१. द्र०—इण्डिया आफिस पुस्तकालय सूचीपत्र भाग ३ पृष्ठ ४३७ सं० १४६८।

२. प्रतिज्ञासूत्र का व्याख्याता अनन्त नहीं है, ऐसा हमारा विचार है। द्र०—इसी अध्याय में आगे प्रतिज्ञासूत्र के प्रकरण में।

महीधर का काल निश्चित है। उसने सं० १६४५ वि० में मन्त्र-महोदधि ग्रन्थ लिखा था। उसने यह काल स्वयं ग्रन्थ के अन्त में दिया है।

इस प्रकार महीधर का उल्लेख करने से, विधानपरिजात का लेखन काल सं० १६८२ होने से, और अनन्तपुत्र राम के पञ्चोपाख्यानसंग्रह का लेखन समय १६६४ निश्चित होने से स्पष्ट है कि अनन्त का काल वि० सं० १६३०-१६६० के मध्य है।

व्याख्या का नाम—अनन्त भट्ट के प्रातिशाख्य भाष्य का नाम **पदार्थ-प्रकाश** है।

व्याख्या का महत्त्व—अनन्त ने अपनी व्याख्या में काण्व संहिता के उदाहरण दिए हैं। इसके काण्वपाठानुसारी होने से काण्व संहिता और उसके पदपाठ पर इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

मुद्रित ग्रन्थ—अनन्त के पदार्थप्रकाश (प्रातिशाख्यभाष्य) का जो संस्करण मद्रास से प्रकाशित हुआ है, वह अत्यन्त भ्रष्ट है। अनेकत्र पाठ त्रुटित हैं, बहुत्र पाठ आगे पीछे हो गये हैं। ग्रन्थ के महत्त्व को देखते हुए इसके शुद्ध संस्करण की महती आवश्यकता है।

(३) श्रीराम शर्मा (सं० १८०२ वि० से पूर्व)

श्रीराम शर्मा नामक व्यक्ति ने कात्यायन प्रातिशाख्य पर **ज्योत्स्ना** नाम्नी एक विवृत्ति लिखी थी।[1] इसका एक हस्तलेख दक्खन कालेज के हस्तलेख-संग्रह में विद्यमान है। देखो—सूचीपत्र संख्या २८८।[2]

परिचय—ग्रन्थकार ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है। अतः इसके वंश आदि के विषय में हम कुछ भी लिखने में असमर्थ हैं।

काल—ग्रन्थकार द्वारा परिचय न देने से इसका काल भी

---

१. माध्यन्दिनानुसारिणा ज्योत्स्नाख्या विवि(वृ)तिर्लघुः । क्रियते सुखबोधार्थं मन्दानां रामशर्मणा ॥२॥ ग्रन्थारम्भे ।

२. इसका एक हस्तलेख श्री गुरुवर पं० भगवत्प्रसाद मिश्र प्राध्या० सं० वि० वि० वाराणसी के संग्रह में भी है।

अनिश्चित है। बालकृष्ण गोडशे द्वारा सं० १८०२ वि० में लिखी गई प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा में ज्योत्स्ना का दो स्थानों पर निर्देश मिलता है। यथा—

क ज्योत्स्नायां प्रकारत्रयेण |रय उक्तः, स तत्रैव द्रष्टव्यः। पृष्ठ ३०५।

ख—शेषं ज्योत्स्नादिषु ज्ञेयम्। पृष्ठ ३०६।

इन निर्देशों से स्पष्ट है कि श्रीराम शर्मा प्रणीत ज्योत्स्ना का काल वि० सं० १८०२ से पूर्ववर्ती है।

(४) राम अग्निहोत्री (सं० १८१३ वि०)

राम अग्निहोत्री नामक किसी विद्वान् ने कात्यायन प्रातिशाख्य पर **प्रातिशाख्यदीपिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख दक्खन कालेज पूना के संग्रह में है। इसकी संख्या २८७ है।

परिचय—राम अग्निहोत्री ने स्वव्याख्या के आरम्भ में अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। ग्रन्थ के अन्त में निम्न पाठ मिलता है—

'इति सदाशिवाग्निहोत्रिसुतरामाग्निहोत्रिकृता प्रातिशाख्यदीपिका समाप्ता। संख्या ३०१६। शाकः षोडशसप्ताष्टभूयो हरिहरात्मको ...।'

इससे इतना ज्ञात होता है कि राम अग्निहोत्री के पिता का नाम सदाशिव अग्निहोत्री था।

श्री गुरुवर भगवत्प्रसाद वेदाचार्य प्राव्या० सं० वि० वि० वाराणसी के संग्रह में भी शाके १७०६ सं० १८४४ वि० में लिखे किसी हस्तलेख की एक प्रतिलिपि है।

उसके अन्त के श्लोकों का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है। पुनरपि उनसे यह विदित होता है कि सदाशिव के पिता का नाम गोविन्द था, गोविन्द का भाई नृसिंह था। इसके पिता का नाम बालकृष्ण था, और गोत्र पराशर था। गुरु का नाम वैद्यनाथ था।

काल—पूना के हस्तलेख के अन्त में शक सं० १६७८ अर्थात् वि० सं० १८१३ का निर्देश है। यह ग्रन्थरचना का काल है, अथवा प्रतिलिपि करने का यह अज्ञात है। परन्तु इससे इतना निश्चित है कि उक्त ग्रन्थ सं० १८१३ वि० से उत्तरवर्ती नहीं है।

हम अनुपद ही सदाशिव-तनूजन्मा बालकृष्ण विरचित **प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा** का वर्णन करेंगे। उसका लेखनकाल सं० १८०२ वि० है। दोनों ग्रन्थकारों के पिता का समान नाम होने, तथा दोनों का समान काल होने से हमारे विचार में बालकृष्ण और राम अग्निहोत्री दोनों औरस भ्राता हैं। राम अग्निहोत्री ने प्रातिशाख्यदीपिका के आरम्भ में—

'नानाग्रन्थान् समालोक्य उव्वटादिकृतानपि।
शिक्षाश्च सम्प्रदायांश्च······ ········॥ २॥'

शिक्षाओं का निर्देश किया है। सम्भव है यहां शिक्षा शब्द से बालकृष्ण शर्मा कृत प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा का भी निर्देश हो। प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा में क्रम विशेष से प्रातिशाख्य के सूत्रों का ही प्राधान्येन व्याख्यान है। इस शिक्षा से प्रातिशाख्य के अनेक प्रकरणों का आशय अच्छे प्रकार स्पष्ट होता है।

विशेष—संख्या ३, ४ के लेखकों द्वारा लिखे गये ग्रन्थ सीधे प्रातिशाख्य के व्याख्यारूप नहीं हैं, अपितु जैसे अष्टाध्यायी पर प्रक्रियानुसारी सिद्धान्तकौमुदी आदि व्याख्यानग्रन्थ बने, उसी प्रकार प्रातिशाख्य के भी ये प्रकरणानुसारी व्याख्यानग्रन्थ हैं। आगे निर्दिश्यमान बालकृष्ण गोडशे का प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा ग्रन्थ भी इसी प्रकार का है।

(५) शिवराम (?)

संस्कृत विश्वविद्यालय काशी के सरस्वती भवन के संग्रह में शुक्लयजुःप्रातिशाख्य पर **शिवाख्य** भाष्य का एक हस्तलेख है। हमने सन् १९३४ में इसे देखा था। यह महीधर संग्रह के २८ वें वेष्टन में रखा हुआ था। ग्रन्थकार का नाम सन्दिग्ध है।

सरस्वती भवन के अधिकारियों ने महीधर के कुल में सम्प्रति वर्तमान व्यक्ति के घर से महीधर के सम्पूर्ण संग्रह को प्राप्त करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। इस संग्रह में वर्तमान सभी ग्रन्थ महीधर के काल के हैं, अथवा इनमें उत्तरोत्तर भी कुछ ग्रन्थों की वृद्धि हुई है, यह कहना कठिन है। यदि इस संग्रह के सभी ग्रन्थ महीधर के काल के मान लें, तो इस व्याख्या का काल सं० १६४० वि० से पूर्ववर्ती

होगा । हमारा अनुमान है कि यह व्याख्या शिवरामेन्द्र सरस्वती की है, जिनका संन्यास से पूर्व शिवराम-शिवरामचन्द्र नाम था । यदि हमारा अनुमान ठीक हो, तो इसका काल सं० १६०० वि० के लगभग होगा ।[1]

(६) विवरणकार

वाजसनेय प्रातिशाख्य पर किसी विद्वान् ने एक **विवरण** नाम की व्याख्या लिखी थी । इसका उल्लेख प्रतिज्ञासूत्र के व्याख्याता अनन्तदेव याज्ञिक ने इस प्रकार किया है—

'एतेषां स्वरितभेदानां हस्तप्रदर्शनं तु 'स्वरितस्य चोत्तरो देशः प्रतिहण्यते' (४।१४०) इति सूत्रे प्रातिशाख्यविवरणे स्पष्टम् तद्यथा -

उदात्तादनुदात्ते तु वामाया भ्रुव आरभेत् ।
उदात्तात् स्वरितोदात्ते क्रमाद्दक्षिणतो न्यसेत् ॥१॥

प्रणिघातः प्रकृष्टो निघातः । नितरामतितरां मनुष्यदानवद् हस्तो न्युब्जापरपर्यायः । केषुचिद् भेदेषु पितृदानवद् इति ।'

यह पाठ प्रातिशाख्य के उव्वट और अनन्त भट्ट के व्याख्यान में नहीं मिलता । इससे स्पष्ट है कि यह विवरण उनके भाष्यों से पृथक् है ।

प्रतिज्ञासूत्र का व्याख्याता नागदेव सुत अनन्त देव है, अथवा अन्य याज्ञिक अनन्त देव है, इसका सन्देह होने[2] से इस विवरण का काल भी सन्दिग्ध है ।

प्रातिशाख्यानुसारिणी शिक्षा

कतिपय विद्वानों ने वाजसनेय प्रातिशाख्य को दृष्टि में रखकर कुछ शिक्षा-ग्रन्थ रचे हैं । यतः उनका सामीप्येन वा दूरतः प्रातिशाख्य के साथ सम्बन्ध है, अतः हम उनका यहां निर्देश करते हैं—

१. बालकृष्ण शर्मा (सं० १८०२ वि०)

बालकृष्ण नामक विद्वान् ने **प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा** नाम की

१. इसके विषय में देखिए 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास', भाग १ पृ० ४४४-४४६ (च० सं०) ।

२. द्रष्टव्य—प्रतिज्ञासूत्र के व्याख्याता अनन्तदेव के प्रकरण में ।

एक शिक्षा बनायी है। यह काशी से प्रकाशित शिक्षासंग्रह में छप चुकी है।

परिचय—ग्रन्थकार ने शिक्षा के आरम्भ में अपने पिता का नाम सदाशिव लिखा है, और अन्त में अपना उपनाम **गोडशे** बताया है। इससे विदित होता है कि यह ग्रन्थकार महाराष्ट्रीय है।

काल—बालकृष्ण ने ग्रन्थ-लेखन-काल अन्त में इस प्रकार लिखा है—

> **'शाके द्व्यभ्राष्टभूमिते शुभे विक्रमवत्सरे।**
> **माघे मासि सिते पक्षे प्रतिपद्भानुवासरे ॥'**

इसके अनुसार यह शिक्षा-ग्रन्थ वि० सं० १८०२ माघ शुक्ल प्रतिपद रविवार को पूर्ण हुआ।

वैशिष्ट्य—इस शिक्षा में प्रधानतया कात्यायन प्रातिशाख्य के सूत्रों की क्रमविशेष से व्याख्या की है। इसमें प्रातिशाख्य के लगभग तीन चौथाई सूत्र व्याख्यात हैं।

उद्धृत ग्रन्थ वा ग्रन्थकार—इस शिक्षा में निम्न ग्रन्थ वा ग्रन्थकार उद्धृत हैं—

याज्ञवल्क्य—पृष्ठ २१०,२१२,२२६,२३४,२९७
माध्यन्दिनशिक्षा—पृष्ठ २१५[1]
औजिहायनक (माध्यन्दिन मतानुसारी)-पृष्ठ २१५
कात्यायन शिक्षा - पृष्ठ २२५, २९७
अमोघनन्दिनी शिक्षा—पृष्ठ २२५,२८२[2]
मल्ल कवि—पृष्ठ २२५
हस्तस्वर-प्रक्रिया-ग्रन्थ[3]—पृष्ठ २२५
पाराशरीय चपला[4]—पृष्ठ २९१

---

१. माध्यन्दिनशिक्षा के नाम से यहां उद्धृत श्लोक माध्यन्दिन-शिक्षा के लघु और बृहत् दोनों पाठों में उपलब्ध नहीं होता।

२. यहां अमोघनन्दिनी को प्रतिज्ञासूत्र की शेषभूत कहा है।

३. यह ग्रन्थ शिक्षासंग्रह में पृष्ठ १५३-१६० तक छपा है।

४. यहां 'चपला' शब्द का अभिप्राय विचारणीय है। पाराशरी शिक्षा में पाणिनीय शिक्षा का भी निर्देश है। द्र०—शिक्षासंग्रह, पृष्ठ ६०।

प्रतिज्ञासूत्र—२८२,२९३
अनन्त याज्ञिक—२९३
ज्योत्स्ना—पृष्ठ ३०४,३०५

२. अमरेश

अमरेश नामक विद्वान् ने प्रातिशाख्यानुसारिणी **वर्णरत्नदीपिका शिक्षा** का प्रणयन किया है। यह शिक्षा काशी से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह में पृष्ठ ११७-१२७ तक मुद्रित है।

अमरेश ने अपना कोई परिचय नहीं दिया। आरम्भ में केवल अपने को भारद्वाज कुल का कहा है। वह लिखता है—

अमरेश इति ख्यातो भारद्वाजकुलोद्वहः।
सोऽहं शिक्षां प्रवक्ष्यामि प्रातिशाख्यानुसारिणीम्॥

इस शिक्षा में निम्न ग्रन्थ वा ग्रन्थकारों के मत निर्दिष्ट हैं—

वैयाकरण सम्मत—पृष्ठ १२४
कातीय—पृष्ठ १२४
याज्ञवल्क्य—पृष्ठ १२४
वाजसनेयक मन्त्र—पृष्ठ १२४
गार्ग्यमत—पृष्ठ १३१
माध्यन्दिन—पृष्ठ १३१
कात्यायन—पृष्ठ १३६

६—तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय चरण[1] से सम्बद्ध एक प्रातिशाख्य उपलब्ध होता है। यह तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के नाम से प्रसिद्ध है।

---

१. वर्तमान में तैत्तिरीय संहिता के नाम से प्रसिद्ध संहिता वस्तुतः आपस्तम्बी संहिता है। तैत्तिरीय चरण की अन्य संहिताओं का उच्छेद हो जाने से एक मात्र बची आपस्तम्बी संहिता का भी चरण नाम से व्यवहार होने लग गया। इसके प्राचीन हस्तलेखों में भी प्रायः आपस्तम्बी संहिता नाम उपलब्ध होता है।

ग्रन्थकार—इस प्रातिशाख्य का प्रवक्ता कौन आचार्य है, यह अज्ञात है।

काल - हरदत्त कृत पदमञ्जरी भाग २, पृष्ठ १०३६ से विदित होता है कि यह प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्ती है। हमारे विचार में सभी प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीन हैं।

ह्विट्नि के आक्षेप—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा इसके त्रिभाष्य-रत्न पर ह्विट्नि ने अनेक आक्षेप किये हैं, अनेक दोष दर्शाए हैं।

आक्षेपों का समाधान—ह्विट्नि द्वारा प्रदर्शित दोषों का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के मैसूर संस्करण के सम्पादक पण्डितरत्न कस्तूरि रङ्गाचार्य ने अत्यन्त प्रौढ़, युक्तियुक्त और मुंहतोड़ विस्तृत उत्तर दिया है।

कस्तूरि रङ्गाचार्य का सत्साहस—आज से लगभग ५५ वर्ष पूर्व पाश्चात्त्य विद्वानों के पदचिह्नों का अनुगमन न करके ह्विट्नि के आक्षेपों का निराकरण करके आर्षमत की युक्तियुक्तता दर्शाने का पं० कस्तूरि रङ्गाचार्य ने अद्भुत सत्साहस दर्शाया है। अपनी भूमिका के अन्त में ह्विट्नि के उपसंहार वचन का निर्देश करके पण्डितरत्न ने लिखा है—

'इति दूषणं न केवलं त्रिभाष्यरत्नकारं प्रति अपितु सर्वान् भारतीयान् प्रति च निर्गमितं, तदिदं समुचितमेव भारतीयज्ञानविज्ञान-कौशलासहिष्णूनाम् इति विजानन्त्येव विवेचकाः।'

अर्थात्—[ह्विट्नि द्वारा दर्शाया गया अन्तिम] दूषण केवल त्रिभाष्यरत्न के लेखक के प्रति ही नहीं है, अपितु समस्त भारतीयों के प्रति दर्शाया है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान कौशल के प्रति असहिष्णु पाश्चात्त्यों को ऐसा दूषण दर्शाना समुचित ही है।

यदि हमारे नवनवोदित तथा अनुसन्धान क्षेत्र में प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा जानबूझ कर अन्यथा प्रसारित मतों का आंख मींचकर अन्ध अनुसरण करने की प्रवृत्ति का परित्याग करके भारतीय वाङ्मय का भारतीय दृष्टिकोण से अध्ययन करें, अनुसन्धान करें, तो देश और जाति का महाकल्याण हो। परन्तु दुर्दैव से आज भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी भारतीय विद्वान् पाश्चात्त्यों का अन्ध

अनुकरण करने में अपना व्यक्तिगत कल्याण समझते हुए भारतीय वाङ्मय और देश तथा जाति के प्रति जो घोर विद्रोह कर रहे हैं, उस से भारतीय न जाने कितने समय तक पाश्चात्त्य विद्वानों के बौद्धिक पारतन्त्र्य-निबद्ध बने रहेंगे। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर वे विचार ही नहीं करते।

यदि भारतीय वाङ्मय के अनुसन्धान क्षेत्र में महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री, साम्बशास्त्री, कस्तूरि रङ्गाचार्य, पं० भगवद्दत्त सदृश प्रतिभाशाली विद्वान् पाश्चात्त्य मनघड़न्त कल्पनाओं का प्रतिकार न करते, तो अनेक विषयों में भारतीय प्राचीन इतिहास को गौरव प्राप्त न होता।

व्याख्याकार

(१) आत्रेय

आत्रेय नामक किसी महानुभाव ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर भाष्य लिखा था। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की सोमयार्य कृत त्रिभाष्य-रत्न व्याख्या में इस भाष्यकार आत्रेय का दो स्थानों पर उल्लेख मिलता है—

१. सोमयार्य अपने त्रिभाष्यरत्न के आरम्भ में लिखता है—

'व्याख्यान प्रातिशाख्यस्य वीक्ष्य वाररुचादिकम्।
कृतं त्रिभाष्यरत्नं यद्भासते भूसुरप्रियम्॥'

इस श्लोक में **त्रिभाष्यरत्न** संज्ञा से संकेतित तीन भाष्यों का निर्देश करते हुए **वाररुचादिक** भाष्यों का उल्लेख किया है। **वाररुचादिक** में आदि पद से किन भाष्यों का ग्रहण अभिप्रेत है, इसका निर्देश स्वयं व्याख्याकार करता है—

'आदिपदेन आत्रेयमाहिषेये गृह्येते।' पृष्ठ १।

अर्थात् आदि पद से आत्रेय और माहिषेय के भाष्य अभिप्रेत हैं।

२. एकसमुत्थः प्राणः एकप्राणः, तस्य भावस्तद्भावः, तस्मिन् इत्यात्रेयमतम्। पृष्ठ १६३।

इस स्थल के पाठ से स्पष्ट है कि किसी आत्रेय ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर कोई व्याख्या लिखी थी।

काल—वररुचि, आत्रेय और माहिषेय के भाष्य सोमयार्य से प्राचीन हैं, इतना उसके वचन से व्यक्त है। परन्तु इसका काल क्या है, यह अज्ञात है।

सोमयार्य ने यदि वररुचि-आत्रेय-माहिषेय नाम कालक्रम से उल्लिखित किये हों, तब तो मानना होगा कि आत्रेय वररुचि से उत्तरभावी है। परन्तु हमारा विचार है कि सोमयार्य ने तीनों का निर्देश कालक्रम से नहीं किया है।

अनेक आत्रेय आत्रेय नामक अनेक आचार्य हुए हैं। तैत्तिरीय सम्प्रदाय में भी पदकार आत्रेय[1], तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।३१०; १७, ८ में स्मृत आत्रेय, और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य भाष्यकार आत्रेय इस प्रकार तीन आत्रेय प्रसिद्ध हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्मृत आत्रेय ही प्रातिशाख्य का भाष्यकार नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है। पदकार आत्रेय शाखाप्रवचनकाल का व्यक्ति है, इसलिए वह सुतरां अति प्राचीन है। हां, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में स्मृत आत्रेय पदकार आत्रेय हो सकता है।

ऋक्पार्षद का व्याख्याता आत्रेय—एक आत्रेय ऋक्पार्षद का व्याख्याता है। इसका वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। हमारा विचार है कि दोनों पार्षदों का व्याख्याता आत्रेय एक ही है।

आत्रेय गोत्र नाम - आत्रेय यह गोत्र नाम है। व्याख्याकार का निज नाम अज्ञात है।

इस प्रकार पार्षद व्याख्याता आत्रेय के सम्बन्ध में कुछ भी परिज्ञान न होने से इसका काल भी अज्ञात है।

(२) वररुचि

वररुचि विरचित **प्रातिशाख्य-व्याख्यान** का उल्लेख त्रिभाष्यरत्न के कर्त्ता सोमयार्य ने १।२८; २।१४,१६; ८।४०; ४।१६, २०, २२; १८,७; २१।१५ आदि सूत्रों के व्याख्यान में किया है।

वररुचि का भाष्य साक्षात् अनुपलब्ध है। इसलिए इसके विषय में यह भी ज्ञात नहीं कि यह कौनसा वररुचि है। संस्कृत वाङ्मय में

१. यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः। तैत्तिरीय काण्डानुक्रमणी।

वार्तिककार वररुचि कात्यायन और विक्रमार्क-सभ्य वररुचि प्रसिद्ध हैं।

(३) माहिषेय

माहिषेय विरचित प्रातिशाख्य मद्रास विश्वविद्यालय की ग्रन्थ-माला में छप चुका है।

इस भाष्य में साक्षात् किसी आचार्य का नाम उल्लिखित नहीं है। और ना ही ग्रन्थकार ने अपना कुछ परिचय दिया है। इसलिए इसका देश काल आदि अज्ञात है।

मुद्रित माहिषेय भाष्य का कोश अ० २३, सूत्र १५ से अ० २४ सूत्र ३ तक खण्डित है। अतः इन सूत्रों पर वैदिकभूषण अथवा भूषणरत्न नाम्नी व्याख्या जोड़कर ग्रन्थ को पूरा किया है।

(४) सोमयार्य

सोमयार्य विरचित **त्रिभाष्यरत्नव्याख्या** का मैसूर से सुन्दर संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक पं० कस्तूरि रङ्गाचार्य के लेखानुसार मैसूरराजकीय कोशागार से उपलब्ध तालपत्रमय एक हस्तलेख में ही निम्न पद्य उपलब्ध होता है—[1]

'त्रिलोचनध्यानविशुद्धकौमुदी विनिन्द्रचेतः कुमुदः कलानिधिः।
स सोमयार्यो विततान सम्मतं विपश्चितां भाष्यमिदं सुबोधकम्॥

सोमयार्य ने किस वंश, देश और काल को अपने जन्म से अलंकृत किया, यह सर्वथा अज्ञात है।

सोमयार्य द्वारा उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों में प्रायः सभी प्राचीन हैं। केवल १८।१ में उद्धृत कालनिर्णय-शिक्षा ही ऐसी है, जिसके आधार पर कदाचित् सोमयार्य के काल की पूर्व सीमा निर्धारित की जा सके। कालनिर्णय-शिक्षा अनन्ताश्रित मुक्तीश्वराचार्य कृत है। मुक्तीश्वराचार्य का भी काल आदि सम्प्रति अज्ञात है।

गार्ग्य गोपाल यज्वा ने वैदिकाभरण में सोमयार्य के त्रिभाष्य-रत्न के पाठों को बहुधा उद्धृत करके उनका खण्डन किया है। इससे

१. मैसूर संस्करण, भूमिका पृष्ठ १६।

ज्ञात होता है कि सोमयार्य गार्ग्य गोपाल यज्वा से प्राचीन है। यह सोमयार्य के काल की उत्तर सीमा है।

इससे अधिक सोमयार्य के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं।

(९) गार्ग्य गोपाल यज्वा

गार्ग्य गोपाल यज्वा ने तैत्तिरीय पार्षद पर **वैदिकाभरण** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। यह मैसूर के संस्करण में छपी है।

गार्ग्य गोपाल यज्वा ने अपना कोई परिचय नहीं दिया, इसलिए इसका सारा इतिवृत्त अन्धकारावृत है। गार्ग्य गोत्र नाम प्रतीत होता है। यज्वा कुलोपाधि है। अतः मूल नाम गोपाल इतना ही है।

काल—गार्ग्य गोपाल यज्वा का काल भी अनिश्चित है। इसके वैदिकाभरण में कोई भी ऐसा ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार निर्दिष्ट नहीं है, जिसके आधार पर इसका काल-निर्णय हो सके।

इस ग्रन्थ के सम्पादक पं० कस्तूरि रङ्गाचार्य ने गोपाल के काल-निर्णय के लिए भूमिका में जो कुछ लिखा है, उसका सार इस प्रकार है—

गार्ग्य गोपाल यज्वा ने वृत्तरत्नाकर की **ज्ञानदीप** नाम्नी व्याख्या लिखी है। यह मद्रास से आन्ध्राक्षरों में मुद्रित हुई है। इसमें **वदन्त्य-परवक्त्राख्यम्** सूत्र की व्याख्या में—

चपलावक्त्रस्य यथा—

> **'गोपालमिश्ररचिते व्याख्याने ज्ञानदीपाख्ये।**
> **वेद्यं रहस्यमखिलं वृत्तानां सूरिभिः सम्यक्॥'**

विपरीतपथ्यावक्त्रस्य यथा—

> **'वेदार्थतत्त्ववेदिनि गार्ग्ये गोपालमिश्रेऽन्यैः।**
> **कार्या नैव कदाचन धीरैः सर्वाधिकेऽसूया॥'**

स्वयं अपने गौरव का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि गार्ग्य गोपाल वृत्तरत्नाकर के कर्ता भट्ट केदार से अर्वाचीन है।

गार्ग्य गोपाल वृत्तरत्नाकर के व्याख्याकार कवि शार्दूल श्रीनाथ से भी अर्वाचीन है। क्योंकि उपजाति लक्षण श्लोक व्याख्या में श्रीनाथ समर्थित 'नानाछन्दोभवों के योग में भी उपजाति छन्द होता है' इस

मत का **'अन्ये तु ब्रुवते नाना छन्दस्यानामपि वृत्तानां संकरादुपजातयो भवन्तीति, तदयुक्तम्'''''।'** सन्दर्भ में गार्ग्य गोपाल द्वारा श्रीनाथ मत का प्रत्याख्यान उपलब्ध होता है।

श्रीनाथ का काल भी अनिर्णीत है।

गार्ग्य गोपाल यज्वा विरचित भारद्वाजीय पितृमेधभाष्य सूत्र उपलब्ध होता है। इसमें लोष्ट-चयन प्रकरण में यल्लाजी नाम के विद्वान् द्वारा विरचित धर्मशास्त्रनिबन्धोक्त अर्थ को उद्धृत करके उसका खण्डन किया है। यल्लाजी का भी काल विवेचनीय है।

मैसूर से प्रकाशित आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के प्रथम भाग की भूमिका पृष्ठ ३० से ज्ञात होता है कि गार्ग्य गोपाल ने आपस्तम्ब कल्प के पितृमेध की व्याख्या की थी।

इस प्रकार गार्ग्य गोपाल यज्वा का काल अनिर्णीत ही रहता है।

अन्य ग्रन्थ—गार्ग्य गोपाल विरचित वृत्तरत्नाकर की ज्ञानदीप टीका, भारद्वाजीय पितृमेध और आपस्तम्बीय पितृमेध सूत्र व्याख्या का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त गार्ग्य गोपाल ने **स्वरसम्पत्** नाम का ग्रन्थ भी लिखा था। वैदिकाभरण १४।२९ में—

'अस्यार्थोऽस्माभिः स्वरसम्पदि विवृतः।' का उल्लेख मिलता है।

गोपालकारिका नाम से प्रसिद्ध श्रौतकारिका, और गोपालसूरि नाम से उल्लिखित बौधायन सूत्रगत प्रायश्चित्त सूत्र व्याख्यारूप प्रायश्चित्तदीपिका इसी गोपाल यज्वा विरचित हैं, अथवा अन्यकृत यह भी अज्ञात है।

(६) वीरराघव कवि

वीरराघव कवि कृत तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की **शब्दब्रह्मविलास** व्याख्या का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख-संग्रह में विद्यमान है। द्र०—सूचीपत्र भाग ३, खण्ड १A, पृष्ठ ३३९९, संख्या २४५०।

इस व्याख्या में आत्रेय-माहिषेय-वररुचि के साथ त्रिरत्नभाष्य और वैदिकाभरण भी उद्धृत है। अतः यह व्याख्या वैदिकाभरण से भी पीछे की है।

(७) भैरवार्य

तैत्तिरीय पार्षद पर भैरव आर्य नाम के व्यक्ति ने **वर्णक्रमदर्पण** नाम्नी एक व्याख्या लिखी है। इसका एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग २९, पृष्ठ १०५६८, ग्रन्थाङ्क १६२०८ पर निर्दिष्ट है। इसका प्रारम्भिक श्लोक इस प्रकार है—

'तैत्तिरीयवेदस्य वर्णानां क्रमदर्पणम्।
वेमानभैरवार्येण बालोपकृतये कृतम्॥'

इस ग्रन्थ और इसके रचयिता के विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

(८) पद्मनाभ

अडियार हस्तलेख संग्रह में पद्मनाभ कृत **तैत्तिरीय प्रातिशाख्य विवरण** का एक हस्तलेख है। द्रष्टव्य—सूचीपत्र भाग १।

इसके विषय में हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

(९) अज्ञातनाम

माहिषेय भाष्य के सम्पादक वेङ्कटराम शर्मा ने स्वीय निवेदना में अडियार के हस्तलेख-संग्रह में **वैदिकभूषण** अथवा **भूषणरत्न** नाम्नी प्रातिशाख्य व्याख्या का निर्देश किया है। सम्पादक ने इस व्याख्या को वैदिकाभरण से भी अर्वाक्कालिक बताया है। इस व्याख्या का कुछ अंश माहिषेय भाष्य के त्रुटित अंश में मुद्रित है।

इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम अज्ञात है।

७—मैत्रायणीय प्रातिशाख्य

मैत्रायणीय चरण[1] का प्रातिशाख्य इस समय भी सुरक्षित है।

---

१. सम्प्रति मैत्रायणी संहिता के नाम से प्रसिद्ध संहिता मैत्रायणीय चरण की कोई विशिष्ट शाखा है। मैत्रायणी चरण की शाखाओं के विनष्ट हो जाने और एकमात्र अवशिष्ट शाखा मैत्रायणीय चरण के नाम पर मैत्रायणी संहिता के रूप में प्रसिद्ध हो गई। जैसे तैत्तिरीय चरण की एकमात्र अवशिष्ट आपस्तम्बी शाखा तैत्तिरीय संहिता नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्रातिशाख्य का उल्लेख श्री पं० दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित मैत्रायणी शाखा के प्रस्ताव में नासिकवासी श्री पं० श्रीधरशास्त्री वारे ने पृष्ठ १६ पर किया है। उसे देखकर मैंने अपने 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' के प्रथम भाग के मुद्रणकाल में मैत्रायणीय प्रातिशाख्य के विषय में माननीय श्रीधरशास्त्री वारे को १२।९।४९ को एक पत्र लिखा। उसका आपने जो उत्तर दिया, वह इस प्रकार है—

भाद्र. कृ. गुरौ श्रीः नाशिक
शके १८७० क्षेत्रतः

सन्तु भूयांसि नमांसि। भावत्कं १२।९।४८ तनीनं कृपापत्रं समुपालभम्। आशयश्च विदितः। मैत्रायणीसंहिताप्रस्तावे 'आग्निवेश्यः ९।४, शांखायनः २।३।७, एवं क्वचित् द्वे संख्ये क्वचिच्च तिस्रः संख्याः निर्दिष्टाः सन्ति। सोऽयं संकेतः मैत्रायणीयप्रातिशाख्यस्य अध्याय-कण्डिका-सूत्राणामनुक्रमप्रत्यायक इति ज्ञेयम्। मैत्रायणीयं प्रातिशाख्यं मत्सन्निधे नास्ति, मयाऽन्यत आनीतमासीत्। मूलमात्रमेव वर्तते। यदि तत्रभवताऽपेक्ष्यते मैत्रायणीयं प्रातिशाख्यं, तर्हि निम्नलिखित-स्थलसंकेतेन पत्रव्यवहारं कृत्वा प्रयत्नो विधेयः। श्री रा० रा० भाऊ साहेब तात्या साहेब मुटे पञ्चवटी, नासिक अथवा श्री रा० रा० शंकर हरि जोशी अभोणकर जि० नासिक, ता० कुलवण, पो० मु० अभोणे। एतस्मिन् स्थानद्वये मैत्रायणीयं प्रातिशाख्यमस्ति। एते महाभागास्तच्छाखीया एव। तत एवानीतं मया, कार्यनिर्वाहोत्तरं प्रत्यर्पितं तेभ्यः। एवमेव कदाचित् स्मर्तव्योऽयं जनः। किमतोऽधिकमिति विज्ञप्तिः।

भावत्कः

श्रीधर अण्णाशास्त्री वारे

इस पत्र से स्पष्ट है कि पत्र में लिखे दो स्थानों में यह प्रातिशाख्य विद्यमान है। मैं अभी तक इसकी प्रतिलिपि प्राप्त नहीं कर सका।

इस प्रातिशाख्य के प्रवक्ता का नाम अज्ञात है। इसमें निम्न ऋषियों का उल्लेख मिलता है[1]—

---

१. द्र० – मैत्रायणी संहिता श्रीधरशास्त्री लिखित प्रस्ताव, पृष्ठ १६।

१–आत्रेय–५।३३; २।५; ६।८।
२–वाल्मीकि–५।३८; २।६, ३०; ९।४।
३–पौष्करसादि–५।३९,४०; २।१।१६; २।५।६।
४–प्लाक्षि–५।४०; ९।६; २।६।
५–कौण्डिन्य–५।४०; २।५।४; २।६।३; २।६।९।
६–गौतम–५।४०।
७–सांकृत्य–८।२०; १०।२२; २।४।१७।
८–उख्य–८।२१; १०।२१; २।४।२५।
९–काण्डमायन–९।१; २।३।७।
१०–अग्निवेश्य–९।४।
११–प्लाक्षायण ९।६; २।६। २७३।
१२–वात्सप्र १०।२३।
१३–अग्निवेश्यायन २।२।३२।
१४–शांखायन–२।३।६।
१५–शैत्यायन २।५।१, २।५। ६; २।६।२, ३।
१६–कौहलीयपुत्र २।५।२।
१७–भारद्वाज २।५।३।

इससे अधिक हम इस पार्षद के विषय में कुछ नहीं जानते।

८—चारायणि

आचार्य चारायणि-प्रोक्त चाराणीय प्रातिशाख्य सम्प्रति अनुपलब्ध है। लौगाक्षिगृह्यसूत्र के व्याख्याता देवपाल ने कण्डिका ५ सूत्र १ की टीका में कृच्छ्र शब्द की व्याख्या में लिखा है—

'कृतस्य पापस्य छदनं वा कृच्छ्रमिति निर्वचनम्। वर्णलोपश्छान्दसत्वात् कृच्छ्र (? कृत) शब्दस्य। तथा च चारायणिसूत्रम्—'पुरुकृते च्छच्छ्र्योः' इति पुरुशब्दः कृतशब्दश्च लुप्यते यथासंख्यं छे छ्रे परतः। पुरुच्छदनं पुच्छम्, कृतस्य च्छदनं विनाशनं कृच्छ्रमिति। भाग १, पृष्ठ १०१, १०२।

इस उद्धरण से इतना स्पष्ट है कि चारायणि आचार्य प्रोक्त कोई लक्षण-ग्रन्थ अवश्य था, जिसमें पुच्छ-कृच्छ्र शब्दों का साधुत्व दर्शाया गया था। यह लक्षण-ग्रन्थ पार्षद रूप था, अथवा व्याकरणरूप था, यह कह सकना कठिन है।

चारायणीय शिक्षा कश्मीर से प्राप्त हुई थी। इसका उल्लेख अध्यापक कीलहार्न ने इण्डिया एण्टीक्वेरी जुलाई सन् १८७६ में किया है।

चारायणि का ही नामान्तर चारायण भी है। काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि के समान अथवा पाणिन और पाणिनि के समान चारायण और चारायणि में भी अण् और इञ् दोनों प्रत्यय देखे जाते हैं।

चारायण के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ११३-११५ (च० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

६—सामप्रातिशाख्य-प्रवक्ता

सामवेद का प्रातिशाख्य पुष्पसूत्र अथवा फुल्लसूत्र[1] के नाम से प्रसिद्ध है।

पुष्पसूत्र का प्रवक्ता—हरदत्त ने सामवेदीय सर्वानुक्रमणी में लिखा है—

सूत्रकारं वररुचिं वन्दे पाणिञ्च वेधसम्।
फुल्लसूत्रविधानेन खण्डप्रपाठकानि च॥'

अर्थात् फुल्लसूत्र का विधाता सूत्रकार वररुचि है। आगे पुनः लिखा है—

'वन्दे वररुचिं नित्यमूहाब्धेः पारदृश्वनम्।
पोतो निर्निमितो येन फुल्लसूत्रशतैरलम्॥' पृष्ठ ७।

अर्थात् ऊहगानरूपी समुद्र के पारदृश्वा वररुचि ने फुल्लसूत्र की रचना की।

यह वररुचि कौन है, यह विचारणीय है। अधिक सम्भावना यही है कि यह याज्ञवल्क्य का पौत्र कात्यायन का पुत्र फुल्ल-सूत्रकार वररुचि हो।

आपिशलि-प्रोक्त—धातुवृत्ति (मैसूर संस्करण) के सम्पादक

---

१. द्र०—आगे उद्ध्रियमाण हरदत्तवचन।

महादेव शास्त्री ने भूमिका में सामप्रातिशाख्य को आपिशलि विरचित माना है। यह प्रमाणाभाव से चिन्त्य है।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने स्वसंपादित पुष्पसूत्र की भूमिका में लिखा है—

'एतस्यैव तार्त्तीयकं सूत्रमेकमवलम्ब्यारचितं मीमांसादर्शननवमाध्यायनवमाधिकरणम्। तथा चोक्तम् अधिकरणमालायामपि—तथा च सामगा आहुः—वृद्धं तालव्यमाइ भवति इति।'

अर्थात्—इस पुष्पसूत्र के तृतीय अध्याय के एक सूत्र का अवलम्बन करके जैमिनि ने मीमांसादर्शन के नवमाध्याय का नवमाधिकरण रचा है। जैसा कि अधिकरणमाला में कहा है—जैसा कि सामगान करनेवाले आचार्य कहते हैं—वृद्ध तालव्य आइ होता है।

अधिकरणमाला में जिस सूत्र का संकेत किया है, वह पुष्पसूत्र ३।१ इस प्रकार है—**'तालव्यमायि यद् वृद्धम् अवृद्धं प्रकृत्या।'**

पं० सत्यव्रतसामश्रमी के इस लेख से विदित होता है कि पुष्पसूत्र जैमिनि से पूर्ववर्ती है।

पुष्पसूत्र के दो पाठ—पुष्पसूत्र के उपाध्याय अजातशत्रु के भाष्य से प्रतीत होता है कि पुष्पसूत्र के दो प्रकार के पाठ हैं। एक पाठ वह है, जिस पर उपाध्याय अजातशत्रु का भाष्य है। और दूसरा पाठ वह है जिसमें आरम्भ के वे चार प्रपाठक भी सम्मिलित हैं, जिन पर अजातशत्रु की व्याख्या नहीं है।

उपाध्याय अजातशत्रु का पाठ—पुष्पसूत्र पर उपाध्याय अजातशत्रु का भाष्य काशी से प्रकाशित हुआ है। काशी संस्करण में प्रपाठक १—४ तक अजातशत्रु का भाष्य नहीं है। भाष्य का आरंभ पंचम प्रपाठक से होता है।

अजातशत्रु के पंचम प्रपाठक के भाष्य के आरम्भ में मंगलाचरण उपलब्ध होता है। अगले किन्हीं प्रपाठकों के भाष्य के आरम्भ में मंगलाचरण नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अजातशत्रु का भाष्य यहीं से आरंभ होता है। और उसके पुष्पसूत्र के पाठ का आरंभ भी वर्तमान में मुद्रित पञ्चम प्रपाठक से होता है। इस बात की पुष्टि पञ्चम

षष्ठ सप्तम प्रपाठकों की प्रत्येक कण्डिका के अन्त के पाठ से होती है। यथा—

पञ्चम प्रपाठक की प्रत्येक कण्डिका के अन्त में पाठ है—

'इति **उपाध्यायाजातशत्रुकृते पुष्पसूत्रभाष्ये प्रथमस्य प्रथमो (द्वितीया-तृतीया-चतुर्थी-द्वादशी) कण्डिका समाप्ता।**'

षष्ठ प्रपाठक की प्रत्येक कण्डिका के अन्त में—

'इति **उपाध्याजातशत्रुकृते पुष्पसूत्रभाष्ये द्वितीयस्य प्रथमो (—द्वादशी) कण्डिका समाप्ता।**'

सप्तम प्रपाठक की प्रत्येक कण्डिका के अन्त में—

'**इति···भाष्ये तृतीयस्य प्रथमो (—द्वादशी) कण्डिका समाप्ता।**'

इसी प्रकार अष्टम प्रपाठक की प्रथम कण्डिका के अन्त में—

'**इति···पुष्पसूत्रभाष्ये चतुर्थस्य प्रथमकण्डिका समाप्ता।**'

पाठ मिलता है परन्तु अगली कण्डिका के अन्त से **चतुर्थस्य** के स्थान में **अष्टमस्य** पाठ आरम्भ में हो जाता है। प्रतीत होता है कि इतना भाग मुद्रित हो जाने पर सम्पादक को ध्यान आया होगा कि प्रति-पृष्ठ ऊपर तो **पंचमः षष्ठः सप्तमः अष्टमः** छप रहा है, और भाष्य में **प्रथमस्य द्वितीयस्य तृतीयस्य चतुर्थस्य** छप रहा है। इस विरोध का परिहार करने के लिए सम्पादक ने आगे सर्वत्र भाष्यपाठ में मूलपाठ-वत् प्रपाठक का निर्देश कर दिया है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अजातशत्रु के आधारभूत ग्रन्थ का पाठ मुद्रित पुष्पसूत्र के पञ्चम प्रपाठक से आरम्भ होता है।

व्याख्याकार

उपाध्याय अजातशत्रु की व्याख्या के अवलोकन से विदित होता है कि उससे पूर्व पुष्पसूत्र पर कई व्याख्याएं लिखी जा चुकी थीं। यथा—

(१) भाष्यकार

अजातशत्रु दशम प्रपाठक की सप्तमी कण्डिका की व्याख्या में लिखता है—'**उच्यते। सत्यं न प्राप्नोति। किं तर्हि? भाष्यकारेण अकारचोद्यन प्रापितम्।**' पृष्ठ २३६।

इससे स्पष्ट है कि अजातशत्रु से पूर्व पुष्पसूत्र पर किसी अज्ञात-नामा विद्वान् ने कोई भाष्य ग्रन्थ लिखा था।

(२) अन्ये शब्दोदाहृत

अजातशत्रु ने नवम प्रपाठक की अष्टम कण्डिका के भाष्य में लिखा है—

'अन्ये पुनरिहापि एक इति अधिकारमनुसारयन्ति।' पृष्ठ २२०।

यहा **अन्ये** पद से संकेतित यदि पूर्व-निर्दिष्ट भाष्यकार न हों, तो निश्चय ही कोई अन्य व्याख्याकार अभिप्रेत होगा।

हमारे विचार में तो जिस ढंग से अन्य शब्द का, और वह भी बहुवचन में प्रयोग किया है, उससे प्रतीत होता है कि अजातशत्रु के सम्मुख पुष्पसूत्र की कई व्याख्याएं थीं, जिनमें कुछ व्याख्याकारों ने **एके** पद की अनुवृत्ति मानी थी, कुछ ने नहीं मानी थी।

(३) उपाध्याय अजातशत्रु

उपाध्याय अजातशत्रु कृत पुष्पसूत्र-भाष्य काशी से छप चुका है। इसका उल्लेख हरदत्तविरचित सामवेदसर्वानुक्रमणी में भी मिलता है—

'भाष्यकारं भट्टपूर्वमुपाध्यायमहं सदा।' ऋक्तन्त्र परिशिष्ट[1] पृष्ठ ४।

यहां स्मृत भट्ट उपाध्याय सम्भवतः उपाध्याय अजातशत्रु ही है।

इससे अधिक उपाध्याय अजातशत्रु के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

(४) रामकृष्ण दीक्षित सूरि

सामवेद की सर्वानुक्रमणी के लेखक हरदत्त ने पुष्पसूत्र के प्रकरण के अन्त में पुनः लिखा है—

इदं फुल्लस्य सूत्रस्य बृहद्भाष्यं हि यत्कृतम्।
नानाभाष्याख्यया रामकृष्णदीक्षितसूरिभिः॥' ऋक्तन्त्र परि० पृष्ठ ७।

---

१. डा० सूर्यकान्त सम्पादित।

इससे विदित होता है कि रामकृष्णदीक्षित सूरि ने फुल्लसूत्र पर **नानाभाष्य** नामक बृहद्भाष्य लिखा था।

इससे अधिक इसके विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं।

सम्प्रति पुष्पसूत्र पर अजातशत्रु का भाष्य ही उपलब्ध है।

१०—अथर्वपार्षद-प्रवक्ता

अथर्ववेद से सम्बन्ध रखनेवाले दो ग्रन्थ हैं—एक प्रातिशाख्य, और दूसरा शौनकीय चतुरध्यायी अथवा कौत्स व्याकरण। अथर्व प्रातिशाख्य के भी दो पाठ हैं। एक—पं० विश्वबन्धु शास्त्री सम्पादित, दूसरा—डा० सूर्यकान्त सम्पादित। दोनों पाठों के प्रकाश में आ जाने पर प्रथम पाठ का व्यवहार लघुपाठ के नाम से, और द्वितीय का बृहत्पाठ के नाम से किया जाता है। शौकनीय चतुरध्यायी के सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे।

प्रवक्ता—अथर्व प्रातिशाख्य का प्रवक्ता कौन आचार्य है, यह कहना कठिन है। क्योंकि दोनों पाठों के अन्त में प्रवक्ता के नाम का उल्लेख नहीं मिलता।

काल—डा० सूर्यकान्त जी ने स्वसम्पादित प्रातिशाख्य की भूमिका में इसके काल-निर्धारण के विषय में विस्तार से लिखा है। उसका आशय संक्षेप से इस प्रकार है—

'कात्यायन ने पाणिनि के ६।३।८ पर **आत्मनेभाषा** और **परस्मैभाषा** रूप बनाए हैं। अथर्व प्रातिशाख्य सूत्र २२३ में आत्मनेभाषा और परस्मैभाषा शब्द प्रयुक्त हैं। कातन्त्र में **परस्मै** और **आत्मने** का प्रयोग भी मिलता है। कात्यायन ने **अद्यतनी** और **श्वस्तनी** का प्रयोग किया है। कातन्त्र में इनके अतिरिक्त लङ् के लिए **ह्यस्तनी** का प्रयोग भी होता है। अथर्व प्रातिशाख्य में **अद्यतनी** (सूत्र ७८) **ह्यस्तनी** (सूत्र १६७) शब्दों का प्रयोग मिलता है। कातन्त्र ३।१।१४ **भूतकरणवत्यश्च** में भूतकरण का प्रयोग उपलब्ध होता है। उसी अर्थ में अथर्वप्रातिशाख्य (सूत्र ४६७) में **भूतकर** का निर्देश मिलता है। अतः अथर्व प्रातिशाख्य का समय पाणिनि के पश्चात् और पतञ्जलि से पहले है।' द्र०—भूमिका पृष्ठ ६३-६४।

आलोचना—पाणिनीय सूत्र ६।३।८ पर कात्यायन के वार्तिक द्वारा **आत्मनेभाषा और परस्मैभाषा** पदों के साधुत्व का निर्देश होने से यह कथमपि सिद्ध नहीं होता कि ये शब्द पाणिनि से पूर्व व्यवहृत नहीं थे, उसके पश्चात् ही व्यवहार में आये। इसीलिए कात्यायन को इनका निर्देश करने के लिए वार्तिक बनाना पड़ा। **वास्तविकता** तो यह है कि **आत्मनेभाषा परस्मैभाषा** शब्द प्राक्पाणिनीय हैं। पाणिनीय धातुपाठ में इनका प्रयोग मिलता है। यथा—

'भू सत्तायाम् उदात्तः परस्मैभाषः।'

इस पर धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित लिखता है—

'परस्मैभाषा इति परस्मैपदिनः पूर्वाचार्यसंज्ञा।' पृष्ठ ६।

सायण भी धातुवृत्ति में लिखता है—

'परस्मैभाषा—परस्मैपदीत्यर्थः।' पृष्ठ २।

इतना ही नहीं, जो लोग कात्यायनीय वार्तिकों में निर्दिष्ट प्रयोगों को उत्तरपाणिनीय मानते हैं, वे महती भूल करते हैं। हमने इस भूल के निदर्शन के लिए इसी ग्रन्थ के **प्रथम** भाग पृष्ठ ४७, ४६ (च० सं०) पर एक उदाहरण दिया है। पाणिनि के **चक्षिङः ख्याञ्** (२।४।५४) सूत्र पर कात्यायन का वार्तिक है—**चक्षिङः क्शाञ्ख्यञौ।** इस वार्तिक में चक्षिङ् के स्थान पर पाणिनिनिर्दिष्ट ख्याञ् आदेश के साथ **क्शाञ्** आदेश का भी विधान किया है। यदि आधुनिक शास्त्र-रहस्य-अनभिज्ञ लोगों की बात मानी जाए, तो कहा जाएगा कि **क्शाञ्** के रूप पाणिनि से पूर्व अथवा पाणिनि के समय प्रयुक्त नहीं होते थे। पीछे से प्रयुक्त होने लगे, तो कात्यायन को पाणिनीय सूत्र में सुधार करना पड़ा। परन्तु यह है सर्वथा अशुद्ध। पाणिनि से सर्व-सम्मति से पूर्वकालिक स्वीकार की जानेवाली मैत्रायणी संहिता में **ख्याञ्** के प्रसङ्ग में सर्वत्र **क्शाञ्** के प्रयोग मिलते हैं। काठक में भी उभयथा प्रयोग उपलब्ध होते हैं तो क्या ये संहिताएं भी पाणिनि से उत्तरकालीन हैं? इसलिए जो भी विद्वान् कात्यायन और पतञ्जलि के प्रयोगों को देखकर उन्हें उत्तरकालीन मानते हैं, और उसी के आधार पर इतिहास की कल्पना करते हैं, वे स्वयं धोखे में रहते हैं। और अपनी अशास्त्रीय कल्पनाओं से शास्त्रसम्मत सिद्धान्त और

परम्पराप्राप्त सत्य इतिहास का गला घोंट कर अज्ञान का प्रसार करते हैं।

पाणिनीय तन्त्र में पाणिनि द्वारा अनिर्दिष्ट तथा कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट शतशः ऐसे प्रयोग हैं, जिनका साधुत्व प्राचीन व्याकरणों में उपलब्ध है, अथवा प्राचीन वाङ्मय में वे उसी रूप में व्यवहृत हैं। इसकी विशेष मीमांसा हमने अपने **अपाणनीयपदसाधुत्वमीमांसा**' ग्रन्थ में की है (यह अभी अप्रकाशित है)।

दो पाठ—अथर्वपार्षद के लघु और बृहद् दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। इन दोनों पाठों की विस्तृत तुलना करके डा० सूर्यकान्त जी ने लिखा है कि लघु पाठ बृहत् पाठ से उत्तरकालीन है। उनका यह मत सम्भवतः ठीक ही है। उनकी एतद्विषयक युक्तियां पर्याप्त बलवती हैं। इस विषय पर अधिक उनकी भूमिका में ही देखें।

शाखा-सम्बन्ध—डा० सूर्यकान्त जी ने अथर्व प्रातिशाख्य तथा शौनकीय चतुरध्यायी के नियमों की राथ ह्विटनी तथा शंकर पाण्डुरङ्ग द्वारा सम्पादित अथर्व संहिताओं के साथ तुलना करके यह परिणाम निकाला है कि शङ्कर पाण्डुरङ्ग द्वारा संगृहीत हस्तलेख अथर्व प्रातिशाख्य के नियमों का अनुसरण करते हैं, शौनकीय चतुरध्यायी के नियमों का अनुसरण नहीं करते। इसलिए शङ्कर पाण्डुरङ्ग के हस्तलेख शौनक शाखा के नहीं थे। राथ-ह्विटनी का पाठ शौनकीय चतुरध्यायी के अनुसार है। दोनों प्रकार की संहिताओं में अतिस्वल्पभेद होने के कारण दोनों के हस्तलेखों का मिश्रण हो गया है।

शौकनीय अथर्व संहिता पर भावी कार्य करनेवालों को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

पार्षद चतुरध्यायी से उत्तरवर्ती—डा० सूर्यकान्त जी का यह भी मत है कि अथर्व प्रातिशाख्य शौकनीय चतुरध्यायी से उत्तरवर्ती है। हम अभी निश्चित रूप से इस विषय में कुछ नहीं कह सकते।

बृहत्पाठ का संस्करण—पार्षद के बृहत्पाठ का जो संस्करण डा०

---

१. इसका संक्षिप्त रूप 'आदिभाषायां प्रयुज्यमानानामपाणिनीयप्रयोगाणां साधुत्वविवेचनम्' नाम से 'वेदवाणी' (मासिक पत्रिका, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़) के वर्ष १४ अंक १, २, ४, ५ में छप चुका है।

सूर्यकान्त जी ने प्रकाशित किया है, वह उनके अत्यधिक प्रयत्न का फल है, इसमें किसी की विमति नहीं हो सकती तथापि उसके पाठों में संशोधन की पर्याप्त आवश्यकता है। उदाहरणार्थ हम दो स्थल उपस्थित करते हैं—

(१)—सूत्र संख्या १७३ का डा० सूर्यकान्त सम्पादित पाठ इस प्रकार है—

'ख्यातौ श्वयौ शुशुखीति बो धौ शुचेः।'

इसका शुद्ध पाठ होना चाहिए—

'ख्यातौ खयौ शुशुग्धीति गधौ शुचेः।'

सूत्र का अर्थ है—**ख्या धातु** के प्रयोगों में **ख-य** का संयोग होता है, और **शुच** के **शुशुग्धि** में **ग-घ** का संयोग।

इस अर्थ की पुष्टि पार्षद के अगले पाठ में निर्दिष्ट उदाहरणों से होती है। डा० सूर्यकान्त के पाठ का कोई अर्थ नहीं बनता। पं० विश्वबन्धु जी सम्पादित लघुपाठ में इस सूत्र का पाठ—**ख्यातौ खयौ शुशुघीति बाधौ शुचेः** कुछ अंश में (श्वयौ=खयौ) शुद्ध है।

२—पृष्ठ ४ पर 'आबाध' के उदाहरणों में—

'शाखान्तरेऽपि तन्नस्तप उत सत्य च वेत्तु—तम्। नः। अकारान्तं पुंसि वचनम्। नपुंसकं तकारान्तं शौनके।'

यहां **अकारान्त** के स्थान पर **मकारान्त** पाठ होना शाहिये।

हमारे द्वारा सुझाए संशोधन की पुष्टि सूत्र संख्या १४०८ के··· **तन्नस्तप ········षण् मकारान्तानि नकाराबाधे** पाठ से होती है। इस पाठ में **तन्नस्तप में तम्** मकारान्त पाठ दर्शाया है।

अन्यथा संशोधन—डा० सूर्यकान्त जी के संस्करण में कतिपय स्थल ऐसे भी हैं, जिनमें हस्तलेखों का पाठ **अन्यथा** होते हुए भी डाक्टर जी ने मुद्रित अथर्वसंहिताओं के पाठों के आधार पर हस्तलेखों के पाठ परिवर्तित कर दिए। यथा—

१—सूत्र संख्या ५८ का पाठ है—

'·········पश्चात् पृदाकवः सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चाच्चि तिरा······।'

यहां सूत्र पाठ में दोनों स्थानों पर **पश्चात्** पाठ है। परन्तु इनके जो उदाहरण छपे हैं, उनमें—

इमे पश्चा पृदाकवः—पश्चा ।१०।४।११।।

सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा—पश्चा । १०। ८।७; ११।४।२२।।

पश्चा पाठ है। परन्तु डाक्टर जी के हस्तलेख में दोनों स्थानों में **पश्चात्** पाठ ही है, इसका निर्देश उन्होंने स्वयं किया है। समझ में नहीं आता कि हस्तलेख में सूत्र और उदाहरण दोनों में **पश्चात्** एक जैसा ही होने पर भी सूत्र में पश्चात् और उदाहरणों में **पश्चा** पाठ देकर वैषम्य क्यों उत्पन्न कर दिया?

२—इसी प्रकार सूत्र संख्या ११४ का पाठ है—

'विश्वमन्यामभीवार जागरत् प्रविशिवसमित्यभ्यासस्यापवादः ।'

इस पाठ में **जागरत्** पाठ माना है। परन्तु उदाहरण—

'न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन । ५।१६।१०।

में **जागार** पाठ बना दिया, जबकि उनके हस्तलेख में **जागरत्** पाठ उदाहरण में भी विद्यमान है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी बहुत्र डाक्टर जी ने मूल कोष के पाठों को बदल कर मुद्रित संहितानुसारी बनाया है। यह कार्य अशास्त्रीय है। आश्चर्य तो इस बात का है कि डाक्टर जी ने सूत्रपाठ को तो हस्तलेखानुसार रहने दिया, किन्तु उदाहरण पाठ में परिवर्तन कर दिया। इससे दोनों में जो वैषम्य उनके द्वारा उत्पन्न हो गया, उस पर ध्यान नहीं दिया।

हमारा विचार है कि अथर्व प्रातिशाख्य की मूल संहिता न शंकर पाण्डुरङ्गवाली है, और ना ही राथ-ह्विटनीवाली। यह किसी अन्य संहिता का ही प्रतिनिधित्व करती है।

पं० विश्वबन्धु जी की भूल—पं० विश्वबन्धु जी ने अपने लघुपाठ के संस्करण की भूमिका में **देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि** १।२।४८ सूत्र को उद्धृत करके लिखा है—

The Provision makes for a deficiency even in Panini. पृष्ठ ३४।

अर्थात्—यह विधान पाणिनि की न्यूनता की पूर्ति कर देता है।

यहां श्री पं० विश्वबन्धु जी का अभिप्राय है कि पाणिनि ने **देवताद्वन्द्वे च** (६।२।१४१) सूत्र में उभयपद प्रकृतिस्वर का विधान करते हुये आमन्त्रित देवताद्वन्द्व का निषेध नहीं किया, इसलिए आमन्त्रित देवताद्वन्द्व में भी उभयपद प्रकृतिस्वर की प्राप्ति होगी। प्रातिशाख्यकार ने **अनामन्त्रितानि** पद द्वारा उसका निषेध करके पाणिनि की त्रुटि की पूर्ति की है।

वस्तुतः अथर्व प्रातिशाख्य का उक्त नियम पाणिनीय विधान की पूर्ति नहीं करता। श्री पं० विश्वबन्धु जी ने पाणिनीय तन्त्र के एतद्विषयक पौर्वापर्यक्रम को भली प्रकार हृदयंगम नहीं किया। अतः आपको पाणिनीय शास्त्र में यह न्यूनता प्रतीत हुई। वस्तुतः पाणिनीय तन्त्र की व्यवस्था के अनुसार देवताद्वन्द्व के भी आमन्त्रित होने पर दो स्थानों में पढ़े **आमन्त्रितस्य च** (६।१।१९८; ८।१।१९) सूत्रों द्वारा उभयपद प्रकृतस्वर को बाधकर यथायोग्य आमन्त्रित स्वर की प्राप्ति हो जाती है।

पुनः पं० विश्वबन्धु जी लिखते हैं—

Reserving further elaboration of this interesting, though thorny, of comparative study of this literature for the subsequent instalment of this work, this much may be safely stated that our Pratishakhya depends to a considerable extent for its material on other kindred works and that, though indebted to old grammarians, does not bear the stamp of Panini. पृष्ठ ३४।

अर्थ—इस साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के इस रोचक, किन्तु तीखे विषय के और अधिक विस्तार को इस ग्रन्थ की आगामी किस्त के लिए सुरक्षित रखते हुए, इतना तो कहा ही जा सकता है कि हमारा प्रातिशाख्य अपनी सामग्री के लिए विचारणीय सीमा तक अन्य सजातीय ग्रन्थों पर आधृत है। और यद्यपि प्राचीन वैयाकरणों का ऋणी है, किन्तु इसके ऊपर पाणिनि की छाप नहीं।

श्री पण्डित जी के इस लेख से प्रतीत होता है कि आप अथर्व प्रातिशाख्य को पाणिनि से उत्तरकालीन मानते हुए, उस पर पाणिनि की छाप का प्रतिषेध कर रहे हैं। वस्तुतः यह ठीक नहीं है। अथर्व प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्ती है। इसलिए उस पर पाणिनि की छाप का तो कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

अथर्वप्रातिशाख्यभाष्य

अलवर के राजकीय हस्तलेख-संग्रह के सूचीपत्र में संख्या ३२८ पर **प्रातिशाख्यभाष्य** का एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। इस हस्तलेख के आद्यन्त का जो पाठ सूचीपत्र के अन्त में पृष्ठ २९ पर छपा है, उसके अवलोकन से तो यही प्रतीत होता है कि यह हस्तलेख बृहत्पाठ का है। इसके अन्त्य पाठ में **अथर्ववेदे प्रातिशाख्ये तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः** ही पाठ निर्दिष्ट है। इससे सन्देह होता है कि सूचीपत्र-निर्माता ने इस पाठ में उदाहरणों का सन्निवेश देखकर इसके नाम के साथ **भाष्य** शब्द का प्रयोग कर दिया है।

११—अथर्व चतुरध्यायी-प्रवक्ता

अथर्व-सम्बन्धी पार्षद सदृश एक ग्रन्थ और है, जो प्रायः **शौनकीय चतुरध्यायी** के नाम से सम्प्रति व्यवहृत हो रहा है। यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है।

प्रवक्ता—इस ग्रन्थ के प्रवक्ता का नाम संदिग्ध है। ह्विटनी के हस्तलेख के अन्त में शौनक का नाम निर्दिष्ट होने से उसने इसे शौनकीय कहा है। बालशास्त्री गदरे ग्वालियर के संग्रह से प्राप्त चतुरध्यायी के हस्तलेख के प्रत्येक अध्याय के अन्त में—

'इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां……'

पाठ उपलब्ध होता है। यह हस्तलेख प्राचीन हस्तलेख पुस्तकालय उज्जैन में सुरक्षित है। इस हस्तलेख के विषय में पं० सदाशिव एल० कात्रे का न्यू इण्डियन एण्टीक्वेरी सितम्बर १९३८ में एक लेख छपा है, वह द्रष्टव्य है।

कौत्स व्याकरण के नाम से निर्दिष्ट एक हस्तलेख काशी के

सरस्वतीभवन के संग्रह में भी है। इसकी संख्या २०८६ है। इसके प्रथमाध्याय के प्रथम पाद के अन्त में निम्न पाठ है—

'इत्यथर्ववेदे कौत्सव्याकरणे चतुरध्यायिकायां प्रथमः पादः'

हमारे विचार में शौकनीय चतुरध्यायी का प्रवक्ता कौत्स है। और अथर्ववेद की शौनक शाखा से इसका सम्बन्ध होने से यह शौनकीया विशेषण से विशेषित होती है।

काल—भारतीय वाङ्मय में कौत्स नाम के अनेक आचार्य हो चुके हैं। एक कौत्स वरतन्तु का शिष्य था। इसका उल्लेख रघुवंश ५।१ में मिलता है। एक कौत्स निरुक्त १।१५ में स्मृत है। महाभाष्य ३।२।१०८ में किसी कौत्स को पाणिनि का शिष्य कहा है। गोभिलगृह्यसूत्र ३।१०।४; आपस्तंब धर्मसूत्र १।१६।४; २।२८।१; आयुर्वेदीय कश्यपसंहिता (पृष्ठ ११५); और सामवेदीय निदानसूत्र २।१।१०; ३।११; ८।१० आदि में भी कौत्स का निर्देश मिलता है। इनमें से चतुरध्यायिका का प्रवक्ता कौनसा कौत्स है, यह कहना अभी कठिन है।

कौत्स का स्मार्तवचन—कौत्स का एक स्मार्त वचन चतुर्वर्ग चिंतामणि परिशेष खण्ड कालनिर्णय पृष्ठ २५१ पर निर्दिष्ट है।

अथर्वचतुरध्यायी अथर्वपार्षद से पूर्ववर्ती है, यह डा० सूर्यकान्त का मत है, यह हम पूर्व लिख चुके है।

१२—प्रतिज्ञासूत्रकार

शुक्ल यजुः सम्प्रदाय में **प्रतिज्ञासूत्र** नाम के दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। एक का सम्बन्ध कात्यायन प्रातिशाख्य के साथ है, और दूसरे का कात्यायन श्रौत के साथ। कात्यायन प्रातिशाख्य तथा श्रौत दोनों से सम्बद्ध परिशिष्टों का रचयिता भी कात्यायन ही माना जाता है। यह परम्परा कहां तक प्रामाणिक है, यह हम नहीं जानते। अन्यकृत होने पर भी कात्यायनीय ग्रन्थों से सम्बन्ध होने के कारण इनका कात्यायन परिशिष्ट के नाम से व्यवहार हो सकता है। यदि परिशिष्ट प्रातिशाख्य और श्रौतसूत्र प्रवक्ता आचार्य कात्यायन के ही हों, तो इनका काल विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व होगा।

कात्यायन प्रातिशाख्य से सम्बद्ध प्रतिज्ञासूत्र के विषय में व्याख्याकार अनन्त देव लिखता है—

'प्रातिशाख्यकथनानन्तरं चैतस्यावसरो यतस्तन्निरूपितकर्मनियुक्तमन्त्रेषु स्वरसंस्कारनियमावश्यंभावतयाऽनवदिष्टस्वरसंस्थानसंस्काराकांक्षैतदर्थमयमारम्भः ।'

अर्थात् प्रातिशाख्य में अनुपदिष्ट स्वरसंस्कार आदि का वर्णन करने के लिए इसका आरम्भ है।

इस प्रतिज्ञासूत्र में तीन कण्डिकाएं हैं। प्रथम में स्वर विशेष के नियमों का वर्णन है। द्वितीय में य-ज, ष-ख और स्वरभक्ति आदि के उच्चारण का विधान है। तृतीय में अयोगवाहों के विशिष्ट उच्चारण की विधि कही है।

व्याख्याकार

अनन्तदेव याज्ञिक की व्याख्या में अनेक स्थानों पर प्राचीन व्याख्याकारों के मत उद्धृत हैं। उनसे विदित होता है कि इस ग्रन्थ पर कई व्याख्यान-ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। यथा—

१—प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा । समधिगम्येऽर्थे प्रतिज्ञा शब्दो भाक्त इत्याहुः । १।१। पृष्ठ ४०२।

२—केचित्तु पाठादेवानन्तर्यसिद्धौ मङ्गलार्थ एवाथ शब्द इत्याहुः । १।१। पृष्ठ ४०२।

इन प्राचीन व्याख्यानों में से एक भी सम्प्रति प्राप्त नहीं है।

अनन्तदेव याज्ञिक

काशी से प्रकाशित वाजसनेय प्रातिशाख्य के अन्त में पृष्ठ ४०१ से ४३१ तक प्रतिज्ञासूत्र व्याख्या-सहित छपा है।

व्याख्याता का नाम—इस सूत्र की प्रत्येक कण्डिका के अन्त में—

'इत्यनन्तदेवयाज्ञिकविरचिते प्रतिज्ञापरिशिष्टे सूत्रभाष्ये ...।'
ऐसा पाठ प्रायः उपलब्ध होता है।

प्रतिज्ञासूत्र भाष्य के आद्यन्त पाठ से यह प्रतीत नहीं होता है कि यह अनन्त कौनसा है, याजुष प्रातिशाख्य तथा काण्व संहिता का व्याख्याकार नागदेव भट्ट का पुत्र अनन्तभट्ट अथवा अनन्तदेव यह नहीं है।

क्योंकि यह अनन्तभट्ट अपने प्रत्येक ग्रन्थ के आदि अथवा अन्त में अपने माता-पिता और शाखा के नामों का उल्लेख करता है। प्रतिज्ञा-सूत्र-व्याख्या के आद्यन्त में ऐसा निर्देश उपलब्ध नहीं होता। इतना ही नहीं, नागदेव सुत अनन्तदेव अपने अन्य ग्रन्थों में **याज्ञिक** विशेषण नहीं देता। प्रतिज्ञासूत्र व्याख्या के अन्त में 'याज्ञिक' विशेषण मिलता है।

वि० सं० १८०२ में लिखी गई बालकृष्ण शर्मा की प्रातिशाख्य-दीपिका (पृष्ठ २९३ शिक्षा-संग्रह) में भी प्रतिज्ञासूत्र भाष्यकार का '**अनन्त याज्ञिक**' नाम से निर्देश मिलता है।

वैदिक ग्रन्थ व्याख्याताओं में एक देव याज्ञिक प्रसिद्ध है, क्या उसका मूल नाम अनन्तदेव तो नहीं? सम्भव है दो अनन्तदेवों के भेद-परिज्ञान के लिए एक को अनन्तदेव तथा दूसरे को देव याज्ञिक नाम से व्यवहार करने की परिपाटी रही हो। इसकी सम्भावना देव-याज्ञिकविरचित कात्यायन सर्वानुक्रमणीभाष्य के काशी संस्करण के मुख पृष्ठ से होती है। उस पर **याज्ञिकानन्तदेवविरचितभाष्यसहितम्** निर्देश छपा है।

वस्तुतः जब तक उक्त समस्या का समाधान नहीं हो जाता, तब तक इस व्याख्या का कालनिर्णय करना अशक्य है।

व्याख्या में अत्युपयोगी निर्देश—प्रतिज्ञासूत्र की व्याख्या में कुछ अत्युपयोगी निर्देश मिलते हैं, जिनसे प्राचीन वर्णराशि तथा उच्चारण विषय पर नया प्रकाश पड़ता है। यथा—

१—**अतः सम्प्रदायविद एवंविधे यकारे स्पृष्टप्रयत्नज्ञापनाय मध्ये बिन्दुं प्रक्षिपन्ति। स्पृष्टप्रयत्नं स्थानैक्याच्च वर्गतृतीयसदृशं यकारं पठन्ति च।** २।२। पृष्ठ ४१९।

२—**षटौ मूर्धनीति**(प्राति० १।६७)**सूत्रात् षकारो मूर्धन्यः स्थान-करणपरित्यागेनार्धस्पृष्टषकारस्थाने कवर्गीय प्रतिरूपकं खकारोच्चारणं कर्त्तव्यम्** २।११।। पृष्ठ ४२४।

३—**संज्ञाभेदो निमित्तभेदो लिपिभेदश्च। तृतीयस्तु इदानीं प्रायशः परिभ्रष्टस्तथापि प्राचीनसम्प्रदायानुरोधाद् विज्ञायते।** ३।२७। पृष्ठ ४२४।

इन उद्धरणों में क्रमशः—

प्रथम में—माध्यन्दिन प्रातिशाख्याध्येताओं के द्वारा **य** के स्थान में **ज** उच्चारण पर प्रकाश पड़ता है। इस उद्धरण से विदित होता है कि शुद्ध **ज** उच्चारण अशुद्ध है, **जसदृश** उच्चारण होना चाहिये। अर्थात् यह स्वतन्त्र वर्ण है, न **य** है और न **ज**। दोनों के मध्यवर्ती उच्चारण वाला है। इसी बात को व्यक्त करने के लिये **चवर्गतृतीय-सदृशं** में सदृश शब्द का उपादान किया है।

द्वितीय में—माध्यन्दिन शाखाध्यायियों के द्वारा **ष** के स्थान में उच्चार्यमाण **ख** उच्चारण पर प्रकाश पड़ता है। यह भी न **ष** है और न **ख**, अपितु **ष–ख** मध्यवर्ती स्वतन्त्र वर्ण है। इसी बात को व्यक्त करने के लिये **कवर्गीयप्रतिरूपकं खकारोच्चारणं** में प्रतिरूपक शब्द का प्रयोग किया है। अन्यथा प्रतिरूप शब्द व्यर्थ है, **खकारोच्चारणं कर्त्तव्यम्** इतना ही कहना पर्याप्त है।

तृतीय में— ह्रस्व दीर्घ और गुरुसंज्ञक त्रिविध ꣳ का उल्लेख है। और तृतीय प्रकार के वर्ण के उच्चारण के 'परिभ्रंश अर्थात् नाश का उल्लेख है।

हमारा विचार है कि प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में ऐसे कई स्वतन्त्र वर्ण थे, जो उत्तरकाल में उच्चारण-दोष से नष्ट हो गये। इसी प्रकार के वर्णों के नाश के कारण सम्प्रति वर्णों की ६३ संख्या उपपन्न नहीं होती। साम्प्रतिक विद्वान् इस संख्या की पूर्ति एक-एक स्वर को ह्रस्व दीर्घ प्लुत भेद से तीन प्रकार का (संध्यक्षरों को दो प्रकार का) गिनकर करते हैं। यह चिन्त्य है। यदि एक ही अकार को कालभेद के कारण ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत भेद से तीन प्रकार का गिना जाए, तो उदात्त अनुदात्त स्वरित और सानुनासिक भेदों की गिनती क्यों नहीं की जाती? उन्हें स्वरभेद से पृथक् क्यों नहीं माना जाता?

प्रतिज्ञा-परिशिष्ट २।६ में वकार के भी गुरु-मध्य-लघु तीन भेद कहे हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा श्लोक १५५, १५६ में **व–य** दोनों के गुरु, लघु और लघुतर भेद कहे हैं। पाणिनि ने भी **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य (८।३।१८)** सूत्र में **य, व** के लघुतर रूप का निर्देश किया है।

प्राचीन संस्कृत-भाषा में प्रयुक्त वर्णों के विभागों तथा उच्चारण के विषय में अनुसंधान करने की महती आवश्यकता है। प्राचीन वर्णों के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होने पर भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति हो सकती है। भाषा-विज्ञान के अनेक नियमों पर नए रूप से विचार करना पड़ेगा।

१३—भाषिक-सूत्रकार

कात्यायन प्रातिशाख्य के परिशिष्टों में एक **भाषिक-सूत्र** भी है। इस में शतपथ ब्राह्मण के स्वरसंचार पर प्राधान्येन विचार किया गया है। इसमें तीन कण्डिकाएं हैं।

शतपथ ब्राह्मण के स्वरों का विधान करते हुए इस परिशिष्ट से उन ब्राह्मणों के विषय में भी प्रकाश पड़ता है, जो सम्प्रति लुप्त हो गये हैं। अथवा जिन में स्वर सम्प्रदाय नष्ट हो गया है। यथा—

१—शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः ॥३।१५॥

२—मन्त्रस्वरवद् ब्राह्मणस्वरश्चरकाणाम् ॥३।२५॥

३—तेषां खाण्डिकेयौखेयानां चातुःस्वर्यमपि क्वचित् ॥३।२६॥

४—ततोऽन्येषां ब्राह्मणस्वरः ॥ ३।२७ ॥

इस परिशिष्ट से स्वर विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यत् आदि के योग में कितने वर्णों के व्यवधान में तिङ् स्वर होता है, अर्थात् निघात स्वर का प्रतिषेध होता है, इस पर अच्छा विचार उपलब्ध होता है।

व्याख्याकार

(१) महास्वामी

महास्वामी नामक एक विद्वान् ने भाषिकसूत्र पर एक भाष्य लिखा था। इस भाष्य का सम्पादन वेबर ने (इण्डीश स्टडीन) किया है। आगे निर्दिश्यमान अनन्तभाष्य इस महास्वामी के भाष्य की छाया मात्र है। इसलिये महास्वामी का काल वि०सं० १६५० से पूर्व होगा।

(२) अनन्तदेव

इस परिशिष्ट पर नागदेव सुत अनन्तदेव की व्याख्या वाजसनेय प्रातिशाख्य के काशी संस्करण में पृष्ठ ४३२–४७१ तक छपी है।

इसके काल आदि के विषय में वाजसनेय प्रातिशाख्य के व्याख्याकार प्रकरण में लिख चुके हैं।

१४—ऋक्तन्त्र

सामवेदीय ग्रन्थों में **ऋक्तन्त्र** नाम का एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस में सामवेद की किसी विशिष्ट-शाखा के स्वर सन्धि आदि नियमों का विधान मिलता है।

प्रवक्ता—ऋक्तन्त्र का प्रवक्ता कौन आचार्य है, इस विषय में प्राचीन ग्रन्थकारों में मतभेद है। कुछ ग्रन्थकार ऋक्तन्त्र का प्रवक्ता शाकटायन को मानते हैं, और कुछ औदव्रजि को। यथा—

शाकटायन—नागेशभट्ट लघुशब्देन्दुशेखर के आरम्भ में लिखता है—

१—ऋक्तन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि—इदमक्षरं छन्दो.. ....।
भाग, १ पृष्ठ ७।

किसी हरदत्त नामक व्यक्ति की एक साम-सर्वानुक्रमणी मिलती है। इसे डा० सूर्यकान्त जी ने अपने ऋक्तन्त्र के संस्करण के अन्त में छपवाया है। उसमें लिखा है—

२—ऋचां तन्त्रव्याकरणे पञ्चसंख्याप्रपाठकम्।
शाकटायनदेवेन द्वात्रिंशद् खण्डकाः स्मृताः॥ पृष्ठ ३।

३—ऋक्तन्त्र के अन्त में पाठ मिलता है—

इति शाकटायनोक्तमृक्तन्त्रव्याकरणं सम्पूर्णम्।

४—इसी प्रकार ऋक्तन्त्रवृत्ति के अन्त में पाठ मिलता है—

'छन्दोगशाखायामृक्तन्त्राभिधानव्याकरणवृत्तिः समाप्ता। ऋक्तन्त्रव्याकरणं शाकटायनादिभिः कृतम्। सूत्राणां संख्या २८० अशीत्यधिकशतद्वयं सूत्राणि।'

औदव्रजि—भट्टोजि दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ (**'मुखनासिका'** सूत्र) में लिखा है—

१—तथा च ऋक्तन्त्रव्याकरणस्य छान्दोग्यलक्षणस्य प्रणेता

औदव्रजिरप्यसूत्रयत्—अनन्त्या ह्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वस्य गुण इति। पृष्ठ १४३।

श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा की 'पञ्जिका' नाम्नी व्याख्या[1] का अज्ञातनामा लेखक लिखता है—

२—अनन्त्यान्त्यसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुण इत्यौदव्रजिः। पृ० १०।

३—तथा चौदव्रजिः—तत्र स्पृष्टं प्रयतनं करणं स्पर्शानाम्, दुःस्पृष्टमन्तःस्थानाम् इति। पृष्ठ ११।

४—तथा चौदव्रजिः—अनुस्वारावं आं इत्यनुस्वरौ, ह्रस्वाद् दीर्घो दीर्घाद्ध्रस्वो वर्णौ इति। पृष्ठ १२।

५—द्वौ नादानुप्रदानौ इत्यौदव्रजिः। पृष्ठ १४, १६।

६—निमेषः कालमात्रा स्याद् इत्यौदव्रजिः। पृष्ठ (?)।

७—औदव्रजिरपि—स्पर्शे वर्गस्य स्पर्शग्रहणे च ज्ञेयं वर्गस्य ग्रहणं स्थानेष्वित्यधिकार इति। पृष्ठ १७।

८—तथा च औदव्रजिः—अयोगवाहाः अः इति विसर्जनीयः, ᳵकः इति जिह्वामूलीयः, ᳶपः इत्युपध्मानीयः, अं इत्यनुस्वारः नासिक्य इति। पृष्ठ १८।

श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा की 'प्रकाश' व्याख्या[2] का अज्ञातनामा लेखक भी लिखता है—

९—अनन्तसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुण इत्यौदव्रजिरपि। पृ० २६।

इन उद्धरणों में से कतिपय सर्वथा अभिन्नरूप से, कतिपय स्वल्प भेद से ऋक्तन्त्र में उपलब्ध होते हैं, और कतिपय नहीं भी मिलते। यथा—

संख्या १,२ तथा ९ का उद्धरण ऋक्तन्त्र प्रपाठक १ खण्ड २ के अन्त में मिलता है। संख्या १ तथा ९ का पाठ कुछ भ्रष्ट है। पाणि-

---

१. आगे इस व्याख्या की निर्दिष्ट पृष्ठसंख्या मनोमोहन घोष द्वारा सम्पादित तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९३८ में प्रकाशित संस्करण के अनुसार है।

२. इसकी पृष्ठसंख्या भी पूर्वनिर्दिष्ट संस्करण के अनुसार दी है।

नीयशिक्षा के सम्पादक मनोमोहन घोष ने इस उद्धरण का पृष्ठ १ पर शुद्ध पाठ देकर भी पृष्ठ २६ पर पाठ का शोध नहीं किया, यह चिन्त्य है।

संख्या ३ का उद्धरण प्रपा० १ खण्ड ३ में स्वल्पपाठान्तर से मिलता है।

संख्या ४ के उद्धरण का पूर्व भाग, प्रपा० १ खण्ड २ के अन्त में, और उत्तर भाग खण्ड ३ के आरम्भ में स्वल्पभेद से मिलता है। पाणिनीय शिक्षा के काशी संस्करण में उत्तर भाग का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है।

संख्या ८ का उद्धरण प्रपा० १ खण्ड २ में मिलता है, परन्तु पञ्जिका का पाठ कुछ भ्रष्ट है।

संख्या ५, ६ का पाठ मुद्रित ऋक्तन्त्र में नहीं मिलता।

प्रवक्तृत्व पर विचार—ऊपर प्राचीन ग्रन्थकारों के दो मत उद्धृत किए हैं। एक के अनुसार ऋक्तन्त्र का प्रवक्ता शाकटायन है, और दूसरे के अनुसार औदव्रजि। ऋक्तन्त्र के आरम्भ में **श्वासो नाद इति शाकटायनः** सूत्र में शाकटायन का मत निर्दिष्ट है, और प्रपा० २ खण्ड ६ सूत्र १० **न्यायेनौदव्रजिः** में औदव्रजि का नामतः उल्लेख है। नारदीय शिक्षा प्रपा० २ कण्डिका ८ श्लोक ५ (पृष्ठ ४४३ काशी शिक्षासंग्रह) में किसी प्राचीन औदव्रजि का मत निर्दिष्ट है।[1]

डा० सूर्यकान्त का विचार—डा० सूर्यकान्त का विचार है कि ऋक्तन्त्र का प्रथम प्रणयन औदव्रजि ने किया था। उसका थोड़े से परिवर्तन और परिवर्धन के साथ द्वितीय संस्करण शाकटायन ने किया। ऋक्तन्त्र का जो संस्करण सम्प्रति मिलता है, वह उसका तृतीय संस्करण है। और यह निश्चित ही पाणिनि से उत्तरवर्ती है।[2]

डा० सूर्यकान्त जी के विचार का आधार ऋक्तन्त्र में औदव्रजि और शाकटायन दोनों नामों का कण्ठतः निर्देश प्रतीत होता है।

हमारा विचार—नारदशिक्षा (२।८।५) में औदव्रजि के साथ

१. तेनास्यकरणं सौक्ष्म्यं माधुर्यं चोपजायते। वर्णांश्च कुरुते सम्यक् प्राचीनौदव्रजिर्यथा ॥

२. डा० सूर्यकान्त सम्पादित ऋक्तन्त्र भूमिका, पृष्ठ ३९-४३।

प्राचीन विशेषण मिलता है। इस विशेषण से इतना स्पष्ट है कि औदव्रजि नाम के दो आचार्य हुए हैं। उनमें भेद-निर्देश के लिए नारद-शिक्षा में 'प्राचीन' विशेषण दिया है।[1] सम्भवतः ऋक्तन्त्र २।६।१० में निर्दिष्ट औदव्रजि भी प्राचीन औदव्रजि ही है। ऋक्तन्त्र प्रवक्ता के सम्बन्ध में जो दो मत उद्धृत किये हैं, उनसे यह सम्भावना प्रतीत होती है कि ऋक्तन्त्र का प्रवक्ता द्वितीय औदव्रजि है, और वह शाकटायन गोत्रज है (ऋक्तन्त्र के आरम्भ में निर्दिष्ट शाकटायन आद्य शाकटायन है)। इसीलिए ऋक्तन्त्र के विषय में नामद्वय का निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

ऋक्तन्त्र का वर्तमान स्वरूप निश्चय ही पाणिनि से पूर्ववर्ती है। इस विषय में हम डा० सूर्यकान्त जी के विचारों से सहमत नहीं, जिन हेतुओं से उन्होंने पाणिनि से उत्तरकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस पर विस्तृत विचार लक्षण-ग्रन्थों के इतिहास में करेंगे।

औदव्रजि का देश—पाणिनि अष्टाध्यायी २।४।५९ के अनुसार औदव्रजि अप्राग्देशीय है (सम्भवतः औदीच्य)। काशिकाकार लिखता है—

'अन्ये पैलादय इञन्तास्तेभ्य इञः प्राचाम् (२।४।६०) इति लुकि सिद्धेऽप्रागर्थः पाठः।'

ऋक्तन्त्र का शाखाविशेष से सम्बन्ध—गोभिल गृह्यसूत्र का व्याख्याता भट्ट नारायण लिखता है—

'राणायनीयानामृक्तन्त्रप्रसिद्धा विसर्जनीयस्याभिनिष्टानाख्या।' (पृष्ठ ४२०)

इस उद्धरण से विदित होता है कि ऋक्तन्त्र का सम्बन्ध साम-वेद की राणायनीय संहिता के साथ है।

ऋक्तन्त्र का द्विविध पाठ—हरदत्त की ऋक्सर्वानुक्रमणी के पूर्व उद्धृत पाठ के अनुसार ऋक्तन्त्र में ५ प्रपाठक हैं। मुद्रित ग्रन्थ में भी ५ प्रपाठक उपलब्ध होते हैं। इस पाठ में शिक्षारूप प्रथम प्रपाठक भी सम्मिलित हैं। ऋक्तन्त्र के दूसरे पाठ में शिक्षारूप प्रथम प्रपाठक

---

१. अष्टाध्यायी २।४।५९ के अनुसार औदव्रजि के पुत्र (युवापत्य) के लिए भी 'औदव्रजि' का ही प्रयोग होता है। अर्थात् औदव्रजि से उत्पन्न युव प्रत्यय का लोप हो जाता है।

का सन्निवेश नहीं है । इसलिए इस पाठ में चार ही प्रपाठक स्वीकार किये जाते हैं । कुछ हस्तलेखों में पञ्चम प्रपाठक के स्थान में **चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः** पाठ भी मिलता है । (द्र० —डा० सूर्यकान्त संस्क०) । मुद्रित वृत्तिग्रन्थ में प्रथम प्रपाठक की व्याख्या उपलब्ध नहीं होती । वृत्तिग्रन्थ की विवृत्ति में स्पष्ट रूप से द्वितीय प्रपाठक के स्थान में **ऋक्तन्त्रविवृत्तौ प्रथमः प्रपाठकः** पाठ मिलता है (द्र० —डा० सूर्यकान्त संस्करण, परिशिष्ट) । इससे भी यही विदित होता है कि वृत्ति और विवृत्ति ग्रन्थ ऋक्तन्त्र के जिस पाठ पर लिखे गये, उसमें शिक्षात्मक प्रपाठक सम्मिलित नहीं था, अर्थात् शेष चार ही प्रपाठक थे।

औदव्रजि का अन्य ग्रन्थ—सामगान से सम्बद्ध एक सामतन्त्र नाम का प्राचीन ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ का प्रवक्ता भी औदव्रजि माना जाता है । इस विषय में सामतन्त्र के प्रकरण में लिखेंगे ।

व्याख्याता

(१) अज्ञातनामा भाष्यकार

ऋक्तन्त्र की जो व्याख्या डा० सूर्यकान्त जी ने प्रकाशित की है, उसमें तीन स्थानों पर किसी प्राचीन **भाष्य** का उल्लेख मिलता है। यथा—

१—**नृभिर्यतः इति भाष्यम्** । पूर्ण सूत्र-संख्या १४३ ।

२—**अयमुते (१।१८३) भाष्यम्** । पूर्ण सूत्र-संख्या २४५ ।

३—**जनयत (१।७२) भाष्यम्** । पूर्ण सूत्र-संख्या २४५ ।

इन उद्धरणों से विदित होता है कि ऋक्तन्त्र पर पुरा काल में कोई भाष्य ग्रन्थ लिखा गया था । उसके विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते ।

(२) अज्ञातनामा वृत्तिकार

ऋक्तन्त्र की जो वृत्ति प्रकाशित हुई है, उसके कर्त्ता का नाम और देश काल आदि कुछ भी परिज्ञात नहीं हैं ।

यह वृत्ति ऋक्तन्त्र के शिक्षात्मक प्रथम प्रपाठक पर नहीं है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं ।

इस वृत्ति में **भाष्य** के अतिरिक्त निम्न आचार्यों के वचन उपलब्ध होते हैं—

१—नकुलमुख:—

तद्वच्चैवाचार्यस्य नकुलमुखस्य वचनं श्रूयते—

"प्रक्रमते मकारकरणेन ततो हकारादिमनुस्वारं गायति ततो मकार इति नकुलमुख: ।' पूर्ण सूत्र-संख्या ६० ।

२—ऐतिकायन:— ३—नैगि: ।[1]—

'षट्त्स्वैतिकायन:, प्रकृत्या नैगि: ।' पूर्ण सूत्र-संख्या १८८ ।

४—जालकाक ? जानकक ?—

जालकाकेन (जानककेन–पाठा०) गरणीषु च मत्स्यकामानाहननांसकस्य विदिशानि सामकम् ।' पूर्ण सूत्र-संख्या ३८ ।

तुलना करो—हरदत्तविरचित सामसर्वानुक्रमणी—

'कर्णसूत्रं जालाननं स्मृतम् ।'

यहां 'जालानन' पाठ है । इन तीनों पाठों की पाठशुद्धि विचारणीय है ।

५—'कटाहपतनीयकपिलोलान्तानां गुरुलघुतुल्यानामिति वाच्यम् ।' पूर्ण सूत्र-संख्या २२६ ।

इस पाठ में किसी अज्ञातनामा आचार्य का वचन उद्धृत किया है ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह वृत्ति किसी प्राचीन ग्रन्थकार की लिखी हुई है ।

विवृत्तिकार

ऋक्तन्त्र की उक्त वृत्ति पर एक विवृत्ति भी है । इसका उपयोगी अंश डा० सूर्यकान्त जी ने स्वसंपादित ऋक्तन्त्र के अन्त में छापा है । इस विवृत्तिकार के भी नाम देश काल आदि का कुछ परिचय नहीं मिलता ।

---

१. नैगि आचार्य का उल्लेख मूल ऋक्तन्त्र के 'नैगिनोभयथा' (पूर्ण संख्या ५६) में भी मिलती है ।

२. यह पाठ ऋक्तन्त्र के पञ्चम प्रपाठक के प्रथम सूत्र की ओर संकेत करता है ।

विवृत्तिकार की शाखा—विवृत्तिकार ने पूर्ण संख्या ५८ सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

'तेस्तकारात् परोऽनुदात्तोऽकार उदात्तमापद्यते । **अस्माकं पाठः** स्वरितः । तोऽर्धेस्तेम् ॥'

इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि विवृत्तिकार की शाखा राणायनीय शाखा से भिन्न थी।

(३) अज्ञातनाम व्याख्याता

पूर्ण संख्या ५ की पूर्वनिर्दिष्ट विवृत्ति में लिखा है—

ऋक्तन्त्रकारतद्व्याख्यातृभिः स्वरितस्योच्चनीचव्यतिरेकेण...'

यहां पर बहुवचन निर्देश से व्यक्त होता है कि विवृत्तिकार की दृष्टि में ऋक्तन्त्र की कोई अन्य वृत्ति भी थी। उसी को दृष्टि में रखकर उसने बहुवचन का प्रयोग किया है।

१५—लघु-ऋक्तन्त्रकार

ऋक्तन्त्र के आधार पर एक **लघु-ऋक्तन्त्र** का प्रवचन भी किसी आचार्य ने किया था। इसके प्रवक्ता का नाम अज्ञात है।

लघुऋक्तन्त्र (मुद्रित) पृष्ठ ४६ पर पाणिनि को नामोल्लेख-पूर्वक स्मरण किया गया है। अतः ऋक्तन्त्र का प्रवचन पाणिनि से उत्तरवर्ती है, यह स्पष्ट है।

हरदत्तीय सामसर्वानुक्रमणी का एक पाठ है—

'नैगाख्यं लघुऋक्तन्त्रञ्चन्द्रिकाख्यं स्वरस्य तु ।'

यह पाठ विवेचनीय है।

१६—सामतन्त्र-प्रवक्ता

सामवेद से सम्बन्ध रखने वाला एक **सामतन्त्र** नामक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यह छप चुका है।

सामतन्त्र का प्रवक्ता—सामतन्त्र का प्रवक्ता कौन आचार्य है,

इस विषय में मतभेद है। हरदत्त ने स्वीय सामवेदीय सर्वानुक्रमणी में 'सामतन्त्र का प्रवक्ता आचार्य औदव्रजि है' ऐसा लिखा है—

सामतन्त्रं प्रवक्ष्यामि सुखार्थं सामवेदिनाम्
औदव्रजिकृतं सूक्ष्मं सामगानां सुखावहम्।'

आचार्य औदव्रजि के विषय में ऋक्तन्त्र के प्रकरण में लिखा चुके है। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अक्षरतन्त्र की भूमिका में लिखा है कि सामतन्त्र का प्रवचन आचार्य गार्ग्य ने किया है, ऐसी अनुश्रुति है—

'सामतन्त्रं तु गार्ग्येणेति वयमुपदिष्टाः प्रामाणिकैः।' पृष्ठ २।

हमारे विचार में पं० सत्यव्रत सामश्रमी की अपेक्षा हरदत्त का कथन अधिक प्रामाणिक है।

विषय—सामतन्त्र में सामगानों की योनिभूत ऋचाओं में होने वाले अक्षरविकार-विश्लेष-विकर्षण-अभ्यास-विराम आदि कार्यों का विधान किया है।

भाष्यकार—भट्ट उपाध्याय

हरदत्त ने सामवेदीय सर्वानुक्रमणी में सामतन्त्र का निर्देश करके अन्त में लिखा है—

'भाष्यकारं भट्टपूर्वमुपाध्यायमहं सदा।'

अर्थात्—सामतन्त्र का भाष्य किसी भट्ट उपाध्याय ने किया था। इस के विषय से हमें और कुछ भी ज्ञात नहीं।

हरदत्त ने फुल्लसूत्र और उसके भाष्यकार का उल्लेख करके लिखा है—

'सामतन्त्रस्य यद् भाष्यमयमेत्रैव चिन्तितम्।'

इस पंक्ति का पाठ भ्रष्ट होने से इसका अभिप्राय अज्ञात है। पाठशुद्धि के अनन्तर इसका वास्तविक अभिप्राय ज्ञात हो सकता है। उक्त भ्रष्ट पाठ से दो बातें सूचित हो सकती हैं।

१—सामतन्त्र का भाष्य **अनेनैव** (पाठ मानकर) अर्थात् रामकृष्ण दीक्षित ने बनाया।

२—सामतन्त्र का भाष्य **मयैव** (पाठ मानकर) मैंने ही बनाया।

१७—अक्षरतन्त्र-प्रवक्ता

सामवेद से सम्बन्ध रखने वाला **अक्षरतन्त्र** नामक एक लघुकाय ग्रन्थ उपलब्ध होता है। इसका प्रकाशन पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने चिरकाल पूर्व किया था। यह ग्रन्थ एकमात्र खण्डित हस्तलेख के आधार पर छपा है।

अक्षरतन्त्र का प्रवक्ता—अक्षरतन्त्र के प्रकाशक पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने इसकी भूमिका में लिखा है—

'**ग्रन्थोऽयं ऋक्तन्त्रप्रणेतुः शाकटायनस्य समकालिकेन महामुनिना भगवता आपिशलिना प्रोक्तः।**' भूमिका पृष्ठ २।

अर्थात्—अक्षरतन्त्र का प्रवचन ऋक्तन्त्र प्रवक्ता शाकटायन के समकालिक महामुनि आपिशलि ने किया है।

ऐसा ही उल्लेख पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्तालोचन पृष्ठ ११५ पर भी किया है।

अक्षरतन्त्र का विषय—अक्षरतन्त्र में सामगानों में प्रयुज्यमान स्तोम आदि का निर्देश किया है। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने सामतन्त्र से अक्षरतन्त्र के विषय का भेद बताते हुए लिखा है—

"**सामतन्त्रे खलु साम्नां योनिगता एवाक्षरविकारविश्लेषविकर्षणाभ्यासविरामादयश्चिन्तिताः। इह तु साम्नां स्तोभगताः पातास्वरादयो वान्तपर्वादयश्च बोधिता इति भेदः।**' अक्षरतन्त्र की भूमिका पृष्ठ १।

१—वृत्तिकार

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अक्षरतन्त्र पर एक वृत्ति भी प्रकाशित की है। इसके विषय में सामश्रमी जी ने लिखा है—

'**वृत्तिरनतिप्राचीनाऽपि लेखकप्रमादादित एवाद्यन्तदुष्टा दृश्यते —……तामेव संस्कर्तुं मयमारम्भः**'

इस वृत्ति के आद्यन्तहीन होने से इसके लेखक आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

२—भाष्यकार रुद्र देवव्रत

अभी-अभी मुद्रण-काल में मद्रास के पं० एम० रामचन्द्र दीक्षित[1] का १४-६-८४ का पत्र मिला है। उस में आपने लिखा है—

स्तोभभाष्यम्-अक्षरतन्त्रम् रुद्रदेवव्रतभाष्यम् अधं मिलित्वा अधुना मुद्राप्यते……।

इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर सम्भव है अक्षर-तन्त्र और भाष्यकार रुद्र देवव्रत के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त हो सके। ऐसी आशा है।

१८—छन्दोग व्याकरण

सरस्वती भवन काशी के संग्रह में **छन्दोग व्याकरण** नाम से एक हस्तलेख निर्दिष्ट है। इसकी संख्या २०८७ है।

हमने यह हस्तलेख देखा नहीं। ऋक्तन्त्र को भी छन्दोगों (सामवेदियों) का व्याकरण कहा जाता है। अतः अधिक सम्भावना यही है कि यह हस्तलेख ऋक्तन्त्र का होगा। विशेष ज्ञान हस्तलेख के देखने पर ही हो सकता है।

इस प्रकार इस अध्याय में प्रातिशाख्य आदि वैदिक व्याकरणों के प्रवक्ता और उन के व्याख्याताओं का वर्णन करके अगले अध्याय में व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थों के लेखकों का वर्णन किया जाएगा।

---

१. पं० म० रामचन्द्र दीक्षित ने सामवेद से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं और कर रहे हैं। इनका पता है—एम० रामनाथ दीक्षित, ३८ एम० एम० के० स्ट्रीट, मद्रास-४।

उन्तीसवां अध्याय

व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकार

यद्यपि व्याकरणशास्त्र का मूल प्रयोजन भाषा में प्रयुज्यमान शब्दों के साधुत्व असाधुत्व की विवेचना करना, और भाषा को अपभ्रंश से बचानामात्र है, तथापि जब भाषा में प्रयुज्यमान पदों के प्रयोग-कारणों का चिन्तन, पदार्थ और तत्सामर्थ्य का चिन्तन किया जाता है, तब व्याकरणशास्त्र दर्शनशास्त्र का रूप ग्रहण कर लेता है। इस दृष्टि से व्याकरणशास्त्र के दो विभाग हो जाते हैं। एक—शब्दसाधुत्वविषयक, और दूसरा—पद-पदार्थ-तत्सामर्थ्यचिन्तन-विषयक।

इस ग्रन्थ के पूर्व २८ अध्यायों में व्याकरणशास्त्र के प्रथम विभाग के ग्रन्थों वा ग्रन्थकारों का इतिहास लिखा है। अब इस अध्याय में हम व्याकरणशास्त्र के द्वितीय विभाग अर्थात् दार्शनिक ग्रन्थों वा ग्रन्थकारों का वर्णन करते हैं।

व्याकरणशास्त्र के प्रथम विभाग का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। परन्तु द्वितीय विभाग के इतिहास का आरम्भ अर्थात् व्याकरण-शास्त्रसंबद्ध-विषयों पर दार्शनिक ग्रन्थों का प्रवचन कब से आरम्भ हुआ, यह अज्ञात है। हां, पाणिनि के एक सूत्र **अवङ् स्फोटायनस्य** (६।१।१२३) से तथा यास्क के शब्दनित्यत्वानित्यत्व-विचार (निरुक्त १।१) से यह अवश्य ध्वनित होता है कि व्याकरणशास्त्र का दार्शनिकरूप से चिन्तन भी पाणिनि और यास्क से बहुत पूर्व आरम्भ हो गया था।

स्फोट का निर्देश भागवत पुराण १०।८५।६ में इस प्रकार मिलता है—

'दिशां त्वमवकाशोऽपि दिशः खं स्फोट आश्रयः।
नादो वर्णस्त्वमोङ्कार आकृतीयं पृथक् कृतिः॥'

व्याकरणशास्त्र के उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थों में प्रायः निम्न विषयों पर विचार किया गया है—

१—भाषा की उत्पत्ति
२—शब्द की अभिव्यक्ति
३—शब्द के दो रूप—स्फोट और ध्वनि
४—अपभ्रंश के कारण
५—पद-मीमांसा
६—वाक्य-मीमांसा
७—धात्वर्थ
८—लकारार्थ
९—प्रातिपदिकार्थ
१०—सुबर्थ
११—समास-शक्ति
१२—शब्द-शक्ति
१३—निपातार्थ
१४—स्फोट
१५—क्रिया
१६—काल
१७—लिङ्ग
१८—संख्या
१९—उपग्रह

सम्प्रति व्याकरणशास्त्र-सम्बन्धी जो दार्शनिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें अधिक संख्या स्फोट-विषय ग्रन्थों की ही है।

१—स्फोटायन (३१०० वि० पू०)

स्फोटायन आचार्य का उल्लेख पाणिनि ने **अवङ् स्फोटायनस्य** (६।१।१२३) सूत्र में साक्षात् रूप से किया है।

पदमञ्जरीकार हरदत्त ने काशिका ६।१।१२३ की टीका में स्फोटायन शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

'स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। ये त्वौकारं पठन्ति ते नडादिषु अश्वादिषु वा (स्फोटशब्दस्य) पाठं मन्यन्ते।'

इस व्याख्या के अनुसार प्रथम पक्ष में स्फोटायन आचार्य वैयाकरणों के स्फोट तत्त्व का प्रथम उपज्ञाता प्रतीत होता है। इस पक्ष में इस आचार्य का वास्तविक नाम अज्ञात है। द्वितीय पक्ष में (सूत्र में 'स्फौटायनस्य' पाठ मानने पर) इसके पूर्वज का नाम स्फोट था। यह नाम भी स्फोट-तत्त्व-उपज्ञाता होने से प्रसिद्ध हुआ होगा।

इस आचार्य के काल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ १८९-१९१ (च० सं०) पर निर्देश कर चुके हैं। वहां हमने पाणिनीय तन्त्र (६।१।१२३) में स्फोटायन का उल्लेख होने से २९५० वि० पूर्व काल सामान्यरूप से लिखा है। यदि उसी प्रकरण में दर्शायी गयी स्फोटायन और औदुम्बरायण की एकता की सम्भावना

प्रमाणान्तर से पुष्ट हो जाये, तो स्फोटायन का काल ३१०० वि० पूर्व होना चाहिये।

विशेष निर्देश—भरद्वाज मुनि कृत विमान शास्त्र की बौधायन वृत्ति में स्फोटायन का नाम मिलता है। उसका पाठ है—

'तत्र तावच्छौनकसूत्रम् .... चित्रिण्येवेति स्फोटायनः'।[1]

इस पर बौधायन वृत्ति में लिखा है—

'तदुक्तं शक्तिसर्वस्वे—वैमानिकगतिवैचित्र्यादि द्वात्रिंशतिक्रियायोग एकैव चित्रिणी शक्त्यलमिति शास्त्रे निर्णीतं भवतीत्यनुभवतः शास्त्राच्च मन्यते स्फोटायनाचार्यः'।[2]

इस उद्धरण से विदित होता है कि स्फोटायन आचार्य पाणिनि से पूर्ववर्ती शौनक आदि से भी पूर्वकालीन है। तदनुसार स्फोटायन का काल लगभग ३२०० वि० पूर्व अवश्य होना चाहिये।

इससे अधिक इस आचार्य के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

२—औदुम्बरायण (३१०० वि० पूर्व)

स्फोटसिद्धि के लेखक भरतमिश्र ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—

'भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टाखण्डभावमपि व्यञ्जनारोपितनान्तरीयकभेदक्रमविच्छेदादिनिविष्टैः परैः एकाकारनिर्भासम् अन्यथा सिद्धिकृत्य अर्थधीहेतुतां चान्यत्र संचार्य भगवदौदुम्बरादीनपि भगवदुपवर्षादिभिर्निमायापलपितम् .....।' पृष्ठ १।

इस वचन से प्रतीत होता है कि भगवान् औदुम्बरायण ने शब्द के अखण्डभाव का अर्थात् स्फोटात्मकता का उपदेश किया था।

हम पूर्व (भाग १, पृष्ठ १६०, च० सं०) लिख चुके हैं कि वाक्यपदीय २।३४३ के अनुसार औदुम्बरायण आचार्य शब्दनित्यत्ववादी था।

परिचय—औदुम्बरायण शब्द में श्रुत तद्धित प्रत्यय से विदित

---

१ द्र०—'शिल्पसंसार' पत्रिका १९ फरवरी सन् १९५५ का अंक पृष्ठ १२२, तथा स्वामी ब्रह्ममुनि प्रकाशित वृहद् विमानशास्त्र, पृष्ठ ७४।

२. द्र०—वृहद् विमानशास्त्र, पृष्ठ ७४।

होता है कि औदुम्बरायण आचार्य के पिता का नाम **उदुम्बर** था। उदुम्बर शब्द पाणिनि के नडादिगण (४।१।९९) में पठित है। उससे फक् (=आयन) प्रत्यय होकर औदुम्बरायण पद निष्पन्न होता है।

काल—औदुम्बरायण आचार्य का उल्लेख निरुक्तकार यास्क ने निरुक्त १।१ में किया है। यास्क का काल विक्रम से ३१०० वर्ष पूर्व अर्थात् भारत युद्ध के लगभग सर्वथा निश्चित है। इसलिए औदुम्बरायण का काल ३१०० वर्ष विक्रम पूर्व अथवा उससे कुछ पूर्व रहा होगा।

निरुक्तकार का निर्देश—यास्क ने निरुक्त १।१ में लिखा है—

'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः।'

अर्थात्—वचन (शब्द) इन्द्रिय में नियत है। इन्द्रिय से अतिरिक्त शब्द की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं, अर्थात् शब्द अनित्य है, ऐसा औदुम्बरायण आचार्य का मत है।

भरतमिश्र के पूर्व-निर्दिष्ट वचन से विदित होता है कि औदुम्बरायण आचार्य शब्द के स्फोट स्वरूप का अर्थात् नित्यत्व का प्रतिपादक था। परन्तु यास्क के वचनानुसार यह शब्द के अनित्यत्व पक्ष का निर्देशक विदित होता है।

दोनों पक्षों में भूतल-आकाश का अन्तर है। फिर भी इसका एक समाधान यह हो सकता है कि स्फोटवादी ध्वनि रूप को भी स्वीकार करते हैं। ध्वनि रूप में शब्द इन्द्रियनियत ही होता है। सम्भव है ध्वनि पक्ष में जो दोष आते हैं, उनका संग्रह औदुम्बरायण का निर्देश करके यास्क ने उल्लेख किया हो। यदि यह समाधान स्वीकार न किया जाये, तब भी इतना तो स्पष्ट है कि औदुम्बरायण आचार्य ने शब्द के नित्यत्व-अनित्यत्व पक्षों पर विचार अवश्य किया था।

इस से अधिक हम इस आचार्य के ग्रन्थ तथा काल आदि के विषय में कुछ नहीं जानते।

३—व्याडि (२९५० वि० पूर्व)

आचार्य व्याडि, जो प्राचीन वाङ्मय में दाक्षायण के नाम से

प्रसिद्ध है, ने संग्रह नामक एक व्याकरण सम्बन्धी दार्शनिक ग्रन्थ का प्रवचन किया था। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने—

'शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः' (२।३।६६)

शब्दों द्वारा इस संग्रह ग्रन्थ की प्रशंसा की है।

संग्रह ग्रन्थ अप्राप्य है। इसमें किस प्रकार के विषयों का प्रतिपादन था, इसका परिज्ञान, महाभाष्य के निम्न उद्धरण से होता है—

'संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्योऽथापि कार्यः, उभयथाऽपि लक्षणं प्रवर्त्यम्।' १।१।१॥

अर्थात्—संग्रह में 'शब्द नित्य है अथवा अनित्य' इस विषय पर विचार किया गया था।

इसी प्रकार संग्रह के जो उद्धरण विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं, उनसे भी स्पष्ट होता है कि संग्रह वाक्यपदीय के समान व्याकरण का दार्शनिक ग्रन्थ था।

भर्तृहरि ने महाभाष्य की टीका में लिखा है—

चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रन्थे (परीक्षितानि)'।

हमारा हस्तलेख, पृष्ठ २३।

अर्थात्—संग्रह ग्रन्थ में १४ सहस्र विषयों की परीक्षा थी।

नागेश के मतानुसार संग्रह ग्रन्थ का परिमाण एकलक्ष श्लोक था—

संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः।' उद्योत नवा०, निर्णयसागर सं०, पृष्ठ ५५।

व्याडि के परिचय तथा देश काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ २६८-३५१ (च० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं।

संग्रह-वचन—प्रथम भाग पृष्ठ ३०८–३११ (च० सं०) तक संग्रह के २१ वचन संगृहीत कर चुके हैं। उन्हें वहीं देखें। प्रयत्न करने पर संग्रह के और भी अनेक वचन संग्रहीत किये जा सकते हैं।

४—पतञ्जलि (२००० वि० पूर्व)

पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी तथा उस पर लिखे गए कात्यायनीय

वार्तिकों का आश्रय करके **महाभाष्य** नामा एक अनुपम ग्रन्थ लिखा है। यद्यपि ग्रन्थ को आपाततः देखने पर यह पाणिनीय अष्टाध्यायी की व्याख्यामात्र विदित होता है, परन्तु इस ग्रन्थ का इतना ही स्वरूप नहीं है। यह न केवल पाणिनीय शब्दानुशासन का, अपितु प्राचीन व्याकरण-सम्प्रदायमात्र का एक आकर ग्रन्थ है। व्याकरण-दर्शन के समस्त न्याय इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में यत्र-तत्र विद्यमान हैं।

शब्दशास्त्र का अद्वितीय विद्वान् भर्तृहरि लिखता है

'कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥'

वाक्य० काण्ड २, श्लोक ४८५॥

इसकी व्याख्या में पुण्यराज लिखता है—

'तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनम्, यावत् सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमित्यत एव सर्वन्यायबीजहेतुत्वादेव महच्छब्देन विशेष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके।'

अर्थात्—भाष्य केवल व्याकरण का ग्रन्थ नहीं है, उसमें सभी न्यायबीजों का निबन्धन है। इसीलिये उसे महत् शब्द से विशेषित करके 'महाभाष्य' कहते हैं।

भर्तृहरि पुनः लिखता है—

'आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके।'

वाक्य० काण्ड २, श्लोक ४८८॥

इस वचन में भर्तृहरि ने महाभाष्य के लिये **संग्रहप्रतिकञ्चुक'** शब्द का व्यवहार किया है। इससे स्पष्ट है कि पातञ्जल महाभाष्य 'संग्रह' के समान शब्दशास्त्र का दार्शनिक ग्रन्थ है। भर्तृहरि-विरचित वाक्यपदीय ग्रन्थ का यही एक मात्र आधार ग्रन्थ है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि के देश-काल आदि के विषय में हम इस ग्रन्थ के १०वें अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं। प्रथम संस्करण में पृष्ठ २४८ पर हमने महाभाष्यकार पतञ्जलि का काल १२०० वि० पूर्व लिखा था। परन्तु अब अनेक ठोस प्रमाणों से यह निश्चित हो गया है कि पतञ्जलि का काल विक्रम से न्यूनातिन्यून २००० दो सहस्र वर्ष पूर्व अवश्य है। इस कालगणना पर, तथा पुष्यमित्र की

समकालिकता-निदर्शक वचनों पर हमने विशेष विचार इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण में प्रस्तुत किया था। इस संस्करण में भी यही मत प्रामाणिक रूप में दर्शाया है।

५—भर्तृहरि (४०० वि० पूर्व)

भर्तृहरि ने महाभाष्य का सूक्ष्म दृष्टि से आलोडन करके, और अपने गुरु **वसुरात** द्वारा उपदिष्ट व्याकरणागम के आधार[1] पर **'वाक्यपदीय'** नामा व्याकरणशास्त्र-सम्बद्ध एक अति महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त है। वे क्रमशः **आगम**, **वाक्य** और **पद** अथवा **प्रकीर्ण** नाम से प्रसिद्ध हैं।

वाक्यपदीय नाम—कई प्राचीन ग्रन्थकार वाक्यपदीय नाम से तीनों काण्डों का निर्देश मानते हैं। वाक्यपदीय संज्ञा से भी इसी अभिप्राय की पुष्टि होती है।[2] वाक्य और पद को अधिकृत करके जो ग्रन्थ लिखा जाए, वह 'वाक्यपदीय' कहाता है। प्रथम ब्रह्मकाण्ड में अखण्ड वाक्यस्वरूप स्फोट का विचार है। द्वितीय काण्ड में दार्शनिक दृष्टि से वाक्यविषयक विचार किया गया है, और तृतीय काण्ड पदविषयक है।

अनेक ग्रन्थकार वाक्यपदीय शब्द से केवल प्रथम द्वितीय काण्डों का निर्देश करते हैं। यथा—

१—प्रकीर्ण काण्ड ३।१५४ की व्याख्या में हेलाराज लिखता है—**'इति निर्णीतं वाक्यपदीये'**।[3]

२—वही पुनः प्रथम काण्ड के विषय में लिखता है—

'विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतम् तत एवावधार्यम् इति'।[3]

३—गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान अपने ग्रन्थ के आरम्भ में लिखता है—

'भर्तृहरिवाक्यपदीयप्रकीर्णयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।'

---

१. द्र०-वाक्यपदीय काण्ड २, श्लोक ४८९, ४९० की पुण्यराज की टीका।

२. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के सम्पादक पं० चारुदेव जी का यह मत है। द्र०—भूमिका, पृष्ठ ७-८।

३. श्री पं० चारुदेव सम्पादित ब्रह्मकाण्ड की भूमिका, पृष्ठ ८।

४—कई एक हस्तलेखों में द्वितीय काण्ड के अन्त में इस प्रकार लेख मिलता है—

'इति भगवद्भर्तृहरिकृते वाक्यपदीये द्वितीयं काण्डम्। समाप्ता वाक्यपदीयकारिका'।[1]

यही कारण है कि तृतीय काण्ड स्वतन्त्र **प्रकीर्ण** नाम से व्यवहृत होता है। हेलाराजीय तृतीय काण्ड की व्याख्या का **प्रकीर्ण-प्रकाश** नाम भी इसी मत का पोषक है।

स्वमत—हमारा मत इन दोनों से पृथक् है। हमारा विचार है कि 'वाक्यपदीय' नाम केवल द्वितीय काण्ड का है। इस काण्ड में आरम्भ में वाक्य विचार है, और उसके अनन्तर पद विचार किया गया है। इस प्रकार तीनों काण्डों के तीन नाम हैं- आगम काण्ड, वाक्यपदीय काण्ड, प्रकीर्ण काण्ड। इसी मत की पुष्टि हेलाराज के निम्न श्लोक से होती है -

त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता।'

अर्थात् त्रैलोक्यगामिनी (गंगा के समान) जिसने तीन काण्डों-वाली त्रिपदी बनायी।

इस वचन में हेलाराज ने **त्रिकाण्डी वाक्यपदीया** नहीं लिखा। अपितु उसने **त्रिपदी** विशेषण दिया है। इसका अर्थ है तीन पदोंवाली—तीन पदों से व्यवहार की जाने वाली त्रिकाण्डी। वे तीन पद कौन से हैं? इस विचार के उपस्थित होने पर देखा जाए, तो विदित होगा कि आद्यन्त दो काण्ड ब्रह्म और प्रकीर्ण पदों से प्रसिद्ध हैं। मध्य काण्ड की कोई साक्षात् संज्ञा प्रसिद्ध नहीं है। वह संज्ञा 'वाक्यपदीय' रूप ही है। इसी दृष्टि से त्रिपदी विशेषण सार्थक हो सकता है; अन्यथा कथमपि सम्बद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से देहलीदीप-न्याय से मध्य-पठित वाक्यपदीय नामक काण्ड से आद्यन्त काण्डों का भी व्यवहार लोक में होता है। हम इस प्रकरण में तीनों काण्डों के लिए सामान्य रूप से लोक-प्रसिद्ध वाक्यपदीय शब्द का ही व्यवहार करेंगे।

पं० चारुदेव जी की भूल—ब्रह्मकाण्ड के सम्पादक पं० चारुदेव जी ने हेलाराज के उपरिनिर्दिष्ट **त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी**

---

१. द्र०—श्री पं० चारुदेव सम्पादित ब्रह्मकाण्ड की भूमिका, पृष्ठ ८।

त्रिपदा कृता वचन से तीनों काण्डों का सामान्य, नाम 'वाक्यपदीय' स्वीकार किया है, यह चिन्त्य है। इससे तीन काण्डात्मक ग्रन्थैकत्व का तो बोध होता है, परन्तु तीनों काण्ड वाक्यपदीय पदवाच्य हैं, यह कथमपि संकेतित नहीं होता। अपितु इसके विपरीत त्रिपदी विशेषण तीनों काण्डों की विभिन्न संज्ञाओं का संकेत करता है।

वाक्यप्रदीप – वाक्यपदीय का एक नाम **वाक्यप्रदीप भी था**। यह बूहलर ने मनुस्मृति के मेधातिथि भाष्य की भूमिका में लिखा है।[1]

इसी विषय में आत्मकूर (आन्ध्र) निवासी पण्डित प्रवर पद्मनाभ राव जी ने अपने २ अप्रेल सन् १९७८ के पत्र[2] में लिखा है –

खीस्ताब्द की १६ वीं शती के 'पुणतांबा' (गोदावरी तीरवर्ती) नगर के पं० नारोपन्त (नारायण पण्डित) ने तत्त्वोद्योत की टिप्पणी में लिखा है—

भर्तृहरिरप्यमुमेवार्थं वाक्यप्रदीपे प्रादर्शयत्—'साकाङ्क्षावयवं भेदे·······वाक्यविदो विदुः'[3] इति।

वाक्यपदीय का कर्ता—वाक्यपदीय ग्रन्थ का रचयिता आचार्य भर्तृहरि है, इसमें किसी को भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। इतना होते हुए भी कतिपय कारिकाएं भर्तृहरि विरचित नहीं हैं। भर्तृहरि ने प्रकरणानुरोध से प्राचीन आचार्यों की भी कतिपय कारिकाएं कहीं कहीं संगृहीत कर दी हैं[4]।

वाक्यपदीय में ग्रन्थपात—वाक्यपदीय का जो पाठ सम्प्रति उपलब्ध होता है, उसमें कुछ ग्रन्थ नष्ट हो गया है। इसकी पुष्टि निम्न प्रमाणों से होती है—

१ – भर्तृहरि वाक्य० २।७६ कारिका की स्वोपज्ञ व्याख्या में लिखता है –

---

१. वाक्यपदीय Which sometimes is called वाक्यप्रदीप। द्र०—Sacred Book of the East vol 25 page 123, foot note 1.

२. पत्र संस्कृत में है। यहां उसका भाषानुवाद दिया है।

३. द्र० वाक्यपदीय २।१४ किञ्चित् पाठ भेद से।

४. द्र०—ब्रह्मकाण्ड, चारुदेवीय भूमिका, पृष्ठ ९, १०।

'तत्र द्वादश षट् चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानीति लक्षणसमुद्देशे सापदेशं सविरोधं विस्तरेण व्याख्यास्यते ।'

अर्थात् १२, ६, २४ लक्षणों को लक्षणसमुद्देश में विस्तार से व्याख्या की जाएगी।

सम्प्रति उपलब्ध त्रिकाण्डी में **लक्षणसमुद्देश** उपलब्ध ही नहीं होता। यह समुद्देश पुण्यराज के काल में ही नष्ट हो गया था। वह इसी प्रसंग में (२।७७-८३) की व्याख्या में लिखता है—

'एतेषां वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनस्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे निर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्। आगमभ्रंशाल्लेखकप्रमादादिना वा लक्षणसमुद्देशश्च पदकाण्डमध्ये न प्रसिद्धः।' पृष्ठ ४६, लाहौर संस्करण।

अर्थात् इन लक्षणों का सोपपत्ति सोदाहरण स्वरूप लक्षणसमुद्देश में निर्दशित किया है, ऐसा ग्रन्थकार ने अपनी वृत्ति में लिखा है। परन्तु आगम के भ्रंश होने, अथवा लेखकप्रमादादि के कारण लक्षणसमुद्देश तृतीय काण्ड में नहीं मिलता।

२—उक्त प्रकरण में (पृष्ठ ५०, लाहौर सं०) ही पुण्यराज लिखता है—

'सेयमपरिमाणविकल्पा बाधा विस्तरेण बाधासमुद्देशे समर्थयिष्यते'।

अर्थात्—इस अपरिमाण (=बहुत प्रकार की) विकल्पोंवाली का विस्तार से 'बाधासमुद्देश' में वर्णन किया जाएगा।

पुण्यराज के इस वचन से स्पष्ट है कि उसके काल में वाक्यपदीय में कोई **बाधा-समुद्देश** विद्यमान था, परन्तु यह सम्प्रति अनुपलब्ध है।

३—अनेक ग्रन्थकारों ने भर्तृहरि अथवा हरि के नाम से अनेक कारिकाएं उद्धृत की हैं। वे वर्तमान वाक्यपदीय ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होतीं। यथा—

भट्टोजिदीक्षित शब्दकौस्तुभ पृष्ठ ५२७ में प्रकीर्ण काण्ड के नाम से भर्तृहरि की— **अपाये यदुदासीनम्**⋯⋯तथा **पततो ध्रुव एवाश्वः**⋯⋯कारिकाएं उद्धृत करता है। परन्तु सम्प्रति वाक्यपदीय में ये कारिकाएं उपलब्ध नहीं होतीं।

भर्तृहरि का देशकाल आदि—भर्तृहरि के देशकाल आदि के विषय में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३८५–३९५ (च० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं। अतः इस विषय में पाठक वहीं देखें।

वाक्यपदीय के विभिन्न संस्करण—जब यह ग्रन्थ लिखा गया था, तब तक सम्पूर्ण वाक्यपदीय का संस्करण चौखम्बा संस्कृत सीरीज काशी से ही छपा था। यह संस्करण पाठ की दृष्टि से अत्यन्त भ्रष्ट होने पर भी प्रथम होने के कारण महत्त्व रखता है। ब्रह्मकाण्ड का भर्तृहरि की स्वोपज्ञ-वृत्ति एवं वृषभदेव की व्याख्या के उपयोगी अंश सहित पं० चारुदेव जी शास्त्री द्वारा सम्पादित संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर से छपा था। द्वितीय काण्ड का भी स्वोपज्ञ-वृत्ति एवं पुण्यराजीय टीका युक्त पं० चारुदेव सम्पादित आधा भाग उक्त ट्रस्ट से प्रकाशित हुआ था।

उत्तरवर्ती संस्करण—इसके पश्चात् वाक्यपदीय के अन्य संस्करण भी प्रकाशित हुए। जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

सुब्रह्मण्य अय्यर-संस्करण—श्री डा० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर ने वाक्यपदीय पर चिरकाल परिश्रम करके सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन किया है। ब्रह्मकाण्ड पर इन्होंने वृषभदेव की पूर्ण टीका उपलब्ध कर ली। ब्रह्मकाण्ड और प्रकीर्णकाण्ड छप चुके हैं। अब द्वितीय काण्ड छप गया है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का श्रेय डेक्कन कालेज पूना को प्राप्त हुआ है। अय्यर जी ने ब्रह्मकाण्ड का अङ्ग्रेजी अनुवाद वा व्याख्या भी प्रकाशित की है।

रघुनाथीय संस्करण—काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री रघुनाथ जी ने ब्रह्मकाण्ड का स्वोपज्ञ विवरण एवं स्वटीका सहित सम्पादन किया है। इसी प्रकार द्वितीय काण्ड की उपलब्ध स्वोपज्ञ व्याख्या एवं पुण्यराज की टीका के साथ स्वटीकायुक्त संस्करण का सम्पादन किया है। ये दोनों काण्ड वाराणसेय (संप्रति-सम्पूर्णानन्द) संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन से प्रकाशित हुए हैं।

काशीनाथीय संस्करण—पूना के म० म० पं० काशीनाथ अभ्यङ्कर ने वाक्यपदीय के कारिका-भाग का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया है। यह पूना विश्वविद्यालय से छपा है।

भाषातत्त्व और वाक्यपदीय—वाक्यपदीय प्राचीन भाषाविज्ञान का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें शब्द अर्थ और दोनों के सम्बन्ध का निरूपण दार्शनिक ढंग से किया गया है। यदि यह कहा जाए कि वैयाकरणों के दार्शनिक तत्त्वों का विशद विवेचन करने वाला सम्प्रति एकमात्र यही ग्रन्थ है, तो अत्युक्ति न होगी।

डा० सत्यकाम वर्मा ने वाक्यपदीय में विप्रकीर्ण भाषातत्त्व के अनेक पहलुओं पर आधुनिक भाषा विज्ञान के प्रकाश में स्वीय **भाषा-तत्त्व** और **वाक्यपदीय** नामक ग्रन्थों में सुन्दर विवेचन किया है परन्तु इसके साथ ही हमें यह लिखते हुए दुःख भी होता है कि डा० वर्मा ने वर्तमान भाषा विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में वाक्यपदीय की भारतीय आत्मा का बड़ी बेरहमी से हनन भी किया है। यह वाक्यपदीयकार के साथ महान् अन्याय है।

वाक्यपदीय के व्याख्याता

१. भर्तृहरि

भर्तृहरि ने स्वयं अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ की विस्तृत स्वोपज्ञ व्याख्या लिखी है।

स्वोपज्ञ व्याख्या का परिमाण—भर्तृहरि की स्वोपज्ञ व्याख्या वाक्यपदीय के कितने भाग पर थी, यह कहना कठिन है तथापि हेलाराज के—

'काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थसतत्त्वतः।'

वचन से इतना व्यक्त है कि हेलाराज के समय दो काण्डों पर स्वोपज्ञवृत्ति उपलब्ध थी। सम्प्रति प्रथम काण्ड की यह वृत्ति पूर्ण उपलब्ध है, और द्वितीय काण्ड की मध्य-मध्य में त्रुटित है।

क्या तृतीय काण्ड पर भी वृत्ति थी—भर्तृहरि ने वाक्यपदीय २।२४ की स्वोपज्ञ व्याख्या में लिखा है—

'कालस्यैव चोपाधिविशिष्टस्य परिमाणत्वात् कुतोऽस्यापरं परिमाणमित्येतत् कालसमुद्देशे व्याख्यास्यते।' लाहौर सं०, पृष्ठ २०।

इस पंक्ति से संदेह होता है कि हरि की स्वोपज्ञ व्याख्या तृतीय काण्ड पर भी रही होगी।

आद्य सम्पादन—इस वृत्ति का प्रथम सम्पादन पं० चारुदेव जी ने किया है। और यह रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर (वर्तमान में बहालगढ़-सोनीपत) से प्रकाशित हुई है। प्रथम काण्ड वृषभदेव की टीका सहित छपा है। इस टीका का एकमात्र अशुद्धिबहुल हस्तलेख होने से इसका पूरा प्रकाशन नहीं हुआ। द्वितीय काण्ड का मुद्रण भी प्रथम काण्ड के प्रकाशन के अनन्तर सन् १९३५ में आरम्भ हो गया था, परन्तु किन्हीं कारणों से १८४ कारिका तक छप कर रह गया। इस भाग में स्वोपज्ञ टीका के खण्डित होने के कारण पुण्यराज की टीका भी साथ में छापी गई है। १८४ कारिका तक का सन् १९३५ में छपा भाग सन् १९४१ में कथंचित् प्रकाशित किया गया।

१८४ कारिका से आगे के भाग के प्रकाशन के लिये मैंने सन् १९४६ में लाहौर पुनः जाने पर श्री पं० चारुदेव जी से अनेक बार निवेदन किया। दो तीन बार यह अनुरोध भी किया कि यदि आप न कर सकें, तो हस्तलेख ही मुझे लाकर दे देवें। मैं कथंचित् सम्पादन करके ग्रन्थ को पूर्ण कर दूंगा। परन्तु कुछ अस्वस्थतावश और आलस्यवश आपने मुझे ग्रन्थ भी लाकर नहीं दिया। इसका फल यह हुआ कि यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया। द्वितीय काण्ड का स्वोपज्ञ वृत्ति का एकमात्र हस्तलेख पञ्जाब विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में था, जो पाकिस्तान में रह गया। अब इस ग्रन्थ का पूरा होना अशक्य है।

अन्य संस्करणों का हम पूर्व निर्देश कर चुके हैं।

स्वोपज्ञ व्याख्या के नाम—भर्तृहरि स्वोपज्ञ व्याख्या का निर्देश टीकाकारों ने अनेक नामों से किया है। यथा—

वृत्ति—ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्।[1]

विवरण—कारिकोपन्यासफलं स्वयमेव विवरणे दर्शयिष्यति।[2]

टीका—.........पदवादिपक्षदूषणपरः परं टीकाकारो व्यवस्थापयतीत्यस्य काण्डस्य संक्षेपः।[3]

---

१. पुण्यराजीय टीका, लाहौर संस्करण, पृष्ठ ४६।

२. वृषभदेव टीका, काण्ड १, लाहौर संस्करण, पृष्ठ १३३।

३. पुण्यराजीय टीका, लाहौर संस्करण, पृष्ठ ७।

.........**तथा च टीकाकारः प्रदर्शयिष्यति ।**[1]

भाष्य –तत्र श्लोकोपात्तं दृष्टान्त विभज्य दार्ष्टान्तिकं भाष्यं विभजन्ति वर्णपदेति ।[2]

वाक्यपदीय नाम से निर्देश—अनेक ग्रन्थकारों ने वाक्यपदीय की स्वोपज्ञ की व्याख्या को 'वाक्यपदीय' नाम से भी उद्धृत किया है यथा—

'उक्तं च वाक्यपदीये—नहि गौः स्वरूपेण गौः, नाप्यगौर्गोत्वादि-सम्बन्धात्तु गौः ।'

यह स्वोपज्ञ-व्याख्या का पाठ है। काव्य-प्रकाशकार ने उल्लास २ में इसे वाक्यपदीय के नाम से उद्धृत किया है।

दो पाठ—हरि की स्वोपज्ञ वृत्ति का जो पाठ पं० चारुदेव जी ने सम्पादित किया है, उसके अतिरिक्त एक पाठ काशी संस्करण में मुद्रित हुआ है। दोनों में पाठ की समानता और प्रथम की अपेक्षा काशीपाठ में लाघव होने से व्यवहार के लिए इसका नाम लघ्वी वृत्ति रखा गया है।

लघ्वी वृत्ति के रचयिता—इस लघ्वी वृत्ति का रचयिता निश्चय ही हरि से भिन्न व्यक्ति है। पं० चारुदेव जी ने ब्रह्मकाण्ड की भूमिका में पृष्ठ १८-२६ तक अनेक प्रमाण देकर इस तत्त्व का प्रतिपादन किया है।

वृत्ति के व्याख्याकार

भर्तृहरि की ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञवृत्ति की अनेक वैयाकरणों ने व्याख्याएं लिखी थीं। स्वोपज्ञवृत्ति का व्याख्याता वृषभदेव टीका के आरम्भ में लिखता है—

'यद्यपि टीका बह्व्यः पूर्वाचार्यैः सुनिर्मला रचिताः' ।[3]

पुनः कारिका १।१० की वृत्ति की व्याख्या में वृषभदेव लिखता है—

---

१. पुण्य० टीका ला० सं० पृष्ठ १०। २. वृष० टीका, ला० सं० पृष्ठ ८४। ३. ब्रह्मकाण्ड, लाहौर संस्करण, भूमिका पृष्ठ १२।

'ज्ञानं च संस्कारश्चेति । वृत्तिव्याख्याता षष्ठीसमासमाह ।'[1]

इन पूर्वाचार्य कृत व्याख्याओं में से न तो किसी का ग्रन्थ ही उपलब्ध है, और न ही किसी का नाम ज्ञात है ।

१. वृषभदेव

वृषभदेव ने अपनी टीका के आरम्भ में निम्न श्लोक लिखे हैं—

विमलचरितस्य राज्ञो विदुषः श्रीविष्णुगुप्तदेवस्य ।

भृत्येन तदनुभावाच्छ्रीदेवयशस्तनूजेन ।

बन्धेन विनोदार्थं श्री वृषभेण स्फुटाक्षरं नाम ।।[2]

इससे केवल इतना ज्ञात होता है कि वृषभदेव विमलचरित वाले विष्णुगुप्त राजा के आश्रित श्रीदेवयश का पुत्र था ।

विष्णुगुप्त के काल का निश्चय न होने से वृषभदेव का काल भी अज्ञात है ।

२. धर्मपाल (८ वीं शती वि० का प्रथम चरण)

चीनी यात्री इत्सिंग के लेख से विदित होता है कि भर्तृहरि के प्रकीर्ण नामक तृतीय काण्ड पर धर्मपाल ने व्याख्या लिखी थी ।

इत्सिंग ने अपना यात्रा-वर्णन सं० ७४६ वि० में लिखा है । इस प्रकार वाक्यपदीय के व्याख्याता धर्मपाल का काल विक्रम की आठवीं शती का प्रथम चरण, अथवा उससे पूर्व रहा होगा ।

इससे अधिक इसके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है ।

३. पुण्यराज (११ वीं शती वि०)

वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज ने एक अनतिविस्तीर्ण परन्तु स्फुटार्थक व्याख्या लिखी है ।

परिचय—पुण्यराज के द्वितीय काण्ड की व्याख्या के अन्त में अपना जो अति संक्षिप्त परिचय दिया है, उससे ज्ञात होता है कि पुण्यराज का दूसरा नाम **राजानक शूरवर्मा** था । यह काश्मीर का निवासी था । इसने किसी शशाङ्क के शिष्य से वाक्यपदीय का श्रवण (=अध्ययन) करके इस काण्ड पर वृत्ति लिखी है ।

---

१. ब्रह्मकाण्ड, ला० सं० भू० पृ० २२ । २. वही, भूमिका, पृष्ठ १२ ।

शशाङ्क—पुण्यराज स्मृत आचार्य शशाङ्क का पूर्णनाम भट्ट-शशाङ्कधर है। **पदेषु पदैकदेशान्** न्याय के अनुसार पुण्यराज ने पूर्वार्ध **शशाङ्क** पद का ही प्रयोग किया है।

भट्ट शशाङ्कधर का एक वचन क्षीरस्वामी ने भी इस प्रकार उद्धृत् किया है—

भट्टशशाङ्कधरस्त्वत्रैवं गुरुमुष्टि समाविक्षत्, यथाह—द्विरूपो धात्वर्थः, भावः क्रिया च।'[1]

शशाङ्क-शिष्य—भट्टशाङ्ककधर के अनेक शिष्य रहे होंगे। उनमें से किस शिष्य से पुण्यराज ने वाक्यपदीय का अध्ययन किया, यह विशेष निर्देशाभाव में कहना कठिन है। वाक्यपदीय के सम्पादक पं० चारुदेव शास्त्री ने ब्रह्मकाण्ड के उपोद्घात पृष्ठ १३ पर वामनीय अलङ्कारशास्त्र पर टीका लिखने वाले शशाङ्कधर के शिष्य सहृदेव को पुण्यराज का गुरु स्वीकार किया है। यह कल्पना उपपन्न हो सकती है।

इस प्रकार पुण्यराज का काल विक्रम की ११ वीं शती, अथवा उससे कुछ पूर्व मानना चाहिये।

४. हेलाराज (११ वीं शती वि०)

हेलाराज ने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर व्याख्या लिखी थी। परन्तु सम्प्रति केवल तृतीय काण्ड पर ही उपलब्ध होती है।

परिचय—हेलाराज ने तृतीय काण्ड के अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

'मुक्तापीड इति प्रसिद्धिमागमत् कश्मीरदेशे नृपः
श्रीमान् ख्यातयशा बभूव नृपतेस्तस्य प्रभावानुगः।
मन्त्री लक्ष्मण इत्युदारचरितस्तस्यान्ववाये भवो,
हेलाराज इमं प्रकाशमकरोच्छ्रीभूतिराजात्मजः॥'

इस उल्लेख से विदित होता है कि काश्मीर के महाराज मुक्ता-पीड के मन्त्री लक्ष्मण के कुल में हेलाराज का जन्म हुआ था। और हेलाराज के पिता का नाम श्री भूतिराज था।

---

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर द्वारा प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ७।

काल—लक्ष्मण और भूतिराज में कितनी पीढ़ी का अन्तर है, यह अज्ञात है। इस कारण हेलाराज का निश्चित काल जानना कठिन है। अभिनव गुप्त ने स्वीय गीताभाष्य में भूतिराज के पुत्र भट्ट इन्दुराज को अपना गुरु कहा है। यह भूतिराज हेलाराज के पिता भूतिराज से भिन्न था अथवा अभिन्न, यह कहना कठिन है। यदि दोनों एक हों, तो भट्ट इन्दुराज हेलाराज का भाई होगा। इस प्रकार हेलाराज का काल विक्रम की ११ वीं शती का आरम्भ माना जा सकता है।

कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी में काश्मीर के राजाओं की चरितावली लिखने वाले हेलाराज द्विजन्मा को स्मरण किया है। यह हेलाराज वाक्यपदीय के व्याख्याता हेलाराज से भिन्न है अथवा अभिन्न, इस विषय में भी कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। अधिक सम्भावना यही है कि दोनों एक ही व्यक्ति हों।

हेलाराजीय व्याख्या—हेलाराज ने तृतीय काण्ड के आरम्भ में लिखा है—

'काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थसतत्त्वतः।'

इससे विदित होता है कि हेलाराज ने वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड पर भर्तृहरि की स्वोपज्ञ वृत्ति के अनुसार कोई व्याख्या लिखी थी। इसकी प्रथम काण्ड की व्याख्या का नाम शब्दप्रभा था। वह स्वयं लिखता है—

विस्तरेणागमप्रामाण्यं वाक्यपदीयेऽस्माभिः प्रथमकाण्डे शब्दप्रभायां निर्णीतमिति तत एवावधार्यम्'।[1]

प्रथम द्वितीय काण्ड व्याख्या की अनुपलब्धि—हेलाराज कृत वाक्यपदीय के प्रथम और द्वितीय काण्ड की व्याख्या सर्वथा अप्राप्य हो चुकी है।

तृतीय काण्ड व्याख्या में ग्रन्थपात—तृतीय काण्ड की जो व्याख्या उपलब्ध होती है, उसमें भी कई स्थानों में ग्रन्थपात उपलब्ध होता है। हेलाराज की व्याख्या जिस हस्तलेख के आधार पर छपी है, उसमें दो स्थानों पर लिपिकर ने लिखा है—

---

१. श्री पं० चारुदेव जी द्वारा सम्पादित ब्रह्मकाण्ड के उपोद्घात पृष्ठ १५ पर निर्दिष्ट।

'इतो ग्रन्थपातसन्धानाय फुल्लराजकृतिलिख्यते'[1]।

'इहापि पतितग्रन्था हेलाराजकृतिः फुल्लराजकृत्या सन्धीयते'[2]।

ग्रन्थकृति—हेलाराज विरचित **वार्तिकोन्मेष** ग्रन्थ का उल्लेख प्रथम भाग पृष्ठ ३५४, ३५५ (च० सं०) पर कर चुके हैं। स्वकृत **क्रिया विवेक** का निर्देश हेलाराज ने ३।५० की व्याख्या में किया है।

५. फुल्लराज

फुल्लराज नामक किसी विद्वान् ने वाक्यपदीय पर कोई टीका लिखी थी, यह उपरि निर्दिष्ट दो उद्धरणों से स्पष्ट है। फुल्लराज ने वाक्यपदीय के तीनों काण्डों पर वृत्ति लिखी अथवा तृतीय काण्ड मात्र पर, यह अज्ञात है।

फुल्लराज के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है।

विशेष—वाक्यपदीय के व्याख्याकारों के विषय में हमने जो कुछ लिखा है, उसका प्रधान आधार चारुदेव शास्त्री लिखित ब्रह्मकाण्ड का उपोद्घात है।

६. गङ्गदास (?)

पण्डित गङ्गदास ने वाक्यपदीय पर एक टीका लिखी थी। इस टीका के ६ पत्रे भण्डारकर इन्सटीटयूट पूना में सुरक्षित हैं। इस हस्तलेख की सं० ३२४ है। द्र०—व्याकरण सूची, पृष्ठ ३५२—३५३। इसके अन्त का पाठ इस प्रकार है—

'(इति पण्डित गंगदा) सविरचिते सम्बन्धोद्देशः। षष्ठस्तद्धितोद्देशः समाप्तः।'

गङ्गदास का देश काल अज्ञात है। इसने वाक्यपदीय के केवल तृतीय काण्ड पर ही व्याख्या लिखी, अथवा अन्यों पर भी लिखी, यह अज्ञात है। ग्रन्थ के अन्तिम पाठ में (इति गङ्गदा) अक्षर कोष्ठ में लिखे हैं, इस परिवर्धन का मूल भी अन्वेषणीय है।

---

१. वाक्यपदीय काण्ड ३, पृष्ठ १६८, काशी संस्करण।

२. वही, पृष्ठ १२४।

७. मण्डन मिश्र (वि० सं० ६६५ से पूर्व)

मण्डन मिश्र ने '**स्फोट सिद्धि**' नामक एक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा है। इसमें ३६ कारिकायें हैं, उन पर उसकी अपनी व्याख्या है।

परिचय—शङ्कर-दिग्विजय आदि ग्रन्थों के अनुसार मण्डन मिश्र भट्ट कुमारिल के शिष्य थे। इनकी पत्नी का नाम भारती था। शङ्कराचार्य का इनके साथ घोर शास्त्रार्थ हुआ। उसमें भारती ने मध्यस्थता की।

अनुश्रुति—उक्त शास्त्रार्थ के विषय में लोक में एक अनुश्रुति प्रचलित है—मण्डन मिश्र के पराजित होने पर भारती ने शङ्कर से स्वयं शास्त्रार्थ किया। अनुश्रुति के अनुसार उसने शङ्कर को कामशास्त्र-सम्बन्धी प्रकरण में निरुत्तर कर दिया। शङ्कर ने कुछ अवधि लेकर किसी सद्योमृत राजा के शरीर में प्रवेश करके कामशास्त्र का ज्ञानप्राप्त कर पुनः भारती से शास्त्रार्थ किया, और उसे परास्त किया। हमें यह अनुश्रुति काल्पनिक प्रतीत होती है। शङ्कराचार्य जैसे निस्सङ्ग व्यक्ति का कामशास्त्र के परिज्ञान के लिये किसी परकाय में प्रवेश करके कामोपभोग करना असम्भव है। इसी प्रकार महा विदुषी भारती का भी एक बालब्रह्मचारी संन्यासी से कामशास्त्र पर चर्चा छेड़ना असम्भव है। वस्तुतः इस अनुश्रुति से दोनों व्यक्तियों का अपमान होता है।

इसी विषय में पण्डित प्रवर पद्मनाभ राव जी ने ३०-१०-७३ के पत्र[1] में लिखा था—

आपने [शंकराचार्य और भारती के विषय में] जो लिखा है वह सर्वथा समीचीन है। श्री कूडली मठाधीश्वर श्रीमत् सच्चिदानन्द भारती[2] ने किसी समय वार्ता के प्रसंग में मुझ से कहा था कि—'कामशास्त्र के परिज्ञान के लिये श्रीमच्छङ्कराचार्य ने परकाय प्रवेश किया यह सन्दर्भ मिथ्या ही है। किसी परमत विद्वेष से विदग्ध अन्तःकरण वाले ने उनके यश को कलंकित करने के लिये यह काव्य बनाया है।

१. यह पत्र संस्कृत भाषा में निबद्ध है। उस का भाषान्तर यहां उद्धृत किया है। मूल पत्र तृतीय भाग में देखें।

२. स्वामी श्री सच्चिदानन्द भारती आद्य शंकराचार्य के शृङ्गेरी मठ की शाखा के मठाधीश्वर हैं।

पाण्डित्य—मण्डन मिश्र अपने समय के महान् विद्वान् थे। इनके गृह द्वार पर कीराङ्गनायें भी वेद के स्वतःप्रमाण पर विवाद करती थीं। शङ्करदिग्विजय में लिखा है कि शङ्कर ने माहिष्मती (वर्तमान 'महेश्वर'—म० प्र०) में जाकर किसी पनिहारी से मण्डन मिश्र का गृह पूछा। पनिहारी ने उत्तर दिया—

'स्वतःप्रमाणं परतःप्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडा तरुसन्निपाते जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥'

अर्थात्—जिस गृह-द्वार पर शुकियां वेद के स्वतःप्रमाण परतः-प्रमाण पर शास्त्रार्थ करती हुई मिलें, उसे ही मण्डन मिश्र का घर समझना।

नामान्तर—अद्वैत सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि शङ्कर से पराजित होकर अद्वैतवादी बनकर मण्डन मिश्र 'सुरेश्वराचार्य' नाम से प्रसिद्ध हुए। अनेक लेखकों ने सुरेश्वर को मण्डन मिश्र के नाम से भी उद्धृत किया है।

काल—मण्डन मिश्र के गुरु भट्ट कुमारिल तथा शंकराचार्य का समय प्रायः ८००-८२० वि० के लगभग माना जाता है। परन्तु यह सर्वथा काल्पनिक है। भट्ट कुमारिल और शङ्कर दोनों ही इससे बहुत पूर्व के व्यक्ति हैं। हमने इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३८९-३९० (च०सं०) पर लिखा है कि शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी ने शतपथ व्याख्या में भट्ट कुमारिल के शिष्य प्रभाकर के मतानुयायियों का निर्देश किया है—

'अथवा सूत्राणि, यथा विध्युद्देश इति प्राभाकराः—अपः प्रणय-तीति यथा।' हमारा हस्तलेख पृष्ठ ५।

हरिस्वामी का काल ३७४० कल्यब्द=वि० सं० ६९५ निश्चित है। हां उसके वचन की भिन्न व्याख्या करने पर हरिस्वामी का काल ३०४७=विक्रम संवत् का आरम्भ बनता है।[1] विक्रम संवत् का आरम्भ कलि संवत् ३०४५ से होता है। यदि द्वितीय कल्पना को सत्य न भी मानें, तब भी इतना तो निश्चित ही है कि कुमारिल वि० सं०

---

१. विक्रम द्विसहस्राब्दी स्मारक ग्रन्थ में पं० सदाशिव कात्रे का लेख। द्र०—सं० व्या० इतिहास भाग १, पृष्ठ ३८८-३८९ (च० सं०)।

६९५ से पूर्ववर्ती है। अतः उसके शिष्य मण्डन मिश्र का काल भी विक्रम सं० ६९५ से पूर्व है।

पाश्चात्त्य विद्वानों ने इत्सिग के वचन की विवेचना करके भर्तृहरि की मृत्यु का काल ७०८ विक्रम संवत् माना है। और उसी के आधार पर कुमारिल शंकर मण्डन मिश्र प्रभृति का काल निर्णय किया है, वह सब अशुद्ध है। इसकी मीमांसा के लिये देखिये हमारा यही ग्रन्थ भाग १, पृष्ठ ३८७-३९५ (च० सं०)।

टीकाकार— परमेश्वर

मण्डन मिश्र विरचित **'स्फोट सिद्धि'** पर ऋषिपुत्र परमेश्वर की एक उत्कृष्ट व्याख्या है। यह मद्रास विश्वविद्यालय ग्रन्थमाला में छप चुकी है।

परिचय— दक्षिण भारत में नाम रखने की जो परिपाटी है, उसके अनुसार ज्येष्ठ पुत्र का वही नाम रखा जाता है जो उसके पितामह का होता है। इस प्रकार का वंश में दो ही नाम अनेक पीढ़ियों तक व्यवहृत होते रहते हैं। इस कारण 'स्फोटसिद्धि' के टीकाकार का काल निर्धारण करना अत्यन्त दुष्कर है। इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री० कु० रामनाथ शास्त्री ने इस विषय में जो छान-बीन की है, उसके अनुसार उन्होंने इसका वंशवृक्ष इस प्रकार बनाया है—

गौरी (पत्नी)+ऋषि+भवदास (भ्राता)
|
परमेश्वर (न्यायकणिका का व्याख्याता)
|
गोपालिका (पत्नी) ऋषि भवदास वासुदेव सुब्रह्मण्य शंकर
|
परमेश्वर (गोपालिका प्रणेता)
|
ऋषि
|
परमेश्वर (मीमांसासूत्रार्थ संग्रहकर्त्ता)

मण्डन मिश्र की 'स्फोटसिद्धि' के व्याख्याता परमेश्वर की माता का नाम **गोपालिका** था। इस कारण इस टीका का लेखक द्वितीय ऋषि-पुत्र परमेश्वर है।

काल—'स्फोटसिद्धि' के सम्पादक ने इस परमेश्वर का काल विक्रम की १६ वीं शती माना है।

टीका का नाम—परमेश्वर ने 'स्फोटसिद्धि' की टीका का नाम अपनी माता के नाम पर गोपालिका रखा है।

गोपालिका टीका में विशिष्ट उद्धरण—परमेश्वर ने गोपालिका टीका में निरुक्त ग्रन्थ पर लिखे गये निरुक्तवार्त्तिक के ६ वचन उद्धृत किये हैं। वे इस प्रकार हैं—

यथोक्तं निरुक्तवार्त्तिक एव—

'असाक्षात् कृतधर्मभ्यस्तेऽवरेभ्यो यथाविधि।
उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च॥
अर्थोऽयमस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणस्यायमित्यपि।
व्याख्यैवात्रोपदेशः स्याद् वेदार्थस्य विवक्षितः॥
अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः॥
बिल्मं[1] भिल्ममिति त्वाह बिभर्त्यर्थविवक्षया।
उपायो हि बिभर्त्यर्थमुपमेयं वेदगोचरम्॥
अथवा भासनं बिल्मं[2] भासतेर्दीप्तिकर्मणः।
अभ्यासेन हि वेदार्थो भास्यते दीप्यते स्फुटम्॥
प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः।
अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थं प्रतिपेदिरे॥[3]

निरुक्तवार्त्तिक की यह व्याख्या निरुक्त १।२० के—

'**साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा।**' वचन की है।

---

१. मूलपाठ 'बिम्मं भिम्ममिति' है।

२. यहां भी मूलपाठ 'बिम्मं' है।

३. मुद्रित संस्करण, पृष्ठ २११-२१२; श्लोक १६२, २०४, २०५, २०६, २१०, १६८॥

निरुक्त के इस पाठ में '**इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च**' पदों की व्याख्या में भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वानों ने बहुत खींचातानी की है। निरुक्तवार्त्तिककार ने भारतीय परम्परा के अनुसार **समाम्नासिषुः** का ठीक अर्थ **अभ्यस्तवन्तस्ते** किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की सूझ—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा ऋग्वेदभाष्य १।१।२ में निरुक्त के उक्त वचन को उद्धृत करके व्याख्या करते हुए लिखा है—

'समाम्नासिषुः सम्यगभ्यासं कारितवन्तः'।[1]

स्वामी दयानन्द के इस अर्थ की पुष्टि निरुक्तवार्त्तिक के उक्त वचन से होती है।

निरुक्तवार्त्तिक के सम्बन्ध में श्री पं० भगवद्दत्त कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थ के 'वेदों के भाष्यकार' नामक भाग के पृष्ठ २१२-२१७ तथा पं० विजयपाल विद्यावारिधि द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ का उपोद्घात देखना चाहिए।

इस ग्रन्थ का पूरा नाम **निरुक्त-श्लोक-वार्त्तिक** है। इसके कर्त्ता का नाम नीलकण्ठ गार्ग्य (संन्यासाश्रम में—पद्म) था। मैंने इस ग्रन्थ का सम्पादन आरम्भ किया था, परन्तु शारीरिक अस्वस्थता होने के कारण इसे पूरा नहीं कर सका। अतः इसका सम्पादन पं० विजयपाल विद्यावारिधि ने किया है और यह ग्रन्थ सं० २०३९ (सन् १९८२) में प्रकाशित हुआ है।[2]

७ भरतमिश्र

भरतमिश्र विरचित **'स्फोटसिद्धि'** ट्रिवेण्ड्रम् से सन् १९२७ में प्रकाशित हो चुकी है।

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ३८९ (रा० ल० क० ट्र० सं०) तथा ऋग्वेदभाष्य भाग १ के आरम्भ में पृष्ठ ३९६ (रा० ल० क० ट्र० सं०)। ऋग्वेदभाष्य (१।१।२) के वैदिक यन्त्रालय अजमेर के छपे संस्करणों में '**सम्यगभ्यासार्थं रचितवन्तः**' अपपाठ है। हस्तलेख के '**सम्यगभ्यासं कारितवन्तः**' शुद्ध पाठ है। द्र० हमारे द्वारा सम्पादित रा० ल० क० ट्र० संस्करण, भाग १, पृष्ठ ४४७, टि० ३।

२. इस का प्रकाशन 'श्री सावित्री देवी बागड़िया ट्रस्ट कलकत्ता' ने किया है। प्राप्ति स्थान—रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)।

परिचय—भरतमिश्र ने अपना कुछ भी परिचय अपने ग्रन्थ में नहीं दिया। न अन्य स्थान से इसके देश-काल आदि पर कोई प्रकाश पड़ता है।

पं० गणपति शर्मा ने जिस मूल पुस्तक पर से इस ग्रन्थ को छापा था, वह अनुमानतः दो तीन सौ वर्ष प्राचीन है, ऐसा उन्होंने भूमिका पृष्ठ ३ पर लिखा है।

'स्फोटसिद्धि' का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ५, खण्ड १।३ पृष्ठ ६४२९ संख्या ४३७६८ पर निर्दिष्ट है।

ट्रिवेण्ड्रम् से सन् १९१७ में प्रकाशित अज्ञातकर्तृक '**स्फोटसिद्धि-न्यायविचार** के आरम्भ में मण्डन के पश्चात् भरत का निर्देश किया है—

> **'प्रणिपत्य गणाधीशं गिरां देवीं गुरूनपि।**
> **मण्डनं भरतं चापि मुनित्रयमनुहरिम्॥'**

ग्रन्थ परिचय—भरतमिश्र की स्फोटसिद्धि में निम्न तीन परिच्छेद है—

१ **प्रत्यक्ष परिच्छेद। २—अर्थ परिच्छेद। ३—आगम परिच्छेद।**

इस ग्रन्थ में मूल कारिका भाग और उसकी व्याख्या दोनों ही भरतमिश्रप्रणीत हैं।

विशिष्ट स्थल—इस स्फोटसिद्धि के निम्न स्थल विशेष ध्यान देने योग्य है—

१—भगवदौदुम्बरायणाद्युपदिष्टाखण्डभावमपि व्यञ्जकारोपितनान्तरीयकभेदक्रमविच्छेदादिनिविष्टैः परैरेकाकारनिर्भासम् अन्यथा सिद्धिकृत्यार्थधीहेतुतां चान्यत्र संचार्य भगवदौदुम्बरायणादीनपि भगवदुपवर्षादिभिर्निमायापलपितम्। पृष्ठ १।

अर्थात्—भगवान् औदुम्बरायण आदि द्वारा उपदिष्ट एक अखण्ड-भाव से प्रतीयमान स्फोट को व्यञ्जक (ध्वनि) में आरोपित आवश्यक भेद क्रम और विच्छेदादि में निविष्टबुद्धि होकर अन्यों ने अन्य प्रकार से सिद्धि करके अर्थज्ञान कारण को अन्यत्र संचारित करके भगवान् औदुम्बरायणादि मुनियों की भी प्रतिद्वन्द्वता में भगवान् उप-वर्ष आदि को उपस्थित करके अपलाप किया है।

यहां भरतमिश्र ने शबर स्वामी की ओर यह संकेत किया है। शबर स्वामी ने मीमांसा भाष्य में (गौः=) गकार औकार विजर्सनीय के क्रमिक उच्चारण और पूर्व-पूर्व वर्णजनित संस्कार को अर्थज्ञान में कारण दर्शाया है। और अपने पक्ष की सिद्धि में भगवान् उपवर्ष का उद्धरण दिया । वैयाकरण वर्ण ध्वनि से प्रतीयमान अखण्ड एकरस स्फोट को अर्थज्ञान में कारण मानते हैं।

२—**गकारौकार विसर्जनीया इति भगवान् उपवर्ष इति ब्रुवाणोऽपलपति फलतो न श्रृणोति। उपवर्षो हि भगवान् स्वरानुनासिक्य-कालभेदवद् वृद्धतालव्यांशभेदवच्चाकल्पितभेदाश्रयत्वात् सकलस्य द्वादशलक्षणी व्यवहारस्य प्रकृतोपयोगितया व्यावहारिकमेव शब्दं दर्शितवान्, न तात्त्विकम्। प्रकृतानुपयोगादिति तद्वचनविरोधो नाशंकनीयः। ऋषीणां हि सर्वेषामसम्भवद्भ्रमविप्रलम्भत्वात् परस्पर-विरोधस्तत्त्वतो नास्तीति विरोधाभासेष्वीदृशः कल्पनीयोऽभिप्रायः। पृष्ठ २८।**

अर्थात्—[शबर स्वामी] गकार औकार विसर्जनीय [रूप गौः शब्द है] ऐसा कहता हुआ अपलाप करता है, तत्त्व से नहीं सुनता (जानता)। भगवान् उपवर्ष ने स्वर आनुनासिक्य और काल भेद के समान वृद्ध (?) तालव्य अंश भेद के समान सम्पूर्ण द्वादशाध्यायी मीमांसा के व्यवहार का कल्पित भेद के आश्रय होने से प्रकृत (मीमांसा) शास्त्र के उपयोगी व्यावहारिक शब्द (ध्वनिरूप) शब्द का ही निदर्शन कराया है, तात्त्विक का नहीं क्योंकि वह प्रकृतशास्त्र के अनुपयोगी था। इसलिये भगवान् उपवर्ष के विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिये। **सभी ऋषियों में भ्रमविप्रलाप का असम्भव होने से परस्पर तत्त्वतः विरोध नहीं है।**[1] सर्वत्र विरोधाभास में इसी प्रकार [अविरुद्ध] अभिप्राय की कल्पना करनी चाहिये।

८—स्फोटसिद्धिन्यायविचार-कर्ता

महामहोपाध्याय गणपति शर्मा ने सन् १९१७ में ट्रिवेण्ड्रम से **स्फोटसिद्धिन्यायविचार** नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया था। इसके कर्ता का नाम अज्ञात है। अतः इसका काल आदि भी अज्ञात ही है।

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रन्थों में इस मत का विशेषरूप से निरूपण किया है।

इस ग्रन्थ में २४५ कारिकाएं हैं। प्रथम कारिका इस प्रकार है—

'प्रणिपत्य गणाधीशं गिरां देवीं गुरूनपि।
मण्डनं भरतं चादिमुनित्रयमनुहरिम्॥'

इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का रचयिता भरतमिश्र से उत्तर-कालिक है।

९—१३ स्फोटविषयक ग्रन्थकार

इन तीनों ग्रन्थों के अतिरिक्त स्फोट विषयक निम्न ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं—

ग्रन्थकार	ग्रन्थ
९—केशव कवि	स्फोटप्रतिष्ठा
१०—शेष कृष्ण कवि	स्फोटतत्त्व
११—श्री कृष्ण भट्ट	स्फोटचन्द्रिका
१२—आपदेव	स्फोटनिरूपण
१३—कुन्द भट्ट	स्फोटवाद

१४—वैयाकरणभूषण-रचयिता (सं० १५७०-१६५० वि०)

मूल लेखक—भट्टोजि दीक्षित; व्याख्याकार—कौण्डभट्ट

पाणिनीय वैयाकरणों में सम्प्रति **वैयाकरण भूषण सार** नामक एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के नाम के अन्त में **सार** शब्द के श्रवण से ही स्पष्ट है कि यह किसी बड़े ग्रन्थ का संक्षेप है। उसका नाम है—**वैयाकरणभूषण**।

भूषण का काल—वैयाकरणभूषण का मूल ग्रन्थ कारिकात्मक है।

कारिका का लेखक—मूल कारिकाओं का लेखक भट्टोजि दीक्षित है। वह आरम्भ में ही लिखता है

'फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेण कथ्यते॥'

इससे स्पष्ट है कि इस कारिका ग्रन्थ का लेखक भट्टोजि दीक्षित है और इसका निर्माण शब्दकौस्तुभ के अनन्तर हुआ है।

कारिका का व्याख्याता—भट्टोजि दीक्षित की कारिकाओं पर कौण्डभट्ट ने व्याख्या लिखी है। इसका नाम है—**वैयाकरणभूषण**।

कौण्ड भट्ट का परिचय—कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण के आदि में अपना जो परिचय दिया है, उसके अनुसार कौण्डभट्ट के पिता का नाम रङ्गोजिभट्ट था। वह भट्टोजि दीक्षित का लघु भ्राता था। कौण्डभट्ट ने शेषकृष्ण तनय शेष रामेश्वर अपर नाम सर्वेश्वर से विद्याध्ययन किया था। भूषणसार ने अन्त में वह स्वयं लिखता है—

'अशेषफलदातारमपि सर्वेश्वरं गुरुम्।
श्रीमद्भूषणसारेण भूषये शेषभूषणम्॥

कौण्डभट्ट सारस्वत कुलोत्पन्न काशी निवासी था।

काल—गुरुप्रसाद शास्त्री ने स्वसम्पादित भूषणसार के आदि में भूषणसार-लेखन का काल सं० १६६० वि० लिखा है। हमारे विचार में यह समय ठीक ही है। हमने इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ५३१-५३३ (च० सं०) पर अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि भट्टोजि दीक्षित का काल वि० सं० १५७०-१६५० के लगभग है। अतः कौण्ड भट्ट का काल वि० सं० १६००-१६७५ के मध्य रहा होगा।

वैयाकरणभूषणसार के व्याख्याता

१. हरिवल्लभ (सं० १८०० वि०)

हरिवल्लभ ने वैयाकरणभूषणसार पर **दर्पण** नामक व्याख्या लिखी है।

परिचय—हरिवल्लभ ने अपनी टीका के अन्त में लिखा है—

'इति श्रीमत्कूर्माचलाभिजनोत्प्रभातीयोपनामकश्रीवल्लभात्मज-हरिवल्लभविरचिते भूषणसारदर्पणे स्फोटवादः समाप्तः।'

इससे इतना ही व्यक्त होता है कि हरिवल्लभ का उपनाम उत्प्रभातीय था। यह श्री वल्लभ का पुत्र था, और इसका अभिजन (= पूर्वजों का निवास) कूर्माचल था।

पं० गुरुप्रसाद शास्त्री ने स्वसम्पादित भूषणसार के आरम्भ में हरिवल्लभ के लिए लिखा है कि यह सं० १८०० वि० में काशी में वर्तमान था। सं० १८५४ में विचरित भूषणसार की काशिका टीका में दर्पण का मत बहुत उद्धृत है।

२. हरिभट्ट (सं० १८५४ वि०)

हरिभट्ट ने भूषणसार पर **दर्पण** नाम्नी व्याख्या लिखी है

परिचय—हरिभट्ट ने दर्पण के अन्त में अपना जो परिचय दिया है, उससे इतना ही विदित होता है कि हरिभट्ट के पिता का नाम केशव दीक्षित था इसकी माता का नाम सखी देवी, और ज्येष्ठ भ्राता का नाम धनुराज था।

काल—हरिभट्ट ने दर्पण टीका लिखने का काल स्वयं इस प्रकार लिखा है—

'युगभूतविगात्मसम्मिते वत्सरे गते।
मार्गशुक्लपक्षे पौर्णमास्यां विधोर्दिने॥
रोहिणीस्थे चन्द्रमसि वृश्चिकस्थे दिवाकरे।
समाप्तिमगमद् ग्रन्थस्तेन तुष्यतु नः शिवः॥'

अर्थात्—सन् १८५४ व्यतीत होने पर मार्गशुक्ला पौर्णमासी सोमवार रोहिणी नक्षत्र में चन्द्रमा और वृश्चिक राशि में सूर्य होने पर यह ग्रन्थ समाप्त हुआ।

३. मन्नुदेव (सं० १८४०–१८७० वि०)

मन्नुदेव ने भूषणसार पर **कान्ति** नामक व्याख्या लिखी है।

परिचय—मन्नुदेव वैद्यनाथ पायगुण्ड का शिष्य है।

काल—वैद्यनाथ के पुत्र बालशर्मा ने मन्नु देव और महादेव की सहायता,और कोलब्रुक की आज्ञा से 'धर्म-शास्त्र-संग्रह' लिखा था। हेनरी टामस कोलब्रुक भारत में सन् १७८३-१८१५ अर्थात् वि० सं० १८४०-१८१५ तक रहा था।

भैरवमिश्र (सं० १८८१ वि०)

भैरवमिश्र ने भूषणसार पर **परीक्षा** नाम्नी व्याख्या लिखी है।

परिचय—भैरवमिश्र ने लिङ्गानुशासन-विवरण के अन्त में जो अपना परिचय दिया है, उसके अनुसार इसके पिता का नाम भवदेव और गोत्र अगस्त्य था॥

काल—भैरवमिश्र ने लघुशब्देन्दुशेखर की चन्द्रकला टीका के अन्त में ग्रन्थ-समाप्ति का काल इस प्रकार लिखा है—

'शश्यष्टसिद्धिचन्द्राख्ये मन्मथे शुभवत्सरे।
माघे मास्यसिते पक्षे मूले कामतिथौ शुभा॥

पूर्णा वारे दिनमणेरियञ्चन्द्रकलाभिधा।
शब्देन्दुशेखरव्याख्या भैरवेण यथामति॥

अर्थात्—सं० १८८१ वि० मन्मथ नाम के संवत्सर माघ कृष्णपक्ष मूल नक्षत्र कामतिथि रविवार के दिन चन्द्रकला टीका पूर्ण हुई।

इससे स्पष्ट है कि भैरवमिश्र का काल सं० १८५०-१९०० वि० तक मानना उचित होगा।

५. रुद्रनाथ

रुद्रनाथ ने भूषणसार पर **विवृत्ति** नामक टीका लिखी है। इसके विषय में हम अधिक कुछ नहीं जानते।

६. कृष्णमित्र

कृष्णमित्र ने भूषणसार पर **रत्नप्रभा** नाम्नी वृत्ति लिखी है। कृष्णमित्र ने शब्दकौस्तुभ पर 'भावप्रदीप' नाम की एक व्याख्या भी लिखी है। इसका उल्लेख हम प्रथम भाग पृष्ठ ५३४ (श० सं०) पर कर चुके हैं।

उपर्युक्त टीकाकारों के अतिरिक्त अन्य कतिपय वैयाकरणों ने भी भूषणसार पर टीका ग्रन्थ लिखे हैं। विस्तारभय से हम यहां उन का निर्देश नहीं करते।

१९—नागेशभट्ट (सं० १७३०–१८१० वि०)

नागेशभट्ट ने वैयाकरणसम्मत **वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा** नामक एक दार्शनिक ग्रन्थ लिखा है।

परिचय—नागेशभट्ट के देश काल आदि का परिचय इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ४६७–४६९ (च० सं०) पर लिख चुके हैं।

मञ्जूषा का निर्माण काल—नागेशभट्ट ने मञ्जूषा की रचना महाभाष्य प्रदीपोद्योत[1] और परिभाषेन्दुशेखर से पूर्व की थी।

मञ्जूषा के अन्य दो पाठ—नागेश ने मञ्जूषा के बृहत् पाठ के अनन्तर **लघुमञ्जूषा** और उसके अनन्तर **परमलघुमञ्जूषा** की रचना की।

---

१. अधिकं मञ्जूषायां द्रष्टव्यम्। प्रदीपोद्योत ४।३।१०१॥

टीकाकार

१—**दुर्बलाचार्य**—दुर्बलाचार्य ने वैयाकरण सिद्धांतमंजूषा पर **कुंजिका** नाम्नी एक टीका लिखी है। यह छप चुकी है।

इसके विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते।

२—**वैद्यनाथ**—वैद्यनाथ पायगुण्ड ने वैयाकरणसिद्धांतमञ्जूषा पर **कला** नाम की टीका लिखी है। यह टीका बालम्भट्ट के नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका के आरम्भ में—

'पायगुण्डो वैद्यनाथभट्टः कुर्वे स्वबुद्धये।'

स्पष्ट निर्देश होने से बालम्भट्ट वैद्यनाथ का ही नामान्तर प्रतीत होता है।

परिचय—वैद्यनाथ पायगुण्ड के विषय में हम प्रथम भाग के पृष्ठ ४६६ (च० सं०) पर लिख चुके हैं। वैद्यनाथ का काल सं० १७५०-१८२५ वि० के मध्य है। वैद्यनाथ के पुत्र का नाम बालशर्मा था, और इसका शिष्य मन्नुदेव था। द्र०—प्रथम भाग, पृष्ठ ४६८ (च० सं०)।

१६—ब्रह्मदेव

वैयाकरणसिद्धांतमञ्जूषा—का एक हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ३ खण्ड १ A पृष्ठ २७०४ संख्या १९४७ पर निर्दिष्ट है। उसके रचयिता का नाम ब्रह्मदेव लिखा है।

यदि सूचीपत्रकार का लेख ठीक हो, तो वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा नाम के दो ग्रन्थ मानने होंगे। एक नागेश कृत, दूसरा ब्रह्मदेव कृत।

यह भी सम्भव है कि उक्त हस्तलेख नागेश की वैयाकरण-सिद्धान्त मञ्जूषा की ब्रह्मदेव विरचित टीका का हो। इसका निर्णय मूल हस्तलेख के दर्शन से ही हो सकता है।

जगदीश तर्कालंकार (सं० १७१० वि०)

जगदीश तर्कालंकार भट्टाचार्य ने **शब्दशक्तिप्रकाशिका** नामक एक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा है। यद्यपि यह ग्रन्थ प्रधानतया न्यायशास्त्र का है, तथापि वैयाकरण-सिद्धान्त के साथ विशेष सम्बन्ध रखने के कारण हम इसका यहां निर्देश कर रहे हैं।

परिचय—जगदीश तर्कालंकार के पितामह का नाम सनातन मिश्र और पिता का नाम यादवचन्द्र विद्यावागीश था। सनातन मिश्र चैतन्य महाप्रभु के श्वशुर थे। जगदीश के ४ भाई और थे। यह उन में तृतीय था।

जगदीश तर्कालंकार ने न्यायशास्त्र का अध्ययन भवानन्द सिद्धान्तवागीश से किया था।

जगदीश तर्कालंकार ने सं० १७१० वि० में 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' की रचना की है। इसके अतिरिक्त न्याय के अन्य भी कई ग्रन्थ जगदीश तर्कालंकार ने लिखे हैं।

व्याख्याकार

१. **कृष्णकान्त विद्यावागीश**—कृष्णकान्त विद्यावागीश ने 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' पर एक विस्तृत टीका लिखी है।

कृष्णकान्त के गुरु रामनारायण तर्कपञ्चानन नामक वैदिक विद्वान् थे। ये नवद्वीप के निवासी थे। इनके वंशज सम्प्रति भी नवद्वीप में गङ्गापार विद्यमान हैं, ऐसी अनुश्रुति है।

कृष्णकान्त ने अपनी टीका का लेखनकाल स्वयं शक सं० १७२३ लिखा है—

'शाके रामाक्षिशैलक्षितिपरिगणिते कर्कटे याति भानौ।'

तदनुसार यह टीका सं० १८५८ वि० में लिखी गई।

कृष्णकान्त ने शक सं० १७४० तदनुसार वि० सं० १८७५ में न्यायसूत्र पर **सूत्रसंदीपनी** टीका भी लिखी है।

२—**रामभद्र सिद्धान्तवागीश**—नवद्वीप निवासी रामभद्र सिद्धान्तवागीश ने भी 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' पर एक लघु टीका लिखी है। इसका नाम **सुबोधिनी** है।

रामभद्र का काल अज्ञात है, परन्तु दोनों टीकाओं की तुलना से विदित होता है कि रामभद्र की टीका कृष्णकान्त की टीका से प्राचीन है।

इस प्रकार इस अध्याय में व्याकरण के दार्शनिक ग्रन्थकारों का वर्णन करके अगले अध्याय में लक्ष्य-प्रधान वैयाकरण कवियों का वर्णन करेंगे।

तीसवां अध्याय

लक्ष्य–प्रधान काव्य-शास्त्रकार वैयाकरण कवि

शास्त्रीय वाङ्मय में लक्ष्य-प्रधान काव्यों के लिए **काव्यशास्त्र** शब्द का प्रयोग किया गया है। क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्त-तिलक' नामक ग्रन्थ के तृतीय विन्यास के आरम्भ में लिखा है—

'शास्त्रं काव्यं शास्त्रकाव्यं काव्यशास्त्रं च भेदतः।
चतुष्प्रकारः प्रसरः सतां सारस्वतो मतः ॥२॥

शास्त्र काव्यविदः प्राहुः सर्वकाव्याङ्गलक्षणम्।
काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलंकृति ॥३॥

शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायं सर्वोपदेशकृत्।
भट्टिभौमकाव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते ॥४॥'

अर्थात्—सारस्वतप्रसार शास्त्र, काव्य, शास्त्रकाव्य और काव्य-शास्त्र के भेद से चार प्रकार का है। काव्यविद् आचार्य सब प्रकार के काव्य-काव्याङ्गों के लक्षण बोधक ग्रन्थ को **शास्त्र** कहते हैं।[1] विशिष्ट शब्द और अर्थ से युक्त उत्तम अलंकृत ग्रन्थ को **काव्य**[2] कहते हैं।[3] चारों वर्गों का उपदेश देने वाला ग्रन्थ **शास्त्रकाव्य** कहाता है।[4] और भट्टि भौमक[5] आदि काव्य **काव्यशास्त्र**[6] कहाते हैं।

इस लक्षण से स्पष्ट है कि जो ग्रन्थ काव्य होता हुआ किसी विशेष विषय का शासन करे, वह **काव्यशास्त्र** पदवाच्य होता है।

---

१. यथा—काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि। २. यथा–रघुवंश आदि।

३. तुलना करो—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणवान् अनलंकृति पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश। ४. यथा—रामायण महाभारतादि।

५. भौमक—रावणार्जुनीय काव्य।

६. 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्। व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥' सुक्ति में निर्दिष्ट 'काव्यशास्त्र' शब्द का यही विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ अभिप्रेत है, न कि सामान्य काव्य ग्रन्थ।

साहित्य-ग्रन्थों में अनेक ऐसे काव्य हैं, जो व्याकरणशास्त्र का बोध कराने के विशेष उद्देश्य से लिखे गये हैं। यद्यपि उक्तलक्षणानुसार इस प्रकार के ग्रन्थों के लिये **काव्यशास्त्र** पद रूढ़ है, पुनरपि इस शब्द को उक्त विशेष अर्थ में प्रसिद्धि न होने से हमने **लक्ष्य-प्रधान काव्य** शब्द का व्यवहार किया है, वा करेंगे। इस अध्याय में इसी प्रकार के लक्ष्य प्रधान काव्यों का वर्णन किया जायगा।

लक्ष्य-प्रधान काव्यों की रचना का प्रयोजन—व्याकरण शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए भगवान् कात्यायन ने लिखा है—

'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्।'

इस वार्तिक की व्याख्या पतञ्जलि ने इस प्रकार की है—

'लक्ष्यं लक्षणं चैतत् समुदितं व्याकरणं भवति। किं पुनर्लक्ष्यम्? किं वा लक्षणम्? शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम्।' महा० नवा०, पृष्ठ ७१ (बम्बई सं०)।

अर्थात्—लक्ष्य और लक्षण मिलकर व्याकरण कहाता है। लक्ष्य शब्द है, और लक्षण सूत्र।

व्याकरण शब्द वि आङ् दो उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर बनता है। ल्युट् प्रत्यय करण अधिकरण आदि अनेक अर्थों में होता है। करण में ल्युट् होने पर व्याकरण शब्द का अर्थ—

'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।'

व्युत्पत्ति के अनुसार लक्षण=सूत्र होता है। परन्तु कर्म में ल्युट् होने पर—

'व्याक्रियते यत् तत् व्याकरणम्।'

व्युत्पत्त्यनुसार व्याकरण शब्द का अर्थ लक्ष्य अर्थात् शब्द होता है।

पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है—

'अयं तावद् अदोषः—यदुच्यते 'शब्दे ल्युडर्थः' इति। नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युड् विधीयते। किन्तर्हि? अन्येष्वपि कारकेषु 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति। तद्यथा -प्रस्कन्दनं प्रपतनमिति। महा० नवा० पृष्ठ ७१)।

अर्थात्—यह दोष नहीं है, जो कहा है कि—'शब्द को व्याकरण मानने पर ल्युट् का अर्थ उपपन्न नहीं होता।' नहीं आवश्यक रूप से करण और अधिकरण में ही ल्युट् का विधान किया है, अपितु अन्य कारकों में भी—'कृत्यल्युटो बहुलम्' (कृत्य और ल्युट् बहुल करके सामान्य-विधान से अन्यत्र भी होते हैं) सूत्र द्वारा। जैसे—प्रस्कन्दन प्रपतन [में अपादान में ल्युट् देखा जाता है]।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि व्याकरण शब्द का क्षेत्र लक्ष्य और लक्षण दोनों तक अभिव्याप्त है। लक्षणमात्र के लिये व्याकरण शब्द का प्रयोग प्रोक्तरूप अर्थ विशेष को लेकर होता है।[1]

व्याकरण शब्द के उपरिनिर्दिष्ट व्यापक अर्थ को दृष्टि में रख कर अनेक व्याकरण प्रवक्ताओं ने जहां लक्षण ग्रन्थों का प्रवचन किया, वहां उन लक्षणों की चरितार्थता दर्शाने के लिये उनके लक्ष्यभूत शब्द-विशेषों को संगृहीत करके लक्ष्यरूप काव्यग्रन्थों की भी सृष्टि की। लक्ष्य-प्रधान काव्यों की रचना कब से आरम्भ हुई, इस विषय में इतिहास मौन है। परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि ने किसी लक्ष्य-प्रधान काव्य का एक सुन्दर श्लोक महाभाष्य अ० १।१।५६ में उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है—

'स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततः श्वभूते शातनीं पातनीं च।
नेतारावागच्छतां धारणिं रावणिं च ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते च॥'

इस श्लोक में **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** (अ० १।१।५६) सूत्र के प्रयोजन-निदर्शक **पादिक औदवाहि शातनी पातनी धारणि रावणि** नामों का, तथा **स्रंस्यते ध्वंस्यते** क्रियाओं का निर्देश किया है। महाभाष्यकार ने **कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि** के प्रसङ्ग में प्रयोजन के निदर्शनार्थ इस श्लोक को उपस्थित किया है।

इस श्लोक में 'श्वभूति' को सम्बोधन किया गया है। कैयट ने **श्वभूतिर्नाम शिष्यः** लिखा है। अनेक विद्वानों का मत है कि 'श्वभूति' पाणिनि का शिष्य था। श्वभूति ने अष्टाध्यायी की कोई वृत्ति भी

---

१. प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते—पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् आपिशलम्, काशकृत्स्नमिति। नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः, किन्तर्हि ? सूत्रम्। (महा० नवा० पृष्ठ ७०)

लिखी थी। इसका निर्देश हम अष्टाध्यायी के वृत्तिकार प्रकरण में भाग १ पृष्ठ ४८१ (च० सं०) पर कर चुके हैं।

महाभाष्य के उक्त उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि लक्ष्य-प्रधान काव्यों की रचना महाभाष्य से पूर्व हो चुकी थी। लक्ष्यप्रधान वैयाकरणों में कुछ ऐसे वैयाकरण भी हैं, जिन्होंने लक्षणग्रन्थों का तो स्वतन्त्र प्रवचन नहीं किया, परन्तु पूर्व प्रसिद्ध लक्षणग्रन्थों को दृष्टि में रखते हुए केवल लक्ष्यरूप काव्य ग्रन्थों की ही रचना की। यहां हम उभय प्रकार के वैयाकरणों द्वारा सृष्ट काव्यग्रन्थों का निर्देश करेंगे।

१—पाणिनि (२८०० वि० पूर्व)

प्राचीन वैयाकरणों में पाणिनि ही ऐसे वैयाकरण हैं, जिनका काव्यस्रष्टृत्व न केवल वैयाकरण-निकाय में आबालवृद्ध प्रसिद्ध है अपितु काव्यवाङ्मय के इतिहास में भी मूर्द्धाभिषिक्त है।

पाणिनि के काव्य का नाम **जाम्बवतीविजय** है। इसका दूसरा नाम पातालविजय भी है।[1] भगवान् पाणिनि ने इस महाकाव्य में श्री कृष्ण के पाताल लोक में जाकर जाम्बवती के विजय और परिणय की कथा का वर्णन किया है।

पाश्चात्त्य विद्वानों तथा उनके अनुयायियों की कल्पना—डाक्टर पीटर्सन आदि पाश्चात्त्य विद्वानों तथा तदनुगामी डा० भण्डारकर आदि कतिपय भारतीय विद्वान् जाम्बवतीविजय के उपलब्ध उद्धरणों की लालित्यपूर्ण सरस रचना और क्वचित् व्याकरण के उत्सर्ग नियमों का उल्लङ्घन देखकर कहते हैं कि यह काव्य शुष्क वैयाकरण पाणिनि की कृति नहीं है।

उक्त कल्पना का मिथ्यात्व—वस्तुतः सत्य भारतीय इतिहास के प्रकाश में उक्त कल्पना सर्वथा मिथ्या है, अतएव नितान्त हेय है। भारतीय वाङ्मय में असन्दिग्ध रूप से इसे वैयाकरण पाणिनि की

---

१. सीताराम जयराम जोशी एम. ए. और विश्वनाथ शास्त्री एम. ए. ने 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' ग्रन्थ में जाम्बवतीविजय और पाताल-विजय दो पृथक् काव्य ग्रन्थ माने हैं। पृष्ठ १७। यह ऐतिह्यविरुद्ध होने से उनकी भूल है।

रचना माना है। अनेक वैयाकरण अष्टाध्यायी से अप्रसिद्ध शब्दों का साधुत्व दर्शाने के लिये इस काव्य को पाणिनीय मानकर उद्धृत करते हैं।[1]

पाश्चात्य विद्वानों ने 'इति+ह+आस' जैसे सत्य विषय में सर्वथा कल्पनाओं से कार्य लिया है। ग्रन्थनिर्माण में मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल आदि की कल्पना करके समस्त भारतीय वाङ्मय को अव्यवस्थित एवं कलुषित कर दिया है। वे समझते हैं कि पाणिनि सूत्रकाल का व्यक्ति है। उसके समय बहुविध छन्दोगुम्फित सरस सालङ्कृत ग्रन्थ की रचना नहीं हो सकती। क्योंकि उस समय सरस काव्य-निर्माण का प्रारम्भ नहीं हुआ था। ऐसे ग्रन्थों का समय सूत्रकाल के बहुत अनन्तर है।

हम इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में अनेक प्राचीन प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं[2] कि भारतीय वाङ्मय में पाश्चात्त्य रीति पर किये काल-विभाग की कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती। जिन ऋषियों ने मन्त्र और ब्राह्मणों का प्रवचन किया था, उन्होंने ही धर्मसूत्र, आयुर्वेद,[3] व्याकरण और रामायण तथा महाभारत जैसे सरस सालङ्कृत महाकाव्यों की रचनाएं कीं।[4] विषय और रचनाभेद से भाषा में भेद होना अत्यन्त स्वाभाविक है। हर्ष ने जो खण्डनखाद्य जैसे नव्यन्याय-गुम्फित कर्णकटु ग्रन्थ की रचना की, वहां नैषध जैसा सरस मधुर महाकाव्य भी बनाया। क्या दोनों में भाषा का अत्यन्त पार्थक्य होने से ये दोनों ग्रन्थ एक व्यक्ति की रचना नहीं है?

पाश्चात्य विद्वान् मन्त्रकाल को सबसे प्राचीन मानते हैं। क्या

---

१. भाषावृत्ति २।४।७४, पृष्ठ १०६। दुर्घटवृत्ति ४।३।२३, पृष्ठ ८२।

२. देखो—प्रथम भाग पृष्ठ २१-२४ (च० संस्करण)।

३. द्र०—वात्स्यायन न्यायभाष्य २।१।६८; ४।१।६२॥ विशेष द्रष्टव्य प्रथमभाग पृष्ठ २२-२४ (च० सं०)।

४. रामायण के रचयिता वाल्मीकि भी एक शाखाप्रवक्ता थे। वाल्मीकि-प्रोक्त शाखा के अनेक नियम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (५।३६।६।४।।१८।६) में उपलब्ध होते हैं। महाभारतकर्त्ता कृष्ण द्वैपायन का शाखाप्रवक्तृत्व भारतीय इतिहास का सर्वविदित तथ्य है।

उनकी रचना छन्दोबद्ध और सरस सालङ्कृत नहीं है ? क्या ब्राह्मण-ग्रन्थों में रामायण महाभारत मनुस्मृति आदि जैसी भाषा, और तादृश छन्दों में रची यज्ञगाथायें नहीं पढ़ी हैं ? भारतीय इतिहास के अनुसार कृष्णद्वैपायन व्यास वैदिक शाखाओं का प्रवक्ता, ब्रह्मसूत्रों का रचयिता, और महाभारत जैसे बहुनीतिगुम्फित सरस सालङ्कृत ऐतिहासिक महाकाव्य का निर्माता है। इसमें किञ्चिन्मात्र सन्देह का अवसर नहीं है। कहां तक कहें, भारतीय इतिहास के अनुसार रामायण जैसे महाकाव्य का रचनाकाल वर्तमान शाखाओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों के संकलन से बहुत प्राचीन है।

पाश्चात्य लेखकों को भय था कि यदि पाणिनि के समय में ऐसे विविधछन्दोयुक्त ललित तथा सरस काव्य की रचना का सद्भाव मान लिया जाएगा, तो उनका कल्पित ऐतिहासिक कालक्रम, तथा उस पर बड़े प्रयत्न से निर्मित उनका ऐतिहासिक प्रासाद तत्क्षण धूलिसात् हो जाएगा। इसलिये जैसे कोई मिथ्यावादी अपने एक असत्य को छिपाने के लिये अनेक असत्य वचनों का आश्रय लेता है, उसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी काल्पनिक ऐतिहासिक काल परम्परा की रक्षा के लिये अनेक असत्य पक्षों की उद्भावना की। इसलिए पाश्चात्य लेखकों के लिखने से, अथवा मुट्ठीभर उनके अनुयायी अङ्ग्रेजी पढ़े लिखे लोगों के कहने मात्र से भारतीय वाङ्मय में एक स्वर से स्वीकृत 'जाम्बवतीविजय' महाकाव्य का कर्तृत्व महामुनि पाणिनि से कथमपि हटाया नहीं जा सकता।

अलंकार—डा० प्रह्लाद कुमार ने अपने 'ऋग्वेदेऽलंकाराः' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

पाणिनीयतन्त्रे उपमालंकारस्य साङ्गोपाङ्ग विवेचनं नयनगोचरी भवति। पृष्ठ ८४। अर्थात्—पाणिनीय अष्टाध्यायी में उपमालंकार का साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होता है।

पाणिनि के काल में विविध लौकिक छन्दों का सद्भाव—महामुनि पिङ्गल पाणिनि का अनुज है, यह भारतीय इतिहास में सर्वलोकप्रसिद्ध बात है। पिङ्गल ने अपने छन्दःशास्त्र में विविध प्रकार के लौकिक छन्दों के अनेक भेद-प्रभेदों का विस्तार से उल्लेख किया है।

इसलिये पाणिनीय काव्य में अनेक प्रकार की छन्दोरचना का उपलब्ध होना सर्वथा स्वाभाविक है।

पाणिनि के काल में चित्रकाव्यों की सत्ता—इतने पर भी जो लोग दुराग्रहवश पाणिनि के काल में विविध लौकिक छन्दों के भेद-प्रभेदों की सत्ता स्वीकार करने को तैयार नहीं होते, उनके परितोषार्थ दुर्जन सन्तोष न्याय से पाणिनि के व्याकरण (जिसे पाश्चात्त्य भी पाणिनीय ही मानते हैं) से ही कतिपय ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिनसे सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट हो जाएगा कि पाणिनि से पूर्व न केवल लौकिक छन्द ही पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुके थे, अपितु उससे पूर्व विविध प्रकार के चित्रकाव्यों की रचना भी सहृदयों के मनों को आह्लादित करती थी। इस विषय में पाणिनि के निम्न सूत्र द्रष्टव्य हैं—

क—अष्टाध्यायी का एक सूत्र है—

संज्ञायाम्। ३।४।४२॥

अर्थात्—अधिकरणवाची उपपद होने पर 'बन्ध' धातु से संज्ञा विषय में 'णमुल्' प्रत्यय होता है।

इस सूत्र की वृत्ति में काशिकाकार ने **क्रौञ्चबन्धं बध्नाति, मयूरिकाबन्धं बध्नाति** उदाहरण देकर स्पष्ट लिखा है—

बन्धविशेषाणां नामधेयान्येतानि।

अर्थात्—ये बन्ध (=काव्यबन्ध) विशेषों के नाम हैं।

ख—अष्टाध्यायी के षष्ठाध्याय में दूसरा सूत्र है—

बन्धे च विभाषा ६।३।१३॥

अर्थात्—'बन्ध' उत्तरपद होने पर हलन्त और अदन्त शब्दों से परे सप्तमी विभक्ति का विकल्प से लुक् होता है।

काशिकाकार ने इस सूत्र पर निम्न उदाहरण दिये हैं—

'हस्ते बन्धः, हस्तबन्धः। चक्रे बन्धः, चक्रबन्धः।'

इसी सूत्र की वृत्ति में काशिकाकार ने प्रत्युदाहरण दिया है—

'हलदन्तादित्येव—गुप्तिबन्धः।'

इन उदाहरणों और प्रत्युदाहरण से स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व काल में चित्रकाव्य रूप बन्धविशेषों का प्रचुर व्यवहार होने लग गया था।[1]

याज्ञिक श्येनचित् आदि के साथ चक्रबन्ध आदि का सादृश्य—यज्ञ सम्बन्धी श्येनचित् कङ्कचित्[2] आदि क्रतुविधियों के साथ छन्दशास्त्र सम्बन्धी चक्रबन्ध क्रौञ्चबन्ध गुप्तिबन्ध आदि की तुलना करने से इनमें परस्पर अद्भुत सादृश्य दिखाई देता है। यज्ञ में श्येन आदि आकार की निष्पत्ति के लिए विभिन्न प्रकार की इष्टकाओं का ऐसे ढंग से चयन करना होता है कि उन इष्टकाओं के चयन से श्येन आदि की आकृति निष्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार चक्रबन्ध क्रौञ्चबन्ध गुप्तिबन्ध आदि में भी शब्दों का चयन अथवा बन्धन इस ढंग से किया जाता है कि उस पर रेखाएं खींच देने पर चक्र क्रौञ्च और गुप्ति आदि की आकृति बन जाती है।

पाश्चात्य विद्वान् इस विषय में तो सहमत हैं कि पाणिनि से पूर्व श्येनचित् कङ्कचित् आदि चयनयागों का उद्भव हो चुका था। ऐसी अवस्था में उनके अनुकरण पर निर्मित **चक्रबन्ध क्रौञ्चबन्ध गुप्तिबन्ध** आदि चित्रकाव्यों की सत्ता में क्या विप्रतिपत्ति हो सकती है? और वह भी उस अवस्था में जब कि पाणिनि के व्याकरणसूत्रों द्वारा **क्रौञ्चबन्ध चक्रबन्ध गुप्तिबन्ध** आदि के साधुत्व का स्पष्ट निदर्शन हो रहा है।

अब रह जाता है जाम्बवतीविजय के गृह्य आदि ऐसे प्रयोगों का प्रश्न जो पाणिनि के लक्षणों से साक्षात् उपपन्न नहीं होते। इसका उत्तर यह है कि पाणिनि ने अपने जिस शब्दानुशासन का प्रवचन किया है, वह अत्यन्त संक्षिप्त है। उसमें प्रायः उत्सर्ग सूत्रों के अल्प प्रयुक्त शब्दविषयक अपवाद सूत्रों का विधान नहीं किया है। इतना ही नहीं, यदि पाणिनि के उत्सर्ग नियमों से साक्षात् असिद्ध शब्दों के

---

१. छन्दःशास्त्र की प्रवृत्ति कब हुई, इसके परिज्ञान के लिये देखिये हमारे 'वैदिक छन्दोमीमांसा' ग्रन्थ का 'छन्दःशास्त्र की प्राचीनता' अध्याय, तथा 'छन्दःशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ (यह शीघ्र छपेगा)।

२. श्येनचितं चिन्वीत, कङ्कचितं चिन्वीत।

प्रयोग के आधार पर ही जाम्बवतीविजय को अपाणिनीय कहा जाए, तो क्या उसके अपने व्याकरणशास्त्र में साक्षात् सूत्रों से असिद्ध लगभग १०० प्रयोगों की उपलब्धि होने से अष्टाध्यायी को भी अपाणिनीय नहीं कहा जा सकता ?

अब हम उन ग्रन्थकारों के वचन उद्धृत करते हैं, जिन्होंने वैयाकरण पाणिनि को ही जाम्बवतीविजय का रचयिता माना है—

१—राजशेखर (सं० ९५० वि०) ने पाणिनि की प्रशंसा में निम्नलिखित पद्य पढ़ा है—

'नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह ।
आदौ व्याकरणं काव्यमनुजाम्बवतीविजयम्' ॥[1]

२—श्रीधरदासकृत 'सदुक्तिकर्णामृत' (सं० १२०० वि०) में सुबन्धु, रघुकार (द्वितीय कालिदास), हरिचन्द्र, भारवि तथा भवभूति आदि कवियों के साथ दाक्षीपुत्र का भी नाम लिखा है। दाक्षीपुत्र वैयाकरण पाणिनि का ही पर्याय है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। यथा—

'सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते,
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि[2] हृदयम् ।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ॥'

३—क्षेमेन्द्र (वि० १२ वीं शताब्दी) ने 'सुवृत्ततिलक' छन्दोग्रन्थ में पाणिनि के उपजाति छन्द की अत्यन्त प्रशंसा की है। वह लिखता है—

'स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः ।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ॥'

---

१. एकाक्षराधिकेयमनुष्टुप् । लौकिक छन्दों में भी भुरिक् निचृत् भेद होते हैं। इसके लिए देखिये—हमारे 'वैदिकछन्दोमीमांसा' ग्रन्थ के पृष्ठ २१३-२१६ ।

२. समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित में भी राजकवि वर्णन में 'हरिचन्द्र' नाम का ही निर्देश मिलता है। कृष्णचरित का उपलब्ध स्वल्पतम भाग हमने तीसरे भाग में ७ वें परिशिष्ट में छापा है। वहां देखें।

४—महाराज समुद्रगुप्त विरचित 'कृष्णचरित्र' का कुछ अंश उपलब्ध हुआ है। उसके आरम्भ में १० मुनि कवियों का वर्णन है। आरम्भ के १२ श्लोक खण्डित हैं। अगले श्लोकों से विदित होता है कि खण्डित श्लोकों में पाणिनि का वर्णन अवश्य था। वररुचि = कात्यायन के प्रसंग में लिखा है—

'न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः ॥१०॥'

अर्थात्—कात्यायन ने केवल वार्तिकों से पाणिनीय सूत्रों को ही पुष्ट नहीं किया, अपितु उसने काव्य में भी पाणिनि का अनुकरण किया है।

पुनः महाकवि भास के प्रकरण में लिखा है—

'अयं च नान्वयात् पूर्णं दाक्षीपुत्रपदक्रमम् ॥२६॥'

अर्थात्—इस (भास) ने दाक्षीपुत्र के पदक्रम (=व्याकरण) का पूर्ण अन्वय (=अनुगमन) नहीं किया।

भास के नाटकों में बहुधा प्रयुक्त अपाणिनीय शब्द इस तथ्य को साक्षात् उजागर करते हैं।[1]

५—महामुनि पतञ्जलि ने १।४।५१ के महाभाष्य में पाणिनि को कवि लिखा है—

'असिद्विशासिगुणेन च यत् सचते तदकीलितमाचरितं कविना।'

६—विक्रम की १२ वीं शताब्दी में होने वाला पुरुषोत्तमदेव अपनी 'भाषावृत्ति' में पाणिनीय सूत्र २।४।७४ की व्याख्या की पुष्टि में जाम्बवतीविजय काव्य को पाणिनीय मानकर उद्धृत करता है।[2]

७—पुरुषोत्तमदेव से कुछ परभावी शरणदेव ने भी अपनी 'दुर्घट-वृत्ति' में बहुत्र पाणिनि के जाम्बवतीविजय को सूत्रकार पाणिनि का काव्य मानकर प्रमाणरूप से उद्धृत किया है। यथा ४।३।२३, पृष्ठ ८२ (प्रथम संस्करण)।

---

१. द्र०—प्रथम भाग पृष्ठ ४२, ४४ (च० सं०)।

२. इति पाणिनेर्जाम्बवतीविजयकाव्यम्।

८—'यशस्तिलकचम्पू' में सोमदेव सूरि ने लिखा है—

'पणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु।' आ० २, पृष्ठ २२६।

यहां सोमदेव सूरि ने पाणिनि के जिन विशिष्ट पद-प्रयोगों की ओर संकेत किया है, वे निश्चित ही जाम्बवतीविजय में प्रयुक्त विशिष्ट पद हैं। पाणिनीय सूत्रपाठ के नहीं हो सकते।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि 'जाम्बवतीविजय महाकाव्य' और शब्दानुशासन का रचयिता पाणिनि एक ही है।

जाम्बवतीविजय का परिमाण—जाम्बवतीविजय इस समय अनुपलब्ध है। अतः उसके विषय में विशेष लिखना असम्भव है। दुर्घटवृत्तिकार शरणदेव ने जाम्बवतीविजय के १८ वें सर्ग का एक उद्धरण दिया है।[1] उससे विदित होता है कि जाम्बवतीविजय में न्यून से न्यून १८ सर्ग अवश्य थे।

जाम्बवतीविजय के उद्धरण—इस महाकाव्य के उद्धरण निम्न ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं—

१. अलङ्कारकौस्तुभ—**कविकर्णपूर**
२. अलङ्कार तिलक—
३. अलङ्कारशेखर—**जीवनाथ**
४. अलङ्कारसर्वस्व—**रुय्यक**
५. कवीन्द्रवचन समुच्चय—
६. कातन्त्र धातुवृत्ति—**रामनाथ**
७. कुवलयानन्द—**अप्पय्य दीक्षित**
८. गणरत्न महोदधि—**वर्धमान**
९. दशरूपक—**धनञ्जय**
१०. दुर्घटवृत्ति—**शरणदेव**
११. ध्वन्यालोक—**आनन्दवर्धन**
१२. पदचन्द्रिका (अमरकोष टीका)—**रायमुकुट**
१३. पद्यरचना—**लक्ष्मणभट्ट आङ्कोलकर**।
१४. प्रतापरुद्र—**यशोभूषण-टीका**

---

१. त्वया सहार्जितं यच्च यच्च सख्यं पुरातनम्। चिराय चेतसि पुरस्तरुणीकृतमद्य मे। इत्यष्टादशे। दुर्घटवृत्ति ४।३।२३, पृष्ठ ८२।

१५. प्रसन्नसाहित्यरत्नाकर—नन्दन (अमुद्रित)
१६. भामहकाव्यालङ्कार—उद्भट विवरण (?)
१७. भाषावृत्ति—पुरुषोत्तमदेव
१८. रुद्रट-काव्यालङ्कार-टीका—नमिसाधु
१९. वाग्भटालङ्कार—वाग्भट
२०. शार्ङ्गधरपद्धति—शार्ङ्गधर
२१. सदुक्तिकर्णामृत—श्रीधरदास
२२. सरस्वतीकण्ठाभरण—कृष्ण लीलाशुक मुनि
२३. सुभाषितरत्नकोश[1]—विद्याकर
२४. सुभाषितावली—वल्लभदेव
२५. सम्यालङ्करण—गोविन्दजित्
२६. सूक्तिमुक्तावली—जल्हण
२७. सूक्तिमुक्तावली—सारसंग्रह
२८. हेम-काव्यानुशासन वृत्ति—हेमचन्द्र
२९. पुरुषोत्तमदेव विरचित भाषावृत्ति (१।१।१५) की टिप्पणी

पाणिनीय जाम्बवतीविजय काव्य के उपर्युक्त ग्रन्थों में से लगभग २०-२२ उद्धरणों का संग्रह पी० पीटर्सन ने JRAS सन् १८९१ पृष्ठ ३१३-३१६ में प्रकाशित किया था। तदनन्तर पं० चन्द्रधर गुलेरी ने दुर्घटवृत्ति भाषावृत्ति गणरत्नमहोदधि सुभाषितावली में उपलब्ध नये छः उद्धरणों के साथ २८ उद्धरण 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका काशी' नया संस्करण भाग १, खण्ड १ में भाषानुवाद सहित प्रकाशित किये थे। एक उद्धरण अभी छपते छपते[2] उपलब्ध हुआ है।

सरस्वतीकण्ठाभरण की कृष्ण लीलाशुक मुनि विरचित टीका में पाणिनीय काव्य के उद्धरणों की सूचना कृष्णमाचार्य ने अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' ग्रन्थ के पृष्ठ ८५ पर दी है। नन्दनकृत प्रसन्न-साहित्यरत्नाकर (अमुद्रित) में पाणिनि के नाम से स्मृत दो श्लोक हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित (सन् १९५७)

---

१. इसका एक नया सुन्दर संस्करण भी कुछ समय पूर्व प्रकाशित हुआ है।

२. इसकी सूचना विजयपाल नामक शोधकर्त्ता ने १८-६-८४ के पत्र द्वारा दी है।

'सुभाषितरत्नकोश' के परिशिष्ट पृष्ठ ३३१ पर उद्धृत् है। भामह के काव्यालङ्कार के जो उद्भट कृत विवरण का अतिजीर्ण हस्तलेख काफिरकोट के पास से उपलब्ध हुआ है, उस में पाणिनीय काव्य का एक त्रुटित श्लोकांश उद्धत है' (द्र०—छपी पुस्तक पृष्ठ ३४ का अन्त, ३५ का आरम्भ)।

इस प्रकार अभी तक २९ ग्रन्थों में पाणिनीय जाम्बवतीविजय काव्य के उद्धरण उपलब्ध चुके हैं। प्रयत्न करने पर इसके और भी उद्धरण हस्तलिखित ग्रन्थों में ढूंढे जा सकते हैं।

पाणिनीय जाम्बवतीविजय काव्य के अद्ययावत् समस्त उपलब्ध श्लोक वा श्लोकांशों का संग्रह इस ग्रन्थ के तृतीय भाग के ६ छठे परिशिष्ट में हम दे रहे हैं।

२—व्याडि (२९०० वि० पूर्व)

महामुनि व्याडि अभी तक केवल वैयाकरण रूप में, और वह भी व्याकरणसम्बन्धी दार्शनिक ग्रंथकार के रूप में प्रसिद्ध थे। परन्तु महाराज समुद्रगुप्त के कृष्णचरित के कुछ अंश के उपलब्ध हो जाने से वैयाकरण व्याडि का महाकाव्यकर्तृत्व भी स्पष्ट परिज्ञात हो गया। कृष्णचरित के मुनि कवि वर्णन-प्रसङ्ग में लिखा है—

रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः।
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः ॥१६॥
बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव ॥१७॥

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि महामुनि व्याडि ने भारत (महाभारत नहीं) से भी बृहद् आकार का बलचरित (=बलदेव का चरित) लिखा था।

व्याडि के काव्यनिर्माण की पुष्टि अमरकोष की अज्ञातकर्तृक टीका से भी होती है। यह टीका मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में सुरक्षित है। इसके १८५वें पत्रे में व्याडि का निम्न पद्यांश उद्धृत है—

---

१. विशेष विवरण द्र०— यही ग्रन्थ भाग प्रथम पृष्ठ २५८, २५९ (च० सं)।

'कमपि भूभुवनाङ्गणकोणम्—इति व्याडिभाषासमावेशः ।'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि व्याडि के किसी काव्य में भट्टिकाव्य के १२वें सर्ग के समान **भाषासमावेश** नामक कोई भाग था ।

इससे अधिक हम व्याडि के काव्य के विषय में कुछ नहीं जानते ।

३—वररुचि कात्यायन (२८०० वि० पूर्व)

महामुनि पतञ्जलि ने महाभाष्य ४।३।१०१ में **वाररुच काव्य** का साक्षात् उल्लेख किया है। यह वररुचि वार्तिककार कात्यायन वररुचि ही है।[1] यह पूर्व वार्तिककार के प्रकरण में (अ० ८) में लिख चुके हैं।

वररुचि का स्वर्गारोहण काव्य—महाराज समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित में मुनि कवि वर्णन प्रसंग में लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
काव्येन रुचिरेणासौ ख्यातो वररुचिः कविः ॥

न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः ।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः' ॥

अर्थात्—जो स्वर्ग में जाकर (श्लेष से स्वर्गारोहणसंज्ञक काव्य बनाकर) स्वर्ग को पृथ्वी पर ले आया, वह वररुचि अपने मनोहर काव्य से विख्यात है। उस महाकवि कात्यायन ने केवल पाणिनीय व्याकरण को ही अपने वार्तिकों से पुष्ट नहीं किया, अपितु काव्य रचना में भी उसी का अनुकरण किया।

कात्यायन के स्वर्गारोहण काव्य का उल्लेख जल्हण की 'सूक्ति-मुक्तावली' में भी मिलता है । उसमें राजशेखर का निम्न श्लोक उद्धृत है—

'यथार्थता कथं नाम्नि माभूद् वररुचेरिह ।
व्यधत्त कण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः' ॥

---

१. नागेश के लघुशब्देन्दुशेखर की 'संख्या वंश्येन' सूत्र व्याख्या से ध्वनित होता है कि कात्यायन पाणिनि का शिष्य था ।

इस श्लोक में चतुर्थ चरण का पाठ भ्रष्ट है। यहां **सदारोहणप्रियः** के स्थान पर **स्वर्गारोहणप्रियः** पाठ होना चाहिये।

कात्यायन ने महाकाव्य के अतिरिक्त कोई साहित्यविषयक लक्षण-ग्रन्थ भी लिखा था। अभिनवगुप्त भरतनाट्यशास्त्र (भाग २, पृष्ठ २४५, २४६) की टीका में लिखता है—

'यथोक्तं कात्यायनेन—

वीरस्य भुजदण्डानां वर्णने स्रग्धरा भवेत्।
नायिकावर्णनं कार्यं वसन्ततिलकादिकम्।
शार्दूललीला प्राच्येषु मन्दाक्रान्ता च दक्षिणे' ॥इति।

इसी प्रकार 'शृङ्गारप्रकाश' (पृष्ठ ५३) में भी लिखा है—

'तथा च कात्यायन—
उत्तारणाय जगतः प्रपिततामहेन,
तस्मात् पदात् त्वमसि प्रवृत्ता।'

आचार्य वररुचि के अनेक श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति, सदुक्तिकर्णामृत और सुभाषितरत्नावली आदि अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

४—पतञ्जलि (२००० विक्रम पूर्व)

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने **महानन्द** अथवा **महानन्दमय** नामक कोई काव्यग्रन्थ भी लिखा था। महाराज समुद्रगुप्त ने कृष्णचरित में मुनिकवि वर्णन-प्रसङ्ग में महाभाष्यकार पतञ्जलि का वर्णन करते हुए लिखा है—

'महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम्।
योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषापहम्' ॥

'सदुक्तिकर्णामृत' में भाष्यकार के नाम से निम्न श्लोक उद्धृत है—

'यद्यपि स्वच्छभावेन दर्शयत्यम्बुधिर्मणीन्।
तथापि जानुदघ्नेयमिति चेतसि मा कृथाः' ॥

यहां सम्भवतः **जानुदघ्नोऽयं** पाठ शुद्ध हो, अन्यथा भाष्यकार के मत से अम्बुधि स्त्रीलिङ्ग भी मानना चाहिये।

इससे अधिक भाष्यकार के काव्य के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

वासुकि अपरनाम पतञ्जलि विरचित **साहित्य-शास्त्र का वर्णन** हम प्रथम भाग (पृष्ठ ३८४, च० सं०) में कर चुके हैं। वासुकि के नाम से उद्धृत ग्रन्थ वैयाकरण पतञ्जलि का ही है, इस सम्भावना को पतञ्जलि के काव्यकार होने से बल मिलता है।

५ – महाभाष्य में उद्धृत कतिपय वचन

पाणिनि व्याडि वररुचि और पतञ्जलि इन चारों वैयाकरणों ने काव्यग्रन्थों का ग्रन्थन किया था, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इनके काव्य व्याकरण-शास्त्रोपजीवी काव्यशास्त्र रूप थे, यह कहना अत्यन्त कठिन है। परन्तु महाभाष्य में विभिन्न स्थानों पर उद्धृत कतिपय वचनों से इतना अवश्य स्पष्ट है कि लक्ष्य- प्रधान व्याकरण शास्त्रोपजीवी कतिपय काव्यों की रचना महाभाष्य से पूर्व अवश्य हो गई थी।

महाभाष्य में पतञ्जलि ने कतिपय सूत्रों की व्याख्या में कुछ ऐसे उदाहरण प्रत्युदाहरण उद्धृत किये हैं, जो किसी लक्ष्य-प्रधान काव्य व्याकरणशास्त्रोपजीवी के अंश प्रतीत होते हैं। यथा—

१. महाभाष्य १।३।२५ में **उपाद् देवपूजासंगतिकरणयोः** वार्तिक की व्याख्या में निम्न श्लोक उद्धृत हैं—

'बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।
पश्य वानरसैन्येऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते॥
मैवं मंस्थाः सचित्तोऽयमेषोऽपि हि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति॥'

इन श्लोकों में से प्रथम में देवपूजा अर्थ में **उपतिष्ठते** आत्मनेपद का प्रयोग दर्शाया है। द्वितीय में देवपूजा का अभाव द्योतित करने के लिए **उपतिष्ठति** परस्मैपद का निर्देश किया है।

प्रकरण से द्योतित होता है कि पतञ्जलि ने ये दोनों श्लोक किसी ऐसे काव्य से उद्धृत किये हैं, जो लक्षणप्रधान था।

२. महाभाष्य १।३।४८ से **व्यक्तवाचाम्** का प्रत्युदाहरण दिया है—

'वरतनु सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः।'

यह भी किसी काव्यशास्त्र के श्लोक का एक चरण है।

३. महाभाष्य १।१।५६ में सूत्र प्रयोजन विषयक आशङ्का उपस्थित करके उत्तर के रूप में 'स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिम्' श्लोक उद्धृत किया है। इसे हम इसी अध्याय में पूर्व (पृष्ठ ४६३) लिख चुके हैं।

४. महाभाष्य २।४।३ में—

नन्दन्तु कठकालापाः।
वर्धन्तां कठकौथुमाः।
तिष्ठन्तु कठकालापाः।
उदगात् कठकालापम्।
प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।

ये पांचों वचन पादबद्ध हैं, और किसी एक ही ऐसे काव्यशास्त्र-रूपी ग्रन्थ से संगृहीत किये गये हैं, जिसमें इस सूत्र के उदाहरण प्रत्युदाहरण निर्दिष्ट थे। भौमक के रावणार्जुनीय काव्य में इसी सूत्र के प्रकरण में अन्तिम दोनों वचन इसी वर्णानुपूर्वी में संगृहीत हैं। द्र०—सर्ग ७, श्लोक ४।

रावणार्जुनीय के सम्पादकद्वय शिवदत्त-काशीनाथ ने महाभाष्य में निर्दिष्ट उदगात् कठकालापम्, प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् को इनके साथ पठित उदगात् कौमोदपैप्पलादम् उदाहरण की दृष्टि से पदग्रन्थि गद्य माना है। पूर्वनिर्दिष्ट सभी उद्धरणों को देखने से यही निश्चित होता है कि ये निश्चय ही किसी लक्ष्यप्रधान काव्य के वचन हैं।

६—भट्ट भूम (सं ६०० के लगभग)

भट्टभूम अथवा भूमक अथवा भीम विरचित रावणार्जुनीय अथवा अर्जुनरावणीय[1] नामक एक लक्ष्य-लक्षण-प्रधान काव्य उपलब्ध है।

परिचय—भट्टभूम ने अपना कोई परिचय अपने ग्रन्थ में नहीं

१. मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र भाग ४ खण्ड १ A पृष्ठ ४२८१, संख्या २६५४ इस काव्य का एक हस्तलेख 'अर्जुनरावणीय' नाम से निर्दिष्ट है।

दिया । अतः इस महाकवि का वृत्त अन्धकारावृत है । मुद्रित रावणार्जुनीय के अन्त में निम्न पुष्पिका उपलब्ध होती है—

'कृतिस्तत्र भवतो महाप्रभावश्रीशारदादेशान्तर्वर्त्तिवल्लभीस्थान-निवासिनो भूमभट्टस्येति शुभम् । वल्लभीस्थानं उडू इति ग्रामो वराह-मूलोपकण्ठस्थितः ।'

इससे इतना ही ज्ञात होता है कि भट्टभूम काश्मीरी थे इनका निवास स्थान वल्लभी था, जो वराहमूल (बारामूला) के समीपवर्ती उडु ग्राम है ।

इससे अधिक इस महाकवि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता ।

काल—क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक के तृतीय विन्यास के चतुर्थ श्लोक में भूम-विरचित भौमक काव्य का साक्षात् उल्लेख किया है ।[1] इससे इतना तो निश्चित है कि भट्टभूम वि० सं० १०६० से पूर्ववर्ती अवश्य है ।

'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' पृष्ठ १४२ पर सीताराम जयराम जोशी ने लिखा है—

"काशिकावृत्ति तथा क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक में इस काव्य का निर्देश मिलता है । यह कवि प्रवरसेन (ई० ५५०–६००) और ई० ६६० से पूर्व था ।"

वी० वरदाचार्य ने भी रावणार्जुनीय काव्य का निर्देश काशिका-वृत्ति में माना है । और भौमक चे रावणार्जुनीय काव्य का प्रभाव भट्टि-काव्य पर स्वीकार करके इसका काल पांचवी शती के लगभग स्वीकार किया हैं ।[2]

हमें इस काव्य का निर्देश काशिकावृत्ति में कहीं नहीं मिला । कह नहीं सकते कि दोनों ग्रन्थकारों ने काशिका में कहीं संकेत उपलब्ध करके लिखा है, अथवा किसी अन्य ग्रन्थ का अन्धानुकरण किया है ।

भट्टि और रावणार्जुनीय का पौर्वापर्य—भट्टि और रावणार्जुनीय

---

१. भट्टिभौमककाव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते ।

२. सं० साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाचस्पति गैरोलाकृत, पृ० ८५१ .

दोनों काव्यों में कौन पूर्ववर्ती और कौन उत्तरवर्ती है, यह अन्तः-परीक्षा के आधार पर सर्वथा असम्भव है। क्षेमेन्द्र के **भट्टिभौमक-काव्यादि** निर्देश में भट्टि का निर्देश पूर्वकालता के कारण है अथवा समास के अल्पाच्तररूप पूर्वनिपात नियम के कारण, यह कहना भी अति कठिन है। पुनरपि हमारा विचार है कि वी० वरदाचार्य का मत (भट्टि से भूमक की पौर्वकालिकता) इस विषय में अधिक ठीक है।

ग्रन्थनाम का कारण—इस काव्य में कार्तवीर्य अर्जुन और रावण के युद्ध का वर्णन है। इसलिए **रावणार्जुन** अथवा **अर्जुनरावण** द्वन्द्व समास से पाणिनीय ४।३।८८ के नियम से छ (=**ईय**) प्रत्यय होता है।[1]

काव्यपरिचय—भट्ट भूम ने इस काव्य में पाणिनीय अष्टाध्यायी के स्वर वैदिक विषयक सूत्रों को छोड़कर पाणिनि सूत्रक्रम से तत्तत् सूत्रसिद्ध विशिष्ट प्रयोगों के निदर्शन कराने का प्रयत्न किया है। अष्टाध्यायी का प्रथम पाद संज्ञापरिभाषात्मक है, साक्षात् शब्द-साधक नहीं है। इसलिए ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का आरम्भ अष्टाध्यायी के द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र से किया है।

मुद्रित ग्रन्थ—आरम्भ में इस काव्य की एक ही प्रति काश्मीर से उपलब्ध हुई थी, वह भी मध्य-मध्य में त्रुटित थी। उसी से विभिन्नकाल में की गई दो प्रतिलिपियों के आधार पर पं० काशीनाथ और शिवदत्त ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया था। इस कारण काव्यमाला (निर्णयसागर प्रेस) में प्रकाशित ग्रन्थ स्थान-स्थान पर त्रुटित है।

सम्पादक-द्वय ने इस मुद्रित ग्रन्थ में यथास्थान पाणिनीय सूत्रों का निर्देश करके इस काव्य की उपयोगिता को निस्सन्देह बढ़ा दिया है।

अन्य हस्तलेख—अब इस काव्य के दो हस्तलेख और उपलब्ध

---

१. अधिकृत्य कृते ग्रन्थे, शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः। सम्भव है इस सूत्र से 'छ' प्रत्यय की प्राप्ति देखकर वरदाचार्य ने रावणार्जुनीय का काशिका में निर्देश लिख दिया हो।

हैं। उनमें से एक मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में है। यह हस्तलेख वासुदेवकृत टीका सहित है। द्र०—सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १A, पृष्ठ ४२८१, संख्या २९५४। द्वितीय हस्तलेख लन्दन के इण्डिया आफिस पुस्तकालय में है। द्र०—सूचीपत्र भाग २, खण्ड २, संख्या (लिखनी रह गई)।

इन दोनों हस्तलेखों के आधार पर इस ग्रन्थ का पुनः सम्पादन होना चाहिए।

ग्रन्थकार की ऐतिहासिक भूल—भट्ट भूम ने अष्टाध्यायी २।४।३ के प्रसङ्ग में महाभाष्य में उद्धृत किसी प्राचीन काव्यशास्त्र के दो चरणों का समावेश इस ग्रन्थ में भी कर दिया है—

'उदगात् कठकालापं प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्।
येषां यज्ञे द्विजातीनां तद्विघातिभिरन्वितम्॥' ७।४॥

परन्तु यह सन्निवेश ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण है। कठ-कलाप-कौथुम आदि चरणों का प्रवचन द्वापर के अन्त में वेदव्यास तथा उनके शिष्यों ने किया था। कार्तवीर्य अर्जुन का काल इससे बहुत पूर्ववर्ती है। वह द्वापर के मध्य अथवा तृतीय चरण में हुआ था।[1]

भट्टि और रावणार्जुनीय में अन्तर—यद्यपि दोनों काव्य व्याकरणप्रधान हैं, परन्तु इन दोनों में एक मौलिक अन्तर है। भट्टिकाव्य में जहां व्याकरण के प्रकरण-विशेषों को ध्यान में रखकर विशिष्ट पदावली का संग्रथन है, वहां रावणार्जुनीय में अष्टाध्यायी के सूत्र-पाठ क्रम से निर्दिष्ट विशिष्ट सूत्रोदाहरणों का संकलन है। इस

१. वाल्मीकीय रामायण अयोध्या काण्ड ३२।१८ में कठ, तैत्तिरीय आदि का निर्देश उपलब्ध होता है, परन्तु वह अंश प्रक्षिप्त है। क्योंकि कठ तित्तिरि आदि शाखा प्रवक्ता द्वापर के अन्त में कृष्ण द्वैपायन व्यास के वैशम्पायन नामा शिष्य के अन्तेवासी थे, जब कि रामायण की रचना त्रेता के अन्त में हुई। रामायण में यह मिलावट किसी कृष्णयजुर्वेदी की अपनी शाखाओं की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये की है। यह भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है।

मौलिक अन्तर की दृष्टि से भट्टि की अपेक्षा भट्टभूम का काव्य-निर्माण कार्य अधिक क्लिष्ट और चमत्कारपूर्ण है।

इस दृष्टि से भी हमारा भी यही विचार है कि भूमक भट्टि से पूर्ववर्ती है।

टीकाकार—वासुदेव

सौभाग्य से रावणार्जुनीय अपरनाम अर्जुनरावणीय काव्य की वासुदेव नामा विद्वान् विरचित टीका का एक हस्तलेख मद्रास के राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। द्र०-सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १A, पृष्ठ ४२८१, संख्या २९५४।

इस हस्तलेख का आदि पाठ इस प्रकार है—

'वासुदेवैकमनसा वासुदेवेन निर्मितम्।
वासुदेवीयटीकां तां वासुदेवोऽनुमन्यताम्॥'

इसके अन्त का पाठ इस प्रकार है—

'इति अर्जुनरावणीये रघाभ्यां पादे सप्तविंशः सर्गः।
अर्जुनरावणीयं समाप्तम्।'

इस वासुदेव का निर्देश—नारायण भट्ट अथवा नारायण कवि के धातु-काव्य पर रामपाणिवाद की एक टीका का हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है। उसके आरम्भ में लिखा है—

'उदाहृतं पाणिनिसूत्रमण्डलं प्राग्वासुदेवेन तदूर्ध्वतोऽपरः।
उदाहरत्यद्य वृकोदरोदितान् धातून् क्रमेणैव हि माधवसंश्रयात्॥'

धातुकाव्य का रचनाकाल वि० सं० १६१७—१७३३ तक है। अत: इसकी टीका में उद्धृत वासुदेव सं० १६५० वि० से तो पूर्ववर्ती अवश्य होगा।

इससे अधिक इस टीका और टीकाकार के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

संस्कृत-साहित्य के इतिहास लेखकों ने भट्टभूम के रावणार्जुनीय काव्य का निर्देश तो किया है, परन्तु इस टीका का संकेत भी किसी ने नहीं किया।

७—भट्टिकाव्यकार (सं० ६००—६५० वि०)

साहित्य तथा व्याकरण के वाङ्मय में भट्टि नामक महाकाव्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। लक्षण ग्रन्थों के अध्ययन से ग्लानि करने वाले अथवा भयभीत संस्कृत-अध्ययनार्थी चिरकाल से भट्टि काव्य के आश्रय से संस्कृत का अध्ययन करते रहे हैं। भट्टिकाव्य पर विविध व्याकरण शास्त्रों की दृष्टि से लिखे गये बहुविध टीका ग्रन्थों से यह स्पष्ट हैं कि इस काव्य का संस्कृत-शिक्षण की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत में व्यापक प्रचार रहा हैं। इस दृष्टि से भट्टिकाव्य का काव्य-शास्त्रों में अथवा लक्ष्यप्रधान काव्यों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भट्टिकार का नाम—भट्टिकाव्य के रचयिता का वास्तविक नाम क्या है, इस विषय में कुछ मतभेद है। जटीश्वर जयदेव जयमंगल इन तीन नामों से व्यवहृत होने वाले जयमङ्गला टीका के रचयिता ने स्वटीका के आरम्भ में इस प्रकार लिखा है—

'लक्ष्यं लक्षणं चोभयमेकत्र प्रदर्शयितुं श्रीस्वामिसूनुः कविर्भट्टिनामा रामकथाश्रयमहाकाव्यं चकार।'

ऐसा ही इस टीकाकार ने स्वव्याख्या के अन्त में भी लिखा है। तदनुसार कवि का नाम भट्टि, और उसके पिता का नाम श्रीस्वामी है।

अन्य प्रायः सभी टीकाकार भट्टिकाव्य के रचयिता का नाम भर्तृहरि लिखते हैं। यथा—

१—भर्तृहरि काव्य-दीपिका का कर्ता जयमङ्गल[1] ग्रन्थ के आरम्भ में लिखता है—

'कविकुलकृतिकैरवकरहाटः श्रीभर्तृहरिः कविर्भट्टिकाव्यं चिकीर्षुः।'[2]

पुनः ग्रन्थ के अन्त में लिखता है—

१. यह जयमङ्गल पूर्वनिर्दिष्ट जयमङ्गल से भिन्न व्यक्ति है।

२. इण्डिया आफिस लायब्रेरी सूचीपत्र, भाग १ खण्ड २ संख्या ६२१, ६२२।

'इति भर्तृहरिकाव्यदीपिकायां जयमङ्गलाख्यायां—'।

२—श्री कन्दर्पशर्मा लिखता है—

'अत्र तावन्महामहोपाध्याय श्रीभर्तृहरिकविना शब्दकाव्ययो-र्लक्षणलक्षितानि……'।[1]

३—भट्टचन्द्रिका का रचयिता विद्याविनोद लिखता है—

'अत्र कविना श्रीधरस्वामिसूनुना भर्तृहरिणा सर्गबन्धो महाकाव्य-लक्षणसूचनाय……'।[2]

४—व्याख्यासार नाम्नी टीका का अज्ञातनामा लेखक लिखता है—

'अथाशेषविशेषण बालान् व्युत्पिपादयिषुः श्रीमद्भर्तृहरिकृतस्य रामायणानुयायि-भट्टयाख्याग्रन्थस्य……'।[3]

५—भट्टिबोधिनी टीका का लेखक हरिहर लिखता है—

'परिवृढयन् भर्तृहरिः काव्यप्रसंगेन……'।

६—मल्लिनाथ भी भट्टि काव्य को भर्तृहरि की रचना मानता है। इसी प्रकार अन्य टीकाकारों का भी यही मत है।

भट्टिकाव्य के टीकाकारों के अतिरिक्त कतिपय ग्रन्थकारों ने भी भट्टिकाव्य को भर्तृहरि के नाम से उद्धृत किया है। यथा—

७—पञ्चपादी उणादि-वृत्तिकार श्वेतवनवासी लिखता है—

क—तथा च भर्तृकाव्ये प्रयोगः—भुवनहितच्छलेन' (भट्टि १।१) इति। उणादि २।८०, पृष्ठ ८३।

ख—तथा च भर्तृकाव्ये प्रयोगः—

'सम्प्राप्य तीरं तमसापगायाः गङ्गाम्बुसम्पर्कविशुद्धिभाजः' (भट्टि ३।३९) इति। उणादि ३।१११, पृष्ठ १२६।

---

१. इण्डिया आफिस लायब्रेरी सूचीपत्र, भाग १ खण्ड २ संख्या ९२१ के आगे।

२. मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह सूचीपत्र, भाग ६, पृष्ठ ७६६२, संख्या ५७१२,

३. मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह सूचीपत्र, भाग ६, पृष्ठ ७६६१, संख्या ५७१०।

इन दोनों उद्धरणों में प्रथम का यद्यपि भट्टिकाव्ये पाठान्तर मिलता हैं, तथापि द्वितीय उद्धरण में पाठान्तर न होने से स्पष्ट है कि श्वेतवनवासी भट्टिकाव्य को भर्तृहरि की कृति मानता है।

८—हरिनामामृत व्याकरण के १४६३ वें सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

फलेग्रहिन् हंसि वनस्पतीन् इति भर्तृहरिविप्रः।[1]

यह पाठ भट्टिकाव्य २।३ में मिलता है।

नाम का निर्णय—हमारे विचार में दोनों नामों में मूलतः कोई भेद नहीं है। भट्टि यह नाम भर्तृहरि के एकदेश भर्तृ का ही प्राकृत रूप है। अन्य भर्तृहरि नाम के लेखकों से व्यावृत्ति के लिये इस भर्तृहरि के लिये ग्रन्थकारों ने भर्तृ शब्द के प्राकृत भट्टिरूप का व्यवहार किया है।

अनेक भर्तृहरि—महाकवि कालिदास के समान भर्तृहरि नाम के भी कई विद्वान् हो चुके हैं। एक प्रधान वैयाकरण वाक्यपदीय का तथा महाभाष्य-दीपिका का रचयिता भर्तृहरि है। दूसरा—भट्टि-काव्य का कर्त्ता है। तीसरा भागवृत्ति का लेखक है। इन तीनों के नामसादृश्य से उत्पन्न होनेवाले भ्रम को दूर करने के लिये अर्वाचीन वैयाकरणों ने अत्यधिक सावधानता बरती है। वाक्यपदीयकार आद्य भर्तृहरि के उद्धरण ग्रन्थकारों ने सर्वत्र हरि अथवा भर्तृहरि के नाम से उद्धृत किये हैं। भट्टिकाव्य के उद्धरण प्रायः सर्वत्र भट्टि नाम से निर्दिष्ट है (केवल श्वेतनवासी ने भर्तृकाव्य का व्यवहार किया है)। भागवृत्ति, के उद्धरण सर्वत्र भागवृत्ति भागवृत्तिकृत् अथवा भाग-वृत्तिकार के नाम से उल्लिखित किये गये हैं। इस प्रकार तीनों भर्तृहरि के उद्धृत उद्धरणों में ग्रन्थकारों ने कहीं पर भी साङ्कर्य नहीं होने दिया।

तीनों भर्तृहरि के विषय में हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ३६५–४०२ (च० संस्क०) तक विस्तार से लिख चुके हैं, अतः यहां विस्तार नहीं करते।

परिचय—प्रसिद्ध जयमङ्गला टीका में महाकवि भट्टि के पिता का नाम श्रीस्वामी लिखा है, परन्तु भट्टिचन्द्रिका के रचयिता विद्या

विनोद ने श्रीधर स्वामी नाम का निर्देश किया है। सम्भवतः श्री स्वामी श्रीधर स्वामी का एकदेश है। अतः भट्टि के पिता का नाम श्रीधर स्वामी अधिक युक्त प्रतीत होता है।

भट्टिकाव्य के अन्तिम श्लोक से विदित होता है कि भट्टिकार गुजरात अन्तर्वर्ती **वलभी** नगरी का निवासी था।

काल—भट्टिकार ने अन्तिम श्लोक में लिखा है—

'काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।'

वलभी में श्रीधरसेन नामक ४ राजा हुए हैं। उनका काल वि० सं० ५५० से ७०५ तक है। इनमें से किस श्रीधरसेन के काल में भट्टिकाव्य लिखा गया, यह कहना कठिन है। भागवृत्ति के व्याख्याकार सृष्टिधर के वचनानुसर भागवृत्ति की रचना भी वलभी के किसी श्रीधरसेन नामक नरेन्द्र के काल में हुई है। हमारा विचार है कि भागवृत्ति की रचना चतुर्थ श्रीधरसेन के काल (वि० सं० ७०२–७०५) में हुई।[1] और भट्टिकाव्य की रचना तृतीय श्रीधरसेन के राज्यकाल (सं० ६६०–६७७) में हुई। संस्कृत-कविदर्शन के लेखक डा० भोलाशंकर व्यास ने भट्टिकाव्य की रचना द्वितीय श्रीधरसेन के समय में मानी है (पृष्ठ १४३)। परन्तु अन्त में समय ६१० ई०—६१५ ई० (६६७ वि०—६७२ वि०) लिखा है। द्वितीय श्रीधरसेन का काल लगभग ६२८ वि०—६४६ वि० (५७१ ई०—५८९ ई०) तक है। अतः ६१० ई०—६१५ ई० काल गणना के अनुसार तृतीय श्रीधरसेन का ही है। सम्भव है भोलाशंकर व्यास से 'तृतीय श्रीधरसेन' पाठ के स्थान में 'द्वितीय' शब्द अनवधानता से लिखा गया हो।

भट्टि और भामह—भट्टि और भामह ने अलङ्कारों का जो क्रम अपने अपने ग्रन्थों में दिया है, उसमें बहुत समानता है। ऐसी कुछ समानता भामह और दण्डी के क्रम में भी है। अतः इस समानतामात्र से दोनों के पौर्वापर्य के विषय में कुछ निश्चय नहीं हो सकता।

अलङ्कारक्रम के सादृश्य के अतिरिक्त दोनों ग्रन्थकारों के एक पद्य में भी अद्भुत समानता है। यथा—

---

१. द्र०—प्रथमभाग पृष्ठ ५१५ (च० सं०)।

भामह का पद्य है—

काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत् ।
उत्सवस्सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः' ॥२।३०॥

भट्टि का कथन—

'व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवस्सुधियामलम् ।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियचिकीर्षया' ॥१२।३४॥

इस समानता से स्पष्ट है कि कोई एक दूसरे का अनुकरण कर रहा है। कीथ ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में भट्टि को भामह से पूर्ववर्ती माना है। और भट्टि के **व्याख्यागम्यमिदं काव्यं** श्लोक की भामह द्वारा की गई प्रतिध्वनि को भद्दे ढंग से दोहराना कहा है। इसी प्रकार भट्टि द्वारा प्रस्तुत अलङ्कारों की सूची को दण्डी और भामह की अलङ्कार सूचियों से मौलिकतापूर्ण कहा है।[1]

इसके विपरीत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' के लेखक कन्हैया लाल पोद्दार का मत है कि भामह भट्टि का पूर्ववर्ती है। भामह ने उक्त श्लोक में यमक और प्रहेलिका अलङ्कारों का निर्देश करने के अनन्तर उक्त प्रकार के क्लिष्ट काव्यों की निन्दा की है। परन्तु भट्टि ने अपने ग्रन्थ के अन्त में भामह द्वारा निन्दित क्लिष्टकाव्य की प्रशंसा में उक्त वचन कहा है। इतना ही नहीं, भट्टि ने भामह के **उत्सवस्सुधियामेव** के स्थान पर **उत्सवस्सुधियामलम्** में **एव** के स्थान में **अलम्** का निर्देश करते हुए क्लिष्टकाव्य-रचना का प्रयोजन **विद्वत्प्रियचिकीर्षया** बताया है।[2] इतना ही नहीं, इससे पूर्ववर्ती—

'दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्तामर्ष इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ॥'

श्लोक में भी वैयाकरणों के लिए ही काव्य रचना करने का संकेत किया है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि भट्टि भामह से पूर्ववर्ती है। भामह का काल वि० सं० ६८७ से पर्याप्त पहले है। सं० ६८७ वि० के

---

१. द्रष्टव्य, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १४१, १४२।

२. कन्हैयालाल पोद्दार सं० सा० का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १०१-१०४।

समीपवर्ती स्कन्दमहेश्वर ने निरुक्त टीका १०।१६ में भामह का '**तुल्य श्रुतीनां'' तन्निरुच्यते**' (२।१७) का वचन उद्धृत किया है। **न्यास** के सम्पादक ने भामह के अलङ्कारशास्त्र के **शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा** वचन में न्यासकार नाम देखकर भामह का काल सन् ७७५ ई० (सं० ८३२ वि०) माना है। सम्भवतः कीथ ने भी भामह द्वारा न्यासकार का उल्लेख होने से भट्टि को भामह से पूर्ववर्ती सिद्ध करने की चेष्टा की है। वस्तुतः यह मत चिन्त्य है। काशिका व्याख्या न्यास से पूर्व भी व्याकरण इतिहास में अनेक न्यास प्रसिद्ध थे।[1]

भट्टि काव्य का नाम—भट्टिकाव्य का वास्तविक नाम रावण-वध काव्य है।

टीकाकार

भट्टिकाव्य पर अनेक व्याख्याकारों ने टीका ग्रन्थ लिखे हैं। इस में निम्न प्रसिद्ध हैं—

(१) जटीश्वर-जयदेव-जयमङ्गल (सं० १२२६ वि० से पूर्व)

जटीश्वर-जयदेव-जयमङ्गल इन तीन नामों वाले वैयाकरण ने भट्टिकाव्य पर **जयमङ्गला** नाम्नी एक सुन्दर व्याख्या लिखी है। यह व्याख्या पाणिनीय व्याकरण के अनुसार है।

काल—जयमङ्गल का काल अज्ञात है। इस व्याख्या को दुर्घट-वृत्तिकार शरणदेव ने अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है इसलिये इस व्याख्याकार का काल १२२६ वि० से पूर्व है, इतना ही सामान्यरूप से कहा जा सकता है।

(२) मल्लिनाथ (सं० १२६४ वि० से पूर्व)

काव्यग्रन्थों के टीकाकार के रूप में मल्लिनाथ अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसने भट्टिकाव्य पर भी व्याख्या लिखी है।

---

१. विशेष द्रष्टव्य सं० व्या० शा० का इतिहास भाग १, पृष्ठ ५६ (च० सं०) 'महाकवि माघ और न्यास' अनुशीर्षक के नीचे का सन्दर्भ।

काल—मल्लिनाथ के काल के विषय में हमने इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में पृष्ठ ५६८-५६६ (च० सं०) पर लिखा है[1]।

(३) जयमङ्गल

भट्टिकाव्य पर जयमङ्गल नामक वैयाकरण ने दीपिका अथवा जयमङ्गला नाम्नी व्याख्या लिखी है। इसका हस्तलेख इण्डिया आफिस लन्दन के संग्रह में है। द्र० सूचीपत्र, भाग १, खण्ड २, संख्या ६२१।

इस वृत्ति के आरम्भ में लिखा है –

"तनुते जयमङ्गलः कृती निजनामाभिधभट्टिटिप्पणीम्।'

अन्त में पाठ है –

'इति भर्तृहरिकाव्यदीपिकायां जयमङ्गलाख्यायां ''' ।'

यह जयमङ्गल पूर्वनिर्दिष्ट जटीश्वर जयदेव जयमङ्गल तीन नामवाले व्यक्ति से भिन्न है।

(४) अज्ञातनामा

भट्टिकाव्य पर किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने एक व्याख्या लिखी है। इसका नाम **व्याख्यासार** है। मद्रास राजकीय हस्तलेख संग्रह के सूचीपत्र में यह पुस्तक **भट्टिकाव्यस्यूलव्याख्यासार** नाम से निर्दिष्ट है। द्र०—भाग ६, पृष्ठ ७६६१, संख्या ५७१०।

इसके आरम्भ का निम्न पाठ सूचीपत्र में उद्धृत है—

'अथाशेषविशेषेण बालान् व्युत्पिपादयिषुः श्रीभर्तृहरिकृतस्य रामायणानुयायिभट्टव्याख्याग्रन्थस्य विषयसंख्याच्छन्दसां प्रकाशेन तद्ग्रन्थस्य व्याख्यायां कस्यचिज्जलवरस्यातिशयानुरागस्समजनि। अनन्तरं च तदभिप्रायविदा केनचिद् विप्रेण तदादिष्टेन च तद्ग्रन्थस्य व्याख्यासाराभिधो ग्रन्थस्समकारि।'

इससे अधिक इस टीकाकार के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं।

---

१. इसके सम्बन्ध में तृतीय भाग में 'भाग १, पृष्ठ ५६८-५६६' का संशोधन देखें।

(५) रामचन्द्र शर्मा

रामचन्द्र शर्मा नामक विद्वान् ने सौपद्म व्याकरण के अनुसार भट्टिकाव्य की **व्याख्यानन्द** नाम्नी टीका लिखी है।[1] ग्रन्थकार स्वयं लिखता है—

'नत्वा श्रीनयनानन्दचक्रवर्तिपदाम्बुजम् ।
व्याख्यानन्दो मया ग्रन्थस्तन्यते यत्प्रसादतः ।।
वारेन्द्रवंशसंभूतश्रीरामचन्द्रशर्मणा ।
तन्यते भट्टिकाव्यस्य टीकेयं स्वानुकारिणो ।।
सौपद्मका नवं मूलं शिष्यान् बोधयितुं मया ।
रचिता बहुशो यत्नात् सुधीभिर्दृश्यतामियम् ।।'

इस उपन्यास से स्पष्ट है कि रामचन्द्रशर्मा वारेन्द्र-वंशसंभूत था, और इसके गुरु का नाम नयनानन्द चक्रवर्ती था।

(६) विद्याविनोद

विद्याविनोद नामक विद्वान् ने भट्टिकाव्य पर **भट्टिचन्द्रिका** नाम्नी व्याख्या लिखा है। इस ग्रन्थ के आरम्भ का पाठ इस प्रकार है—

'वन्दे दूर्वादलश्यामं रामं राजीवलोचनम् ।
जानकीलक्ष्मणोपेतं भक्त्याभीष्टफलप्रदम् ।।
नत्वा तातपदद्वन्द्वं ज्ञात्वा ग्रन्थकृदाशयम् ।
विद्याविनोदः कुरुते टीकां श्रीभट्टिचन्द्रिकाम् ।।'

(७) कन्दर्पशर्मा

कन्दर्पशर्मा ने सौपद्म प्रक्रियानुसार भट्टिकाव्य की टीका लिखी है। वह ग्रन्थ के आरम्भ में लिखता है—

'सौपद्मानां प्रीतये भट्टिकाव्ये टीकां धीरकन्दर्पशर्मा ।
....।।

---

१. यहां से आगे उल्लिखित टीका-ग्रन्थों का संग्रह मद्रास राजकीय हस्त-लेख संग्रह में 'भट्टिकाव्यव्याख्याषट्कोपेतम्' के नाम निर्दिष्ट है। द्र०—सूचीपत्र भाग ६, पृष्ठ ७६७२, संख्या ५७१२।

विद्यासागरटीकायां कातन्त्रप्रक्रिया यतः ।
सुपद्मप्रक्रिया तस्मात् तस्मादेव प्रणीयते ॥'

(८) पुण्डरीकाक्ष--विद्यासागर

पुण्डरीकाक्ष-विद्यासागर नामक वैयाकरण ने भट्टिकाव्य पर कातन्त्र=कलाप व्याकरण के अनुसार **कलापदीपिका** नाम्नी व्याख्या लिखी है। उसने ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है—

'नत्वा शंकरं चरणं ज्ञात्वा सकलं कलापतत्त्वं च।
दृष्ट्वा पाणिनितन्त्रं वदति श्रीपुण्डरीकाक्षः ॥
पाणिनीयप्रक्रियायां मे प्रसिद्धत्वान्न कौतुकम् ।
कलापप्रक्रिया तस्मादप्रसिद्धात्र कथ्यते ॥

अन्त में इस प्रकार है—

'इति महामहोपाध्याय श्रीमच्छ्रीकान्तपण्डितात्मजश्रीपुण्डरीकाक्ष-विद्यासागर भट्टाचार्यकृतायां भट्टिटीकायां कलापदीपिकायां......।'

इससे इतना ही विदित होता है कि पुण्डरीकाक्ष के पिता का नाम 'श्रीकान्त' था। पूर्वनिर्दिष्ट कन्दर्पशर्मा द्वारा स्मृत विद्यासागर यही पुण्डरीकाक्ष-विद्यासागर है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(९) हरिहर

हरिहर आचार्य ने भट्टिकाव्य पर **भट्टिबोधिनी** नाम्नी व्याख्या लिखी है। उसके आरम्भ में वह स्वयं लिखता है—

'नत्वा रामपदद्वन्द्वमरविन्दभवच्छिदम् ।
द्विजो हरिहराचार्यः कुरुते भट्टिबोधिनीम् ॥'

'पूर्वग्रामिकुले कलानिधिनिभं कृत्वा सुमेरुस्थितो भ्राता तस्य जयधरो द्विजवरो वाणेश्वरस्तत्सुतः।.........परिवृढयन् भर्तृहरिः काव्यप्रसंगेन......।'

(१०) भरतसेन

भरतसेन ने मुग्धबोध प्रक्रिया के अनुसार भट्टिकाव्य पर एक टीका लिखी है।

८—हलायुध (सं० ९७५—१०५० वि०)

हलायुध ने **कविरहस्य** नामक एक लक्ष्य-प्रधान काव्य लिखा है। इसमें धातुओं के रूपों का विशेष निर्देश किया गया है।

परिचय—हलायुध राष्ट्रकूट के तृतीय कृष्णराजा (सं० ६६७—१०१३ वि०) का सभापण्डित था। पिङ्गल छन्दःसूत्र की मृतसञ्जीवनी टीका में वाक्पतिराज (सं० १०३१-१०५२ वि०) मुञ्ज की प्रशंसा पर इसके अनेक श्लोक उपलब्ध होते हैं। अतः प्रतीत होता है कि हलायुध राष्ट्रकूट के तृतीय कृष्णराजा के स्वर्गवास के उपरान्त मुञ्ज की सभा में चला गया था। अतः हलायुध का काल सामान्यतया सं० ६७५—१०५० वि० तक माना जा सकता है।

हलायुध ने कविरहस्य के आरम्भ में अपने को—

'धातुपरायणाम्भोधिपारोत्तीर्णधीः।'

कहा है। विशेषण सत्य है, यह उसके काव्य के अध्ययन से व्यक्त है। इस काव्य में २७४ श्लोक हैं।

अन्य नाम—इस कविरहस्य के **कविगुह्य** और **अपशब्दाख्यकाव्य** भी नामान्तर हैं।

अन्य ग्रन्थ—हलायुध के दो ग्रन्थ और प्रसिद्ध हैं—एक पिङ्गल-छन्दःसूत्र टीका मृतसञ्जीवनी, और दूसरा अभिधानरत्नमाला नामक कोश।

टीकाकार—इस काव्य पर दो टीकाएं उपलब्ध होती हैं।

९—हेमचन्द्राचार्य (सं० ११४५-१२२९ वि०)

आचार्य हेमचन्द्र ने स्वीय शब्दानुशासन के संस्कृत और प्राकृत दोनों प्रकार के लक्षणों के लक्ष्यों को दर्शाने के लिए एक महाकाव्य लिखा है, इसका नाम है—**कुमारपालचरित**। इसके प्रारम्भ में २० सर्ग संस्कृत में हैं, और अन्त के ८ सर्ग प्राकृत में, इसलिये इसे द्वयाश्रय काव्य भी कहते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के देशकाल आदि के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के प्रथम भाग पृष्ठ ६९५–६९६ (च० सं०) तक विस्तार से लिख चुके हैं। पाठक इस विषय में वहीं देखें।

१०—नारायण [ब्रह्मदत्त सूनु] (१५वीं शती से पूर्व)

ब्रह्मदत्त के पुत्र नारायण कवि ने **सुभद्राहरण** नामक एक काव्य-शास्त्र लिखा है। इस काव्य के दो हस्तलेख मद्रास राजकीय हस्त-लेख संग्रह में विद्यमान हैं। द्र०—सूचीपत्र भाग ३, खण्ड १C, पृष्ठ ३८८३, संख्या २७२०, तथा भाग ५, खण्ड १B, पृष्ठ ६३५८, संख्या ४३२३।

द्वितीय हस्तलेख के प्रथम सर्ग के अन्त में निम्न पाठ है—

'ब्रह्मदत्त (सूनु) नारायणविरचितं व्याकरणोदाहरणे सविवरणे सुभद्राहरणे प्रकीर्णकाण्डं प्रथमः सर्गः··· ।'

काव्य का परिचय—इस काव्य में १६ सर्ग हैं। अष्टाध्यायी के क्रम से सूत्रों के उदाहरणों को ध्यान में रखकर कवि ने इस काव्य की रचना की है। कुछ प्रकरणों के नाम इस प्रकार हैं—

६—**अव्यय कृद्विलसित** (अष्टा० ३।४ पूर्वार्ध)

७—**प्राग्दीव्यतीय विलसित** (अष्टा० ४।१—३)

८—**प्राग्वहतीयादि विलसित** (अष्टा० ४।४।१—५।३ ··)

९—**स्वार्थिकप्रत्ययादि विलसित** (अष्टा० ५।३—४)।

काल—इस काव्य में भट्टभूम के सदृश पाणिनीय सूत्रक्रम का आश्रयण करने से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना पाणिनीय सम्प्रदाय में प्रक्रियाग्रन्थों के पठन-पाठन में व्यवहृत होने से पूर्व हुई है। इसलिये यह ग्रन्थ १५ वीं शती से पूर्व का होगा।

विवरणकार

इस काव्य पर ग्रन्थकार ने स्वयं विवरण लिखा है, यह पूर्वनिर्दिष्ट वचन से स्पष्ट है।

इस काव्य और इसके रचयिता के विषय में इससे अधिक हम कुछ नहीं जानते।

११—वासुदेव कवि

किसी वासुदेव नामा विद्वान् विरचित **वासुदेव-चरित** अथवा **वासुदेव-विजय** नामक एक काव्य मिलता है।

अनेक वासुदेव—वासुदेव नामक अनेक कवि हो चुके हैं। एक वासुदेव भट्टभूम विरचित रावणार्जुनीय काव्य का व्याख्याता है (इसके विषय में पूर्व लिख चुके हैं)। दूसरा वासुदेव कवि युधिष्ठिर-विजय काव्य का रचयिता है। इनके अतिरिक्त अन्य भी कतिपय वासुदेव नामा कवि हो चुके है।

कीथ की भूल कीथ ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ के (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ १६४ टि० ३ में 'वासुदेवविजय' और 'युधिष्ठिरविजय' के रचयिता दो सनामा कवियों को एक बना दिया है, यह उसकी प्रत्यक्ष भूल है। दोनों के ग्रन्थों की रचना-शैली इतनी भिन्न-भिन्न है कि दोनों को एक किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के लेखकद्वय ने इन दोनों ग्रन्थों के रचयिताओं को कश्मीर वासी मानते हुए भी इनके पार्थक्य के विषय में जो कुछ लिखा है (द्र०—पृष्ठ १७६—१७७) वह सर्वथा ठीक है।

वासुदेव-चरित—इस काव्य में ६ सर्ग हैं। अन्त के तीन सर्गों को **धातुकाव्य** भी कहा जाता है। यह निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित काव्यमाला में छप चुका है।

संस्कृत मेन्युस्क्रप्ट्स प्राइवेट लायब्रेरी साऊथ इण्डिया के सूची-पत्र में ग्रन्थक्रमाङ्क २६२१, २८६०, पृष्ठ २३८, २५६, पर धातुकाव्य के दो हस्तलेख निर्दिष्ट हैं। वहां इनके रचयिता का नाम **नारेरी वासुदेव** अङ्कित है।

ये दोनों हस्तलेख वासुदेवविजय के उत्तरार्ध के ही हैं, अथवा स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, यह कहना कठिन है।

अन्य धातुकाव्य नारायण कवि कृत भी एक धातुकाव्य है। इस का वर्णन आगे किया जाएगा।

वासुदेवविजय के रचयिता वासुदेव कवि के विषय में हमें इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

१२—नारेरी वासुदेव

वासुदेव कवि के प्रसंग में हम लिख चुके हैं कि संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट्स प्राइवेट लाइब्रेरी साउथ इण्डिया के सूचीपत्र में नारेरी वासुदेव विरचित धातुकाव्य के दो हस्तलेख निर्दिष्ट हैं ।

यह नारेरी वासुदेव वासुदेवविजय के ग्रन्थकार वासुदेव कवि से भिन्न है अथवा अभिन्न, इस विषय में हम निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कह सकते ।

१३—नारायण कवि (सं० १६१७–१७३३ ?)

नारायण कवि ने धातुपाठ के उदाहरणों को लक्ष्य में रखकर धातुकाव्य की रचना की । अपाणिनीयप्रमाणता के सम्पादक ने धातुकाव्य का रचयिता प्रक्रियासर्वस्व और अपाणिनीयप्रमाणता आदि विविध ग्रन्थों का लेखक नारायण भट्ट है, ऐसा कहा है । यदि धातुकाव्य का रचयिता नारायण कवि नारायण भट्ट ही हो, तो इसका काल सं० १६१७–१७३३ वि० के मध्य होना चाहिए ।[1]

इस काव्य का एक सव्याख्य हस्तलेख मद्रास शासकीय हस्तलेख संग्रह में विद्यमान है ।[2] इसके आरम्भ का लेख इस प्रकार है—

'उदाहृतं पाणिनिसूत्रमण्डलं प्राग्वासुदेवेन तदूर्ध्वतोऽपरः ।
उदाहरत्यद्य वृकोदरोदितान् धातून् क्रमेणैव हि माधवसंश्रयात् ॥'

अर्थात्—पहले वासुदेव ने पाणिनि के सूत्रमण्डल को उदाहृत किया । उसके पश्चात् मैं वृकोदर (भीमसेन) कथित धातुओं को माधव (माधवीया धातुवृत्ति) के आश्रय से उदाहृत करता हूं ।

इस श्लोक में निर्दिष्ट वासुदेव कौन है, यह निश्चितरूप से कहना कठिन है । तथापि हमारा विचार है कि यह भट्टभूम विरचित रावणार्जुनीय काव्य का व्याख्याता वासुदेव है ।

---

१. द्र०— इसी ग्रन्थ का प्रथम भाग, पृष्ठ ६०५-६०८ (च० संस्क०) ।

२. द्र०—सूचीपत्र भाग ४, खण्ड १८ । इस हस्तलेख की क्रमसंख्या तथा सूचीपत्र की पृष्ठ संख्या का निर्देश करना हम भूल गये । परन्तु क्रमसंख्या ३६८२, पृष्ठ ५४५१ से कुछ पूर्व है, इतना निश्चित है ।

व्याख्याकार—रामपाणिपाद

मद्रास के सूचीपत्र में उक्त सव्याख्य धातुपाठ के व्याख्याता का नाम रामपाणिपाद निर्दिष्ट है।

इससे अधिक नारायण कवि के धातुकाव्य के व्याख्याता के विषय में हम कुछ नहीं जानते।

उपसंहार

हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के द्वितीय भाग में संस्कृत शब्दानुशासनों से साक्षात् संबद्ध धातुपाठ, गणपाठ, उणादि-पाठ, परिभाषापाठ, लिङ्गानुशासन तथा व्याकरणशास्त्र से सामान्यरूप से संबद्ध फिट्सूत्र, प्रातिशाख्य, दार्शनिक ग्रन्थ, लक्ष्यप्रधान काव्यों के प्रवक्ता, रचयिता और व्याख्याताओं का वर्णन किया है। इस प्रकार यह व्याकरणशास्त्र का इतिहास दो भागों में पूर्ण हुआ है। इस ग्रन्थ से सम्बद्ध अनेकविध परिशिष्टों का संग्रह तृतीय भाग में किया जायेगा।[1]

इत्यजयमेरु (अजमेर) मण्डलान्तर्गत विरकच्यावासाभिजनेन

श्रीयमुनादेवीगौरीलालाचार्ययोरात्मजेन पदवाक्यप्रमाणज्ञ-

महावैयाकरणानां **श्रीब्रह्मदत्ताचार्याणामन्तेवासिना**

भारद्वाजगोत्र-त्रिप्रवरेण वाजसनेय-चरणेन

माध्यन्दिनिना

युधिष्ठिर-मीमांसकेन

विरचिते

संस्कृत व्याकरण-शास्त्रेतिहासे

द्वितीयो भागः

पूर्तिमगात्।

शुभं भवतु लेखकपाठकयोः !

---

1. यह तृतीय भाग इसी वर्ष (सं० २०३० में) प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है।

युधिष्ठिर मीमांसक के अन्य ग्रन्थ

(विरचित अनूदित और सम्पादित)

लिखित—

१. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (तीन भाग) १२५-००
२. वैदिक स्वर मीमांसा (अप्राप्य)
३. वैदिक छन्दो मीमांसा १५-००
४. ऋग्वेद की ऋक्संख्या (संस्कृत-हिन्दी) २-००
५. वैदिक सिद्धान्त-मीमांसा ३०-००

अनूदित—

मीमांसा-शाबर-भाष्य=आर्षमत विमर्शिनी हिन्दी व्याख्या प्रथम भाग ४०-००; द्वितीय ३०-००; तृतीय ५०-००; चतुर्थ ५०-०० ।

७. महाभाष्य (अ० १-२) तीन भागों में। प्रथम भाग (नवाह्निक) ५०-००, द्वितीय भाग (अ० १, पा० २-३-४) २५-००, तृतीय भाग (अ० २) २५-०० ।

सम्पादित—

८. दशपादुणादिवृत्ति—अप्राप्य। ९. निरुक्त-समुच्चय १५-००
१०. भागवृत्ति संकलनम् ६-००
११. शिक्षा सूत्राणि (आपिशल, पाणिनीय, चान्द्र) ८-००
१२. दैवं पुरुषकारोपेतम् (धातुपाठ) १०-००
१३. उणादिकोश, (स्वा० दयानन्द-वृत्ति, विविध-परिशिष्ट) १२-००
१४. काशकृत्स्न धातु व्याख्यानम् १५-००
१५. वामनीय लिङ्गानुशासनम ८-००
१६. माध्यन्दिन-पदपाठ २५-००
१७. ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका (स्वामी दयानन्द सरस्वती) ३०-००
१८. ऋग्वेदभाष्य (स्वा० द० सरस्वती) प्रथम भाग ३५-००, द्वितीय भाग ३०-००, तृतीय भाग ३५-०० ।
२०. दर्शपौर्णमास-पद्धति (भीमसेन शर्मा) २५-००
२१. श्रौतपदार्थ निर्वचनम् ४०-००

मिलने का पता—

१—रामलाल लाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़-१३१०२१ (सोनीपत-हरयाणा)
२—रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट, नई सड़क, देहली